लेखक की अन्य कृतियाँ

- प्रेमचन्द
- भारतेन्दु युग
- निराला
- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना
- मानव सभ्यता का विकास
- १८५७ की राज्य क्रान्ति
- जयशंकर प्रसाद
- भाषा, साहित्य और संस्कृति
- लोक-जीवन और साहित्य
- प्रगतिशील साहित्य की समस्याएं
- विराम-चिह्न
- रूप तरंग (कविता संग्रह)
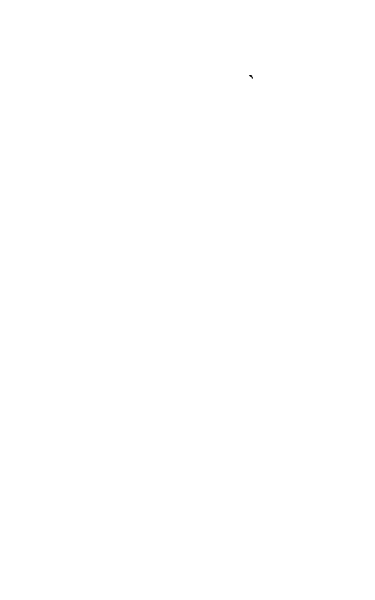
ंस्करण
१९६१

मूल्य ·
१५ रुपये

डी. पी. सिनहा द्वारा न्यू एज प्रिंटिंग प्रेस, रानी झांसी रोड, नई दिल्ली में मुद्रित और उन्हीं के द्वारा पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा) लिमिटेड, नई दिल्ली ।

हिन्दी भाषा और साहित्य की अपराजेय शक्ति
कविगुरु श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला की
उन्हीं की दो पंक्तियों सहित :

रवि हुआ अस्त; ज्योति के पत्र पर लिखा अमर
रह गया राम-रावण का अपराजेय समर ।

विषय-सूची

ध्वनि-संकेतों से काम लेने वाले मानव के लिए सभी ध्वनियों का एक सा महत्त्व नहीं होता। ध्वनि के प्रयोग की विधियाँ भिन्न होती हैं। किसी भाषा में ध्वनियों का सामंजस्य कैसे हो, इसके अपने नियम होते हैं। जब हम दूसरी भाषा सीखते हैं, तब उसके उच्चारण में हमारी अपनी भाषा-पद्धति का प्रभाव भी झलकता है। इसी कारण किसी भी भाषा का अध्ययन करते समय यह जानना काफी नहीं है कि उसमें किन-किन ध्वनियों का व्यवहार होता है, वरन् महत्त्व की बात यह है कि उन ध्वनियों का व्यवहार किस प्रकार होता

है। हिन्दी मे 'ण' ध्वनि है। देखना चाहिए कि यह शब्द के अन्त या मध्य मे ही आती है या उसके आरम्भ में भी प्रयुक्त होती है। भाषाओं की ध्वनि-प्रकृति का अध्ययन करने से तुलनात्मक और ऐतिहासिक भाषा विज्ञान की अनेक समस्याओ के हल होने की सम्भावना उत्पन्न होती है। लैटिन, ग्रीक, संस्कृत आदि भाषाओ मे बहुत से शब्द सामान्य हैं। ये शब्द मूलत: भारत या एसिया के हैं या यूरोप के — इस समस्या पर ध्वनि-प्रकृति की दृष्टि से विचार करने की गुंजाइश है। भाषा की ध्वनि-प्रकृति क्या है, भारत-यूरोपीय "परिवार" की भाषाओ का परस्पर सम्बध — उनकी ध्वनि-प्रकृति को देखते हुए — क्या है, इन समस्याओं का विवेचन दूसरे अध्याय मे है।

मनुष्य ध्वनि-सकेतो से काम लेते हुए उन्हे बराबर किसी अनुशासन या व्यवस्था द्वारा सचालित करता है। हिन्दी मे यदि किसी अंग्रेजी शब्द का व्यवहार करें, तो वह हमारी वाक्य रचना के नियम के अन्तर्गत प्रयुक्त होगा। कर्ता, क्रिया, विशेषण आदि के स्थान निश्चित हैं। हिन्दी में सम्बधवाचक शब्द सदा प्रकृति के बाद आयेगा, अंग्रेज़ी की तरह पहले नही। अंग्रेज गिनती गिनेगा तो दहाई पहले बोलेगा, इकाई बाद को; हिन्दी की पद्धति इससे उल्टी है। हम ट्वेंटीवन की जगह इक्कीस (एक-बीस) वाला क्रम ही पसन्द करते है। इन सब बातों का सम्बध समाज विशेष की चिन्तन-प्रक्रिया से होता है। यह चिन्तन-क्रिया जब भाषा के क्षेत्र मे प्रकट होती है, तो उसे हम भाषा की भाव-प्रकृति कहते हैं। भाषाओं के परस्पर सम्बधो का अध्ययन करते हुए उनकी ध्वनियों और शब्दों पर ही ध्यान देना काफी नही होता। यह भी देखना चाहिए कि उनकी भाव-प्रकृति मे कितनी समानता और विषमता है। इस दृष्टि से सम्भव है कि जो भाषा-परिवार एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न मालूम होते है, वे एक-दूसरे के अधिक निकट हो, और वे भाषा समूह जो एक ही परिवार के अन्तर्गत माने जाते हैं, वे वास्तव में परस्पर भिन्न हों। इन बातो की चर्चा तीसरे अध्याय मे की गयी है।

भाषा की मुख्य सम्पत्ति है उसका शब्द-भडार। शब्द-भडार मे जिन शब्दो का सम्बध मनुष्य के प्राकृतिक और सामाजिक परिवेश से है, जो उसकी नित्य-प्रति की आर्थिक और सास्कृतिक कार्यवाही में काम आते हैं, उन्हे मूल शब्द-भडार मानना चाहिए। ग्रीक, लैटिन, संस्कृत आदि भाषाओ मे बहुत से शब्द सामान्य हैं। देखना चाहिए कि इन भाषाओ का अपना स्वतत्र शब्द-भडार भी है या सब कुछ सामान्य ही सामान्य है। यदि इनका अपना मूल शब्द भंडार हो, तो इस परिचित स्थापना मे संशो [illegible] वे सब एक ही परिवार की भाषाए है। [illegible]
"परिवार" में कुछ भाषाए

भाषाएं संस्कृत से ज्यादा मिलती हैं, ग्रीक-लैटिन कम, जर्मन कुल की भाषाएं उनसे भी कम। इसका कारण क्या है? क्या यह स्थापना सही है कि लिथुआनियन भाषा यूरोप की अन्य सभी भाषाओं से संस्कृत के अधिक निकट है (अथवा आद्य भारत-यूरोपीय भाषा के सर्वाधिक निकट है)? इन समस्याओं की छानबीन चौथे-पांचवें अध्यायों में की गयी है।

भाषाओं के परिवार का निर्माण कैसे होता है? भाषा-विज्ञानियों की धारणा है कि प्रत्येक भाषा-परिवार का जन्म किसी आद्य भाषा से हुआ है। इस प्रकार आदि-आर्य, आदि-द्रविड, आदि-सामी भाषाओं की कल्पना की गयी है। किन्तु जिसे हम "भाषा" कहते हैं, वह स्वयं सामाजिक विकास की एक निश्चित मंजिल में ही सुलभ होती है। आदिम मानव समाज का साधारण नियम है बोलियों का बिखराव। भाषा का परिवार आज के मानव-परिवार की तुलना में आदिम मानव-परिवार के अधिक निकट था जिसमें अजनबी भी शामिल कर लिये जाते थे। जैसे किसी आदि पुरुष से मानव-परिवार की उत्पत्ति नहीं हुई, वैसे ही किसी आदि भाषा से कोई भाषा-परिवार नहीं बना। किसी भी भाषा-परिवार की भाषाओं की परीक्षा कीजिए। आपको अनेक भाषाओं में ही नहीं, एक भाषा के अन्तर्गत ही ध्वनि-प्रकृति, भाव-प्रकृति और मूल शब्द-भंडार के महत्वपूर्ण भेद दिखाई देंगे। इसका यह अर्थ नहीं कि भाषाओं के परिवार होते नहीं है, किन्तु उनके निर्माण को प्रक्रिया यह नहीं है कि आदि भाषा के विकृत या परिवर्तित होने से नई-नई भाषाएं पैदा हो गयी हैं। यह सब छठे अध्याय की विषयवस्तु है।

आदि भाषा वाला सिद्धान्त संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश-आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास पर लागू किया जाता है। संस्कृत क्यों विकृत हुई? अनार्य प्रभाव से। यूरोप में आदि आर्यभाषा कैसे विकृत हुई? भारत के पूर्व में ध्वनि-क्षय हुआ, उत्तर में नहीं हुआ। क्यों नहीं हुआ? जो विद्वान् संस्कृत से प्राकृतों की उत्पत्ति मानते हैं, वे यह भी कहते जाते हैं कि प्राकृतें कृत्रिम हैं! फिर कृत्रिम भाषाओं से सहज आधुनिक भाषाओं की उत्पत्ति कैसे हुई? यदि मूल शब्द-भंडार और भाव-प्रकृति की दृष्टि से विचार किया जाय तो प्राकृतें संस्कृत से मूलतः भिन्न भाषाएं सिद्ध नहीं होतीं। संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश की नसेनी छोड़ देने पर आधुनिक भाषाओं के मूल तत्व काफी प्राचीन सिद्ध होते हैं। आधुनिक उत्तर-भारतीय भाषाएं किस हद तक स्वतन्त्र है, इनके मूल तत्वों को संस्कृत से उत्पन्न सिद्ध करने के प्रयास में किस तरह की भ्रान्तियां फैलती हैं, संस्कृत परिनिष्ठित भाषा क्यों बनी, प्राकृतों की अपेक्षा उसने हमारी वर्तमान भाषाओं को क्यों अधिक प्रभावित किया, अपभ्रंश की ध्वनि-प्रकृति हिन्दी से भिन्न है या उसके समान, अपभ्रंश से हिन्दी के मुख्य रूप निकले हैं या वे

निर्माण-काल में नवीन सामाजिक आवश्यकताओं के साथ नये व्यापार केन्द्रों से नई भाषाएं फैली और वे क्रमशः परिनिष्ठित हुईं। इस पुस्तक का विशेष व्यवहार-पक्ष यह है कि तथाकथित भारत-यूरोपीय परिवार की संस्कृत, लैटिन, ग्रीक, स्लाव आदि भाषाएं स्वतन्त्र कुलों की भाषाएं हैं। इनमें जो सामान्य तत्व मिलते हैं, उनका आधार इन भाषाओं या इनसे मिलती-जुलती भाषाओं के बोलने वालों का परस्पर सम्पर्क है, न कि एक आदिभाषा से उनका जन्म। इस प्रकार संस्कृत आदि-भारत-यूरोपीय-भाषा का उच्छिष्ट और विकृत रूप न होकर स्वतन्त्र भारतीय भाषा सिद्ध होती है। यूरोप की भाषाओं पर संस्कृत और उसके समानान्तर बोली जाने वाली भाषाओं का असर पड़ा है, न कि किसी कल्पित आद्य आर्य-भाषा से अनार्य सम्पर्क के कारण संस्कृत की उत्पत्ति हुई है। आधुनिक उत्तर भारतीय भाषाएं संस्कृत के समानान्तर बोली जाने वाली भाषाओं से उत्पन्न हुई हैं, न कि वे संस्कृत का विकृत रूप हैं। इन भाषाओं के बोलने वालों का जातीय निर्माण भारत में ब्रिटिश राज कायम होने से पहले हुआ था। अपने प्रदेशों में इनका राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में व्यवहार होने पर भारत की अन्तरजातीय भाषा के रूप में हिन्दी की प्रतिष्ठा होगी। हिन्दी-उर्दू, हिन्दी-भोजपुरी, हिन्दी-राजस्थानी आदि की समस्याएं जातीय निर्माण की प्रक्रिया समझने पर ही ठीक से हल की जा सकती है।

आशा है, देश की अनेक व्यावहारिक भाषा-सम्बंधी समस्याओं के विवेचन से पुस्तक उन पाठकों के लिए भी उपयोगी होगी जो भाषा-विज्ञान का शास्त्रीय अध्ययन नहीं करना चाहते किन्तु जिन्हें इन समस्याओं से गहरी दिलचस्पी है। साथ ही सैद्धान्तिक विवेचन से उन भाषाशास्त्रियों को दिलचस्पी होनी चाहिए जो किसी भी भारतीय या अभारतीय भाषा का अध्ययन कर रहे हों।

पुस्तक के विवेचन में भाषा शास्त्र और समाज शास्त्र की अनेक मान्यताओं का खडन-मडन है। विशेष रूप से जन, लघुजाति और महाजाति के निर्माण के सम्बंध में पाठकों को यहां कुछ नई स्थापनाएं मिलेंगी। यह स्पष्ट कर देना उचित है कि मैंने विभिन्न समस्याओं पर मार्क्सवादी दृष्टिकोण से विचार किया है किन्तु मार्क्सवाद की अपनी व्याख्या के लिए मैं ही उत्तरदायी हूं, अन्य किसी व्यक्ति या दल की मान्यताओं से इस व्याख्या का सम्बंध नहीं है।

पुस्तक में अनेक भाषाओं, भाषा-परिवारों, सामाजिक विकास की अनेक समस्याओं की चर्चा है। पुस्तक की विषयवस्तु का क्षेत्र इतना व्यापक है कि भ्रान्तियां अनिवार्य हैं। पुस्तक की आलोचना हो, ये भ्रान्तियां दूर हों, इसके लिए विद्वानों से सहयोग की प्रार्थना है।

निर्माण-काल में नवीन सामाजिक आवश्यकताओं के साथ नये व्यापार केन्द्रों से नई भाषाएं फैली और वे क्रमशः परिनिष्ठित हुईं। इस पुस्तक का विशेष व्यवहार-पक्ष यह है कि तथाकथित भारत-यूरोपीय परिवार की संस्कृत, लैटिन, ग्रीक, स्लाव आदि भाषाएं स्वतंत्र कुलों की भाषाएं हैं। इनमें जो सामान्य तत्व मिलते हैं, उनका आधार इन भाषाओं या इनसे मिलती-जुलती भाषाओं के बोलने वालों का परस्पर सम्पर्क है, न कि एक आदिभाषा से उनका जन्म। इस प्रकार संस्कृत आदि-भारत-यूरोपीय-भाषा का उच्छिष्ट और विकृत रूप न होकर स्वतंत्र भारतीय भाषा सिद्ध होती है। यूरोप की भाषाओं पर संस्कृत और उसके समानान्तर बोली जाने वाली भाषाओं का असर पड़ा है, न कि किसी कल्पित आद्य आर्य-भाषा से अनार्य सम्पर्क के कारण संस्कृत की उत्पत्ति हुई है। आधुनिक उत्तर भारतीय भाषाएं संस्कृत के समानान्तर बोली जाने वाली भाषाओं से उत्पन्न हुई हैं, न कि वे संस्कृत का विकृत रूप हैं। इन भाषाओं के बोलने वालों का जातीय निर्माण भारत में ब्रिटिश राज कायम होने से पहले हुआ था। अपने प्रदेशों में इनका राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में व्यवहार होने पर भारत की अन्तरजातीय भाषा के रूप में हिन्दी की प्रतिष्ठा होगी। हिन्दी-उर्दू, हिन्दी-भोजपुरी, हिन्दी-राजस्थानी आदि की समस्याएं जातीय निर्माण की प्रक्रिया समझने पर ही ठीक से हल की जा सकती हैं।

आशा है, देश की अनेक व्यावहारिक भाषा-सम्बंधी समस्याओं के विवेचन से पुस्तक उन पाठकों के लिए भी उपयोगी होगी जो भाषा-विज्ञान का शास्त्रीय अध्ययन नहीं करना चाहते किन्तु जिन्हें इन समस्याओं से गहरी दिलचस्पी है। साथ ही सैद्धान्तिक विवेचन से उन भाषाशास्त्रियों को दिलचस्पी होनी चाहिए जो किसी भी भारतीय या अभारतीय भाषा का अध्ययन कर रहे हों।

पुस्तक के विवेचन में भाषा शास्त्र और समाज शास्त्र की अनेक मान्यताओं का खंडन-मंडन है। विशेष रूप से जन, लघुजाति और महाजाति के निर्माण के सम्बंध में पाठकों को यहां कुछ नई स्थापनाएं मिलेंगी। यह स्पष्ट कर देना उचित है कि मैंने विभिन्न समस्याओं पर मार्क्सवादी दृष्टिकोण से विचार किया है किन्तु मार्क्सवाद की अपनी व्याख्या के लिए मैं ही उत्तरदायी हूं, अन्य किसी व्यक्ति या दल की मान्यताओं से इस व्याख्या का सम्बंध नहीं है।

पुस्तक में अनेक भाषाओं, भाषा-परिवारों, सामाजिक समस्याओं की चर्चा है। पुस्तक की विषयवस्तु का क्षेत्र भ्रान्तियां अनिवार्य हैं। पुस्तक की आलोचना हो, दे लिए विद्वानों से सहयोग की प्रार्थना है।

सी हैं, भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में उन ध्वनियों की नियोजन प्रणाली कैसी रहती है, किस प्रकार ये ध्वनियां मिलकर बड़े रूप खड़े करती हैं, तथा उन रूपों को वाक्य में किस स्थिति में रखा जाता है।" अर्थ-विचार से जरा भी सम्बंध रखे बिना केवल ध्वनियों के विश्लेषण में अध्ययन-कर्ता यह जान ले कि "सार्थक ध्वनियां" कौन सी है, उनकी नियोजन-प्रणाली क्या है, उनमें "बड़े रूप" कैसे बनते हैं और इन रूपों को वाक्य में कैसे रखा जाता है, यह चमत्कार ही होगा। ध्वनि-विज्ञान भाषा की सार्थक ध्वनियों का अध्ययन करता है, निरर्थक ध्वनियों का नहीं। उदाहरण के लिए हिन्दी में किसी शब्द को षड्ज, गधार या मध्यम स्वर में बोलने से चीनी भाषा की तरह उसका अर्थ नहीं बदल जाता। शब्द को स्वर-सप्तक में किस स्थान से बोलते है, यह प्रक्रिया हमारे लिए निरर्थक है, हमारे पड़ोसियों के लिए सार्थक। लेकिन यदि कोई चीनी विद्यार्थी अर्थ-विचार को अलग रखकर हिन्दी भाषा की ध्वनियों के "वैज्ञानिक" अध्ययन में जुट जाय और पटना से लेकर दिल्ली तक हिन्दी की अनन्त ध्वनियों का चार्ट बनाना शुरू कर दे, तो अपने चीनी अध्यवसाय से भी पहले तो इस जीवन में वह इस कार्य को समाप्त न कर पायेगा, इसके अलावा अपनी भाषा की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए वह एक-एक शब्द की जो स्वर-लिपियां तैयार करेगा, वे हिन्दी की प्रकृति के हिसाब से नितान्त निरर्थक श्रम की सूचक होंगी। ध्वनियों में कौन सी सार्थक है, कौन सी निरर्थक — यह जानने के लिए ध्वनि-सकेतों (अर्थात् शब्दों) का अर्थ जानना आवश्यक होगा।

प्रसिद्ध अमरीकी भाषाविद् ब्लूमफील्ड ने "लैंग्वेज" नामक अपने ग्रंथ में आदिवासी मेनेमोनी इंडियनों की भाषा से एक दिलचस्प ध्वनि-सम्बंधी उदाहरण दिया है। इनकी भाषा में पानी के लिए एक शब्द है निपीव। श्रोता को लगता है कि इस शब्द में कभी तो "प" की ध्वनि होती है और कभी "ब" की। इस भाषा के लिए "सार्थक" ध्वनि न "प" है, न "ब", वरन् नाक से हवा को निकलने न देकर ओठों को बंद करने मात्र से जो भी ध्वनि निकलती है, वही सार्थक है। इस सार्थकता का पता श्रोता को तभी चल सकता है, जब उसे पेय वस्तु से "निपीव" का सम्बंध ज्ञात हो, वर्ना वह निपीव और निबीव के निरर्थक ध्वनि-भेद से उलझा रहेगा।

ध्वनि-विज्ञान को वर्णनात्मक भाषातत्व का पर्याय समझने से भारतीय भाषा विज्ञान का क्षेत्र अधकारमय दिखाई देता है। इस आधुनिक भाषातत्व के समर्थक अपनी प्रतिक्रिया इन शब्दों में व्यक्त करते हैं, "यदि 'दीपक तले अंधेरा' कहावत को सत्य माना जाय, तो भारतीय भाषातत्व के सम्बंध में इसको सत्यतम माना जायगा।" इस पर भी यदि भाषा विज्ञान के प्रसंग में डॉ सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, डॉ सिद्धेश्वर वर्मा, डॉ धीरेन्द्र वर्मा, डॉ. बाबूराम

रसेल आदि विद्वानों का नाम कोई आधुनिक भाषातत्त्व का विशेषज्ञ करे, तो हमें उसकी अनुपम उदारता ही समझना चाहिए।

ध्वनि-विज्ञान भाषा के अध्ययन का एक साधन है, साध्य नहीं। किसी ध्वनि के उच्चारण में जिह्वा के अग्र, मध्य और पश्च भागों में कौन सा क्रिया-शील होता है, जिह्वा की उचाई कितनी होती है, ओठों की स्थिति विस्तृत, गोलाकार या उदासीन होती है, कोमलतालु की स्थिति विशेष में नासारन्ध्र उन्मुक्त रहता है या अवरुद्ध, स्वरतन्त्रियों के कंपन से सघोष ध्वनि निकल रही है या अघोष, अल्पप्राण अघोष वर्त्स्य स्पर्श ध्वनि और अल्पप्राण अघोष मूर्धन्य स्पर्श ध्वनि का भेद क्या है, अल्पप्राण सघोष वर्त्स्य लुंठित और अल्पप्राण सघोष मूर्धन्य उत्क्षिप्त का अन्तर क्या है—इन सबकी जानकारी भाषा के अध्ययन में सहायक होती है किन्तु प्रयत्न-स्थान और प्रयत्न-विधि के अनुरूप विभिन्न ध्वनियों का नामकरण ही भाषा-विज्ञान (या भाषा तत्त्व) नहीं है। कुछ ध्वनि-विज्ञानियों की वर्गीकरण-नामकरण-दक्षता सामन्ती साहित्य-शास्त्रियों के नायिका-भेद और अलंकार-शास्त्र की याद दिलाती है। अन्तर यह है कि नायिकाओं का वर्गीकरण ध्वनियों के वर्गीकरण से अधिक सरस था।

ध्वनि-विज्ञानी यह मान कर चलते हैं कि "मनुष्यों के मध्य सामाजिक सम्पर्क स्थापित करने के लिए भाषा ही सर्वोत्कृष्ट साधन है।" यदि भाषा का सम्बन्ध समाज से है, उसकी उत्पत्ति और विकास सामाजिक सम्पर्क के एक साधन रूप में होती है तो यह स्पष्ट है कि समाज का अध्ययन किये बिना सामाजिक सम्पर्क स्थापित करने के साधन का अध्ययन भी नहीं हो सकता। समाज एक गतिशील प्रक्रिया है। उसमें वर्ग हैं, वर्ग-संघर्ष है, व्यक्तिगत सम्पत्ति है, शोषण है और शोषण के विरुद्ध जनता का संघर्ष है, भाषा के प्रति विभिन्न वर्गों के अपने दृष्टिकोण हैं, कभी-कभी सम्पत्तिशाली वर्गों की नीति के फल-स्वरूप समूची भाषाएं नेस्तनाबूद हो जाती हैं और छोटे-छोटे द्वीपों की भाषाएं विश्वभाषा बन जाती हैं जिनके बिना भारत जैसे विशाल देशों की एकता कायम रखना कुछ राजनीतिज्ञों को असम्भव जान पड़ता है—ये सब प्रश्न भाषाविद् को परेशानी में डाल सकते हैं, उनकी चर्चा भी उसकी अपनी सामाजिक स्थिति को संकटमय बना सकती है।

आचार्य ब्लूमफील्ड कहते है, " मानवीय भाषा पशुओ के संकेतात्मक कार्यों से भिन्न है, उन पशुओं के कार्यों से भी जो अपनी आवाज मे काफी भेद करते हुए उससे काम लेते हैं।" प्रस्तुत पुस्तक के पहले अध्याय मे इस समस्या पर विचार किया गया है कि पशु भी ध्वनि-संकेतों का उपयोग करता है और मनुष्य भी, किन्तु मनुष्य भाषा की रचना कर सका, पशु नही, इसका कारण क्या है। जो शरीर विज्ञान का अध्ययन करते है, उन्हे भी इस प्रश्न से दिलचस्पी है, जो समाज विज्ञान का अध्ययन करते है, उन्हें भी। इस प्रकार भाषा-विज्ञान — समाज-निरपेक्ष शुद्ध विज्ञान न होकर — विभिन्न विज्ञानो को निकट लाता है और उनके अनुसंधानो से लाभ उठाता है। यदि ब्लूमफील्ड द्वारा पशुओं के ध्वनि-संकेतो और मानवीय भाषा के अन्तर का उल्लेख करने से भाषा-तत्त्व दूषित नही होता, तो इस विषय की किंचित् विस्तृत चर्चा इस पुस्तक में क्षम्य समझी जानी चाहिए।

ब्लूमफील्ड ने पुराने तुलनात्मक और ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान की काफी ओर सारगर्भित आलोचना की है। किन्तु उस पुराने भाषा-विज्ञान के अनुसार वह भी अनेक भाषाओं को परस्पर सम्बंधित देखते है। उन्होंने इस परस्पर सम्बंध की व्याख्या इस प्रकार की है, "भाषाएं एक-दूसरे से सम्बंधित हैं, इससे हमारा तात्पर्य यही है कि उनमे ऐसी समानताएं है जिनकी व्याख्या इस मान्यता के आधार पर ही हो सकती है कि वे एक ही प्राचीन भाषा के विभिन्न रूप हैं।" भाषाओं की ध्वनि-प्रकृति, भाव-प्रकृति और मूल शब्द-भंडार की चर्चा करते हुए प्रस्तुत पुस्तक मे इस बात पर विचार किया गया है कि भाषाओं की समानता और भेद का आधार क्या है, जो समानताएं दिखाई देती हैं, उनके साथ विभिन्नताओं का कारण क्या है, समानता का आधार एक ही भाषा के विभिन्न रूपों की सृष्टि है या विभिन्न रूपों वाली भाषाओं के सम्पर्क और परस्पर मिश्रण या आदान-प्रदान से भी ये समानताएं उत्पन्न हो सकती हैं।

ब्लूमफील्ड ने भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार की स्थापना को पुराने भाषाविदों से ग्रहण किया है, और इस सिलसिले मे लिखा है, "भारत-यूरोपीय भाषाओ मे 'स्नो' शब्द संज्ञा और क्रिया रूप मे इतना आम है कि हम आदिम भारत-यूरोपीय समुदाय के सम्भाव्य निवास स्थानो से भारत को बाहर रख सकते है।" प्रस्तुत पुस्तक मे भी इस समस्या का विवेचन है कि कोई आदि भारत-यूरोपीय समुदाय और उसकी भाषा थी या नहीं, "भारत-यूरोपीय" नामक कोई भाषा-परिवार है भी या नहीं, "भारत-यूरोपीय" कहलाने वाली भाषाओं मे कौन से रूप पूर्व के है, कौन से पश्चिम के, इत्यादि। पुराने भाषा-विज्ञान की मान्यता के अनुसार ही ब्लूमफील्ड ने आर्यों द्वारा भारत की विजय की चर्चा करते हुए लिखा है, "विजेताओं का औपनिवेशिक एक छोटा समूह भारत मे इंडो-आर्यन

भाषा न्याया होगा और नागन्त जाति द्वारा अपना आधिपत्य स्थापन करने के सुदीर्घ क्रम मे विजितों को उसे ग्रहण करने पर बाध्य किया होगा। जिन भाषाओं ने अपना स्थान खो दिया, उनमें से कम से कम कुछ भाषाएं भारत की वर्तमान अनार्य—मुख्यत द्रविड-भाषानिधि—की सम्बधिनी रही होगी।" प्रस्तुत पुस्तक मे भी इस विषय की चर्चा है कि आर्य जाति, आर्य भाषा से हमारा तात्पर्य क्या है, आर्यों के आने से यहा की भाषाए निर्मूल हुई अथवा सस्कृत मे आर्य-द्रविड तत्व घुलमिल गये, इत्यादि। इस सिलसिले मे इस समस्या का विवेचन भी आवश्यक हुआ कि आर्य और द्रविड भाषा-परिवारों का निर्माण कैसे हुआ, किसी भी भाषा-परिवार—या भाषा की बोलियो—के आन्तरिक भेदों और समानताओ का कारण क्या है।

आधुनिक भाषाएं प्राचीन भाषाओ का नया रूप है, इस पुरानी और प्रचलित धारणा के प्रभाव से ही ब्लूमफील्ड ने फ्रान्स के सिलसिले मे एक जगह लिखा है कि वहा "लैटिन (जो अब फ्रेंच कहलाती है) दो हजार साल से बोली जा रही है।" । इसी प्रकार लोग हिन्दी, बगला आदि भाषाओ को सस्कृत की पुत्रिया कहते है। लैटिन और फ्रेंच, सस्कृत और हिन्दी, प्राचीन और आधुनिक भाषाओ का परस्पर सम्बध क्या है—इसे भाषा विज्ञान का वैध और सगत प्रश्न मानना चाहिए। ब्लूमफील्ड ने "स्पीच-कम्यूनिटी" (किसी भाषा को बोलने वाले समुदाय) की काफी विस्तार से चर्चा की है। मानव-समुदाय पुराने कबीलो या सामन्ती जातियो (नैशनैलिटी) या पूजीवादी (अथवा समाजवादी) व्यवस्था के अन्तर्गत महाजातियो (नेशन) के रूप मे सगठित होता है। इस सगठन का आर्थिक, भौगोलिक, सास्कृतिक, राजनीतिक आधार क्या है, ऐसा कोई आधार है भी या नही, सामाजिक विकास-क्रम मे इस तरह के सगठनो के बनने-बिगडने से भाषा का सम्बध क्या है, यह सब भी भाषा-विज्ञान मे विवेच्य है। ब्लूमफील्ड ने लिखा है कि "भाषा के कारण श्रम-विभाजन और उसके साथ समग्र समाज की कार्यशीलता सम्भव होती है।" श्रम-विभाजन, वर्ग-भेद, भाषा की रक्षा, परिवर्तन और विकास मे श्रम-विभाजन और वर्गों की भूमिका का उल्लेख इस पुस्तक मे भी है। भाषा का परिनिष्ठित रूप, भाषा और बोलियो का सम्बध, भाषा और बोली के भेद का आधार—यह सब भाषा-विज्ञान का विषय है। ब्लूमफील्ड कहते हैं कि यौर्कशायर (इगलैंड) का आदमी अपनी बोली मे बातचीत करे तो अमरीकी आदमी उसकी बात नही समझ सकता। स्वभावत प्रश्न उठता है कि यौर्कशायर वाले आदमी की जबान अग्रेजी की बोली है या स्वतन्त्र भाषा। ब्लूमफील्ड ने लिखा है, इगलैंड से भी अधिक फ्रान्स, इटली और जर्मनी मे स्थानीय बोलिया है। एक भारतीय विद्वान् ने अग्रेजी मे हिन्दी भाषा का

लाल शुक्ल ने नीगस और पेनफ़ील्ड की कृतियों से मुझे परिचित कराया। प्रथम अध्याय की अनेक समस्याओं के बारे में उनसे चर्चा करने पर मुझे लाभ हुआ है। आगरे के हिन्दी विद्यालय के सचालक श्री रामकृष्ण नावड़ा मेरे लिए द्रविड़ भाषाओं के आचार्य रहे हैं। पुस्तक में द्रविड़ भाषाओं के प्रसग में जो ग़लतियां रह गयी हों, उनके लिए आशिक रूप से वह भी उत्तरदायी हो सकते हैं। पुस्तक का प्रूफ मेरे अलावा श्री सच्चिदानन्द शर्मा ने देखा है, कुछ अंशों का प्रूफ केवल उन्होंने देखा है। इसलिए प्रूफ की अशुद्धियों की सारी ज़िम्मेदारी मेरी नहीं है। इन सब मित्रों और विद्वानों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हुए मैं यह वक्तव्य समाप्त करता हूं।

आगरा
१५-११-६०

—रामविलास शर्मा

पहला अध्याय

भाषा की उत्पत्ति

प्राणि-जगत् में मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो भाषा का व्यवहार करता है। इसका कारण क्या है ?

अध्यात्मवादी विचारक मानते हैं कि भाषा ईश्वरकृत है। मनुष्य में यह क्षमता नहीं थी कि वह भाषा रचता। धर्म-विशेष के अनुयायी अपनी भाषा को देववाणी कहते रहे हैं। यह देववाणी ही क्रमशः मानव-भाषा बनी। कुछ यहूदी और ईसाई विचारकों का मत रहा है कि जिस भाषा में मानव जाति के आदि पिता-माता आदम और होवा बातें करते थे, उसीसे संसार की समस्त भाषाएं उत्पन्न हुई हैं। भाषा-वैज्ञानिकों में ईश्वरकृत मूल भाषा की स्थापना का खंडन-मंडन अब अनावश्यक समझा जाता है। जैसे भौतिक विज्ञान में इस स्थापना का खंडन अनावश्यक हो गया है कि मेघों से इन्द्र पानी बरसाता है, वैसे ही भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में उपर्युक्त स्थापना का खडन भी अनावश्यक है। साथ ही जैसे भौतिक विज्ञान भी जब-तब अध्यात्मवाद से प्रभावित दिखाई देता है, वैसे ही भाषा-विज्ञान पर भी अध्यात्मवाद का प्रभाव देखा जा सकता है। अध्यात्मवाद अब आत्मा की ही बात करे, यह आवश्यक नहीं है; हेगल की तरह वह बुद्धि और विचार की बात करता है। यह संसार क्या है ? विचार का ही मूर्त रूप है। पदार्थ क्या है ? चिन्तन का ही घनीभूत रूप है। इसी तरह भाषा की रचना क्यों हुई ? इसलिए हुई कि मनुष्य में बुद्धि है, मनुष्य चिन्तनशील प्राणी है।

इस तरह का मत भाषा-विज्ञानियों में ही नहीं, शरीर विज्ञानियों में भी प्रचलित है। वी. ई. नीगस इंगलैण्ड के एक प्रसिद्ध शरीर वैज्ञानिक हैं। उन्होंने घोषयंत्र (लैरिंक्स) के विकास पर एक बहुत ही महत्वपूर्ण

पानी, मैदान या सीमित स्थान में रहने वाले जीव एक-दूसरे के सहज
में रहते हैं, इसलिए उन्हें ध्वनि-संकेतों की उतनी आवश्यकता नहीं
खरगोश अपना सीमित स्थान छोड़कर दूर नहीं जाता, इसलिए मु
है। मैदान में रहने वाले हिरन से वृक्षवासी बानर अधिक मुखर
घास, झाड़ियों आदि में रहने वाले जीव भी अधिक शब्द करते हैं।
परिणाम यह निकला कि किन जातियों के पशु ध्वनि-संकेतों से काम
और किन जातियों के नहीं, यह बहुत कुछ उनके परिवेश पर नि
आहार, आत्म-रक्षा, मैथुन आदि की आवश्यकताएं सभी जीवों के
समान हैं, फिर भी ध्वनि-संकेतों के प्रयोग में काफी भिन्नता है, इसका
परिवेश की भिन्नता है। नीगस ने लिखा है कि जीवों की गतिशीलता
उनके सक्रिय जीवन से ध्वनि-संकेतों का गहरा सम्बंध है। ओरांग
गोरिल्ला कम गतिशील होते हैं; उनकी तुलना में चंचल चिम्पान्ज़ी
मुखर होता है। यह बात आंशिक रूप में सत्य है। गिद्ध और चील,
और पपीहे से कम गतिशील नहीं होते, फिर भी उनकी तुलना में कम
करते हैं। इसका कारण परिवेश की और शारीरिक गठन की भिन्नता
कोयल और पपीहे आकाशचारी से अधिक वृक्षवासी हैं। अनेक जीवों
क्रीडा-वृत्ति, अपने ही स्वर पर मुग्ध होने की प्रवृत्ति भी, उनकी मुखरता
सहायक होती है।

है। जलूस में चलते हुए लोग कभी-कभी ऐसे नारे लगाते हैं जिनका अर्थ वे खुद नहीं समझते। 'मैला आंचल' के लेखक को साक्षी मानें तो लोग इनक़लाब को किलकिलाब और जिन्दाबाद को जिन्दावाप भी कह सकते हैं। लेकिन इससे उनके उत्साह में कमी नहीं होती। 'किलकिलाब जिन्दाबाद' निरर्थक शब्दावली होकर भी यूथ प्रेरणा के लिए समुचित ध्वनि-संकेत का काम करता है। ऊपर हमने पक्षियों के चहचहाने से ख़तरे या आनन्द के बोध की बात की थी। चहचहाहट के स्वर-व्यंजन एक ही होंगे, लेकिन उदात्त-अनुदात्त भेद से उनकी व्यंजना भिन्न हो जाती है। भय से मनुष्य की घिग्घी बंध जाती है, तो उसके स्वर से उसकी परिस्थिति को समझने में कठिनाई नहीं होती। क्रोध, भय, घृणा, प्रीति आदि के भाव, शब्दों के अलावा केवल स्वर की विशेषता से पहचाने जा सकते हैं। मनुष्य और पशु में इस प्रकार की स्वर-भिन्नता द्वारा भाव-व्यंजना की यह प्रणाली सामान्य है।

पशुओं के ध्वनि-संकेतों में जो भेद दिखाई देता है, उसका कारण स्वर का उतार-चढ़ाव ही नहीं है। जैसे वे नृत्य में किन्हीं विशेष क्रियाओं में कुछ निश्चित संकेत करते हैं, वैसे ही वे कुछ निश्चित ध्वनि-संकेतों से भी काम लेते हैं। अमरीकी मनोविज्ञान शास्त्री रोबर्ट एम यर्क्स ने चिम्पान्ज़ी की ध्वनि-व्यंजनाओं का अध्ययन किया है।[1] उनकी सहयोगिनी ब्लांश डब्लू लर्नेड ने लिखा है कि उनका चिम्पान्ज़ी आहार के सन्दर्भ में 'गाफ' जैसी ध्वनि करता था। उनके शब्दों में "चिम्पान्ज़ी भाषा में 'गाफ' आहार के लिए मूल शब्द मालूम होता है।" 'भाषा' शब्द यहां [illegible] रूप में लेना चाहिए। मुख्य बात यह कि चिम्पान्ज़ी किसी विशेष परिस्थिति में एक ही शब्द करता था। उस परिस्थिति से वह ध्वनि-संकेत सम्बद्ध हो गया था। भाषा की उत्पत्ति का यही सूत्र है। निरर्थक ध्वनि किसी परिस्थिति से सम्बद्ध होकर सार्थक ध्वनि-संकेत बन जाती है, उसीको हम शब्द कहते हैं।

'गाफ' ध्वनि में कोई ऐसा तत्व नहीं है जो 'चिम्पान्ज़ी के आहार की विशेषताओं का प्रकट करता हो। 'गाफ' [illegible] कहने, [illegible] या जुगाली करने की किसी [illegible] का [illegible]। 'गाफ' ध्वनि ही भोजन के [illegible] है [illegible] नहीं। भोजन से उसकी सम्बद्धता [illegible] है। [illegible] चिम्पान्ज़ी को कुछ विशेष [illegible]

१. रोबर्ट एम यर्क्स और [illegible], चिम्पान्ज़ी इंटेलिजेन्स एंड इट्स वोकल एक्सप्रेशन, [illegible], १९२५।

सूक्ष्म चिन्तन-क्षमता के कारण शुरू किया, तो यह भाषा सम्बन्धी स्थापना सही होगी।

भाषा के बारे में एक भ्रान्ति यह है कि वह केवल विचार प्रकट करती है। यह धारणा उतनी ही भ्रान्त है जितनी यह कि कलात्मक साहित्य केवल विचारधारा को व्यंजित करने का साधन है। विचार का आधार क्या है? मनुष्य का इन्द्रिय-बोध, वह मूर्त भौतिक संसार जिसे मनुष्य अपनी इन्द्रियों से पहचानता है। जब तक मनुष्य संसार के मूर्त पदार्थों, क्रियाओं को नाम नहीं देता, तब तक उसे विचारक्रिया के लिए आधारभूत सामग्री ही प्राप्त नहीं होती। तुलसीदास के शब्दों में : "देखिअहिं रूप नाम आधीना। रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना॥" रूप नाम के अधीन होता है, नाम के बिना रूप का 'ज्ञान' नहीं होता। यह रूप का ज्ञान सूक्ष्मचिन्तन नहीं है, वरन् वह गोचर आधार है जिससे सूक्ष्मचिन्तन संभव होता है।

शरीर विज्ञान की उपरोक्त पाठ्य-पुस्तक में एक अन्य वैज्ञानिक कोनरादी ने लिखा है कि भाषा का व्यवहार सूक्ष्म चिन्तन क्रिया का परिचायक है। कोई भी शब्द जिस पदार्थ की व्यंजना करता है, उससे उसका — अर्थात् शब्द और पदार्थ का — अभिन्न सम्बन्ध नहीं है। कोनरादी के अनुसार शब्द-संकेतों की रचना पदार्थ के स्थूल गुणों से अलग होने की सूक्ष्म प्रक्रिया है।

पशु-पक्षी जिन ध्वनि-संकेतों से काम लेते हैं, वे भी व्यंजित परिस्थिति या पदार्थ के गुणों से जुड़े हुए नहीं होते। ध्वनि-क्रिया वस्तु से सम्बद्ध मात्र होती है, उसके गुणों का प्रतिरूप नहीं होती। यदि कोई पक्षी आहार-प्राप्ति के लिए दूसरे पक्षियों को ध्वनि-संकेत करता है तो इसका यह अर्थ नहीं है कि आहार (या भूख) के गुण उस ध्वनि से प्रकट होते हैं। वस्तु के गुणों से ध्वनि-संकेत की भिन्नता मनुष्य से पहले पशुओं में ही देखी जाती है।

एक प्रश्न और है : क्या पशुओं में भी चिन्तन-क्षमता होती है? मनुष्य में यदि सूक्ष्म-चिन्तन की योग्यता है, तो क्या यह योग्यता स्थूल चिन्तन के आधार पर विकसित नहीं हुई? क्या यह स्थूल चिन्तन मनुष्य और पशु में कभी समान रूप से विद्यमान नहीं रहा? जो लोग विचार-प्रक्रिया के बारे में भाववादी या अध्यात्मवादी दृष्टिकोण से सोचते हैं, विचार के मूर्त आधार को अस्वीकार करते हैं, वे कहेंगे कि स्थूल चिन्तन जैसी कोई चीज नहीं है, चिन्तन सूक्ष्म (अमूर्त) ही होता है और वह मनुष्य की ही विशेषता है। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध वैज्ञानिक पावलोव का मत विचारणीय है।

पावलोव से पहले पदार्थ और चेतना का द्वंद्व वर्तमान था; प्रश्न यह किया जाता था कि इनमें कौन प्रधान है, कौन गौण है, अथवा पहले चेतना थी कि पदार्थ था। दर्शन के इस मूलभूत प्रश्न से ही भाषा की उत्पत्ति का

सदा भी जुड़ा हुआ है। यदि हम चेतना और पदार्थ में मौलिक भि
स्वीकार करें, तो भाषा को मनुष्य की विशेष चेतना की देन ही मानेंगे। य
हम पदार्थ को प्रधान मानें और चेतना को गौण मानें, पदार्थ और चे
के द्वंद्व से हम बच नहीं सकते, और जहां हम द्वंद्व को स्वीकार किया, य
भाषा की उत्पत्ति भी शुद्ध बुद्धि से स्वीकार करते रहेंगे। इस गुत्थी
पावलोव ने सुलझाया था। उससे पहले भौतिकवादी विचारक यह तो मानते
थे कि आदमी दिमाग से सोचता है और दिमाग एक भौतिक पदार्थ है—भारत
के अनेक दार्शनिक भी मन को इन्द्रिय मानते थे, बुद्धि को कोई अगोचर तत्व
न कहते थे— किन्तु चिंतन क्रिया कैसे सम्पन्न होती है, इसकी व्याख्या
उनके पास नहीं थी। पावलोव ने शुद्ध मानसिक क्रियाओं के अस्तित्व से ही
इन्कार किया; वे शरीर विज्ञानी थे, उन्होंने मनोविज्ञान को शरीरविज्ञान की
कसौटी पर परखा और इस नतीजे पर पहुंचे कि जिन्हें हम शुद्ध मानसिक
क्रियाएं कहते हैं, वे मूलतः भौतिक क्रियाएं हैं।

पशु और मनुष्य के पास स्नायुतंत्र है; ज्ञान और कर्म की प्रक्रिया इसी
स्नायुतंत्र से संभव होती है। बाह्य पदार्थ (और शरीर के भीतर के तत्व भी)
ग्राहिकाओं (इंद्रियों) पर आघात करते हैं। यह आघात स्नायविक उत्तेजना
बनकर स्नायुतंतुओं द्वारा केन्द्रीय स्नायुतंत्र तक पहुंचता है। वहां से यह
अन्य स्नायुतंतुओं द्वारा कर्मेन्द्रिय तक पहुंचता है और उस इंद्रिय के कोषों
(cells) की विशेष क्रिया में बदल जाता है। इस समस्त व्यापार का नाम
है रिफ्लेक्स। पावलोव के अनुसार यह स्नायविक प्रतिक्रिया ही चेतना, ज्ञान
और बुद्धि का मूलाधार है।

वैज्ञानिक कोएलर ने चिम्पाञ्जी के व्यवहार का अध्ययन करके उ
अभौतिक बुद्धि तत्व की सत्ता मानी थी। पावलोव ने उसके 'बौद्धिक' का
को भौतिक सिद्ध किया। मान लीजिए, आपने कमरे की छत से कु
फल टांग दिये। चिम्पाञ्जी उन तक पहुंच नहीं पाता। वह कमरे में र
हुए कुछ बक्स और छड़ी को देखता है, लेकिन उन्हें इस्तेमाल करना नहीं
जानता। वह प्रयत्न करता है और असफल रहता है। कोएलर के अनुसार
वह थक कर बैठ जाता है और 'सोचता' है और कुछ समय बाद बक्सों
को ठीक से एक के ऊपर एक रखकर फल उतार लेता है। पावलोव के अनुसार
चिम्पाञ्जी का स्नायुतंत्र बक्सों, छड़ी आदि से अस्थायी सम्बंध कायम करता
है। अपने वन्य जीवन में उसने बाह्य पदार्थों से कुछ स्थायी सम्बंध कायम
किये थे; उनके आधार पर वह इन नये पदार्थों से काम लेने की कोशिश करता
है। वह बक्सों को एक ढंग से रखता है और असफल होता है; तब फिर वह
उस ढंग को छोड़ देता है और दूसरे के जरिए फल पाने की कोशिश करता है।

बाह्य पदार्थ पशुओं की इन्द्रियों पर जो आघात करते हैं, पशु उसका विश्लेषण और संश्लेषण (अथवा विघटन और संगठन) करते हैं। यह प्राथमिक मूर्त चिन्तन है।[1] यह मूर्त चिन्तन पशु और मनुष्य में सामान्य है। इस मूर्त चिन्तन के बिना भाषा की रचना असम्भव है। पावलोव भाषा को द्वितीय संकेत-प्रक्रिया कहते थे। प्रथम संकेत-प्रक्रिया वह है जिसमें पदार्थ हमारी इन्द्रियों द्वारा स्नायुतंत्र से सम्बन्ध कायम करते हैं। दूसरे शब्दों में पहले हम अपनी इन्द्रियों द्वारा गोचर संसार के सम्पर्क में आते हैं, फिर इस गोचर संसार को—जिसमें हम स्वयं भी शामिल हैं—ध्वनि-संकेतों से अभिहित करते हैं। पावलोव सिद्धान्त से यह निष्कर्ष निकला कि चिन्तन की आधारभूत मूर्त प्रक्रिया पशु और मनुष्य दोनों में है। भाषा इस मूर्त परिचय को व्यक्त

---

१. सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ पावलोव, पृष्ठ ५८१।

२. उपरोक्त, पृष्ठ २७४।

प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। यदि हम चेतना और पदार्थ में मौलिक भिन्नता स्वीकार करें, तो भाषा को मनुष्य की विशेष चेतना की देन ही मानेंगे। भले ही हम पदार्थ को प्रधान मानें और चेतना को गौण मानें, पदार्थ और चेतना के द्वंद्व से हम बच नहीं सकते; और जहां इस द्वंद्व को स्वीकार किया, वहीं भाषा की उत्पत्ति भी शुद्ध बुद्धि से स्वीकार करके रहेंगे। इस गुत्थी को पावलोव ने सुलझाया था। उनसे पहले भौतिकवादी विचारक यह तो मानते थे कि आदमी दिमाग से सोचता है और दिमाग एक भौतिक पदार्थ है—भारत के अनेक दार्शनिक भी मन को इन्द्रिय मानते थे, बुद्धि को कोई अगोचर सत्ता न कहते थे — किन्तु चिन्तन क्रिया कैसे सम्पन्न होती है, इसकी व्याख्या इनके पास नहीं थी। पावलोव ने शुद्ध मानसिक क्रियाओं के अस्तित्व से ही इन्कार किया; वे शरीर विज्ञानी थे, उन्होंने मनोविज्ञान को शरीरविज्ञान की कसौटी पर परखा और इस नतीजे पर पहुंचे कि जिन्हें हम शुद्ध मानसिक क्रियाएं कहते हैं, वे मूलतः भौतिक क्रियाएं हैं।

पशु और मनुष्य के पास स्नायुतंत्र है; ज्ञान और कर्म की प्रक्रिया इसी स्नायुतंत्र से संभव होती है। बाह्य पदार्थ (और शरीर के भीतर के तत्व भी) ग्राहिकाओं (इंद्रियों) पर आघात करते हैं। यह आघात स्नायविक उत्तेजना बनकर स्नायुतंतुओं द्वारा केन्द्रीय स्नायुतंत्र तक पहुंचता है। वहां से वह अन्य स्नायुतंतुओं द्वारा कर्मेन्द्रिय तक पहुंचता है और उस इंद्रिय के कोशों (cells) की विशेष क्रिया में बदल जाता है। इस समस्त व्यापार का नाम है रिफ्लेक्स। पावलोव के अनुसार यह स्नायविक प्रतिक्रिया ही चेतना, ज्ञान और बुद्धि का मूलाधार है।

है', तो एक विचार को एक से अधिक भाषा में प्रकट ही न किया जा सके।
अनुसार सभी स्पष्ट दोनों भाषाओं को समान उच्चारणी लिए वस्तुओं की ओर
संकेत करती है, वे उत्तम और उनसे हमारे स्नायविक का संपर्क ही यह मूर्त
स्थापित है जिसके कारण एक भाषा का स्थान दोनों हो दूसरी भाषा की
उच्चारणी तक पहुंचने की प्रवृत्ति में 'पद' गुम नहीं हो जाता।

शब्द को हम अधिक उत्तेजक मानते हैं किन्तु यह हमारे लिए संकेत
मात्र नहीं रह जाता। हमारे लिए सापेक्ष रूप से उसकी तरह स्वतन्त्र सत्ता
कायम हो जाती है। भाषा हमारी संस्कृति का अंग है। इसलिए भाषा के
विभिन्न शब्द वाचिक उत्तेजक मात्र न रहकर स्वयं उत्तेजक भी बन जाते हैं।
हम अपनी भाषा के शब्दों को इसीलिए प्यार नहीं करते कि, वे विभिन्न
पदार्थों और व्यापारों की ओर संकेत करते हैं वरन् इसलिए भी — और
मुख्यतः इसीलिए—कि वे हमारे हैं उनसे हमारा और हमारे पूर्वजों का सम्बन्ध
रहा है, इसलिए हिन्दुस्तानी बच्चे जब मा को मम्मी कहते हैं, तो हमें बुरा
लगता है, यद्यपि संकेतित पदार्थ में कोई अन्तर नहीं आता।

भाषा की विशेषता यह है कि एक ओर यह सहज और बाधित उत्तेजक
है, दूसरी ओर यह सहज और बाधित प्रतिक्रिया भी है। विभिन्न परिस्थितियों
में पशु-पक्षी सहज स्वतःस्फूर्त ध्वनियां करते हैं। ये ध्वनियां स्वतःस्फूर्त होती
हैं, इसलिए वे पशु-पक्षियों की सहज ध्वन्यात्मक प्रतिक्रिया है। मनुष्य जब
दुख में 'हाय-हाय' करता है, तब यह शब्द उसकी ध्वन्यात्मक प्रतिक्रिया है,
न कि दुख को प्रकट करने का ध्वनि-संकेत। भाषा के आदि काल में इस तरह
की प्रतिक्रियावाली सहज ध्वनियां अधिक रही होंगी। किसी पशु को यह पता
चल जाय कि विशेष परिस्थितियों में विशेष ध्वनि करने से उसका उद्देश्य सफल
होगा, तो इस तरह की ध्वनि बाधित प्रतिक्रिया होगी, न कि सहज प्रतिक्रिया।

करने का साधन है। सूक्ष्म चिन्तन बाद की मंजिल है। भाषा की उत्पत्ति प्राथमिक मूर्त चिन्तन से होती है, न कि उच्चतर सूक्ष्म चिन्तन से।

पावलोव से भाषा की उत्पत्ति के बारे में हम एक बात और सीखते हैं। जैसे हमारा स्नायुतंत्र बाह्य पदार्थों से स्थायी-अस्थायी सम्बंध कायम करता है, वैसे ही हम इन पदार्थों से कुछ ध्वनियों का सम्बंध भी कायम करते हैं। कुत्ते को यदि मांस का टुकड़ा दिखाया जाय, तो उसके मुंह में पानी आ जायगा। मांस उत्तेजक पदार्थ हुआ; मुंह में पानी आना कुत्ते की सहज प्रतिक्रिया हुई। यदि उसे मांस देते समय घंटी बजायी जाय तो उसका स्नायुतंत्र मांस और घंटी की आवाज में सम्बंध कायम कर लेगा। मांस के अभाव में घंटी की आवाज से ही उसे लगेगा कि मांस आनेवाला है और उसके मुंह में पानी आ जायगा। घंटी की आवाज मांस के समान कुत्ते के लिए सहज उत्तेजक वस्तु नहीं है। उसे उत्तेजक बनाया गया है। उसे बाधित उत्तेजक कहा जायगा। भाषा इसी प्रकार का एक बाधित उत्तेजक है।

मदारी बन्दर और भालू को नचाते हुए कुछ शब्द कहता है जिसका 'अर्थ' वे समझते हैं। यह अर्थ क्या है? अर्थ यह है कि उस ध्वनि के साथ बंदर या भालू कोई क्रिया विशेष सम्पन्न करेगा तो उसे इनाम मिलेगा, वर्ना उसकी पिटाई होगी। इसी प्रकार लोग कुत्तों को बहुत शब्द सिखा देते हैं, जिसका अर्थ है कि कुछ ध्वनियों से कुत्तों के स्नायुतंत्र ने कुछ कार्यों का सम्बंध जोड़ लिया है। इधर आ, बैठ, खड़ा हो, आदि आज्ञाएं मिलने पर शिक्षित कुत्ता उन्हीं के अनुरूप काम करता है। जैसे चिम्पाञ्जी के लिए 'गाक' ध्वनि आहार से सम्बद्ध हो गयी थी, वैसे ही मनुष्य ने अनेक पदार्थों और कार्यों से कुछ ध्वनियों को हठात् सम्बद्ध किया। यही ध्वनि-संकेत भाषा की मूल पूंजी बनते हैं और उनके आधार पर परिस्थितियों के अनुसार नयी शब्दावली गढ़ी जाती है।

शब्द और अर्थ का मूर्त सम्बंध यह है कि शब्द द्वारा हमें किसी पदार्थ या कर्म का बोध होता है जिससे वह ध्वनि-संकेत सम्बद्ध हो गया है। शब्द स्वयं वह पदार्थ नहीं है, वह किसी की ओर संकेत भर करता है। इसलिए हम उसे बाधित उत्तेजक कहते हैं। जैसे 'मां' शब्द कहने पर हमें अपनी जन्मदात्री का बोध होता है, अन्य लोगों को यही बोध 'ममी' कहने से होता है। मां या ममी की ध्वनियों में कोई ऐसा गुण नहीं है जो जननी के गुणों का प्रतिबिम्ब हो। शब्द और अर्थ का सम्बंध ध्वनि और उससे सम्बद्ध किये हुए पदार्थ का ही सम्बंध है। यह सम्बंध अटूट और अविच्छेद्य नहीं है। एक भाषा से दूसरी भाषा में किसी रचना का अनुवाद करते समय संक्रमण की दशा में विचार की स्थिति कहां होती है? यदि शब्द और अर्थ निरपेक्ष रूप से अभिन्न

हों, तो एक विचार को एक से अधिक भाषा में प्रकट ही न किया जा सके। अनुवाद करते समय दोनों भाषाओं की समान शब्दावली जिन वस्तुओं की ओर संकेत करती है, वे वस्तुएँ और उनसे हमारे स्नायुतंत्र का सम्बन्ध ही वह मूर्त आधार है जिसके कारण एक भाषा का सहारा छोड़ते हुए दूसरी भाषा की शब्दावली तक पहुँचने की प्रक्रिया में 'अर्थ' लुप्त नहीं हो जाता।

शब्द को हम बाधित उत्तेजक मानते हैं किन्तु वह हमारे लिए संकेत मात्र नहीं रह जाता। हमारे लिए सापेक्ष रूप से उसकी एक स्वतन्त्र सत्ता कायम हो जाती है। भाषा हमारी संस्कृति का अंग है। इसलिए भाषा के विभिन्न तत्त्व बाधित उत्तेजक मात्र न रहकर सहज उत्तेजक भी बन जाते हैं। हम अपनी भाषा के शब्दों को इसीलिए प्यार नहीं करते कि वे विभिन्न पदार्थों और व्यापारों की ओर संकेत करते हैं, वरन् इसलिए भी—और मुख्यतः इसीलिए—कि वे हमारे हैं, उनसे हमारा और हमारे पूर्वजों का सम्बन्ध रहा है; इसलिए हिन्दुस्तानी बच्चे जब माँ को मम्मी कहते हैं, तो हमें बुरा लगता है, यद्यपि संकेतित पदार्थ में कोई अन्तर नहीं आता।

भाषा की विशेषता यह है कि एक ओर यह सहज और बाधित उत्तेजक है, दूसरी ओर यह सहज और बाधित प्रतिक्रिया भी है। विभिन्न परिस्थितियों में पशु-पक्षी कुछ स्वतःस्फूर्त ध्वनियाँ करते हैं। ये ध्वनियाँ स्वतःस्फूर्त होती हैं, इसलिए वे पशु-पक्षियों की सहज ध्वन्यात्मक प्रतिक्रिया हैं। मनुष्य जब दुःख में 'हाय-हाय' करता है, तब यह शब्द उसकी ध्वन्यात्मक प्रतिक्रिया है, न कि दुःख को प्रकट करने का ध्वनि-संकेत। भाषा के आदि काल में इस तरह की प्रतिक्रियावाली सहज ध्वनियाँ अधिक नहीं होंगी। किसी पशु को यह पता चल जाय कि विशेष परिस्थितियों में विशेष ध्वनि करने से उसका उद्देश्य सधता होगा, तो इस तरह की ध्वनि बाधित प्रतिक्रिया होगी, न कि सहज प्रतिक्रिया। [illegible]न्तु कभी-कभी बच्चों के रोने की नकल करता है और शिकारियों [illegible]ी—या पोसने की ओर [illegible] को—धोखा देता है। इस तरह [illegible] ध्वनि बाधित प्रतिक्रिया मानी जायगी, क्योंकि [illegible] के लिए यह सहज और [illegible] मजाल नहीं है। उसने उसे विशेष परिस्थितियों में [illegible]। मनुष्य ने भी [illegible]रूप परिस्थितियों में विशेष ध्वन्यात्मक [illegible] करना सीख लिया [illegible]

[illegible] अंग्रेज अफसर [illegible] [illegible]ा था—हम ऐसा मानते हैं। [illegible] हिन्दुस्तानी [illegible] [illegible] की यह बाधित प्रतिक्रिया हुई। [illegible] विशेष वस्तुओं, व्यक्तियों या वस्तुओं के [illegible] [illegible] भावात्मक [illegible] होता है। [illegible] [illegible] पदार्थों से [illegible]

यह प्रत्यक्ष इन्द्रियबोध प्रथम संकेत-पद्धति हुआ; इन्हीं पदार्थों से ध्वनियों का सम्बंध-स्थापन द्वितीय संकेत-पद्धति हुआ। दोनों ही पद्धतियों में मूलभूत एकता है। सम्बंध-स्थापना की प्रणाली दोनों में मूलतः एक है। ऐसा होना स्वाभाविक है, क्योंकि भाषा की उत्पत्ति इन्द्रियों की स्वतःस्फूर्त प्रतिक्रिया से होती है। जो इन्द्रियां किसी पदार्थ के पहचान का माध्यम हैं, वही उनके नामकरण का माध्यम भी हैं। जैसे पहचान में पदार्थ से स्थायी और अस्थायी सम्बध कायम किये जाते हैं, वैसे ही नामकरण में भी कायम होते हैं, यद्यपि यह क्रिया अक्सर हमारी आंखों से ओझल रहती है और हमें लगता है कि ध्वनि और पदार्थ का सम्बध सदा से पूर्व निश्चित है। आजकल हिन्दी में पारिभाषिक शब्दों की रचना हो रही है। इंद्रियों द्वारा ग्रहीत पदार्थ को हम अंग्रेजी के माध्यम से 'स्टिमुलस' संज्ञा द्वारा अभिहित करते हैं। इसके लिए एक हिन्दी शब्द है उद्दीपक; अन्य शब्द है उत्तेजक। यदि उत्तेजक शब्द का चलन हो जाय तो 'स्टिमुलस' द्वारा ज्ञापित पदार्थ से उसका सम्बंध अस्थायी से बदलकर स्थायी रह जायगा और 'उद्दीपक' का सम्बध अस्थायी ही रहकर खत्म हो जायगा। हिन्दी मे तीर्थ किसी धार्मिक स्थान को कहते हैं; दक्षिण की कुछ भाषाओं में उसका अर्थ है जल। गंगा या गांग कुछ भाषाओं में साधारण नदी वाचक शब्द है; हिन्दी मे यह नदी विशेष का सूचक भी है। मृग हरिण के लिए प्रयुक्त होता है; दक्षिण की कुछ भाषाओं में मृग का अर्थ है पशु। हिन्दी में शिक्षा का सम्बंध सीखने-सिखाने से है, मराठी में उसका सम्बंध ताड़ना से है। हिन्दी में अनर्गल शब्द निरर्थक शब्द प्रवाह का सूचक है; तेलगु में उसकी व्यंजना है—धाराप्रवाह भाषण। इस तरह की सैकड़ों मिसालें एकत्र की जा सकती हैं जिससे हम देखते हैं कि ध्वनि एक ही है किन्तु उसके द्वारा संकेतित पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं। यह तभी सम्भव है जबकि एक स्थिति या काल में ध्वनि और पदार्थ का जो सम्बंध स्थायी लगता था, वही अन्य स्थिति और काल में अस्थायी हो जाय और उसका स्थान भिन्न पदार्थ वाला स्थायी सम्बंध ले ले। संसार के पदार्थ और क्रियाएं ही जब परिवर्तनशील हैं, तब ध्वनियों से उनका सम्बंध ही कैसे अपरिवर्तनशील रह सकता है? मुख्य बात यह है कि भाषा-रचना का साधारण क्रम यह है कि मनुष्य अजाने, बिना सोचे-समझे, स्वतः-प्रेरित ढंग से ध्वनि और पदार्थ का स्थायी-अस्थायी सम्बध बनाता है।

मनुष्य ने भाषा की रचना अपनी विशेष बौद्धिक प्रतिभा के कारण नहीं की, इसका एक प्रमाण और है। बच्चे भाषा कैसे सीखते हैं? आरम्भ में वे निरर्थक ध्वनियां करते हैं, केवल ध्वनि करना सीखते हैं। अनेक अस्पष्ट ध्वनियों के बीच वे कुछ निश्चित और स्पष्ट ध्वनियां भी करते हैं। इन ध्वनियों से किन्हीं वस्तुओं, व्यक्तियों आदि का सम्बंध जोड़ना सीखते हैं। यह सम्बंध

स्थायी भी होता है। हमारे पडोस की एक लडकी को उसके माता-पिता 'बच्चा' कहकर पुकारते थे। लडकी 'बच्चा' को संबोधन मात्र के लिए उपयुक्त समझ कर अपने माता-पिता को भी बच्चा कहती थी। ठीक यही क्रिया 'तात' शब्द के साथ घटित हुई थी; पिता भी 'तात' है, पुत्र भी 'तात' है। 'तात' ध्वनि से पिता-पुत्र वाले दोनो सम्बंध स्थायी हो गये। पडोस की लडकी वाले उदाहरण मे 'बच्चा' का सनातन सम्बंध ही कायम रहा; उस लडकी ने कुछ दिन बाद माता-पिता से उसके अस्थायी सम्बंध को भुला दिया। बच्चा स्वय निरर्थक ध्वनियां करता है और इन निरर्थक ध्वनियो मे कुछ को सार्थक भी बना लेता है, सुनी हुई और अपनी स्वत.स्फूर्त ध्वनियो से वह वस्तुओ का अस्थायी सम्बंध कायम करता है — भाषा के निर्माण की भी यही प्रक्रिया है। जैसे गर्भ मे शिशु मानव-विकास की सारी मजिलें पार करता है, वैसे ही गर्भ से बाहर आने पर वही शिशु भाषा सीखने मे भाषा-निर्माण क्रिया की सारी मजिलें पार करता है। जैसे गर्भ मे वह मानव-पूर्व मजिलें बहुत जल्दी पार करता है और उसके शेष जीवन की तुलना मे यह अवधि बहुत छोटी होती है, वैसे ही जन्म के बाद वह भाषा-निर्माण की प्राथमिक मंजिलें बहुत जल्दी पार करता है और उसके पूर्वज जो भाषा-निधि अर्जित कर चुके हैं, उससे पूर्ण लाभ उठाता है। प्राथमिक मंजिलें पार करने का महत्व यह है कि भाषा-निर्माण की बुद्धि-निरपेक्ष क्रिया स्पष्ट हो जाती है। प्रारम्भ मे मानव शिशु भाषा के मामले मे अन्य पशु-शावको से बहुत भिन्न नही होता।

देलोव ने इस सम्बध मे लिखा है कि पहले वर्ष के अन्त तक अव्यक्त और अस्पष्ट ध्वनिया शिशु की व्यक्त और स्पष्ट ध्वनिया (शब्द) बनने लगती हैं। पहले वर्ष के अन्त मे बच्चा चार-पाच शब्द बोलने लगता है, उसकी मुखर प्रतिक्रियाए बाधित उत्तेजक (अर्थात् ध्वनि-सकेत) का रूप लेती हैं। दूसरे वर्ष मे उसका शब्द भंडार सवर्द्धित होता है और उसमे दो सौ से चार सौ शब्द तक हो जाते हैं। साथ ही भाषा की व्याकरण-व्यवस्था भी निर्मित होने लगती है। "जीवन के दूसरे वर्ष मे बच्चे मे सूक्ष्म चिन्तन के प्रथम चिन्ह दिखाई देते हैं।" ध्यान देने की बात है कि सूक्ष्म चिन्तन के प्रथम चिन्हो के प्रकट होने से पहले ही बच्चा भाषा के कुछ मूल उपादान एकत्र कर चुका है। भाषा सीखने की पहली मजिल से सूक्ष्म चिन्तन का सम्बध नही है। भाषा की उत्पत्ति पहले है, सूक्ष्म चिन्तन बाद को है।

शरीर विज्ञान की पाठ्य-पुस्तक मे देलोव ने लिखा है कि भाषा मनुष्य मे अन्तर्निहित (inherent) है। वास्तव मे भाषा मनुष्य की जन्मजात प्रतिक्रिया नही है। भेडियो के बीच कोई मानव शिशु रहे, तो वह भेडियों के समान ही शब्द करने लगता है। पशु भाषा का निर्माण क्यो नही कर सके

स्तनपायी . . . है।
स्तनपायी जीवों की श्रवण शक्ति सभी प्राणियों से अधिक विकसित
होती है। निम्न पशुओं मे मात्र प्रकाश और अन्धकार का भेद कर
सकती है। उच्च पशुओं मे वस्तुओं के आकार, दूरी, रंग, आदि का भेद पह-
चानने की क्षमता होती है। मनुष्य की त्वचा अन्य सभी जीवों की तुलना मे
अधिक सूक्ष्म प्रभाव ग्रहण कर सकती है। शीत और ऊष्मा की अनुभूति,
स्पर्शबोध, संवेदन — यह सब पशुओं को भी होता है, लेकिन मनुष्य में इस
तरह का बोध अधिक सूक्ष्म होता है। इन्द्रिय बोध मे — अर्थात् बाह्य परिवेश
से परिचित होने मे — मानव सभी पशुओं मे बढ़कर है। प्राकृतिक परिवेश
का मुकाबला करने मे निरस्त्र मानव अन्य पशुओं से कमजोर पड़ता है, किन्तु
अपने उच्चतर इन्द्रियबोध के कारण वह इस परिवेश से पूर्ण परिचित ही नही
होता, वरन् उसे अनुकूल बनाने के लिए नये-नये उपाय भी ढूंढ निकालता है।

नीगस का मत है कि आदि मानव वनवासी और शाकाहारी था।
मांसाहारी पशु भोजन को चबाते नही है, इसलिए उनके मुख और कपोलों
का विकास नही होता। मानव अन्य पशुओं की तुलना मे शाकाहार के कारण

[illegible] कठोर तालु और कोमल तालु से संयुक्त रहे। दोनों के बीच अन्तर उत्पन्न हो जाता है। ध्वनि-संकेतों के विकास और उच्चारण में कठोर तालु और कोमल तालु के इस अन्तर का निर्णायक महत्त्व है। यह विशेषता मनुष्य के निकटवर्ती उच्च श्रेणी के वनमानुषों में ही मिलती है। इस अन्तर के कारण मनुष्य स्वर और व्यंजनों के रूप में सुस्पष्ट और सुनिश्चित ध्वनियाँ निकालने में समर्थ हुआ। वृक्षों में रहने के कारण मनुष्य को अन्य पशुओं के समान ही ध्वनि-संकेतों के व्यवहार की भी आवश्यकता पड़ी। इसमें वह अन्य पशुओं से अधिक सक्षम सिद्ध हुआ।

मनुष्य के निकटवर्ती वनमानुषों के जबड़े आगे को बढ़े हुए होते हैं, माथा पीछे को दबा हुआ होता है। इसके विपरीत मनुष्य का माथा आगे को बढ़ा हुआ और जबड़े पीछे को हटे हुए होते हैं। बदलते हुए परिवेश से प्राणी का सम्पर्क सिर से ही होता है। दिमाग के सबसे पेचीदा भाग सिर के सबसे अगले हिस्से में विकसित हुए। निम्न श्रेणी के जीवों से भिन्न उच्च श्रेणी के पशुओं में मस्तिष्क और इन्द्रियों के बीच दीर्घ सूचना सूत्र होते हैं। परिवेश में कोई तबदीली हुई, इन्द्रियों ने सन्देश भेजा, मस्तिष्क से उसका उत्तर कर्मेन्द्रिय को भेजा गया। यह सूचना-कार्य स्नायुतन्त्र द्वारा होता है। पशु के स्नायुतन्त्र में जितनी ही अधिक संख्या में स्नायुकोश (neurons) होते हैं, उतना ही अधिक उसमें यह क्षमता होती है कि वह बाह्य उत्तेजक पदार्थों के प्रति अपने उत्तर में हेरफेर कर सके।[1] साधारण स्नायुतन्त्रवाले पशु परिवेश में

---

१. रैनसन और क्लार्क, द अनाटोमी ऑफ द नर्वस सिस्टम, सौंडर्स एंड कम्पनी, १९५७।

निक फोडमैन ने कुत्ते पर प्रयोग करके दिखलाया था कि मस्तिष्क के संचालन-वलय (motor gyrus) को प्रेरित करने से कुत्ते के मुंह से भूंकने की आवाज निकाली जा सकती है। १९३५ में पेनफील्ड सचेत अवस्था के एक रोगी के पूर्वकेन्द्रीय वलय (precentral gyrus) को प्रेरित करके उसमें आवाज उत्पन्न करा सके। १९३६ से १९४७ तक पेनफील्ड और उनके सह-योगियों ने मस्तिष्क के २०६ आपरेशन किये। इनमें ५१ केसों में वे आवाज उत्पन्न कराने में सफल हुए। इन ५१ केसों में तीन-चौथाई केस ऐसे थे जिनमें आवाज पूर्वकेन्द्रीय वलय को प्रेरित करने से उत्पन्न हुई थी और एक चौथाई पश्चकेन्द्रीय वलय (postcentral gyrus) को प्रेरित करने से उत्पन्न हुई थी। इससे सिद्ध हुआ कि मस्तिष्क में भाषण के केन्द्रस्थल का निश्चित पता चल सकता है। उस पर दूसरा आदमी अपना नियंत्रण कायम कर सकता है; वह उससे कुछ ध्वनियां भी उत्पन्न करा सकता है। यह स्पष्ट है कि मानव-मस्तिष्क में भाषण क्षमता का भौतिक आधार है, जिसे प्रेरित या नष्ट किया जा सकता है। पेनफील्ड के उपर्युक्त ५१ केसों में एक बात और दिलचस्प है। आधे केस ऐसे थे जिनमें ध्वनि-क्रिया ओठों के स्वतः हिलने से सम्बद्ध थी। एक चौथाई ऐसे थे जिनमें ध्वनि-क्रिया मुंह, जीभ, दाढ़, आदि के संचालन या उनमें किसी प्रकार के संवेदन से सम्बद्ध थी। शेष एक चौथाई केसों में ध्वनि-क्रिया के साथ अवयवों की अन्य कोई ऐसी हरकत नहीं हुई जिसे देखा जा सकता। सबसे अधिक केस वही थे जिनमें ओठ हिले थे। शायद ओठ हिलाना आदि-मानव के लिए जबान हिलाने से आसान था। माताएं मम्-मम्, बब्-बब्, पप्-पप् जैसी ध्वनियां करके बच्चों को सरल ओष्ठ्य वर्णों का उच्चारण सिखाती हैं। संभवत: मस्तिष्क में भाषण-केन्द्रस्थल की न्यूनतम प्रेरणा से ओठ हिल सकते हैं; जबान लौटाने में अधिक प्रयास आवश्यक होता है। संसार की प्राय: सभी भाषाओं में प, ब, म वर्णों का सर्वाधिक प्रसार है।

शरीर के जिन अवयवों से हम ध्वनि करते हैं, उनकी हरकत इस बात पर निर्भर है कि मस्तिष्क में ऐसे केन्द्रस्थल हैं या नहीं जो उनका संचालन कर

इससे यह भी सिद्ध हुआ कि परिवेश और प्राणी की आवश्यकताओं पर ही सब कुछ निर्भर नहीं है। भाषा-रचना के लिए अपेक्षित शारीरिक विकास भी होना चाहिए। किसान अपने पशुओं के लिए कहते हैं, बेचारों के बोल-चाल नहीं है। इसका अर्थ यह है कि पशु बोल तो नहीं पाते, लेकिन मनुष्य की बहुत सी बातें समझ लेते हैं। प्रेमचंद ने 'दो बैलों की कथा' में किसानों के इसी अनुभव को रचनात्मक रूप दिया है। संचालन केन्द्रों के अविकसित होने से अधिकांश पशु मानव-ध्वनियों का अनुकरण नहीं कर पाते।

मनुष्य का घोषयंत्र अन्य सभी पशुओं से अधिक विकसित है। नीगस ने घोषयंत्र के विकास पर जो ग्रंथ लिखा है, उसमें उन्होंने भाषा-रचना के लिए मानवीय घोषयंत्र की निर्णायक भूमिका नहीं मानी। उनके अनुसार बिल्ली में भी यदि बुद्धि होती, तो वह अपनी सीमित ध्वनियों से भाषा गढ़ सकती थी। किन्तु नीगस के दिये हुए तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य का मस्तिष्क जैसे अन्य सभी पशुओं से अधिक विकसित है, वैसे ही उसका घोषयंत्र अन्य सभी प्राणियों से अधिक विकसित है। उसके पास ध्वनियों की विभिन्नता और बहुलता है जिससे वह आवश्यकतानुसार संकेतों का [illegible] [illegible] सकता है। [illegible] मानवजाति विकास मार्ग की जो विभिन्न मंजिलें [illegible]

उभयचारियों (amphibians) में वायुनिष्कासन पेशी-तंतुओं द्वारा पंजरों को संकुचित करने से होता है। पक्षी उरोस्थि (sternum) और पसलियों को हरकत से यही किया करते हैं। इन जातियों में स्तनपायी जीवों के समान उदरपटल नहीं होता। उदरीय अन्तरंग (abdominal viscera) और पेशीय पूर्व उदर-प्राचीर (muscular anterior abdominal wall) के दबाव से उदरपटल ऊपर चढ़ता है और पसलियों द्वारा फेफड़े दबते हैं। इसमें वायु स्वेच्छानुसार श्वासनली और घोषयंत्र से निकाली जा सकती है। अधिकांश स्तनपायी जीवों में ऊपर की पसलियां स्थिर होती हैं, किन्तु बन-मानुषों और मनुष्य में ये किंचित् गतिशील होती हैं। इसलिए अन्य पशुओं की अपेक्षा मनुष्य वायु-निष्कासन पर अधिक नियंत्रण कर सकता है।

मनुष्य का गल-प्रतिस्वनक (pharyngeal resonator) उसकी अपनी विशेषता है। यह दूसरे स्तन्यों में नहीं होता। मनुष्य का घोषयंत्र गर्दन में धंसा हुआ होता है। उसका कंठपिधान कोमल तालु से जुदा होता है। इससे मनुष्य के पास विशद गलगुहा होती है। ध्वनि करने के समय गलगुहा के आकार में भारी परिवर्तन संभव होता है। घोषयंत्र की इन सब विशेषताओं के कारण मनुष्य अन्य पशुओं की अपेक्षा अधिक और भिन्न कोटि की ध्वनियां कर सका। अन्य पशुओं के समान उसने भी ध्वनि-संकेतों से काम लेना शुरू किया। ध्वनियों की बहुलता से वह नये-नये ध्वनि-संकेत निश्चित कर सका। अपनी शारीरिक गठन के कारण जैसे-जैसे परिवेश के विभिन्न पदार्थों से उसका परिचय बढ़ा, वैसे ही उनके लिए वह ध्वनि-संकेत भी निश्चित करता गया।

निष्कर्ष यह कि मनुष्य ने अपने सूक्ष्म चिन्तन की विशेषता के कारण भाषा-रचना नहीं की। उसके जीवन-यापन की आवश्यकताओं ने उसे ध्वनि-संकेतों का उपयोग करने के लिए विवश किया। अपनी शारीरिक गठन के कारण वह अन्य पशुओं की अपेक्षा अधिक ध्वनि-संकेतों से काम ले सका। अपनी शारीरिक गठन के कारण ही आत्मरक्षा के लिए उसे अन्य पशुओं से भिन्न साधन ढूंढ़ने पड़े। वह अस्त्रों का निर्माण करके श्रम करने वाला प्राणी बना। श्रम के साथ ही पशुजगत के ध्वनि-संकेतों के दायरे से बाहर निकल कर उसने मानवीय भाषा क्षेत्र में प्रवेश किया।

दूसरा अध्याय

भाषा की ध्वनि-प्रकृति

सभी मनुष्य, जो बोलते हैं, ध्वनि-संकेतों से काम लेते है। लेकिन ध्वनि-संके
से काम लेने का ढंग उन सबका एक सा नहीं होता। 'आ गये'— इ
शब्दों को संदर्भ के अनुसार आश्चर्य, भय, क्रोध या जिज्ञासा प्रकट करने के
लिए कई ढंग से कहा जा सकता है। इस स्वर-भेद से मूल क्रिया 'आना'
का अर्थ नहीं बदलता, किन्तु चीनी भाषा में स्वर-भेद से शब्द का मूल अर्थ
ही बदल जाता है, भिन्न स्वर में उच्चारण करने पर वह शब्द-रूप ही भिन्न
हो जाता है। चीनी भाषा का 'मा' शब्द एक स्वर में बोलने से मेढक अर्थ
वाला होगा, दूसरे स्वर में पटसन, तीसरे में घोड़ा, इत्यादि। हिन्दी में किसी
शब्द को षड्ज, गन्धार, पञ्चम किसी स्वर में बोलें, उसका मूल अर्थ पूर्ववत्
रहेगा। चीनी में चार स्वरों में अलग-अलग बोलने से चार भिन्न शब्दों का
बोध होगा, एक ही शब्द अपरिवर्तनशील न बना रहेगा। इसका कारण यह
है कि भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में मनुष्य ने ध्वनि-संकेतों के अनेक संभाव्य
प्रयोगों में से कुछ को ही अपनाया है। मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताएं एक
सी रही हैं, उन्हें पूरा करने के साधनों में भी बहुत कुछ समानता रही है।
किन्तु आवश्यकताओं और पूर्ति के साधनों को एक-दूसरे से मिलाने में मनुष्य
ने ध्वनि-संकेतों का उपयोग किया। ये ध्वनि-संकेत उसी तरह निश्चित न
हैं जिस तरह मनुष्य का प्यास बुझाना पानी पीने से निश्चित है। यदि
प्यास और पानी की तरह शब्द और अर्थ — ध्वनि-संकेत और पदार्थ अथ
क्रिया-विशेष — का सम्बन्ध भी प्राकृतिक और अपरिवर्तनशील होता, तो सब
में हर जगह सांस लेने और पानी पीने के लिए समान शब्दों का प्रयोग होता
भाषा मनुष्य की संस्कृति के विकास का साधन है और स्वयं उस संस्कृति का
महत्त्वपूर्ण अंग है। संस्कृति के अन्य अंगों की तरह उसमें भी यथेष्ट विभिन्नता
और विभिन्नता है।

निराला जी ने आधुनिक हिन्दी गीतों की चर्चा करते हुए तत्सम शब्दों से अलंकृत शैली को "शरणवत" शैली की संज्ञा दी थी। उन्होंने इस प्रकार हिन्दी और संस्कृत की उच्चारण विशेषताओं का भेद बताया था। पूर्वी प्रदेशों में 'ल' के स्थान पर 'र' अथवा पश्चिमी प्रदेशों में 'र' के स्थान पर 'ल' अक्सर सुनने को मिलता है। किन्तु कुछ इलाकों को छोड़ कर 'र' या 'ल' का कहीं पूर्ण बहिष्कार नहीं है। जनपदीय बोलियों की प्रकृति 'ल' को उसी तरह अस्वीकार नहीं करती जैसे श, ण और व को।

दूसरी भाषाओं से शब्द ग्रहण करने पर ही हम उनके उच्चारण में परिवर्तन नहीं करते, जब हम दूसरी भाषा सीखते हैं, तब उसके शब्दों और वाक्यों का उच्चारण प्रायः उन नियमों के अनुसार करते हैं जिनका सम्बंध हमारी भाषा या बोली से है। यहां हम विशेषज्ञों की बात नहीं करते, तात्पर्य साधारण रूप से भाषा सीखने वालों से है। पंजाब, तमिलनाडु, बंगाल के लोग जब अंग्रेजी बोलते हैं, तब उनके उच्चारण पर उनकी मातृभाषा का प्रभाव लक्षित हुए बिना नहीं रहता। हिन्दी-भाषी प्रदेश के अंग्रेजीदाँ लोगों को यह गर्व है कि वे सबसे अच्छी अंग्रेजी बोलते हैं। वास्तव में उनके उच्चारण पर हिन्दीपन का ही असर नहीं होता, वरन् भोजपुरीपन, ब्रजभाषापन या बुंदेलखंडीपन का असर भी होता है। यदि हमें स्मरण रहे कि संयुक्त राज्य अमरीका या ग्रेट ब्रिटेन में भिन्न-भिन्न स्थानों और वर्गों के लोग इतने भिन्न-भिन्न ढंगों से अंग्रेजी बोलते हैं, जिनकी तुलना में भारतीय शिक्षितों द्वारा बोली हुई अंग्रेजी के भेद नगण्य हैं, तो अंग्रेज की तरह (या अब अमरीकी की तरह) अत्यन्त शुद्ध अंग्रेजी न बोल पाने की हमारी हीन भावना दूर हो जाय।

मनुष्य की उच्चारण-सम्बन्धी विशेषताएं या भाषा की ध्वनि-प्रकृति सापेक्ष रूप में ही अपरिवर्तनशील है। इस परिवर्तनशील संसार में निरपेक्ष रूप से अपरिवर्तनशील भाषा का कोई भी तत्त्व नहीं है। हिन्दी क्षेत्र के गांवों में अधिक शिक्षित और सुसंस्कृत दिखने के प्रयत्न में अनेक सज्जन 'जनाब' को 'ज़नाब', 'इच्छा' को 'इशा' कहते हुए सुने जाते हैं, यद्यपि ज़ और श की ध्वनियां हमारी जनपदीय बोलियों की प्रकृति के अनुकूल नहीं हैं। मराठी में 'जगह' का 'जागा' हो ही गया है। बम्बई के एक मित्र 'काज़ी जलील अहमद' का मज़ाक सुनाते थे, जिन्हें एक मराठी भाषी सज्जन 'काजी ज़लील अहमद' कहते थे। जो का नुक्ता हटा कर वे उसे दूसरे ज के नीचे लगा देते थे और इस प्रकार से जलील साहब को ज़लील करते थे।

भाषाओं और बोलियों का सम्बन्ध निश्चित करने, उनका वर्गीकरण और परस्पर शब्दों के आदान-प्रदान का इतिहास जानने के लिए सबसे महत्त्व-

(माष), मेहुडा (मेष), मेहुरा (मैथुन), मोह (मधु) आदि के उदाहरण दिये हैं जिनसे इस भाषा के हकार-प्रेम का पता चलता है।

मराठी दहा की तरह हिन्दी में पहाड़ा पढ़ते समय "दस दहम् सौ" में दस के दह रूप की आवृत्ति होती है। इसीसे ताश के पत्तों में 'दहला' और उसके क्रम पर 'नहला' और साधारण व्यवहार में उससे पहले 'पहला' आदि रूप हैं। दस तक गिनती गिनते समय 'दह' में ही हकार प्रतिष्ठित होता है, किन्तु ग्यारह, बारह के बाद अठारह तक यह क्रम चलता ही रहता है। इक्कीस, बाईस, इकतालीस आदि में अन्त का 'स' सुरक्षित रहता है; उनहत्तर के बाद इकत्तर (इकहत्तर), बहत्तर, तिहत्तर आदि में आरम्भ का 'स' 'ह'-रूप धारण करता चला जाता है। ब्रज-भाषा, अवधी आदि हिन्दी की बोलियों में नहान या हनान (स्नान), पाहन (पाषाण), पुहुप (पुष्प), निहचै (निश्चय), पुहकर (पोखर, पुष्कर), कान्ह (कृष्ण), केहरी (केसरी), आदि रूप इसी प्रवृत्ति के द्योतक हैं। श, ष, स के अतिरिक्त अन्य व्यंजनों का भी ह-रूप में परिवर्तन देखा जाता है—कोह (क्रोध), बहू (वधू), मुह (मुख), नँह (नख), गहिर या गहरा (गंभीर) आदि। इस तरह के रूपों को यह कहकर टाला नहीं जा सकता कि वे प्राकृत या अपभ्रंश के कुछ अवशेष मात्र हैं जो आधुनिक भाषाओं में बने हुए हैं। पूर्वी बोलियों में मस्जिद का महजिद रूप प्रचलित है जो एक आन्तरिक ध्वनि-प्रवृत्ति का द्योतक है। इन बोलियों को 'ह' से इतना प्रेम है कि विदेशी शब्दों को अनुकूल बनाने के लिए, किसी अन्य व्यंजन को ह-रूप दिये बिना भी एक अतिरिक्त 'ह' जोड़ देते हैं, जैसे लाश के लहास रूप में। रिसौहैं (रिसयुक्त), बकरिहा (बकरी वाला), भुतहा (भूतों वाला) आदि शब्दों में 'ह' प्रत्यय इसी प्रवृत्ति का परिचायक है। 'ह' की यह प्रधानता किसी बाहरी भाषा के प्रभाव के कारण नहीं हो सकती। यह साधु हिन्दी से अधिक हिन्दी की जनपदीय बोलियों की विशेषता है। और हिन्दी में च, छ, ज, झ का उच्चारण दन्त्य नहीं होता। इसलिए स या अन्य वर्णों के स्थान में ह-का प्रयोग न तो किसी विदेशी भाषा का प्रभाव सूचित करता है, न यह तालव्य ध्वनियों का दन्त्य उच्चारण करनेवाली भाषाओं की ही विशेषता है। इसका एक प्रमाण यह भी है कि यह प्रवृत्ति संस्कृत शब्दों में ही अपना असर दिखाने लगी थी, और वह भी आवश्यक रूप से लौकिक संस्कृत में नहीं वरन् वैदिक भाषा में भी।

हृद या हृदय का मूल रूप श्रद् श्रद्धा में बना हुआ है। रूसी में सर्येत्स उस मूल रूप की साक्षी है। लैटिन में कोर (अंग्रेजी में लैटिन से बना शब्द कॉर्डियल) उसी श्रद् का स्मारक है। विद्वानों ने लैटिन के कोर से कॉर्डियल बनाया, लेकिन साधारण अंग्रेज जनता कोर से अपरिचित थी, वह भारतीय हृद् के स्थान पर हार्ट से काम चलाती थी।

सर्वनाम 'अहम्' 'अस्मद्' का एक रूप है। जब तक 'स्' 'ह' में परिवर्तित न हो, तब तक अस्मद् से अहम् का सम्बंध स्थापित नहीं किया जा सकता। इस शब्द का प्राचीन स्लाव रूप अजु[1] है। इससे भी इस धारणा की पुष्टि होती है कि 'अहम्' मूल रूप नहीं है। संस्कृत के वहिः शब्द का समानान्तर प्राचीन स्लाव वेज् (वर्तमान रूसी वेज़) है। यहां भी ज (या स) ह में परिवर्तित हुआ है। वहि का समकक्ष प्राचीन स्लाव रूप व्वजील है जो उपर्युक्त कोटि के ध्वनि-परिवर्तन की ओर संकेत करता है। ह्वते का समानान्तर रूप प्राचीन स्लाव रूप ज़वेनु है। वराह का अवेस्ता रूप वराज[2] है। संस्कृत के अनेक शब्द, जैसे असुर, अवेस्ता में अहुर के समान हकार वाले रूप में दिखाई देते है। किन्तु वराह अवेस्ता में वराज रहा, संस्कृत में ही हकारयुक्त हुआ, यह इस बात को सिद्ध करता है कि स-ह या ज-ह का विनिमयक्रम ईरान में ही नहीं, इस देश में भी चल रहा था। इसी प्रकार हिरण्य शब्द अवेस्ता में जरण्य रूप धारण किये हुए है। कुछ अन्य भाषाओं में हिरण्य के अनुरूप सुरेन, सरेन और सिर्न शब्द हैं। इससे यह अनुमान होता है कि प्राचीन स्लाव, अवेस्ता आदि में जहां ज ध्वनि है और वैसे ही शब्दों में संस्कृत में ह है, वहां ज और ह दोनों की मूल ध्वनि स होगी और संस्कृत का 'ह' 'ज' का नहीं, 'स' का परिवर्तित रूप रहा होगा। नमस् से नमज़ (नमाज़) रूप का बनना इसी तथ्य की ओर संकेत करता है। प्राचीन यूनानी में जो शब्द सकारान्त है, वैसे ही शब्द संस्कृत में विसर्ग ग्रहण करते है। नौस् (जहाज़)—नौः, जीओस्—जीवः, गेनोस—जन इत्यादि।

वैदिक भाषा में एक धातु है ग्रभ्। ऋग्वेद के उन सूक्तों में, जिन्हें प्राचीन माना जाता है, ऋ के बाद आने वाले भ् का ह रूप होता है, जैसे हस्तगृह्य में। हस्तग्राभ में यह परिवर्तन नहीं होता। किंतु दसवें मण्डल में प्राचीन रूप जग्राभ का स्थान जग्राह ले लेता है। आज्ञा मध्यम पुरुष एकवचन का 'धि' चिन्ह बाद के मण्डलों में 'हि' रूप धारण करता दिखाई देता है।[3] वैदिक भाषा में दद्धि और देहि, नद्ध और नह्, भत्रामसि और भवामहे, हन्ति और घ्नन्ति, दुग्धाम् और दुहाम्, मेहन्त और मेघमान जैसे रूप[4] इस सत्य को स्पष्ट करते है कि स, ध, घ आदि व्यंजनों का स्थान ह को देने के लिए इस देश की

---

१. टी. बरो, संस्कृत लैंग्वेज, फेबर एंड फेबर, लंदन, पृष्ठ १६।
२. उपरोक्त, पृष्ठ २३।
३. पांडुरंग वामन गुणे, एन इंट्रोडक्शन टु कम्पेरेटिव फिलोलोजी, १६५०, पृष्ठ १४३।
४. ए. ए. मैक्डॉनिल, ए वैदिक ग्रामर फॉर स्टुडेन्ट्स।

शायद आर्य न पहुँचे हुए थे। कुत्ते के लिए उनके यहाँ कादिम्भा शब्द था, जो सेंटम के क्षेत्र के अनुसार श-ध्वनि के 'क' में परिवर्तित होने से बना है। यह श्वान रूप—जिसे अधिक प्राचीन माना गया है—उनके यहाँ नहीं है। इसी प्रकार दस के लिए उनका शब्द है देका। यूनानी भाषा में श की ध्वनि नहीं है, स की है। किन्तु सूकर के लिए जिस अर्थ में हुयोस शब्द है वहाँ संस्कृत के 'स' का 'ह' में परिवर्तित हुआ है। संस्कृत-हिन्दी की तरह यूनानी में भी 'स' और 'ह' दोनों ध्वनियाँ विद्यमान हैं। फिर भी सूकर का हुयोस जैसा रूप बनना तभी संभव है जब किसी समय भी भिन्न प्रकृति वाली भाषाओं का सम्पर्क हुआ हो और हकार प्रधान भाषाभाषियों के लिए सकारयुक्त शब्दों का उच्चारण सुगम न हुआ हो। या तो इस प्रकार की हकार प्रधान भाषा (या भाषाएँ) यूनान में बोली जाती थी और वहाँ की 'प्राकृतों' ने यूनानी आर्यों की 'संस्कृत' को प्रभावित किया या भारतीय हकार क्षेत्रों के लोगों या उनके भाईबन्दों की इस ध्वनि-प्रकृति ने यूनानी भाषा पर असर डाला था।

'आर्य' शब्द के प्रसार का श्रेय बहुत कुछ जर्मन विद्वानों को है। उनके यहाँ कुत्ते के लिए हुंट (hund) शब्द है जो हमारे श्वान की बिरादरी का है। 'श' ने यहाँ भी 'ह' का रूप धारण किया। शत और केण्टुम के बदले हुण्ट और हुण्डेर्ट शब्द हैं। श्वेत से इसी ध्वनि-परिवर्तन के अनुसार व्हाइस (अंग्रेजी व्हाइट), हृद् से हेर्त्स (अं—हार्ट), शश से हाज़े (अं—हेयर), यूनानी (और संस्कृत) कर्नुम् से हार्न (लैटिन, अं—हार्न) इत्यादि बने हैं। जर्मन में श और स का अभाव नहीं है, फिर भी अनेक सामान्य भारत-यूरोपीय शब्दों में 'श-स' के स्थान पर 'ह' को देख कर यही निष्कर्ष निकलता है कि यह दो भिन्न ध्वनि-प्रकृतिवाली भाषाओं के सम्पर्क का फल है। जहाँ तक हकार प्रधान भाषा का सम्बन्ध है, उसके बोलने वाले या तो जर्मन आर्यों के पूर्वज और जर्मन प्रदेशों के आदिवासी थे, या ह-प्रेमी भारतवासियों का प्रभाव किसी-न-किसी रूप में उन पर भी पड़ा था।

लैटिन-व्याकरण लिखने वाले कुछ विद्वानों के अनुसार यूरोप की इस दूसरी महत्वपूर्ण प्राचीन भाषा में 'ह' का उच्चारण न होता था; जिन शब्दों में लैटिन वर्ण आये, उनके अनुसार उनका उच्चारण 'श' के समान होना चाहिए। लैटिन के बहुत से शब्द जिनके लिखित रूप में 'ह' वर्ण विद्यमान है, अपने इतालवी रूप में उस 'ह' से वंचित हो गये हैं। संभव है कि इतालवी (और फ्रांसीसी) की इस ह-विरोधी प्रवृत्ति के कारण लोगों ने कल्पना की हो कि लैटिन में इस ध्वनि का अभाव था। अस्मद् के मह्यम् रूप से मिलता-जुलता लैटिन में एगो का मिहि (मुझे, मेरे लिए) रूप है। साधारणतः लैटिन में संज्ञा या क्रिया विसर्गान्त या हकारान्त न होकर स-ध्वनि को सुरक्षित रखती है। श को यह भाषा क में बदल देती है। किन्तु ग से उसे परहेज नहीं है। संस्कृत व. और न. के समकक्ष इसमें वोस और नोस रूप हैं; इसलिए मिहि को अपवाद रूप मानकर उस पर और भी ध्यान देना आवश्यक है। यह रूप भाषा की अपनी प्रकृति का परिचायक नहीं है। या तो लैटिनवासियों का सम्पर्क इटली में ह-प्रधान भाषाओं से हुआ था उन्होंने इसे सीधे भारतीय मह्यम् से ग्रहण किया।

इन उदाहरणों से सिद्ध हुआ कि संस्कृत और अन्य भारतीय भाषाओं में श-स तथा अन्य व्यंजनों का ह से विनिमय इन भाषाओं की ही विशेषता नहीं है। इस तरह का ध्वनि-परिवर्तन यूरोप की अनेक प्राचीन और नवीन भाषाओं में देखा जा सकता है। उसे हम तालव्य ध्वनियों का दन्त्य उच्चारण करने वाली भाषाओं में सीमित नहीं देखते, न उसे हम भारत की किन्हीं प्राचीन प्राकृतों का प्रभाव मान सकते हैं। यदि भाषा-विज्ञान की प्रचलित मान्यताओं के अनुसार 'आर्य' जन पश्चिमोत्तर से भारत में आये और यहां अनार्यों के सम्पर्क से उनकी मूल ध्वनियां बदल गयीं, तो यूनानी, लैटिन, जर्मन आदि भाषाओं में ह ने श-स तथा अन्य वर्णों का भी स्थान कैसे ले लिया? 'आर्य' परिवार से सम्बन्धित प्रचलित मान्यता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए हमें भारत के समान यूरोप में भी प्राचीन प्राकृतों की कल्पना करनी होगी। एक बात स्पष्ट दिखाई देती है कि ह-ध्वनि का जैसा व्यापक प्रभाव भारत में—वैदिक काल से लेकर अब तक—बना हुआ है, वैसा यूरोप के किसी क्षेत्र में नहीं है। यह महाप्राणता भारतीय भाषाओं की अपनी विशेषता है।

भारतीय भाषाओं में 'ह' के महत्व के बारे में श्री किशोरीदास वाजपेयी ने "हिन्दी शब्दानुशासन" में लिखा है, " 'ऊष्म' वर्ण (श, ष, स, ह) तथा वर्गों के द्वितीय-चतुर्थ अक्षर 'महाप्राण' हैं। इनका उच्चारण महाप्राणता प्रकट करता है। ऊष्मा (गरमाहट) इनमें स्पष्ट है। महाप्राण ही ठहरे। ··· इन 'ऊष्म' वर्णों का उच्चारण 'क' तथा 'य' आदि की अपेक्षा

जोरदार है। इन सबका गुरु है 'ह'। 'स' तो प्रायः 'ह' हो जाया करता है। पंजाब जैसे अक्खड़ प्रान्त में 'स' के जोर से काम न चला, तब उसे 'ह' कर दिया गया। हमारे 'पैसा' तथा 'ऐसा' आदि शब्द वहां 'पैहा', 'ऐहा' हो जाते हैं। 'और' वहां 'होर' हो जाता है। हिन्दी में 'दम' से जोरदार 'दहला' बन जाता है। जोरदार काम करने पर कहते हैं— 'उसने तो अच्छा नहले पर दहला जमाया'। विसर्गों का उच्चारण 'ह' से मिलता-जुलता है और इसीलिए हम संस्कृत में 'स' को प्रायः विसर्ग तथा विसर्गों को 'स्' हुआ देखते हैं। भाषा के विकास में 'ह' वर्ण का जो स्थान है, अन्य किसी वर्ण का नहीं।"

जैसे यूरोप की भाषाओं की तुलना में 'ह' का महत्व संस्कृत में अधिक है, वैसे ही वैदिक की तुलना में लौकिक संस्कृत में, लौकिक संस्कृत की तुलना में हिन्दी में, साधु हिन्दी की तुलना में जनपदीय बोलियों में और इन बोलियों में भी पछांह की तुलना में पूरब में 'ह' का प्राधान्य है। बच्चे रोते हैं तो उनकी इस क्रिया के लिए एक शब्द है हुनहुनाना, जिसमें रोने की ध्वनि का अनुकरण किया गया है। मां का दूध पीते समय बच्चे अक्सर प्रसन्नता प्रकट करने के लिए हूं, हूं की आवाज करते हैं। जब दादी-नानी से कहानियां सुनते हैं, तो हूं हूं करते हैं जिसे हुंकारी भरना कहते हैं। जब मनुष्य क्रोध करता है, तो उसके ललकारने को हुंकार कहते हैं। अन्य भारत-यूरोपीय भाषाओं के विपरीत यहां 'हां' और 'नहीं' दोनों में 'ह' विद्यमान है। दुख में मनुष्य हाय हाय करता है, पुराने जमाने में शायद 'हा हन्त' कहता था। चारों ओर शोक और व्यथा के दृश्य देखकर वह उसे 'हाहाकार' के ध्वनि-संकेत से व्यंजित करता है। प्रसन्नता में वह 'हंसता' है, होली में इसकी हाहा, हीही, होहो साहित्य का विषय बन गयी है।

हो हो हो हो लै लै बोलै। गोरस केरे माते डोलैं।

तथा

हो हो हो हो हो हो होरी।

सूरदास को होली के हो-हल्ले से विशेष प्रेम था। और भी लिखा है,

हो हो हो हो होरी, करत फिरत ब्रज खोरी।

तथा :

हो हो होरी खेलैं।

गांव के आदमी दूसरे को जोर से पुकारेंगे तो नाम के बाद होऽऽ या होत की आवाज करेंगे। संस्कृत में इसी के अनुरूप 'हे' संबोधन चिह्न है। जायसी और तुलसीदास में 'ह' अपने पूर्ण वैभव में दिखाई देता है। 'मैं' के लिए 'हौं' तो है ही, 'तुम' भी 'तुम्ह' रूप में दिखाई देता

है। स्थान-वाचक शब्दों या विभक्ति-चिन्हों में महुँ, महुँ, न्ह (सजनन्ह, बनि-उन्ह), इहाँ, वहाँ, जहिया आदि हैं, सर्वनामों में उन्ह, तिन्ह, ओहि, जेहि आदि, क्रिया के भूत, भविष्यत्, वर्तमान प्रायः सभी रूपों में 'ह' के बिना काम नहीं चलता — लीन्हा, कीन्हा, है, रहे, हते, रहिहै, अहहि, होइहि, होइ, ह (जानति हहु बस नाहु हमारे), इत्यादि रूप भरे पड़े हैं। पश्चिम ने हिन्द की जगह इण्ड और इंडिया ही स्वीकार किया, उसके विपरीत हमारे लिए महाप्राण 'ह' के बिना हिन्दी निष्प्राण हो जाती है। निष्कर्ष यह निकला कि संस्कृत श्वान, शत, स्वप्न के यूरोपीय समरूप हुंड, हुंड्रेड, हुप्नोस शब्द मिलें तो उनमें विद्यमान 'ह' ध्वनि भारतीय भाषाओं की ध्वनि-प्रकृति के प्रभाव का परिणाम मानी जा सकती है।

संस्कृत और उस परिवार की अन्य भाषाओं के लिए एक अन्य ध्व-बहुत महत्वपूर्ण है : 'त', माता-पिता जैसे अन्तरराष्ट्रीय शब्दों में यह ध्वनि है। इन्हीं के समकक्ष 'तात' में यह आदि अन्त दोनों में विद्यमान है। पुत्र को जनपदी बोलियों ने 'र'-हीन करके अपनी प्रकृति के अनुकूल 'पूत' बना लिया और उसका जोड़ीदार 'सुत' भी काव्य-भाषा में काम आता रहा। माता-पिता के समान 'भ्रात' को अन्तरराष्ट्रीय सम्मान प्राप्त है। हिन्दी में लन्दन तक, कॉमनवेल्थ में और सोवियत समाजवादी प्रजातंत्र संघ में यह शब्द किसी न किसी रूप में काम आता है।

[illegible] चाटुर्ज्या ने स्पष्ट लिखा है : "'र' और 'ल' का प्रश्न ही प्राचीन भारतीय आर्य भाषा की बोलियों की विभिन्नता का एक महत्त्वपूर्ण कारण है। इस प्रकार पश्चिम की एक बोली में 'ल' न होकर केवल 'र' था। दूसरी में, जिसकी प्रतिनिधि संस्कृत और पालि हैं 'र' और 'ल' दोनों थे, तीसरी में, 'र' न होकर केवल 'ल' ही था, जो संभवतः सुदूर पूर्व की बोली थी। इस पूर्वी बोली की प्रमुख बातों के प्रसार तथा भाषाविषयक विकास के द्वितीय युग के पश्चात्काल में ही, आधुनिक पूर्वी उत्तरप्रदेश और बिहार के प्रदेशों तक हो गयी थी।" (भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृष्ठ ५२)। जो बोली पूर्वी-उत्तरप्रदेश और बिहार के प्रदेशों तक फैल गयी थी, वह यदि अब भी अपनी कुछ विशेषताएँ बचाए हुए है, तो इससे यही सिद्ध होता है कि वह प्राचीन बोली लकार-प्रधान थी। पूर्वी और पश्चिमी बोलियों में र–ल का भेद जो अभी तक सुरक्षित है, वह इन बोलियों के प्राचीन रूपों के भेद की ओर संकेत करता है। पाणिनि के समय में पूरब-पच्छिम के लोग एक ही शब्द को र–ल का भेद करके दो तरह से बोलते होंगे, इसीलिए उन्होंने दोनों का अभेद स्वीकार किया।

डॉ. चाटुर्ज्या के अनुसार भारतीय-यूरोपीय क्लेउ-लो आर्य-भाषा में श्री-ल हो गया और भारतीय आर्य-भाषा में उसके तीन भिन्न-भिन्न रूप श्री-र, श्री-ल और श्ली-ल बने। यहाँ हम श-स के रूपान्तर का प्रश्न छोड़ देते हैं। *क्या श्री-र रूप में पहले वर्ण के साथ 'र' का उच्चारण सुगम था जो दूसरे*

कोई भी ऐसी नहीं है जिसमें भिन्न ध्वनि-प्रकृतिवाली भाषाओं या भाषा-परिवारों के शब्दों का सम्मिश्रण न हुआ हो। संस्कृत में एक धातु है इष्; इसके विभिन्न रूपों में — इच्छति आदि में — ष का स्थान छ ले लेता है। यहां अनुमान करना पड़ता है कि किसी जाति या जन (नैशनैलिटी या ट्राइब) के लोग षकारान्त शब्दों का उच्चारण आसानी से कर लेते थे, किन्तु उनका सम्पर्क ऐसे लोगों से हुआ जिन्हें इस ध्वनि के उच्चारण में कठिनाई होती थी। उन्होंने ष के बदले छ ध्वनि निकाली और उसे 'ष' का स्थान दे दिया। इसी प्रकार प्रच्छति में प्रच्छ है। रूसी में स्प्राशिवात् क्रिया मूल रूप के श को बनाये हुए है। यही 'श' 'प्रश्न' में सुरक्षित है। हमारे यहां छ-प्रेमी जनों की ध्वनि-प्रवृत्ति इतनी सशक्त थी कि उन्होंने स्प्रश के श का स्थान छ को दे दिया। इसी तरह गच्छ का छ भी सम्भवतः श का रूपान्तर है। जर्मन में जाने के लिए गेहेन क्रिया है, जिसका 'ह' शकार का परिवर्तित रूप है। हिन्दी और उत्तर भारत की अन्य भाषाओं में जो छे, आछे, आदि रूप मिलते हैं, वह इसी प्रवृत्ति के कारण। संस्कृत का षष् इसी प्रकार हिन्दी का छह बना। यह प्रवृत्ति प्राकृतों या नव्य भारतीय भाषाओं के वास्तविक या कल्पित अभ्युदय काल से शुरू नहीं होती, वह उतनी ही पुरानी है जितना ऋग्वेद। और ऋग्वेद के रचनाकाल में वह मन्त्र-द्रष्टाओं की भाषा अथवा देववाणी को प्रभावित करने में समर्थ थी। इससे सिद्ध हुआ कि वह ऋग्वेद के रचनाकाल से भी प्राचीन है। इच्छति, प्रच्छति जैसे रूप यह भी सिद्ध करते हैं कि संस्कृत बोलचाल की भाषा थी; शिष्ट जनों की ही बोलचाल की नहीं, वरन् साधारण जनों की बोलचाल की भाषा थी। वर्ना जिस प्रवृत्ति ने षष् को छह किया, वह देववाणी या शिष्ट जनों की 'कृत्रिम' संस्कृत में इष या प्रश् (या स्प्रश्) के श को छ का रूप न देती। यहां यह प्रश्न भी उठता है कि वैदिक ऋचाएं भारत के बाहर रची गयी थी, तो वह भाषा या क्षेत्र कौन सा है जहां लोग श-ष-स की ध्वनियों को छ में परिवर्तित करते थे? ऐसा क्षेत्र न मिले तो मानिये कि उनकी रचना इसी भारत भूमि में हुई थी।

अवधी के क्षेत्रों में गांव के लोग छींक आने पर 'शतजीव' को अब भी छतंजी कहते हैं। लक्ष्मी को बंगाल के लोग लक्खी (या लोक्खी) कहेंगे, अवध में उसका लछमी (या लछिमी) रूप प्रचलित है। क्षमा का बंगला रूप खमा है तो यहां "छमहु सकल अपराध हमारे।" लक्ष्मण का एक रूप लखन है — लक्खी के अनुरूप — तो दूसरा अवधी की सहज प्रकृति के अनुकूल है, लछिमन। इसी प्रकार क्षिति का छिति — छिति जल पावक गगन समीरा। वत्स का बच्छ — बहुरि बच्छ कहि लाल कहि। मत्स्य का मच्छ, मछरी, मछली। श, ष को छ में परिवर्तित करने वाली प्रवृत्ति हमारे प्रदेश की है।

भाषा की ध्वनि-प्रकृति के अध्ययन से — एक ही भाषा में विभिन्न ध्वनि-प्रकृतियों के सह-अस्तित्व और उनसे जनपदीय बोलियों की ध्वनि-प्रकृति के तुलनात्मक अध्ययन से — पता चलता है कि संस्कृत जन-साधारण की भाषा थी और उसके वैदिक एवं लौकिक रूप-गठन के समय अवधी आदि भाषाओं की अनेक वर्तमान विशेषताएं विद्यमान थीं।

संस्कृत में संधि के अनेक नियम वर्तमान जनपदीय बोलियों की ध्वनि-प्रकृति पर ही आधारित हैं। उच्छृंखल (उत्+शृंखल), उच्छासन (उद्+शासन), उच्छिरा (उद्+शिरा), उच्छ्वास (उत्+श्वास), उच्छिष्ट (उद्+शिष्ट) आदि रूप उसी प्रवृत्ति के आधार पर सिद्ध होते हैं जो उत्साह को उछाह और उत्संग को उछंग बना लेती है (या शतंजीव को छतंजी का रूप देती है)।

अंग्रेज़ी भाषा के विशेषज्ञों को हिन्दी-भाषी क्षेत्र के शिक्षितों से शिकायत रहती है कि वे स्कूल को इस्कूल और स्टूल को इस्टूल कहते हैं। गांव के लोग या तो हलन्त सकार के पहले एक स्वर (इ या अ) जोड़ देंगे (कभी-कभी पंडितजन पंजाबी मित्रों की तरह 'स्पष्ट' का 'सपष्ट' उच्चारण भी करते हैं) या उस हलन्त सकार की जड़ ही काट देंगे। इस तरह उन्होंने स्टेशन का टेसन बना लिया है और श्मशान को मसान का रूप दिया है। यह प्रवृत्ति वैदिक काल में भी थी। 'स्पष्ट' का जन्म 'स्पश' से हुआ है, जो पश्यति के पश् का मूल रूप है। अंग्रेज़ी के स्पाई (spy) का नाता उसी 'स्पश' से है। 'स्पष्ट' में आदि-सकार रहा, पश्यति में उसका लोप हो गया। मैकडोनल ने अपने वैदिक व्याकरण में पश्यति और स्पश के समान अन्य शब्दों का उल्लेख किया है जिनके सकारयुक्त और सकारहीन दोनों रूप प्रचलित थे। स्तनयित्नु और तनयित्नु, (मेघ गर्जन), स्तायु और तायु (चोर), स्तृ और तृ (सितारे)। इसी प्रकार सकारयुक्त और सकारहीन रूप—स्पन्द और पन्द। इससे यह भी अनुमान होता है कि रूसी स्ताशिवार् (या स्तोगोर्) में मूल स्तन् का 'स' सुरक्षित है।

'ट्राल' बन जाता । जिन भाषाओं ने स्त या स्ट वाला रूप ग्रहण किया है, उनके यहां 'थ' का प्राय: अभाव है (रूसी और जर्मन में)। इसलिए धारणा यह बनती है कि स्था और स्थान मूल रूप हैं और 'थ' को 'त' उच्चरित करने की प्रवृत्ति के कारण अन्य भाषाओं ने स्त और स्तान वाले रूप ग्रहण किये हैं। रूसी स्तारिट्स (वृद्ध), सं. स्थविर; स्तेन (दीवाल), स्थाणु; पूत (जिसे स्पूतनिक ने प्रसिद्ध कर दिया है), पथ — रूसी-संस्कृत के इस तरह के समानान्तर शब्दों से यही निष्कर्ष निकलता है कि 'पथ' पूरब से पच्छिम गया है, पच्छिम से पूरब नहीं। पूरब के लोग भात, रात, जात, मात आदि में 'त' का मजे से उच्चारण कर लेते थे; उच्चारण की कठिनाई तो दूर, उन्हें तकार से विशेष प्रेम था। इसलिए पुत या पूत को उन्होंने पथ नहीं बनाया, पथ ही पुत या पूत बना है।

चतुः या चतुर में 'थ' प्रत्यय जोड़ने से चतुर्थ बना, किंतु षष् में 'थ' जोड़ा तो षष्ठ बना। इसी पद्धति से स्था धातु के तिष्ठति रूप में 'ठ' की अवतारणा हुई। 'क्त' प्रत्यय जोड़ कर क्लिश् से क्लिष्ट, शास से शिष्ट, यज् से इष्ट बने। इस मूर्धन्यीकरण की प्रवृत्ति के कारण मुह् से मूढ, सह् से सोढ़, वह् से ऊढ, गुह् से गूढ़ आदि रूप बनते हैं। हिन्दी के बूढ़ा, बैठना, बुंदेलखंडी 'ठड़े' आदि में मूर्धन्य वर्णों के प्रति यही प्राचीन प्रेम दिखाई देता है। हमारी भाषाओं की यह विशेषता वैदिक काल में ही प्रकट हो चुकी थी।

डा. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने "भारतीय आर्य-भाषा और हिन्दी" में लिखा है कि बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में बोगाज़कोई में जो लेख प्राप्त हुए, उनका भाषा स्तर "वैदिक भाषा से निश्चय ही प्राचीनतर काल का है। वह भारतीय-आर्य की अपेक्षा भारतीय-ईरानी के सन्निकट है।" उदाहरणस्वरूप उन्होंने जो शब्द दिये हैं, उनमें एक है 'शिमालिया' ('प्रकाशमान अर्थात् तुषाराच्छादित पर्वतों की देवी')। हिन्दुस्तान में एक बहुत प्रसिद्ध स्थान है शिमला और उसका इसी नाम की देवी से सम्बन्ध भी है। यह शिमला वैदिक भाषा से प्राचीन हो सकता है, लेकिन है हिन्दुस्तानी ही।

आदि आर्य-भाषा पर मेसोपोटामिया की भाषाओं के प्रभाव की चर्चा करते हुए डॉ. चाटुर्ज्या ने लिखा है, "मेसोपोतामिया के सुसभ्य जनों — सुमेरी तथा सेमीय अक्कदीयों — का भी परोक्ष या प्रत्यक्ष प्रभाव आदिम भा. यू. में उनसे आये हुए कुछ शब्दों में लक्षित होता है।" इनमें एक शब्द है अक्कदी भाषा का पिलक्कु, यूनानी पेलेकुस, सं. परशु। इस मिसाल से लगता है कि भारत से बाहर बोली जाने वाली भाषा का एक शब्द जब इस देश में आया, तब उसने लकार का स्थान र को दे दिया। इसके विपरीत, इसी प्रसंग में डॉ. चाटुर्ज्या ने लोह शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार समझायी है, "'लोह'

प्राचीन 'रोह, रोध, रुध' से व्युत्पादित है और 'रुध' में विदेशी काल्दीय उपादान तथा स्वदेशी भा. यू. — दोनों मिश्रित हो गये हैं।" इस चर्चा में यह स्पष्ट नहीं है कि भारत आने वाले आर्यों ने 'पिलक्कु' के 'ल' को तो 'र' बनाया लेकिन रोध या रोह के 'र' को 'ल' बना दिया; कहीं 'र' से घृणा और 'ल' से प्रेम और कहीं 'ल' से घृणा और 'र' से प्रेम — भारतीय आर्यों की इस ध्वनि-सम्बंधी चंचलता का कारण क्या था?

विद्वानों के अनुसार आर्यों की पश्चिमी शाखा ने मूल कंठ्य ध्वनियों को सुरक्षित रखा, भारत और रूस की शाखा ने उन्हें ऊष्म बना दिया। लैटिन केन्तुम, संस्कृत शत — इनमें लैटिन ने मूल ध्वनि को सुरक्षित रखा, संस्कृत आदि पूरब की भाषाओं ने उसे श या स का रूप दे दिया। प्रश्न यह है कि किम्, कः, कुतः, कत, कुत्र आदि क-युक्त शब्दों का विशाल भंडार रखने वाली संस्कृत ने केन्तुम् के 'क' को ही क्यों अछूत समझा? उत्तर भारत में ऐसी भाषाएं तो हैं जो श तथा अन्य वर्णों को हकार में बदल देती हैं। लेकिन 'क' का स्थान 'श' को देने वाली भाषाएं कौन सी हैं? उधर लैटिन और ग्रीक दोनों में 'श' का अभाव है। इसलिए संभावना यही अधिक है कि उन्होंने 'श' के बदले 'क' वाले रूप अपनाये होंगे।

एक समस्या और है। यदि आर्यों की पश्चिमी शाखा मूल कंठ्य-ध्वनियों को सुरक्षित रखे हुए शतं के स्थान में केन्तुम् का व्यवहार करती थी, तो जर्मन और अंग्रेजी में केण्टुम् की जगह हुण्डेर्ट और हण्ड्रेड का व्यवहार कैसे होने लगा? जर्मन में कैसर, कापिटाल, काल्ट, कार्टे, केनेन, केर्ल, केर्न, क्नावे, क्रिट आदि ढेरों शब्द हैं जो 'क' से आरंभ होते हैं, जिनके मध्य या अन्त में 'क' हो, उनका जिक्र नहीं। फिर जर्मन 'आर्यों' ने केण्टुम के 'क' से क्यों परहेज किया? इसका समाधान यही हो सकता है कि जर्मन हुण्डेर्ट का 'ह' केण्टुम् के 'क' के बदले नहीं आया; वह शतम् (या शेन्तुम्) के 'श' का ही परिवर्तित रूप है जिसका कारण किसी हकारवादी जाति का प्रभाव है।

संस्कृत की मूर्धन्य ध्वनियों के बारे में डॉ. चाटुर्ज्या ने लिखा है, "भारत में, संभवतः ईरान में भी आर्य उपजातियों की भाषाओं में ध्वनि-तत्व, व्याकरण तथा शब्दावली की सभी दृष्टियों से नये परिवर्तन हुए। मूर्धन्य ध्वनियों का विकास हुआ — ध्वनि-तत्व में यह सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। विकास के कारण अपने आप ही आ गया हो अथवा बहुत संभव है, इसके कारण बाहरी प्रकार प्रभावित (प्रभाव) रहे हों।" इसके फलस्वरूप ज, भ की "घर्ष ध्वनियां" विलुप्त हो गयीं।

कश्मीरी में वदमन (वनमान) शब्द अभी तक सुरक्षित है और ज की ध्वनि उस भाषा में वर्तमान है। मराठी में माझा, निजला आदि में

इसका ऋग्वेद में सम्मिलित होने से "कृद ग्राग्निरिपो पूर्वं" कुछ इस प्रकार का रूप रहा होगा

"अग्निम् इड्वद पुरज्-धिताम्
यज्ञस्य ददवम् ऋत्विजम्।
भउतारम् रत्न-धा-तमम्।।"

जहाँ तक इड्वद, यज्ञस्य, ऋत्विजम् और पुरज-धितम् का सम्बन्ध है, उ की ध्वनि बदमाशी आदि में अपने आदि शुद्ध रूप में बनी हुई है। धितम् का धि हि में बदल गया लेकिन भाउतम् का होतम् न हुआ। संस्कृत धकारयुक्त और बहुत से शब्द भी हैं। भउतारम् के भ से भी संस्कृत या हिन्दी को बैर नहीं। इसी तरह गायत्री मंत्र का पूर्व रूप डा० चाटुर्ज्या के अनुसार यह है

"तत् सवितुर् वरेणियम्
भर्गज ददवस्य धीमधि।
धियज यज् नस् प्रक' उदयात्।।"

इस रूप में कोई ऐसी ध्वनि नहीं है जो भारतीय भाषाओं में कहीं-न-कहीं आज भी प्रचलित न हो। इसमें अनेक ध हैं जो बदले नहीं। प्रचोदयात् का पूर्व रूप 'प्रक' उदयात् होगा, यह कल्पना इस आधार पर की गयी है कि "पश्चिमी उपगोष्ठियों में कण्ठ्य ध्वनियां ज्यों की त्यों बनी रहीं।" संस्कृत में वाक्य और वचन, वाग्–वाच्, दिश्–दिक्, श–क, क–च दोनों ध्वनियां हैं। लैटिन-ग्रीक में न 'च' है, न 'श'। यदि यह सिद्धान्त सही माना जाय कि ग्रीक-लैटिन के जिन शब्दों में 'क' है, वे मूल रूप हैं, और इन्हीं के समकक्ष संस्कृत-रूसी-हिन्दी आदि शब्दों में जहां 'क' का स्थान किसी अन्य ध्वनि ने ले लिया है, वे विकृत रूप हैं, तो भाषाविज्ञानियों के सामने ध्वनि-सम्बंधी अनेक चमत्कार प्रकट होंगे। मूल शब्द हुआ केन्तुम या केंत्; यहां 'क' का

था पारसीक बन गया। इसके विपरीत अनुमान यह होता है कि जहां संस्कृत 'अ' के समानान्तर यूनानी में ए या अन्य कोई स्वर है, वहा संस्कृत स्वर ही अधिक प्राचीन होगा। लैटिनभाषियों ने यलफरात नदी को एलफ्रातेस बना लिया था जिससे यह साबित नहीं होता कि अरबी अल् का मूल रूप एल् था। अंग्रेजी के ऐलजेबा, ऐलकेमी, ऐलकोहल, ऐलकली आदि शब्द अरबी से लिये गये हैं और इनमें भी प्राचीन लैटिन-ग्रीक की तरह मूल अ-स्वर को परिवर्तित किया गया है।

इस प्रकार न तो पेंक्वे और एक्वेस्यो के एकार मूल-स्वर सिद्ध होते हैं, न क-कार। संभावना यह अधिक है कि मूल रूप—यदि कोई मूल रूप रहा हो तो—पंच और अश्वस्य ही थे।

यूरोप और भारत की अनेक भाषाओं में समानता है। इसलिए इनका एक स्रोत होना चाहिए। उस मूल भाषा के बोलने वालों का एक निश्चित समुदाय होना चाहिए। उस समुदाय का नाम हुआ आर्य। आर्य-जन बाहर से हिन्दुस्तान आये। यहां अनार्यों में घुलने-मिलने से या उनसे लड़ने-भिड़ने के कारण उनकी शुद्ध आर्य-भाषा में अनेक विकृतियां उत्पन्न हो गयीं। पहले कहते थे विकृत तो अब कहने लगे विकट। ट वर्ग की ध्वनियों ने मूल आर्य-भाषा का रूप बदल दिया। कठिनाई यह है कि यदि अनार्यों के प्रभाव से भारतीय आर्यों ने टवर्ग अपनाया, तो जर्मन, अंग्रेजी आदि उत्तरी यूरोप की भाषाओं में ट, ड की ध्वनियां किन अनार्यों के प्रभाव से उत्पन्न हुईं? बहुत विद्वानों के अनुसार लैटिन भाषा बोलने वाले आर्य भी केण्टुम् (केन्तुम् नहीं) में ट का उच्चारण करते थे। उन पर किसका प्रभाव पड़ा? यदि ये ध्वनियां अपने आप उत्पन्न हुई हों तो इसका क्या प्रमाण है कि वे आर्यों के भारत आने पर ही उत्पन्न हुईं? जब वे ईरान या अफगानिस्तान (या वोल्गा तट पर) भ्रमण कर रहे थे, तब भी वे ध्वनियां उत्पन्न हो सकती थीं!

इस तरह की अनेक कठिनाइयां हैं। यूरोप के आर्य देका, पंक्वे बोलते थे और भारतीय आर्य दश और पंच। भारतीय आर्यों ने एक जगह क को श किया, दूसरी जगह च। इसका नियम क्या है? फिर जर्मन आर्य केन्तुम की जगह हुण्डेर्ट क्यों बोलने लगे? इसी तरह लैटिन 'कोर' में यदि हृदय-वाचक शब्द का मूल रूप मिलता है, तो जर्मन में हेर्त्स और अंग्रेजी में हार्ट यहां से आये? और स्वयं लैटिन में एगो (अस्मद्) से मिही कैसे बना? ग्रीक आर्यों ने स्वप्न के स को हकार में बदल कर विकृत रूप हुप्नोस कैसे अपनाया?

एक आदि भाषा—उसके बोलने वाले आर्य—उनका पश्चिम से पूर्व को और अभियान—यह धारणा अनेक भाषा-विज्ञानियों के दिमाग में इतनी मजबूती से जम गयी है कि उन्हें इस तरह की कठिनाइयों का सामना भी

नहीं होता। वे आर्यों की आदि भाषा की मूल ध्वनियों की कल्पना करके प्राचीन मंत्रों का शुद्ध आर्य रूप भी प्रस्तुत करते हैं, उनमें वाक्य-रचना के के नमूने देते हैं।

किसी भाषा का अध्ययन करते समय इतना कहना काफी नहीं है कि उसमें इन स्वरों या व्यंजनों का प्रयोग होता है। यह देखना और आवश्यक होता है कि किन वर्णों का व्यवहार भाषा में अधिक होता है, किस तरह की ध्वनियां उसकी प्रकृति के ज्यादा अनुकूल हैं। इस तरह भाषाओं का अध्ययन करने से पहला निष्कर्ष यह निकलता है कि संस्कृत, लैटिन, ग्रीक, जर्मन, हिन्दी आदि भाषाओं में किसी से भी 'शुद्ध' एक भाषा की ध्वनि-प्रकृति नहीं है। संस्कृत में प्रश्न भी है और पृच्छति भी। एक ध्वनि-प्रकृति श को सहज उच्चरित करने और उसे भाषा में बनाये रखने की है, तो दूसरी उसे छ में परिवर्तित करने की। इन प्राचीन भाषाओं का अध्ययन करते हुए जब हम आज की भाषाओं पर—शिष्ट जनों की भाषा ही नहीं जनपदीय बोलियों पर भी—ध्यान देते हैं तो पता चलता है कि यहां की अनेक भाषाओं और बोलियों में यह प्रवृत्ति मौजूद है जो श-ष को छ का रूप देती है। इससे यह अनुमान पुष्ट होता है कि संस्कृत में प्रश् का पृच्छति इसी प्रवृत्ति के कारण हुआ था। इसी तरह ग्रीक में सकारयुक्त शब्द भी है और स्वप्न का रूपान्तर हुप्नोस भी है। जर्मन में श-वाले बहुत से शब्द हैं और श्वान का रूपान्तर हुण्ट और शत का हुण्डेर्ट भी हैं। रूसी में रकारयुक्त बहुत से शब्द हैं और श्राव का रूपान्तर स्लाव, श्रु का रूपान्तर स्लू (-शाव्) भी है। इसका कारण अत्यन्त प्राचीन काल से विभिन्न भाषा-परिवारों का परस्पर सम्पर्क, उनका परस्पर सांस्कृतिक आदान-प्रदान, विभिन्न कारणों से और विभिन्न रूपों में प्राचीन जनों (कबीलों) का एक दूसरे में घुलना-मिलना है। इसलिए शुद्ध आर्यों की विशुद्ध ध्वनियों की निराधार कल्पना छोड़कर हमें प्राप्त भाषाओं के आधार पर उनकी ध्वनि-प्रकृति का अध्ययन करना चाहिए। इस तरह के अध्ययन से पता चलेगा कि संस्कृत-ग्रीक-लैटिन आदि की ध्वनि-प्रकृति एक अखंड, अविच्छेद्य इकाई न होकर विरोधी ध्वनि प्रकृतियों का समन्वय है।

दूसरा निष्कर्ष यह निकलता है कि यूरोप की कुछ भाषाओं की जिन ध्वनियों को मूल ध्वनि माना गया है, वे मूल ध्वनि नहीं हैं, उनके जिन शब्दों को मूल शब्द माना गया है, वे मूल शब्द नहीं हैं। प्राचीन कबीलों का अभियान पश्चिम से पूर्व की ओर भी हुआ होगा, किन्तु भाषाओं की ध्वनि-प्रकृति के अध्ययन से यह अनुमान होता है कि यूरोप की भाषाओं की अनेक विशेषताओं का कारण उन पर प्राच्य भाषाओं की ध्वनि-प्रकृति का प्रभाव है। इस तरह के अध्ययन का एक सूत्र 'ह'-सम्बन्धी है। ग्रीक और हिन्दी शब्द ईसानियों

[illegible] आदि।

जो ध्वनियाँ एक भाषा-परिवार के लिए सरल हैं, वही दूसरे के लिए कठिन हो सकती हैं। इसका कारण यह है कि जिन ध्वनियों का हम बराबर उच्चारण करते हैं, उनके लिए शरीर के अवयवों की आवश्यक क्रिया के हम अभ्यस्त हो जाते हैं। यूरोप की भाषाएं बोलने वाले उन ध्वनियों का अधिक उपयोग करते हैं जिनके उच्चारण में वायु को रोकना होता है। वायु के निष्कासन से उत्पन्न महाप्राण ध्वनियाँ —विशेषकर सघोष महाप्राण ध्वनियाँ —उन्हें प्रिय नहीं हैं। श, ष, स — इन ध्वनियों के उच्चारण में जीभ से वायु को रोकना होता है। हिन्दी जनों के लिए जबान को मोड़ने और उसमें वायु को रोकने की यह क्रिया कठिन थी। उनके लिए सुगम है वायु-निष्कासन; इसलिये उनकी प्रवृत्ति श, ष, स — तीनों ध्वनियों—की जगह ह का उच्चारण करने की है। अघोष और सघोष वर्ण जब तक अल्पप्राण हैं — जैसे क और

ग—तब तक उनका रूप सुरक्षित है, लेकिन जहां हिन्दी भाषियों ने अल्पप्राण क को महाप्राण ग न बनाया, वहीं धातु का निर्वगन-वेग क को अपने साथ बहा ले गया और फिर बचा केवल ह। हिन्दी में ऐसे शब्द कम होंगे जहां क या ग का स्थान ह ने लिया हो, लेकिन ग और घ ने जहां ह को अपना आसन दिया हो, ऐसे शब्द बहुत मिलेंगे (नग, नह, लघु, लहु)। इसी प्रकार त और द की तुलना में थ और ध, प और ब की तुलना में फ और भ महाप्राण 'ह' के सामने आत्मसमर्पण करते हैं। यदि अल्पप्राण ध्वनियों के साथ 'स' का मिश्रण हुआ तो स पहले ह में परिवर्तित होगा और ह के संसर्ग से शेष अल्पप्राण ध्वनि भी महाप्राण ध्वनि बन जायगी—जैसे स्तन से थन। इसलिए संस्कृत में गरजने के लिए 'स्तन' धातु मिले और उसी के अनुरूप अंग्रेजी में 'थंडर' मिले तो समझना चाहिए कि 'स्तन' जैसे शब्दों का 'थन्' में परिवर्तन संस्कृत-हिन्दी परिवार की विशेषता है, यूरोपीय भाषाओं की नहीं। और भी, जैसे श, ष के वास्ते आवश्यक जिह्वा-प्रयत्न हमारे कुछ पूर्वजों के लिए सुगम न था, वैसे ही वह लैटिन भाषियों के लिए भी सुगम न था। हमारे पूर्वजों के विपरीत 'च' जैसी ध्वनि के लिए भी जबान की जितनी हरकत दरकार थी, उतनी लैटिन भाषियों को अखरती थी। उन्होंने श, ष, च, आदि के लिए 'क' ध्वनि से ही काम चलाया। इसलिए अश्व की जगह एकुउस, पंच की जगह पेंक्वे। संस्कृत, हिन्दी आदि भाषाओं में 'ह' के समान 'त' की प्रधानता है। तुलनात्मक अध्ययन से हम देखते हैं कि विभक्ति रूपों में, शब्द-निर्माण में 'त' को वही महत्व पाश्चात्य भाषाओं में प्राप्त नहीं है, जो हमारे यहां प्राप्त है। इसलिए पूर्व और पश्चिम की भाषाओं में जब एक ही 'त' वाला रूप मिलता है, तब हम उसे मूलतः पूर्व का रूप मानते हैं, पश्चिम का नहीं। इसी तरह र-ल का भेद-अभेद है। पश्चिम की भाषाओं में 'र' और 'ल' दोनों का सहज अबाध व्यवहार होता है। केवल भारत में हम देखते हैं कि पश्चिम की बोलियों में ल की प्रधानता है और पूर्व की बोलियों में 'र' की। इससे हम हेरमः—हेलयो सम्बंधी प्राचीन कथा को मिलाते हैं तो यह परिणाम निकलता है कि र या ल के लिए विशेष आग्रह यहां की पूर्वी-पश्चिमी बोलियों की प्राचीन विशेषता है। जब हम लैटिन में सोल शब्द देखते हैं जो सूरि (या सूर्य) का रूपान्तर है किन्तु मातेर अपना 'र' सुरक्षित रखता है, तब यह अनुमान तर्कसंगत लगता है कि सोल आदि शब्दों में 'ल' की प्रतिष्ठा भारत की पश्चिमी बोलियों या उनसे मिलती-जुलती भारत के बाहर की बोलियों के प्रभाव का परिणाम है।

तीसरा निष्कर्ष यह निकलता है कि जो लोग संस्कृत में श-ष आदि का स्थान ह-ख आदि को लेते देख कर यह कल्पना करते हैं कि यह प्राचीन प्राकृतों

बाद मे रखने की। यही स्थिति ग्रीक मे है। ग्रीक और अंग्रेजी मे अन्तर यह है कि अंग्रेजी मे छब्बीस के लिए 'छः और बीस' न कहेंगे, लेकिन ग्रीक मे 'हेक्स काइ एइकोसी' स्वीकृत प्रयोग है। ग्रीक मे जब 'काइ' (और) न जोड़ेंगे, तब अंग्रेजी के समान दहाई पहले होगी; 'काइ' जोड़ने मे दस से छोटी संख्या पहले होगी, दहाई बाद मे।

लैटिन मे दस के बाद सत्रह तक संख्यावाचक शब्द वैसे ही बनते हैं जैसे संस्कृत-हिन्दी मे। ग्यारह-बारह-तेरह के लिए उनदेकिम, दुग्रोदेकिम, त्रेदेकिम शब्द हैं, किन्तु बीस के बाद वीगिन्टी-ऊनुम, वीगिन्टी-दुग्रो आदि रूप प्रारम्भ होते हैं। लैटिन की भी सहज भाव-प्रवृत्ति दहाई के शब्द को बाद मे रखने की है। जब इस भाषा मे दहाई का शब्द बाद मे आता है, तो ग्रीक की तरह इसमे भी 'एट' (और) आवश्यक हो जाता है: एक और बीस—ऊनुम एट वीगिन्टी, दो और बीस—दुग्रो एट वीगिन्टी।

रूसी मे उन्नीस तक संस्कृत का सा क्रम चलता है, लेकिन इक्कीस के लिए द्वाद्सत-अदीन—यूरोप की अन्य भाषाओं वाला क्रम चलने लगता है। जर्मन मे उन्नीस तक संस्कृत वाला क्रम है; बीस के बाद 'उण्ट' (और) जोड़ कर एक और बीस—आइन-उण्ट-त्स्वानत्सिग—आदि रूप बनते हैं। डैनिश और डच मे जर्मन-क्रम है, किन्तु स्वीडिश मे अंग्रेजी की तरह त्यूगोएन (बीस-एक), त्यूगोत्वा (बीस-दो) रूप बनते हैं। फ्रांसीसी मे सोलह तक संस्कृत-क्रम और उसके बाद दहाई की संख्या पहले। स्पेनी मे पन्द्रह तक संस्कृत-क्रम चलता है, उसके बाद दहाई का स्थान पहले हो जाता है। पुर्तगाली और इतालवी मे बीस के बाद अंग्रेजी-क्रम चलता है। चीनी पद्धति यूरोपीय पद्धति से मिलती-जुलती है और अधिक सुसंगत भी है। उसमे ग्यारह-बारह आदि के लिए भी 'शिह्' (दस) मे ई (एक), एर (दो) आदि जोड़े जाते हैं। चीनी जैसा ही नियम द्रविड भाषाओं में है यथा तमिल मे पत्तु—दस, पदिनोण्णु—ग्यारह। भाव-प्रवृत्ति के इस भेद से भी संस्कृत-द्रविड भाषा-परिवारों की भिन्नता सूचित होती है।

साधारणतः यूरोप की भाषाओं मे दहाई की संख्या को पहले और जोड़ी जानेवाली संख्या को बाद मे रखने की प्रवृत्ति है। कुछ मे ग्यारह-बारह, कुछ मे पन्द्रह, कुछ मे उन्नीस तक संस्कृत जैसा क्रम चलता है। बाद मे उनकी मूल प्रवृत्ति प्रकट हो जाती है जो दहाई को पहले रखती है। कुछ भाषाएं 'और' से काम लेकर दहाई को बाद मे रखती है। यह सामान्य नियम केवल संस्कृत और उससे सम्बंधित भारतीय भाषाओं मे ही देखा जाता है कि जैसे ग्यारह-बारह रूप बनते हैं, वैसे ही इक्कीस-बाईस। इससे सिद्ध हुआ कि दहाई को बाद मे रखना संस्कृत भाषा-परिवार की अपनी भाव प्रवृत्ति है। यूरोप की

भाषा की भाव-प्रकृति

भाषा की ध्वनि-प्रकृति के समान उसकी एक भाव-प्रकृति होती है जो उस-विशेष वाक्य-रचना तथा व्याकरण के विभिन्न रूपों में प्रकट होती है। दस के बाद हम गिनते हैं, ग्यारह, बारह, तेरह, बीस के बाद इक्कीस, बाईस, तेईस और इसी तरह इक्यावन, बावन, तिरपन तक। इन संख्यावाचक शब्दों की विशेषता यह है कि दहाई का अंक बाद को आता है और उसमें जिसकी वृद्धि होती है, वह अंक पहले रहता है। यही पद्धति संस्कृत में है—एकादश, द्वादश, त्रयोदश, इत्यादि। ग्रीक में ग्यारह-बारह के लिए हेंडेका, डोडेका शब्द हैं। तेरह को 'तीन और दस' के लिए 'त्रेइस काइ देका', 'चार और दस' के लिए 'तेसारेस काइ देका' आदि हैं (काइ = और)। इक्कीस के लिए एइकोसी हेनो (बीस एक), इक्कीस के लिए एइकोसिन हेइस (बीस एक) आदि रूप हैं।

अंग्रेजी में दस के बाद इलेवन, ट्वेल्व, थर्टीन, आदि शब्दों में संस्कृत-हिन्दी के समान दहाई की संख्या बाद में आती है, और जो संख्या जोड़ी जाती है, वह पहले होती है। किन्तु बीस के बाद ट्वेंटी-वन, ट्वेंटी-टू, आदि क्रम चलता है जिसमें दहाई पहले और जोड़ी जाने वाली संख्या बाद में आती है।

केवल भारतीय भाषाओं में जो क्रम ग्यारह-बारह में है, वही इक्कीस-बाईस आदि बाद की संख्याओं में है। भारतीय भाषाओं की यह भाव-प्रकृति हुई—उन भाषाओं का व्यवहार करनेवालों के चिन्तन और भाव-व्यंजना की विशेष पद्धति हुई—जिसके अनुसार दहाई का स्थान बाद में होता है और उसके साथ जुटने वाली संख्या का पहले। ग्रीक में बारह तक और अंग्रेजी में उन्नीस तक संस्कृत क्रम चलता है, उसके बाद यह क्रम टूट जाता है। अंग्रेजी की सहज भाव-प्रकृति दहाई को पहले रखने की है, जुड़नेवाली संख्या को

रूसी में उन्नीस तक संस्कृत का सा क्रम चलता है, लेकिन इक्कीस के लिए द्वादत्सत्-अदीन — इक्कीस की अन्य भाषाओं वाला क्रम चलने लगता है। जर्मन में उन्नीस तक संस्कृत वाला क्रम है, बीस के बाद 'उण्ट' (और) जोड़कर एक और बीस — आइन-उण्ट-स्वान्त्सिग — आदि रूप चलते हैं। डैनिश और डच में जर्मन-क्रम है, किन्तु स्वीडिश में अंग्रेजी की तरह त्यूगोएत (बीस-एक), त्यूगोत्वा (बीस-दो) रूप चलते हैं। फ्रांसीसी में सोलह तक संस्कृत-क्रम और उसके बाद दहाई की संख्या पहले। स्पेनी में पन्द्रह तक संस्कृत-क्रम चलता है, उसके बाद दहाई का स्थान पहले हो जाता है। पुर्तगाली और इतालवी में बीस के बाद अंग्रेजी-क्रम चलता है। चीनी पद्धति यूरोपीय पद्धति से मिलती-जुलती है और अधिक सुसंगत भी है। उसमें ग्यारह-बारह आदि के लिए भी 'शिह्' (दस) में ई (एक), एर (दो) आदि जोड़े जाते हैं। चीनी जैसा ही नियम द्रविड़ भाषाओं में है यथा तमिल में पत्तु—दस, पदिनाण्णु—ग्यारह। भाव-प्रकृति के इस भेद से भी संस्कृत-द्रविड़ भाषा-परिवारों की भिन्नता सूचित होती है।

साधारणतः यूरोप की भाषाओं में दहाई की संख्या को पहले और जोड़ी जानेवाली संख्या को बाद में रखने की प्रवृत्ति है। कुछ में ग्यारह-बारह, कुछ में पन्द्रह, कुछ में उन्नीस तक संस्कृत जैसा क्रम चलता है। बाद में उनकी मूल प्रवृत्ति प्रकट हो जाती है जो दहाई को पहले रखती है। कुछ भाषाएं 'और' से काम लेकर दहाई को बाद में रखती हैं। यह सामान्य नियम केवल संस्कृत और उससे सम्बन्धित भारतीय भाषाओं में ही देखा जाता है कि जैसे ग्यारह-बारह रूप बनते हैं, *वैसे ही इक्कीस-बाईस।* *इससे सिद्ध हुआ कि* दहाई को बाद में रखना संस्कृत भाषा-परिवार की अपनी भाव-प्रकृति है। यूरोप की

भाषा की भाव-प्रकृति का यह एक उदाहरण हुआ।

दूसरा उदाहरण संस्कृत के विभक्ति-चिह्नों से देते हैं। रामस्य में सम्बंध वाचक 'स्य' राम के बाद आता है, हिन्दी में भी 'राम का' रूप में सम्बंध-वाचक 'का' बाद में आता है। अगर 'राम के ऊपर' कोई विभक्ति वहीं हो तो 'के' के बाद ही ऊपर जोड़ा जायगा, उसके पहले नहीं। यूरोप की भाषाओं में यह विचित्रता है कि जब वे विभक्ति-चिह्न स्वीकार करती हैं, तब वह मूल शब्द के बाद ही आता है, किन्तु जब उन्हें कोई अन्य सम्बंधवाचक शब्द इस्तेमाल करना होता है, तब वह मूल शब्द के पहले आता है। सम्बंध सूचक शब्द वही काम करता है जो विभक्ति-चिह्न। वास्तव में विभक्ति-चिह्न स्वतंत्र शब्द ही थे जो संसर्ग-दोष से स्वतंत्र अस्तित्व खोकर चिह्न मात्र रह गये। संस्कृत-परिवार की भाषाओं में स्वतंत्र सम्बंधवाचक शब्दों और विभक्ति-चिह्नों के लिए एक सा नियम है। ग्रीक, लैटिन, रूसी, जर्मन आदि भाषाओं में दो नियम हैं : विभक्ति चिह्न मूल शब्द के बाद आयेंगे, सम्बंधवाचक पहले।

ग्रीक में 'शाम को' के लिए कहेंगे 'एइस हेस्पेरान'। यहां 'हेस्पेरान' स्वयं कर्म कारक है, 'एइस' (को) अलग से जुड़ा हुआ है। 'एथेंस से'— 'अप अथीनोन'; अथीनोन सम्बंध कारक है, अप (अपो) पहले आया है,

संस्कृत में क्रिया, संज्ञा, विशेषण आदि में उपसर्ग जोड़कर मूल शब्द के अर्थ में कोई विशेषता उत्पन्न की जाती है, वद्-प्रवद्, मत्त-प्रमत्त, स्थान-प्रस्थान, वाद-प्रवाद, इत्यादि। ग्रीक, लैटिन, रूसी आदि भाषाओं में उपसर्ग का यही धर्म है। संस्कृत में विशेषण आवेगा तो संज्ञा के पहले, क्रिया-विशेषण होगा तो क्रिया के पहले आवेगा, यदि विशेषण की विशेषता शामिल करने-वाला शब्द होगा तो वह भी विशेषण के पहले आवेगा। यह संस्कृत का साधारण नियम है। ग्रीक में विशेषण मूल शब्द के पहले भी आते हैं, बाद को भी। 'निकिन एनीकिगान कल्लिस्तीन' (उन्होंने श्रेष्ठ विजय प्राप्त की, निकिन-विजय पहले है, बाद को क्रिया, अन्त में विशेषण कल्लिस्तीन-श्रेष्ठ। 'एगो फिलो मालिस्त'—मैं बहुत अधिक प्यार करता हूं। यहाँ मालिस्त (बहुत अधिक) क्रिया के बाद आया। सम्बन्ध-कारक का प्रयोग भी एक प्रकार से वस्तु का सम्बन्ध या उसकी विशेषता बताने के लिए होता है। संस्कृत में स्वाभाविक रूप से सम्बन्धकारक मूल शब्द से पहले आवेगा—जैसे रामस्य पत्नी।

अंग्रेजी मे ऍपौस्ट्रोफी एस् से काम न लिया जाय तो 'वाइफ ऑफ राम'—इस तरह का क्रम होगा। ग्रीक में भी यह प्रवृत्ति दिखाई देती है: 'एन आर्खे तोउ लोगोउ' (भाषण के आरम्भ मे)—यहां भाषण के (लोगोउ) अन्त में है और आर्खे (आरम्भ) पहले है। इसी प्रकार लैटिन में 'फोर्तिस्सिमुस मीलितुम्'—सैनिकों मे श्रेष्ठ। यहा 'सैनिकों में'—के लिए षष्ठी विभक्ति (मीलितुम्) का प्रयोग हुआ है और वह मूल शब्द के बाद में है। 'तेम्प्ला देओरम्'—देवताओं के मंदिर; यह वाक्यांश बिलकुल अंग्रेजी की तरह है 'टैम्पेल्स ऑफ गौड्स'। इन उदाहरणों मे सिद्ध हुआ कि संस्कृत का साधारण नियम विशेषण को मूल शब्द से पहले रखने का है; इसीके अनुरूप उपसर्ग भी शब्द मे पहले आता है। ग्रीक-लैटिन आदि भाषाओं मे विशेषण पहले भी आता है, बाद को भी; कोई साधारण नियम नहीं है। ऐसी स्थिति में इस सम्भावना से इनकार नहीं किया जा सकता कि यूरोप की इन प्राचीन भाषाओं मे उपसर्ग के प्रयोग पर संस्कृत-पद्धति का प्रभाव पड़ा है।

संस्कृत का साधारण नियम है कि क्रिया वाक्य के अन्त मे आती है। ग्रीक और लैटिन में क्रिया वाक्य के अन्त में आती है और बीच में भी आ सकती है। 'तो थउमाज़ेइन आर्खे एस्ति तिस सोफिआस'—आश्चर्य आरम्भ है ज्ञान का—इस ग्रीक वाक्य मे एस्ति क्रिया वाक्य के अन्त में न होकर बीच में है। लैटिन मे 'मोन्स एस्त आल्तिओर'—पहाड़ ऊंचा है, 'ओप्पिदुम एरात माग्नुम'—नगर विशाल था;—इन वाक्यों में एस्त और एरात क्रियाएं वाक्य के बीच में आयी हैं जैसे वे अंग्रेजी में आती हैं।

यूरोप की आधुनिक भाषाओं मे साधारणतः कर्म क्रिया के बाद आता है। वाक्य में अन्य पद जिनका क्रिया से सम्बन्ध हो, वे भी प्रायः क्रिया के बाद आते हैं। अंग्रेजी मे कहेंगे—'दि मैन इज हंग्री।' यही वाक्य जर्मन में होगा—'डेर मन इस्ट हुंगरिग।' फ्रांसीसी मे 'ल लीव्र ए स्यूर ला ताब्ल'—पुस्तक मेज पर है। इतालवी मे—'गिउसेप्पे आमा मोल्तो सुआ सोरेल्ला'—गिउसेप्पे अपनी बहन से स्नेह करता है। रूसी में 'उचीतेल राज़दायोत क्नीगी'—अध्यापक पुस्तकें दे रहा है। इन उदाहरणों में क्रिया वाक्य के अन्त में नहीं है, वरन् उसके बाद कर्म या क्रिया से सम्बन्धित अन्य शब्द आते हैं। इसे हम यूरोपीय भाषाओं का साधारण नियम मानते हैं। लैटिन और ग्रीक में भी यह प्रवृत्ति थी। इसका परिणाम यह निकलता है कि ग्रीक और लैटिन में जहां कर्म क्रिया से पहले आता है और क्रिया अपने से सम्बन्धित शब्दों के बाद आती है, वहां वाक्य-रचना पर संस्कृत या अन्य परिवार की भाषाओं का प्रभाव पड़ा है। यूरोपीय भाषाओं की सहज प्रवृत्ति उनकी वर्तमान वाक्य-रचना में देखी जा सकती है। यह प्रवृत्ति ग्रीक और लैटिन की

वाक्य-रचना को भी प्रभावित करने लगी थी। भारत-यूरोपीय परिवार की यूरोपीय भाषाओं में जो आन्तरिक समानता है, वह उनकी वाक्य-रचना में प्रकट होती है। यह वाक्य-रचना विशेष प्रकार की चिन्तन-अभिव्यंजन-पद्धति का परिणाम है जो अत्यंत प्राचीन होगी। इधर भारतीय भाषाओं में संस्कृत तथा उत्तर भारत की अन्य भाषाएं वाक्य-रचना में एक से नियमों का पालन करती हैं : कर्ता पहले, क्रिया अन्त में, विशेषण मुख्य शब्द से पहले, कर्म और क्रिया से सम्बंधित शब्द क्रिया के बाद न आकर उससे पहले आयेंगे। इससे सिद्ध हुआ कि संस्कृत और हिंदी आदि प्राचीन-नवीन भाषाओं की वाक्य-रचना में मौलिक अन्तर नहीं है। यदि यूरोप से आये हुए 'आर्यों' ने भारतीय भाषाओं को जन्म दिया होता या उन्हें प्रभावित किया होता, तो यहां की भाषाओं में भी क्रिया के बाद कर्म को रखने की मिसालें मिलती और यूरोप में आधुनिक-प्राचीन भाषाओं की वाक्य-रचना में अधिक साम्य होता। इसके विपरीत हम देखते हैं कि उनमें इस साम्य का अभाव है। यही नहीं, ग्रीक-लैटिन की वाक्य रचना कहीं तो संस्कृत के नियमों के अनुकूल होती है, कहीं आधुनिक यूरोपीय भाषाओं के नियमों के अनुकूल होती है। इसका कारण दो भिन्न भाव-प्रकृतिवाले भाषा-कुलों का प्रभाव ही हो सकता है।

भाव-प्रकृति की दृष्टि से यूरोप की 'आर्य' भाषाएं जितना सामी परिवार के निकट हैं, उतना भारतीय भाषाओं के नहीं। जैसे अरबी में सम्बंधवाचक 'लि' का अर्थ है 'को', 'लिमलिकिन' का अर्थ हुआ राजा को। अंग्रेज़ी के समान अरबी का सम्बंधसूचक शब्द 'प्रिपोज़ीशन' होता है, 'पोस्टपोज़ीशन' नहीं। मलिकिन में 'इन' स्वयं सम्बंधकारक का चिन्ह है। इससे सिद्ध हुआ कि ग्रीक, लैटिन, रूसी आदि भाषाओं के समान अरबी में भी दो तरह की भाव-प्रकृति मिलती है। एक ओर शब्दों के अन्त में सम्बंधवाचक शब्दांश जुड़े हुए हैं, दूसरी ओर मूल शब्द के पहले भी सम्बंधवाचक शब्द का प्रयोग होता है। 'ज़ैदुनिब्नु मुहम्मदिन'—मुहम्मद का पुत्र ज़ैद, यहां 'मुहम्मद' के साथ जुड़े हुए विभक्ति-चिन्ह से ही काम चल गया, 'का' के लिए अलग से सम्बंध-वाचक शब्द का प्रयोग आवश्यक न हुआ। सामी और संस्कृत परिवार की भाषाएं बोलनेवालों का किसी समय घनिष्ठ सम्बंध रहा है। इसलिए ग्रीक और लैटिन के समान अरबी आदि सामी भाषाओं के लिए भी यह अनुमान किया जा सकता है कि विभक्ति-चिन्ह के रूप में सम्बंधवाचक शब्द को प्रकृति के बाद में रखना संस्कृत प्रभाव के कारण है; प्रकृति के पहले सम्बंधवाचक शब्द का प्रयोग सामी भाषाओं की अपनी विशेषता है। 'फिलहाल' में 'फि' सम्बंधवाचक शब्द है जो हाल के पहले आया है, इसी प्रकार 'फिल जुमला' (कुल मिलाकर या संक्षेप में)। यूरोप की भाषाओं और सामी परिवार की

भाषाओं मे यह जो समानता दिखाई देती है, वह भी आकस्मिक नहीं है।
यूरोप की भाषाओं से तात्पर्य यहा 'भारत-यूरोपीय' परिवार की ही यूरोपीय
भाषाओं से है। यूरोप की ये भाषाएं एक ओर भारतीय सस्कृत-परिवार से
प्रभावित हुई हैं, दूसरी ओर उन पर शामी परिवार का भी असर पडा है। यह
प्रभाव शब्द-भंडार और भाव-प्रकृति मे भी स्पष्टतः देखे जा सकते हैं।

अरबी का एक वाक्यांश लीजिए—खादिमुत्तबीबी। इसका अर्थ हुआ
तबीब (वैद्य) के खादिम (सेवक)। अंग्रेज़ी मे इसका अनुवाद अरबी शब्द-
क्रम के अनुरूप होगा—'दि सर्वेन्ट्स ऑव दि डॉक्टर'। संस्कृत परिवार का
साधारण नियम है कि विशेषण का स्थान विशेष्य से पहले है। कैसे सेवक?
वैद्य के सेवक। इसलिए हिन्दी मे 'वैद्य के' यह टुकड़ा सेवक से पहले आयेगा
अंग्रेज़ी और अरबी दोनो मे विशेषण का काम करनेवाला यह अंश मूल श
के बाद आता है। यह प्रवृत्ति शामी भाषाओ मे ही अधिक संगत रूप मे मि
है। 'वलदहु'—उसका बेटा, यहा 'हु' (उसका) मूल शब्द 'वलद' (बे
के बाद आया है। अरबी मे यह प्रवृत्ति अधिक संगत रूप में मिलती है, इ
यूरोपीय भाषाओं मे उसे शामी-प्रभाव का परिणाम माना जा सकता है।

खुदावन्द-इ-हकीकी—अरबी के इस टुकडे मे विशेष्य खुदावन्द पहले है,
विशेषण हकीकी (वास्तविक) बाद मे है। 'अल्लाह ताला' म ताला विशेषण
(महान्। बाद मे है, अल्लाह पहले। शम्-इ-काफ़ूरी (कपूर की बत्ती।—शम
पहले, काफ़ूरी बाद मे। इसी प्रकार मुर्ग़-इ-सहर (प्रभात का पक्षी)-सम्ब
वाचक 'इ' सहर से पहले आया, हिन्दी-सस्कृत आदि मे वह बाद मे आत
'व लउ शरिब्तु बुहूरा' (चाहे मैं समुद्रो को पी जाऊं)—यहां यूरोपीय भाष
के साधारण नियम के अनुकूल शरिब्तु क्रिया पहले है, बुहूरा (समुद्रो
कर्म बाद में है। 'ज़रब ज़ैदुन् अम्रन्' (ज़ैद ने अम्र को मारा)—यहां
वाक्य के आरम्भ मे है, कर्म अन्त मे। हिन्दी-सस्कृत में इस तरह का
अपवाद होगा। 'अल् फ़क्रु सवादुल वजहि फि द दारैनी' (गरीबी दोन
मे मुंह की कालिमा है)—इस वाक्य में 'फि द दारैनी' (दोनों ज
अंग्रेज़ी आदि की प्रकृति के अनुकूल वाक्य के अन्त मे आया। 'अल्लाहु युहि
ब्बुल मुहसिनीन' (ईश्वर परोपकारियो से प्रेम करता है)—क्रिया युहिब्बु
पहले, कर्म मुहसिनीन बाद मे।

फारसी आर्य परिवार की भाषा है किन्तु उस पर भी अरबी का गहरा
असर पड़ा है। अज़ सर—आरंभ मे, अज़ मा—हम से, दर ख्वाब—नींद में,
शाहिदम् मन् कमे न दर कनान—मैं सुन्दर हूं लेकिन कनान मे नहीं; यहां सम्बंध-
वाचक अज़ और दर मूल शब्द मे पहले आये है। फारसी मे यहां संस्कृत-
परिवार की अपनी प्राचीनतर पद्धति छोड़ कर शामी-परिवार की नयी रीति

यही हाल जर्मन, फ्रांसीसी आदि का है। फ्रान्सीसी में भविष्य काल
पद्धति का अनुसरण करता है, लेकिन सहायक क्रियाओं का व्यवहार उसमें
अन्य यूरोपीय भाषाओं के समान ही होता है। 'इल आ व्यू ल र्वा'—
उसने बादशाह को देखा; यहां 'आ' अंग्रेजी के 'हैज' का समकक्ष है और
'व्यू' 'सीन' का। इसके विपरीत हिन्दी में 'उठ बैठे थे', 'चले जा रहे होंगे'
आदि वाक्यांशों में क्रियाओं की शृंखला बना दें। फिर भी मूल क्रियावाचक
शब्द पहले ही आयेगा जो संस्कृत का नियम भी है। ग्रीक-लैटिन की प्रकृति
अनेक बातों में यूरोपी भाषाओं से भिन्न है और संस्कृत के अधिक निकट
है। इधर भारतीय भाषाओं और संस्कृत की भाव-प्रकृति में वैसा गहरा भेद
नहीं दिखाई देता जैसा यूरोप की आधुनिक और प्राचीन भाषाओं में। इस
भेद का कारण पूर्वोल्लिखित सामी प्रभाव हो सकता है।

संस्कृत मे क्रिया का वचन और पुरुष वही होता है जो कर्ता का। यही
नियम ग्रीक और लैटिन मे भी है। किन्तु अंग्रेजी मे 'आई गो', 'वी गो',
'दे गो' लेकिन 'ही गोज'। भूतकाल और भविष्य में 'विल गो' आई, वी,
ही, दे — सभी के साथ चलता है। लेकिन 'गोइंग' के साथ 'इज, वाज, वेयर
ऐम' आदि विभिन्न क्रियाएं लगेंगी। इसका अर्थ यह हुआ कि अंग्रेजी में दो
प्रवृत्तियां काम करती हैं; कर्ता के अनुसार क्रिया का वचन और पुरुष बद
भी हैं और नहीं भी बदलते। जर्मन मे वर्तमान और भूतकाल मे कर्ता के अ
सार क्रिया का पुरुष-वचन बदलता है किन्तु भविष्य, परोक्ष भूत आदि क
मे जहां सहायक संज्ञा से काम लिया जाता है, वहां सहायक संज्ञा का व
पुरुष ही बदलता है, मूल क्रिया अपरिवर्तित रहती है। 'एर व्हिर्ड लोबेन
वह प्रशंसा करेगा; 'जी व्हेर्डेन लोबेन — वे प्रशंसा करेंगे; इन वाक्यों में
रूप ज्यों का त्यों रहा। इसके विपरीत हिन्दी मे वह गायेगा, वे गा
गाऊंगा — इन वाक्यों में गाना क्रिया के रूप बदलते रहते हैं। जर्मन
पुरुष-वचन के मामले मे ग्रीक-लैटिन से किंचित् समानता रखती है,
से उनकी अनुगामिनी नहीं है। फ्रांसीसी में क्रिया पुरुष-वचन मे कर्ता का
अनुसरण करती है किन्तु सहायक-क्रिया के साथ कभी वह परिवर्तनशील होती
है, कभी अपरिवर्तनशील। परिवर्तित होने पर लिंगभेद भी होता है। साइ
किल जो कारबारी ने बनाई—'ला बिसिक्लेत क ल् फाब्रिकां आ फेत (faite)'
साइकिल जो कि मैंने खुद बनाई है — 'ला बिसिक्लेत क ज म सुइ फे (fait
फेयर।' पहले वाक्य मे 'फेत' एक वचन और स्त्रीलिंग है; दूसरे मे '
अपरिवर्तनशील है, उसके बाद 'फेयर' क्रिया और आती है। रूसी मे व
मान काल में कर्ता के अनुसार क्रिया बदलती है। भूतकाल मे वचन के स
क्रिया मे लिंगभेद भी होता है, उसने (पुरुष) लिगा—अन पिसाल; उ

हिन्दी मे सर्वनामों में लिगभेद नहीं होता, लेकिन अवधी मे 'वह' के दो रूप होते हैं : 'वह जात है,' 'वह जाति है;' वह पुल्लिग, वह स्त्रीलिंग। क्रियाओ मे 'है' और 'हैं' में लिगभेद नही होता किन्तु 'था, थी, थे, थीं' में लिगानुसार परिवर्तन होता है। करता, करती, जाता, जाती, आदि क्रिया-रूपों मे भी लिगभेद होता है लेकिन वे जायेंगे, वे जायेंगी में केवल भविष्य-सूचक शब्द में परिवर्तन होता है। इसके विपरीत अवधी में 'वो जइहैं' स्त्रियों और पुरुषो दोनों के लिए प्रयुक्त होगा; इसी प्रकार 'हम जइबे' दोनों के लिए उपयुक्त है किन्तु खडी बोली मे 'हम जायेंगे' और 'हम जायेंगी' होगा। रूसी में लकारान्त भूतकाल मे लिगभेद होता है जैसे 'अन पिसाल' (पुं), 'अना पिसाला', किन्तु वर्तमान और भविष्यकाल मे — भविष्यकाल मे अनेक धातुएं बूद् (भू) के बिना भी अपना रूप परिवर्तित करती हैं — लिगभेद नही होता। संस्कृत मे क्रिया-भाव को प्रकट करने के दो तरीके हैं, एक तो साधारण क्रियारूप में प्रयोग, दूसरा विशेषण रूप में प्रयोग। रूसी, हिन्दी आदि में जहा लिगभेद होता है, वहा यह दूसरी प्रवृत्ति काम करती है अर्थात् 'जाता है, जाती है' —में जाता और जाती विशेषण की तरह प्रयुक्त होते हैं। यह असंभव नही है कि क्रिया के उपयोग की ये दो पद्धतियां दो भिन्न भाव-प्रकृति वाले भाषा-परिवारों के सम्पर्क का परिणाम हो।

रूप-गठन की दृष्टि से कुछ भाषाएं विश्लेषणात्मक (analytic) कहलाती हैं जैसे अंग्रेजी। इनमे शब्दों के साथ विभक्ति-चिन्ह नहीं जुडते या उनमें रूप-विकार नही होता। इनसे भिन्न संश्लिष्ट (synthetic) भाषाएं हैं जिनमे रूप-विकार होता है, शब्दों मे विभक्ति-चिन्ह जुडते हैं। कुछ विद्वान् चीनी जैसी भाषाओ को वियोगात्मक (isolating) कहते हैं क्योंकि उनमे समास का प्रयोग नहीं होता; शब्द एक-दूसरे से अलग और अपरिवर्तित रहते हैं। तुर्की जैसी भाषाए संयोगात्मक (agglutinative) कहलाती हैं; उनमें शब्दो का रूप नही बदलता लेकिन शब्द एक-दूसरे से जुडकर समास-रूप ग्रहण करते हैं। तुर्की जैसी भाषा मे रूप-विकार-सूचक जो प्रत्यय जुडते हैं, वे संस्कृत जैसी संश्लिष्ट भाषा के प्रत्ययो से मूलतः भिन्न नहीं हैं। उदाहरण के लिए तुर्की का जान (आत्मा) शब्द ले सकते हैं :

	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	जान्	जान्-लेर्
कर्म	जान्-इ	जान्-लेर्-इ
सम्प्रदान	जान्-एह.	जान्-लेर्-एह.
अपादान	जान्-दान्	जान्-लेर्-दान्
सम्बंध	जान्-एन	जान्-लेर्-इन्

[illegible] —

[illegible]	—	मैं आ रहा हूं.
[illegible]	—	तू आ रहा है.
[illegible]	—	वह आ रहा है.
[illegible]	—	हम आ रहे हैं.
[illegible]	—	तुम आ रहे हो.
[illegible]	—	वे आ रहे हैं.
[illegible]	—	मैं आ रहा था.
[illegible]	—	तू आ रहा था.
[illegible]	—	वह आ रहा था.
[illegible]	—	हम आ रहे थे.
[illegible]	—	तुम आ रहे थे.
[illegible]	—	वे आ रहे थे।

अर्थात् मूल धातु में परिवर्तन नहीं होता, किन्तु उसमें जुड़ने वाले प्रत्यय काल, पुरुष, वचन के अनुसार बदलते रहते हैं।

रूसी भाषा संस्कृत-परिवार के सर्वाधिक निकट है किन्तु फारसी के समान उसकी भाव-प्रकृति भी सामी-परिवार से प्रभावित जान पड़ती है। फारसी के समान सम्बन्धवाचक शब्द रूसी में प्रकृति से पहले ही नहीं आते, वरन् उसमें ध्वनि-सम्बन्धी समानता भी है। फारसी अज के समान रूसी इज 'से' के लिए प्रयुक्त होता है, इज परीसा — पैरिस से। साथ ही रूसी 'अत्' संस्कृत के पंचमी विभक्ति-चिन्ह से मिलता है — राम+अत्, रामात्। इससे एक तो यह सिद्ध होता है कि स्लाव भाषाओं ने सामी और आर्य दोनों परिवारों का प्रभाव ग्रहण किया है, दूसरे इस तथ्य का संकेत मिलता है कि संश्लिष्ट वर्ग की संस्कृत भाषा के रामात् जैसे रूपों में अत् जैसे विभक्ति-चिन्ह कभी स्वतन्त्र सम्बन्धसूचक शब्द थे।

रूसी-फारसी की उपर्युक्त समानता से हम तुर्की-अरबी की एक प्रत्यय-समानता की तुलना कर सकते हैं। अरबी में मुहम्मदिन् का अर्थ होगा — मुहम्मद का। तुर्की में भी इसका ठीक यही अर्थ होगा। दोनों ही भाषाओं में 'इन्' प्रत्यय सम्बन्धवाचक है। अरबी में उसे शब्द से अभिन्न मान कर हम उसे संश्लिष्ट भाषा की विशेषता मानते हैं, तुर्की में उसे शब्द से भिन्न मान कर हम उसे सयोगात्मक भाषा की विशेषता मानते हैं। प्रत्यय एक ही है, उसका अर्थ एक ही है, उसके प्रयोग का स्थान भी एक है, किन्तु भाषा के प्रति दृष्टि-कोण की भिन्नता से उसकी व्याख्या अलग-अलग है। यह भी उल्लेखनीय है कि सम्बंधवाचक शब्दों या शब्दांशों के प्रयोग में तुर्की संस्कृत की समानधर्मा

है। अरबी में जहाँ सम्बंधमूलक ... अरबी से सदा प्रकृति का अनुसरण करते हैं। उदाहरण—मनुष्य, ... तुर्की की वाक्य-रचना लिए; एव—घर, एव-दे—घर में, एव-देन—घर से। तुर्की की वाक्य-रचना भी अरबी तथा यूरोपीय भाषाओं से भिन्न संस्कृत-हिन्दी के अधिक निकट होती है। 'सु कितावि अर्कदश-दनिज अहमद्-देन अल्दिम्—(मैं) यह पुस्तक तुम्हारे मित्र अहमद से लाया; इस वाक्य में क्रिया अन्त में है, कर्म उसमें पहले, 'तुम्हारे मित्र अहमद से'—यह टुकड़ा भी, अंग्रेज़ी-अरबी से भिन्न, क्रिया से पहले आया है। अपनी भाव-प्रकृति के कारण तुर्की यूरोप की अनेक भाषाओं की तुलना में संस्कृत के अधिक निकट है। यूरोप की 'आर्य' भाषाएं संस्कृत से अधिक अरबी की भाव-प्रकृति का अनुसरण करती हैं।

चीनी भाषा के लिए कहा जाता है कि वह एक-स्वरिक (मोनो सिलैबिक) है। उस... है। वास्तव में चीनी भाषा एक-स्वरिक न होकर बहु-स्वरिक है। उसके मूल धातुएं एक-स्वरिक हैं और उनके आधार पर बहु-स्वरिक शब्दों की रचना हुई है। गोङ्-चानऋयी (साम्यवाद) एक ही शब्द कहा जायगा यद्यपि ... चार स्वरिक हैं। संभव है कुछ अन्य भाषाएं भी—जो बहु-स्वरिक मानी ... हैं—पहले एक-स्वरिक रही हों। संस्कृत की धातुएं साधारणतः एक-स्व... हैं। संस्कृत के बहुत से शब्द एक या दो अक्षरों के हैं, खं (आकाश), ... (पृथ्वी), नु (प्रशंसा), श (शिव) इत्यादि। संस्कृत के क्रियारूपों में ... चिन्ह जोड़े जाते हैं, वे विद्वानों की धारणा के अनुसार यदि सर्वनाम ही हैं, ... संस्कृत की क्रियाएं किसी समय अपरिवर्तनशील और एक-स्वरिक रही होंगी, जो सर्वनाम उनके साथ प्रयुक्त होते थे, वे उनका अंग बन गये। शब्दों में ध्वनि-सौंदर्य के लिए या अर्थ-विकार के लिए नये वर्ण जोड़ दिये ... है जिससे मूल शब्द का एक-स्वरिक रूप छिप गया है—जैसे फ्रान्सीसी भाषा ... सैर (soeur) इतालवी में सोरेल्ला हो गया है। बहन के समान भाई के लिए भी इतालवी में फ्रातेर से आगे बढ़ कर फ्रातेल्लो शब्द है। संभव है कि फ्रातेर या भ्राता की मूल धातु भ्रा रही हो और उसमें 'ता' या 'तर' अर्थ-विकार के लिए जोड़ा गया हो। संस्कृत के दश शब्द को लीजिए। इसमें दो वर्ण हैं द और श। विंशति में वि है दो के लिए, दश के लिए बचा केवल 'श'। चीनी में दश के लिए 'शिह' शब्द है। रूसी में दश के लिए 'देस्यत्' है जिसमें दे (द) के अलावा त (शत के त की तरह) भी लगा हुआ है। इ... प्रकार दशवाचक मूल शब्द एक-स्वरिक शि या श सिद्ध हुआ।

अरबी आदि शमी भाषाओं के लिए कहा जाता है कि इनकी धा... तीन अक्षरों ... फ्रांसीसी भाषाविद् अर्नेस्त रेनाँ इस भाषा-परिवार ...

अपने ग्रन्थ[1] में इससे भिन्न मत प्रकट करते हैं। उनका कहना है कि तीन अक्षरों की धातुओं की बात वैयाकरणों की गढ़न्त है। तीन अक्षरों में एक अक्षर निर्बल होता है, वास्तव में प्रत्येक धातु में दो मूल अक्षर होते हैं जिनसे एक ही स्वरिक (सिलेबल) बनता है। उनका विचार है कि यदि भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार में कोई साम्य है, तो उसे यहां (यानी धातुओं के एक-स्वरिक रूप में) देखना चाहिए।

संस्कृत के समान अरबी भी संश्लिष्ट और रूपविकार वाली भाषा मानी जाती है किन्तु रेनाँ सामी-परिवार की धातुओं का विश्लेषण करते हुए इस महत्वपूर्ण परिणाम पर पहुंचते हैं: "इस प्रकार हम सरल और एकस्वरिक भाषा तक पहुंचते हैं जिसमें रूप-विकार नहीं है (*sans flexiones*), जिसमें व्याकरण के निश्चित भेद नहीं (sans categories grammaticales), जो शब्दों के क्रम द्वारा या उनके संयोग द्वारा (रेनाँ ने l'agglutination शब्द का प्रयोग किया है जो तुर्की जैसी भाषाओं की विशेषता प्रकट करने के लिए इस्तेमाल किया जाता है) विचार की व्यंजना करती है; संक्षेप में हम ऐसी भाषा तक पहुंचते हैं जो चीनी भाषा के प्राचीनतम रूपों से काफी मिलती-जुलती है।" (प्रथम भाग, पृष्ठ ८७)।

सामी और आर्य भाषा-परिवार परस्पर भिन्न और विरोधी समझे जाते हैं। धार्मिक भावनाएं वास्तविक और कल्पित भेद को बढ़ा-चढ़ा कर पेश करती हैं, कुछ लोग इस भेद को नस्ल (रेस) के भेद से मिला देते हैं। उनके विचार से प्राचीन ग्रीक-लैटिन-संस्कृत भाषाएं महान् थीं क्योंकि वे संश्लिष्ट थीं। उनकी अपूर्व भावाभिव्यंजन-क्षमता का कारण यह था कि गौर वर्ण के आर्यों का रक्त काले-पीले वर्णों वाली नस्लों के रक्त से श्रेष्ठ था। इसके विपरीत एक दूसरा सिद्धान्त है कि भाषाओं में जो व्याकरण-सम्बंधी विशेषताएं दिखाई देती हैं, वे *विकास-क्रम में उनकी अर्जित विशेषताएं हैं, उनका रक्त से कोई सम्बन्ध* नहीं है। इस मत के अनुसार विभिन्न भाषा-परिवारों की धातुओं—मूल शब्दों—के विश्लेषण से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि जैसे सामाजिक विकास की आदि-दशा में वर्ण-व्यवस्था नहीं थी वरन् प्रत्येक मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र था, वैसे ही आरम्भ में व्याकरण-व्यवस्था भी नहीं थी; भाषा के मूल शब्द न क्रिया थे, न विशेषण, न संज्ञा, वरन् वे आवश्यकतानुसार क्रिया, विशेषण, संज्ञा सभी कुछ हो सकते थे। यह मत रेनाँ ने (उप. पृष्ठ ८१) १८५५ में प्रकट किया था जब डारविन ने अपने विकास-सिद्धान्त का प्रचार न किया था। उस समय अनेक क्षेत्रों में काम करनेवाले विद्वान् विकासवादी

---

१. इस्तवार जेनेराल ए सिस्तेम कोम्पारे दे लांग सेमीतीक, पेरिस, १८५५।

धारणाओं की ओर उन्मुख हो रहे थे। भाषातत्त्वविद् भी भाषा-विज्ञान में विकासवादी दृष्टिकोण से अपनी समस्याएं हल करने की कोशिश कर रहे थे। उन्होंने देखा कि भाषा अचल और अपरिवर्तनशील नहीं है; विभिन्न योनियों के पशुओं के समान भाषाएं भी मानव-समाज की विकास-प्रक्रिया का फल है। भाषा के क्षेत्र में व्याकरण की कोई भी विशेषता अचल, अनादि और अपरिवर्तनशील नहीं है। उनका इस परिणाम पर पहुंचना स्वाभाविक था कि संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि के भेद सनातन नहीं हैं; भाषा की स्थिति ऐसी हो सकती है जब उसमें यह भेद न रहा हो। उन्नीसवीं सदी के तुलनात्मक भाषा-विज्ञान में जहां अनेक खामियां हैं, वहां ऐतिहासिक अनुसन्धान से पुष्ट उसका विकासवादी दृष्टिकोण विज्ञान को बहुत बड़ी देन है। इसी कारण हामी भाषाओं के प्रसंग में रेनां भाषा की भाव-प्रकृति को एक तरल प्रवाह के रूप में देखते हैं।

एक आधुनिक लेखक ने बोलचाल की चीनी भाषा पर अपनी पुस्तक[1] में व्याकरण के बारे में लगभग इसी दृष्टिकोण का परिचय दिया है। उनका कहना है कि जिसे दूसरी भाषाओं के सिलसिले में व्याकरण की संज्ञा दी जाती है, उसका चीनी में अभाव है (जिसका अर्थ यह नहीं है कि चीनी भाषा की अपनी भाव-प्रकृति नहीं है)। उसमें यूरोपीय भाषाओं की तरह 'आर्टिकल' (ए, दि, आदि) नहीं हैं (जो रूसी, हिन्दी, संस्कृत आदि में भी नहीं हैं), संज्ञाओं में प्राकृतिक भेद के अलावा लिंग भेद नहीं होता (जैसे बंगला में नहीं है), संज्ञा और क्रिया में रूप-विकार होता है। सर्वनामों और सम्बन्ध-सूचक शब्दों का प्रयोग यथासम्भव कम होता है। "एक ही शब्द संज्ञा, क्रिया, विशेषण या क्रिया-विशेषण की तरह स्वच्छन्दता से प्रयुक्त हो सकता है; जो परिवर्तन होता है, वह इतना ही कि उसे वाक्य के एक हिस्से से उठाकर दूसरे हिस्से में रख देते हैं।" चीनी व्याकरण की विशेषता वाक्य में शब्द की स्थिति पर निर्भर है; इस स्थिति के परिवर्तन से ही चीनी जनता उन आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेती है जिनके लिए अन्य भाषाओं ने अपने क्रिया-संज्ञा-विशेषण-रूप-विकार आदि से समन्वित व्याकरण रचे हैं।

चीनी की वाक्य-रचना हामी और यूरोपीय भाषाओं की वाक्य-रचना से मिलती-जुलती है। एक चीनी वाक्य लें—'वो शी चिड्-गुओ रेन' (मैं हूं मध्यदेश जन); जर्मन-हिन्दी के समान क्रिया वाक्य के अन्त में न होकर मध्य में है; कर्म का स्थान क्रिया के बाद है न कि उसके पहले। चीनी में तुर्की भाषा की तरह शब्द जोड़ कर लिंग, वचन, काल आदि के भेद सूचित किये जाते हैं। 'मैं' के लिए 'वो' है तो बहु-वचन हम के लिए 'वोमेन'।

---

१. ए. नेदीन जे. ग्रामर। कोलोक्वियल चायनीज, १६४३।

[illegible]
है और इसे पुराने जर्मन संश्लिष्ट रूप की तुलना में प्रगति का बहुत बड़ा चिह्न मानते हैं (जिससे जर्मन जाति से अंग्रेज जाति की श्रेष्ठता सिद्ध होती है)। इनके इस प्रगति-सिद्धान्त के मार्ग में चीनी भाषा एक बहुत बड़ी बाधा है। अंग्रेज़ी के लिए कहा जाता है कि वह प्राचीन संश्लिष्ट रूप से प्रगति करती हुई असंश्लिष्ट रूप तक पहुँची लेकिन चीनी के लिए यह सवाल ही नहीं उठा; वह आरम्भ से ही पूर्ण प्रगतिशील बन कर अवतरित हुई। उधर सामी भाषाओं के बारे में कुछ विद्वानों की धारणा है कि आरंभ में वे असंश्लिष्ट थीं, बाद को संश्लिष्ट बनीं। इससे इतना तो पता चलता है कि भाषाओं की भाव-प्रकृति एक सी नहीं रहती, इस भाव-प्रकृति के परिवर्तन की एक ही दिशा नहीं है। व्याकरण की किन्हीं विशेषताओं या उनके अभाव को हम भाषा की प्रगति या पिछड़ेपन का प्रमाण नहीं मान सकते।

द्रविड़ भाषाओं का अध्ययन करते हुए फ्रान्सीसी भाषाविद् ज्यूल ब्लॉख ने लिखा है कि क्रिया के रूपों में प्रत्ययों की व्यवस्था अपर्याप्त है और "क्रिया और संज्ञा का प्राचीन अभेद अभी तक दिखाई देता है।।"[1] ब्लॉख ने इस धारणा का भी समर्थन किया है कि द्रविड़ भाषा-परिवार पश्चिम से भारत में आया है। इसका कारण यह बताया गया है कि इस परिवार की भाषाएं बहु-स्वरिक हैं, *उनमें उपसर्ग और अन्तर्प्रत्यय (infixes) नहीं लगते, उनमें* रूप-विकार (flexion) होते हैं।

वास्तव में द्रविड़ भाषाओं की प्रकृति साधारणतः भारतीय भाषाओं से मिलती है, न कि यूरोपीय भाषाओं से। यूरोपीय भाषाओं के विपरीत द्रविड़ भाषाओं में क्रिया वाक्य के अन्त में आती है। 'नांगल् पाल् कुडित्तोम्' — हमने

१. द ग्रैमेटिकल स्ट्रक्चर ऑफ़ द्रविडियन लैंग्वेजेज़, पृष्ठ १२६।

दूध पिया; तमिल के इस वाक्य में संस्कृत-हिन्दी के समान पहले कर्ता, अन्त में क्रिया का स्थान है। यूरोपीय भाषाओं की भाव-प्रकृति के विपरीत कर्म का स्थान यहां क्रिया से पहले है, न कि बाद को। जोज़फ एड्किन्स ने चीनी भाषा पर एक पुस्तक लिखी थी।[1] इसमें उन्होंने संसार की सभी भाषाओं को बाइबिल-मत के आधार पर एक ही मूल भाषा से उत्पन्न माना था। (यह मत उन लोगों की धारणा से मिलता-जुलता है जो ससार की सभी भाषाओं को संस्कृत से उत्पन्न मानते हैं।) लेकिन एड्किन्स ने चीनी-हिब्रू-अंग्रेजी की वाक्य-रचना तथा तमिल-संस्कृत-मंगोल की वाक्य-रचना का भेद पहचान लिया था। इस भेद पर उन्होंने यह मत भी प्रकट किया था कि कर्म को क्रिया के पूर्व रखने से वाक्य बहुत ही अस्वाभाविक हो जाता है और भाषा की शक्ति अवरुद्ध हो जाती है। हम लोग पुस्तक पढ़ते हैं। हम पढ़ने की क्रिया से पहले पुस्तक को स्थान देते हैं, एड्किन्स का मत है कि पढ़ो पहले, पुस्तक पर ध्यान बाद में देना!

यूरोपीय भाषाओं को मुझे, तुम्हारा, हमारा जैसे सर्वनामों के रूप एसियाई भाषाओं के प्रभाव से मिले हैं। अंग्रेजी में मुझे के लिए 'मी' है, लेकिन तुम्हें के लिए 'यू' (तुम) से भिन्न शब्द नहीं है। तमिल में तुम के लिए 'नी' है और तुम्हें के लिए 'उन्नै'। यहां 'नी' में जो 'उ' जुड़ा, उसे उपसर्ग (prefix) ही माना जायगा। तुमसे के लिए तमिल में होगा 'उन्नाल्', यहां शब्दान्त प्रत्यय (suffix) भी लगा। ध्यान देने की बात यह है कि यूरोपीय भाषाओं की प्रकृति जहां सम्बन्धसूचक शब्द को मूल शब्द से पहले रखने की है, वहां संस्कृत-परिवार के समान तमिल भी उसे मूल शब्द के बाद ही रखती है। तमिल में क्रिया-विशेषण क्रिया के पहले आयेगा, अंग्रेजी के समान बाद को नहीं। 'कालैइल् सीग्रम् येळुन्दिरु' — सवेरे जल्दी उठो। अंग्रेजी में सहायक क्रिया पहले आती है जैसे 'आई हैव रेड' में 'हैव'; किन्तु तमिल में हिन्दी के समान, 'नान् पडित्तु इरुक्किरेन' — मैंने पढ़ा है; 'नान् पडित्तु इरुन्देन्' — मैंने पढ़ा था। अंग्रेजी में कर्ता के लिंग के अनुसार 'वाज़' (या अन्य किसी क्रिया) में परिवर्तन न होगा, लेकिन तमिल में वह था — अवन् इरुन्दान्; वह थी — अवळ् इरुन्दाळ्। यही नहीं, तमिल में नपुंसक लिंग के लिए एक अलग सर्वनाम अदु (वह) है और क्रिया का तीसरा रूप है इरुन्ददु (था)। हिन्दी के समान तमिल में भी क्रिया में यह लिंगभेद कुछ रूपों में होता है, कुछ में नहीं।

संस्कृत धातुओं के समान द्रविड़ भाषा-परिवार की धातुएं भी एक-

---

1. जोज़फ एड्किन्स, चायनाज़ प्लेस इन फ़िलोलोजी, १८७१।

स्वरिक हैं, पो (जा), केळ् (सुन), नड (चल), शय् (कर), कुडि (पी) इत्यादि। काल्डवेल ने इस सम्बंध मे लिखा है कि द्रविड भाषाओं के शब्द देखने मे लम्बे लगते हैं। व्यजन एक-दूसरे से न टकराएं, इस कारण ध्वनि सौन्दर्य के लिए बीच मे स्वर डाल दिये गये है। इसके अलावा विभक्ति-चिह्नो, पुराने सर्वनामो के अवशेषो आदि के जुडने से मूल शब्द का आकार विस्तृत हो गया है। शमी परिवार के समान कुछ लोग द्रविड-परिवार की धातुओं को भी त्रि-स्वरिक मानते हैं। किन्तु काल्डवेल का कहना है कि इन धातुओं के प्रथम दो स्वरिक एक ही स्वरिक का विस्तृत रूप हैं। ध्वनि-सौन्दर्य के लिए एक स्वर जोडने से मूल स्वरिक ने विस्तृत होकर द्विस्वरिक धातु का रूप लिया। धातु का तीसरा स्वरिक भी बाद को जोडा हुआ है; काल्डवेल के मत से वह नाम धातु का चिन्ह था। निष्कर्ष यह कि "द्रविड शब्द चाहे जितने लम्बे और संश्लिष्ट हों, बाद को जुडे हुए अशो को सावधानी से हटाने पर उनका मूल कोई एक-स्वरिक धातु ही ठहरती है।"

सारांश यह कि जिन भाषाओं की धातुओं को बहु-स्वरिक माना जाता है, उन्हें भी कुछ विद्वानो के मत से एक-स्वरिक सिद्ध किया जा सकता है। भाषा-रचना मे संयोगात्मक प्रक्रिया तुर्की भाषा की विशेषता ही नही है, वह अन्य भाषाओं मे भी मिलती है। जिन्हे हम संश्लिष्ट भाषाएं कहते हैं, उनका यह रूप संयोगात्मक प्रक्रिया का फल है। भाषा की भाव-प्रकृति के सभी तत्व विकासमान और परिवर्तनशील सिद्ध होते हैं। भाषाओं के वर्गीकरण और उनके परस्पर सम्बंध का विवेचन करने मे भाव प्रकृति का अध्ययन विशेष महत्व रखता है। इसी अध्ययन से हम ग्रीक-लैटिन और संस्कृत की भिन्नता और निकटता पहचानते हैं। हम देखते हैं कि यूरोप की भाषाओं पर संस्कृत-परिवार के अलावा शमी परिवार का भी असर पडा है। संस्कृत और आधुनिक हिन्दी आदि भाषाओं मे जैसी संगति है, वैसी यूरोप की प्राचीन और नवीन भाषाओं मे नही है। द्रविड भाषाएं संस्कृत-परिवार की तुलना मे यूरोपीय भाषाओं के अधिक निकट हैं, यह धारणा भी खंडित होती है। भाषा की ध्वनि-प्रकृति और मूल शब्द भंडार के अध्ययन से जो निष्कर्ष निकलते हैं, वे भाव-प्रकृति के अध्ययन से भी पुष्ट होते हैं।

मूल शब्द-भंडार

भाषा परिवारों का सम्बंध और स्वतंत्र सत्ता

भाषाओं की ध्वनि और भाव-प्रकृति में जैसे बहुत से भेद हैं और कुछ समानताएं भी हैं, वैसे ही विभिन्न भाषा-परिवारों के मूल शब्द-भंडार में भी बहुत अन्तर है और कुछ समानताएं भी हैं। यूरोप और एशिया के भाषा-परिवारों की ये समानताएं—जिस हद तक वे आपस में समानताएं हैं—या सिद्ध करती हैं कि इन भाषा-परिवारों का विकास एकान्त या अलगाव की दशा में नहीं हुआ। जैसे वनस्पति-जगत् में एक प्रदेश दूसरे प्रदेश के सम्पर्क रहा है, गेहूं और जौ ने दूर-दूर देशों की यात्रा की है, जैसे पशु-जगत् में घो प्राचीन काल में उन स्थानों में पहुंच गया जहां अति-प्राचीन काल में उस अभाव था, जैसे लोहे-तांबे का प्रयोग प्राचीन काल में ही उन स्थानों में गया जहां पहले प्रस्तर-आयुधों का बोलबाला था, वैसे ही सांस्कृतिक आ प्रदान से, मनुष्य के मन से कुछ ही कम चंचल, उसके शब्द विश्व के एक छो- से दूसरे छोर तक पहुंच गये हैं। अन्य प्रदेशों की भाषाएं अपनी विशेष ध्वनि-प्रकृति और भाव-प्रकृति के अनुसार इन विदेशी आगन्तुकों का रूप बदलकर और उन्हें अपनी व्यवस्था के अनुरूप व्यवहार करने के लिए बाध्य करके उन्हें अपना नागरिक बना लेती हैं, फिर भी इन शब्दों का कोई न कोई अंश बच रहता है (या ध्वनि-परिवर्तन के नियमों आदि से हम उनके पूर्व रूपों य अन्य रूपों को पहचान लेते हैं) जिससे अन्य भाषाओं में उनके पूर्वजों य सगोतियों से हम उनका सम्बध स्थापित करते हैं।

चीनी भाषा के शिह् (दस) का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। दस मं विंशति का सामान्य तत्व यह दा होना चाहिए जो मूल रूप में दस का वा — प्रायः अपने आदि रूप में चीनी शिह में उपलब्ध है। पता नहीं, उ

हिन्दुस्तान के उस पार की जाता बौद्ध धर्म मे पड़ने की थी या बाद मे। भारत मे ए का इस रूप वैदिक काल मे ही प्रचलित था; इसलिए सिंह और इस का यह मैत्री-सम्बन्ध प्रागैदिक कालीन होना चाहिए। यह मैत्री सम्बन्ध कल्पित या आकस्मिक भी हो सकता है, लेकिन चीनी मे 'एक' के लिए शब्द है 'ई'। ग्रीक मे 'एक' के लिए जो अनेक शब्द हैं, उनमे एक है 'एइस'। ग्रीक भाषा दस के लिये 'देका' शब्द से काम लेती है, किन्तु एक मे उसे 'क' आवश्यक नही लगा। यदि 'क' 'एक' का अभिन्न अंग होता तो वह सम्भवत ग्रीक मे लुप्त न होता। लैटिन मे न 'क' है न 'स'; इनके स्थान मे है 'न', एक के लिए 'उनुम्' और इसीसे मिलता-जुलता न-कारयुक्त रूप है जर्मन 'आइन' (रूसी 'अदीन' इन सबसे भिन्न भी हो सकता है, इसलिए हम उसे छोड़ देते हैं)। ग्रीक, लैटिन, संस्कृत, जर्मन आदि भाषाओं मे एक-वाचक शब्द प्रायः दो अक्षरो का होता है; दूसरा अक्षर क, स या न ध्वनि-सौन्दर्य के लिए है, मूल अक्षर ए, एइ या आइ जैसा स्वर है जिसका एक रूप चीनी 'ई' हो सकता है।

चीनी मे एक सहायक सख्या-वाचक प्रत्यय और होता है 'को'। इसलिए 'एक' के लिए 'ई' के अलावा एक अन्य रूप होता है 'ई-को'। यह 'को' लिआङ्-को, सान्-को आदि अन्य संख्या-वाचक शब्दो के साथ भी लगता है। बालक आदि शब्दो के 'क' के समान चीनी मे ई, लिआङ्, सान् आदि के साथ यह 'क' ('को') जुड़ता है। 'क' ध्वनि का यह प्रयोग हिन्दी-चीनी परिवारो की सामान्य विशेषता हुई। चीनी मे 'ई-को' रूप देख कर यह धारणा और भी दृढ होती है कि मूल 'ए' मे सहायक ध्वनि 'क' जोड़ कर ही हमारे 'एक' की रचना हुई है।

नही के लिए चीनी शब्द है 'मेइ'। नही या मत के लिए एक अन्य शब्द है 'मो'। ये दोनो शब्द सस्कृत के 'मा' से मिलते-जुलते हैं। 'मो' का प्रयोग वाक्य के आरम्भ मे सस्कृत के समान होता है : 'मो ता वो' (मत मारो मुझे)।

चीनी मे एक सर्वनाम है 'नी' जिसका अर्थ है 'तुम'। सभवतः यह एसिया का प्राचीनतम सर्वनाम है। सस्कृत मे 'अस्माकम्' का अन्य रूप है 'नः' जो स्पष्ट ही अस्मद्-परिवार का न होकर उसमे मिल गया है। रूसी मे 'नास्' 'नाशा' (हमको, हमारा) आदि रूपो मे वही 'नः' है। लैटिन मे 'अहम्' के लिए तो है 'एगो' लेकिन उसका बहुवचन है 'नोस'; उसी से नोस्त्रुम्, नोबीस् आदि अन्य रूप भी बनते हैं। ग्रीक मे लैटिन के समान अहम् के लिए एगो है जिसके एकवचन-बहुवचन मे एमे-एमोन, हिमेइस-हिमास आदि रूप बनते हैं किन्तु द्वि-वचन मे 'नो' और 'नोन' रूप मिलते हैं

जिनका 'एन' ... मे है। अरबी ... ... अनि, अनु, ...
यही सर्वनाम शामी भाषाओ मे है। शामी परिवार की भाषाओ मे अन, अने, अनि, अनु,
है ना। शामी परिवार की भाषाओ मे अन, अने, अनि, अनु ... सर्वनाम मिलेंगे। (देखिए De
नहन, अन्त, एन्त, अन्ति, अन्तुम्, अन्तिन् आदि सर्वनाम मिलेंगे। (देखिए De
Lacy O'leary : Comparative Grammar of The Semitic
Languages) आस्त्रिक परिवार की खसी भाषा में उत्तम पुरुष सर्वनाम
ना है। फिन-उग्रियन परिवार मे मैं के लिए 'एन' शब्द है। द्रविड़ भा
परिवार मे 'न' का पूर्ण साम्राज्य है; तमिल मे नान् (मैं), नागळ (हम
नी (तुम), नीगळ (आप) आदि। इतनी भाषाओ मे हम या तुम के लि
न', नो, नी, जैसे सर्वनाम रूपो का मिलना आकस्मिक नही हो सकता।
एसिया (और यूरोप) का प्राचीनतम सर्वनाम मानना उचित होगा! '
भाषाओ मे वह अस्मद् या एगो के रूपो मे घुलमिल गया है जो विभिन्न
परिवारो के सम्पर्क या मिश्रण की ओर सकेत करता है।

अन्य सर्वनामो मे चीनी 'वो' (मैं) संस्कृत वयम् से मिलता है और
'ता' (वह) तद्, ते आदि से। माता-पिता के लिए चीनी मे 'मू' और
'फू' शब्द हैं। 'मा' की तरह चीनी मे 'माता' का तकारहीन रूप है और
उसी के अनुरूप पिता का भी। सस्कृत की एक बहुप्रयुक्त धातु है 'दिव्'
जिससे दिवस, देव, दिव्य आदि शब्द बनते हैं। चीनी मे 'दिमान' का अर्थ
है 'दिन'। रूसी मे 'दिन' के लिए 'द्येन' शब्द है, लैटिन में 'दिईम्',
अंग्रेजी मे 'डे'। इस प्रकार भारतीय 'दिव्' का प्रकाश दूर-दूर तक फैला है। चीनी
आकाश और स्वर्ग के लिए भी इसीसे शब्द बनता है 'दिमान-कोइ'। चीनी
मे देश के लिए 'गुओ' (या 'ग्वो') शब्द है, इसीसे देश-वाचक शब्द बनते
हैं झोड्-गुओ (चीन), यीङ्-गुओ (इग-देश, इगलैण्ड); क्वाङ् काई-शेक की
पार्टी कुओमिन्ताङ् के प्रारम्भ मे यही 'गुओ' है ('ग्वोमिन्ताङ्')। ग्रीक में
धरती के लिए 'गेआ' शब्द है जिससे अंग्रेजी के 'जिओग्राफी', 'जिओ-
लोजी' आदि शब्द बनते हैं। सस्कृत मे यही 'ज्यामिति' वाला 'ज्या' है।
चीनी मे गाय के लिए 'मूनिउ' शब्द है जिसका हमारे परिवार मे कोई
सम्बंध नही है। किन्तु दक्षिणी चीनी (कैन्तनी भाषा) मे 'गाव' शब्द है जो
'गौ' से अपना स्पष्ट सम्बध घोषित करता है।

चीनी मे जन या जनता के लिए 'रेन' शब्द है। इसे अंग्रेजी मे 'ज
प्रकार से 'जेन' लिखते हैं। यह 'रेन' 'जन' का ही रूपान्तर है। इसका
प्रमाण यह है कि दक्षिणी चीनी मे इसका 'युन' रूप प्रचलित है (य और
ज की स्थिति यमुना-जमुना की तरह यहां भी परिवर्तनशील है)। अंग्रेजी
... 'मैन' से ही ... 'वोमैन' शब्द बनाते हैं, वैसे ही चीनी

'पेन' से तू पेन (कर्मी), तु-पेन (पत्नी) आदि शब्द बनते हैं। यह जल अर्थ, पीना, पीड़ित आदि शब्दों में अलग-अलग धारण किये हुए विद्यमान है। संस्कृत 'तृण' (पत्तल) के समान चीनी में 'पेन-ची' लिखा है, यहां भी 'ज'-'र' विनिमय के दर्शन होते हैं। संस्कृत में 'ले जाने' के लिए 'नी' धातु है, चीनी में 'ना' का अर्थ है लेना। 'सोने' के लिए संस्कृत 'स्वप्' और 'स्वप्' के समान चीनी शब्द है 'शुइ'।

चीनी में शराब के लिए 'चिउ' शब्द है। देवताओं या मृत जनों को जो मद्य अर्पित किया जाता है, वह 'चेइ', 'च्यो' या 'चुए' है। विश्वविख्यात पेय 'चाय' तो चीनी में 'चा' है ही। चाय पीने के लिए 'च्चुए', मात्र पानी के लिए 'चिन', पीने के लिए 'चोम', चाय या शराब डालने के लिए 'चेन' आदि शब्द हैं। इससे स्पष्ट है कि चीनी में 'च'-कारमूलक एक ऐसा शब्द है जो जल या पेय वाचक है। इससे तुलना कीजिए कश्मीरी भाषा के पेय-वाचक च्यनु, च्यर्ना, च्यनु-वातु, चयव, च्यनु-वोनु (पिये हुए), च्यनु-वालु (पीने वाला), आदि शब्दों की। कश्मीरी और चीनी के ये शब्द संस्कृत 'चम्' धातु से सम्बन्धित हैं (जिससे पवित्र आचमन शब्द बनता है)।

चीनी 'शुओ' का अर्थ है बोलना। संस्कृत में 'शब्द' (ध्वनि करना) धातु है। चीनी 'हुआ' (या 'ह्वा') का अर्थ है, शब्द, भाषा। संस्कृत धातु 'ह्वे' का अर्थ है पुकारना। (स-ह का विनिमय भारत की तरह चीन में भी पाया जाता है। 'ह्वा' के लिए परिनिष्ठित चीनी में 'शिह-ती' है, दक्षिणी चीनी में 'हेइ' है।) 'शुओ' और 'हुआ' का मूल शब्द एक ही जान पड़ता है, उसी 'शुओ' से 'शब्द' और 'ह्वे' का सम्बन्ध है।

डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने 'गगा' शब्द का थाई भाषागत रूप 'खोग' बताया है। उनके अनुसार यही 'याग-त्से-कियाग', 'सी-कियाग,' 'ब्रू-कियाग' में नदी वाचक 'कियाग' है। "गगा शब्द का यह अर्थ आधुनिक बँगला के थोड़े परिवर्तित गाड या गाड्ग शब्द में 'कोई भी नदी या नाला' के अर्थ रूप में सुरक्षित है। सिंहल में गगा शब्द अब भी सभी नदियों के साथ प्रयुक्त होता है।"

कश्मीरी में 'गग' शब्द इसी प्रकार नदी वाचक है। डॉ चाटुर्ज्या के मत से गग, गाड् या 'खोग' दक्षिण एसियाई आस्त्रिक परिवार का है। दक्षिण-एसिया का शब्द कश्मीर की घाटियों तक पहुचा हो, यह आश्चर्य की बात ही होगी। सभावना इसकी अधिक है कि दक्षिण-एसिया में भारतीय-संस्कृत के प्रसार के साथ यह शब्द भी वहा पहुचा हो। हिन्दी-भाषी प्रदेश में भी पचीसो नदियो को गगा नाम दिया गया है। कश्मीर, हिन्द-प्रदेश और

बंगाल मे सर्वत्र नदी-वाचक इग शब्द का जितना प्रयोग है, उससे यही मालूम होता है कि यह एक अत्यन्त प्राचीन भारतीय शब्द है।

ये समानताएं आकस्मिक नही हैं। चीन और भारत का सम्बन्ध बौद्ध धर्म से बहुत पुराना है। पुरातत्वज्ञ मिट्टी के बर्तनों का तुलनात्मक अध्ययन करके ईसा से दो हजार वर्ष पूर्व की चीनी संस्कृति का सम्बध, भारत के उत्तरी सीमान्त, मध्यपूर्व और दक्षिणी रूस से जोडते हैं। चेकोस्लोवाकिया के प्रसिद्ध भाषातत्वविद् और पुरातत्वज्ञ वेद्रिच ह्रोज्नी ने अपनी पुस्तक "पश्चिम एशिया, भारत और क्रीट का प्राचीन इतिहास" नामक ग्रंथ मे इस विषय पर विस्ता से प्रकाश डाला है। उनका मत इसलिए और भी महत्वपूर्ण है कि वह भार यूरोपीय भाषाओ का मूल केन्द्र एसिया मे नही मानते। उन्होने लिखा "निकट पूर्व के नव्य प्रस्तर युग की विशेषता तथाकथित चित्रित मृत्तिक हैं। किन्तु इस मामले मे निकट पूर्व अपवाद नही है, इसके विपरीत यह विशाल यूरोप-एसियाई प्रदेश का एक खंड मात्र है जो बोहीमिया और मोरा-विया, थेसली और सिसिली (अर्थात् मध्य और दक्षिणी यूरोप) से लेकर पूर्व मे चीन के कान्सू और होनान प्रान्तो तथा दक्षिण-पूर्वी मंचूरिया तक फैला हुआ है। यद्यपि यह विशाल प्रदेश छोटे-छोटे खडो मे विभाजित है, फिर भी इस बात की सभावना सबसे ज्यादा मालूम होती है कि वह एक विराट् सम्बद्ध इकाई है जिसका केन्द्र कोई स्थल विशेष होना चाहिए। इसी केन्द्रीय क्षेत्र से चित्रित बर्तन विभिन्न जनों के स्थानान्तरित होने से और कबीलो के परस्पर आर्थिक विनिमय से सभी दिशाओ मे फैले हुए हैं। इस दिशा मे ईसा-पूर्व द्विसहस्राब्दी मे चीनी याङ्-शाओ संस्कृति के नव्य-प्रस्तर युगीन अनेक रंगे मे चित्रित मृत्तिकापात्रो की तुलना किएव के दक्षिण त्रिपोल्ये के, तुर्किस्ता मे अनान के, तथा बेबीलोनिया, असीरिया और एलाम के मृत्तिकापात्रो करनी चाहिए जो बहुत शिक्षाप्रद होगी। संभावना यह है कि इस क्रम मध्यस्थ का काम भारत-यूरोपीय तोखारी-जनो ने किया था या किसी केन्द्रीय क्षेत्र से —जो शायद तुर्किस्तान मे रहा हो और तुर्किस्तान नही, तो कास्पियन समुद्र, पामीर और अल्ताई के बीच कही तो रहा ही होगा —बाहर जाने वाले किन्ही अन्य जनों ने मध्यस्थ का काम किया होगा।"

ह्रोज्नी की महत्वपूर्ण मान्यता यह है कि चीन से लेकर दक्षिणी रूस तक —संस्कृति के अन्यतम परिचायक उपादान मृत्तिकापात्रों के आधार पर —एक विराट् सम्बद्ध इकाई का सामना करना होता है। इस इकाई का केन्द्र चाहे पामीर (और उसके आसपास का) प्रदेश रहा हो, चाहे अन्य कोई तोखारी जन (या संस्कृत-परिवार की किसी अन्य भाषा के बोलने वाले जन) चाहे मध्यस्थ रहे हों, चाहे उस संस्कृति के मूल स्रोत रहे हों —यह बात

[illegible] के बारे में कुछ विद्वानों का अनुमान है कि "आर्यों के आगमन के पूर्व द्रविड़ों ने ही पंजाब और सिन्ध की महान् नागरिक सभ्यताओं का निर्माण किया था।" द्रविड़ों के अलावा यहाँ निषाद-जाति रहती थी और निषाद भाषा-परिवार का भी प्रभाव संस्कृत पर पड़ा होगा, यह अनुमान किया जाता है। डॉ॰ चाटुर्ज्या के शब्दों में "इस प्रकार यह संभावना पैदा हो जाती है कि जब आर्य आये, तब उत्तरी भारत के मैदानों में द्रविड़ और निषाद-जन निवास करते थे। इन में पहले दास-दस्यु कहलाते थे और अधिकतर पश्चिमोत्तर तथा पश्चिम में पाये जाते थे, और दूसरे मध्य तथा पूर्व में। दक्षिण के विषय में ठीक-ठीक पता नहीं चलता।"

भाषाविदों की ही नहीं, इतिहासकारों और साहित्यकारों की भी यह प्रचलित धारणा है कि शुद्ध रक्त वाले आर्य जब यूरोप या मध्य एशिया से भारत में आये, तब चपटी नाक वाले दास या दस्यु द्रविड़ों से उनका सम्पर्क हुआ, उनकी लम्बी नाक कुछ चपटी हुई, गौर वर्ण कुछ सांवला हुआ, मूल ध्वनियों के उच्चारण में उनकी जिह्वा लुंठित या कुंठित होने लगी, अनेक ध्वनियों का मूर्धन्यीकरण हुआ और मूल भारत-यूरोपीय भाषा से भिन्न संस्कृत में सैकड़ों नये शब्द आ गये जिनका मूल स्रोत द्रविड़ (या निषाद) भाषाएं थीं। और जब संस्कृत ने विकृत होकर प्राकृत-अपभ्रंशों के मार्ग से आधुनिक भाषाओं का रूप लिया, तब इन्हीं द्रविड़ भाषाओं ने इस विकृति और पतन में सहायता की। इस सम्बंध में द्रविड़ भाषाओं के अन्यतम पंडित काल्डवेल ने एक बहुत महत्वपूर्ण बात कही है। "उत्तर भारत की आधुनिक भाषाओं में जो तत्व संस्कृत से भिन्न हैं, वे यदि द्रविड़-परिवार के हैं, तो हम आशा कर सकते हैं कि उनके शब्द-भंडार में कुछ मूल द्रविड़ शब्द भी होंगे — जैसे कि सिर, पैर, आँख, कान वगैरह के लिए शब्द। लेकिन इस तरह के शब्दों में मुझे कोई विश्वसनीय समानता नहीं दिखाई दी।"

यह युक्ति उत्तर भारत की आधुनिक भाषाओं के लिए ही संगत नहीं है, वरन संस्कृत के लिए भी संगत है। द्रविड़ भाषाओं का मूल शब्द-भंडार

संस्कृत से भिन्न है। इससे सिद्ध होता है कि न तो द्रविड भाषाएं संस्कृत की पुत्रियां हैं, न संस्कृत के निर्माण मे — मूल भारत-यूरोपीय भाषा से भिन्न उसके भारतीय विकास में — द्रविड भाषाओं की व्यापक भूमिका है। संस्कृत मे द्रविड भाषाओं के जो शब्द मिलते हैं, उनसे उनका परस्पर सम्पर्क सिद्ध होता है, सम्मिश्रण नही। काल्डवेल ने इस तरह के शब्दों को द्रविड भाषाओं से संस्कृत मे आया हुआ माना है: अगुरु, अनल, अर्क, कटु, कुटी, कुंड, कुंडल, चंदन, तूल (कपास), नक्र, निबिड, नीर, पंडित, पल्ली, बक, बिडाल, बिल, मयूर, मल्लिका, माला, मीन, मुकुट, वलय, वल्लरी, शठ, शव, हुडुक्क (छोटा ढोल या ढफ)। इसी प्रकार आस्ट्रिक भाषा-परिवार मे संस्कृत मे आये हुए कुछ शब्द उनके मत से ये हैं. मातंग, कुलिंग, लवंग, उन्दुरु, कर्पास, जंबाल, (कीचड), ताम्बूल, लांगल इत्यादि। इस तरह के शब्दों मे कौन आर्य है और कौन द्रविड या निषाद, यह कहना कठिन है। इतना स्पष्ट है कि इन शब्दों मे क्रियावाचक शब्द प्रायः नहीं है और मूल शब्द भंडार के वे अधिकांश शब्द भी नही है जिनका व्यवहार साधारण जन नित्य प्रति अपने जीवन मे करते हैं। भारत मे अनेक भाषा-परिवार रहे हैं और वे एक-दूसरे को प्रभावित और शब्दो का आदान-प्रदान करते रहे हैं, यह सत्य असन्दिग्ध है।

सामी और आर्य भाषा-परिवार एक दूसरे मे एकदम विच्छिन्न माने जाते हैं। डेनमार्क के भाषाविद् मोयलर (Moller) ने विस्तार से दोनों परिवारो की प्राचीन और आधुनिक भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया है। उनका विचार है कि सामी और आर्य भाषा-परिवारो का मूल स्रोत एक ही था। मोयलर की यह धारणा भ्रान्त हो सकती है, किन्तु दोनों परिवारों मे बहुत सा साम्य है, यह स्वीकार करना होगा। मोयलर की युक्तियों पर टिप्पणी करते हुए अमरीकी विद्वान ई. ब्लोवेट ने लिखा है कि वाक्य-रचना, शब्द-रूपों आदि मे कोई विशेष समानता नहीं है, फिर भी बहुत से शब्दों में जो साम्य दिखाई देता है, उस पर अनुसन्धान होना चाहिए। यूनानी ताउरोस (बैल) सिरियक तोरा, हिब्रू शोर मे मिलता है। संस्कृत शृंग, लैटिन कोर्नु, असीरियन कार्नु, शराब के लिए असीरियन इनू, अरबी उऐनी, यूनानी ओइनोस (अंग्रेजी वाइन), संस्कृत गर्भ, हिब्रू केरेब (अन्दर), सं. रसना, हिब्रू लसोन (इसी से समानियान, भाषा विज्ञान), लैटिन फनेमो, हि. बेरेक (घुटना); सं. भृगुओ, हि बरक (बिजली, भय); सं. धन्वुग, हि. सबो सं. वेनों, हि इयाद (उतरना), सं — अद (ad), हि. अद (तब इत्यादि।

अरबी के सर्वनाम अन, अन्तो, आन्त, आन्ते, अनातुन आदि की च करते हुए एर्डमन ने लिखा है कि अरबी अना, हिब्रू अनोकि, मिस्री अनं

को देखकर लगता है कि संसार मे शायद ही कोई ऐसी भाषाएं हों जिनके सर्वनामो मे इस धातु (ता) का अस्तित्व न हो। इसी से वह के लिए धन (पुरुष), धना (स्त्री) और धनो (नपुसक) रूप मिलते हैं।

जैसे विभिन्न भाषा-परिवारो मे साम्य है और भेद भी है, वैसे ही एक ही परिवार की भाषाओ मे भी साम्य और भेद देखा जाता है, साम्य अधिक और भेद कम। कौन सी भाषाए एक परिवार के अन्तर्गत हैं, यह तै करने मे मूल शब्द-भडार का अध्ययन हमारी सहायता करता है। यह मूल शब्द-भडार भी कोई स्थिर इकाई नही है। सामाजिक आवश्यकताओं में परिवर्तन होने से भाषा मे नये शब्दो का आकलन होता है, कुछ शब्द पुराने और अनावश्यक होकर व्यवहार-क्षेत्र मे नष्ट हो जाते हैं। इसके सिवा विभिन्न भाषाओ के बोलने वाले युद्ध की विजय-पराजय या आर्थिक, राजनीतिक और सास्कृतिक कारणो से जब एक-दूसरे के सम्पर्क मे आते हैं, तब कुछ भाषाए अपने मूल शब्द छोड कर दूसरी भाषाओ से उन्ही के पर्यायवाची शब्द ग्रहण कर लेती हैं। जैसे कुछ लोग पिता को वालिद या अब्बा कहते हैं। परिवार सम्बधी इन शब्दो के बदलने से मूल भाषा का परिवार नही बदल जाता। कुछ लोग ईश्वर को रब, खुदा या अल्ला कहते हैं। धार्मिक शब्दो के बदलने से भी मूल भाषा का परिवार नही बदलता। अवधी, भोजपुरी, ब्रजभाषा के व्याकरण मे उनकी ध्वनियो मे काफी भेद है। कुछ लोग उन्हे हिन्दी की बोलियां न कहकर स्वतत्र भाषा मानते हैं। व्याकरण या ध्वनियों के भेद से ही वे स्वतत्र भाषाए नही हो जाती। देखना चाहिए उनके मूल शब्द-भडार की समानता को। इस मूल शब्द भडार मे सर्वनाम, सम्बध-सूचक शब्द, क्रियाए सबसे कम बदलती हैं। उर्दू का एक शेर देखिए —

"आह को चाहिए इक उम्र असर होने तक।
कौन जीता है तेरी जुल्फ के सर होने तक।"

सर्वनाम कौन और तेरी, सम्बध-सूचक को, के, क्रियाए चाहिए, जीता है, होना — ये नही बदली। मूल भाषा का ढाचा इनके द्वारा सुरक्षित बना है, उम्र, असर, जुल्फ आदि शब्द बाहर से आकर उस ढाचे का मूल रूप नहीं बदल पाये। अग्रेजी पर फ्रान्सीसी और लैटिन भाषाओ का बहुत गहरा असर पड़ा है। अग्रेजी शब्द-कोश के तीन-चौथाई शब्द गैर-अग्रेजी हैं। लेकिन सर्वनामो मे ही, शी, इट, दे, आई, वी, अस, हिम, देम, आदि जर्मन भाषा-परिवार के हैं। इसी प्रकार सम्बध-सूचक ऑफ, इन, टू, फ्राम, आदि अग्रेजी के अपने परिवार के हैं। क्रियाओ मे गो, गेट, ईट, स्लीप, रन, वेक, आदि भी उसके अपने परिवार के है। इसलिए भाषाओ के परिवार निश्चित करते समय इन मूल तत्वो पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

सबसे पहले हम भारत-यूरोपीय परिवार और ग्रीक के सम्बंध पर विचार
करें। भाषा-विज्ञान से थोड़ी सी भी रुचि रखने वाले विद्यार्थी जानते हैं कि
पिता, माता, भ्राता आदि शब्द भारत-यूरोपीय परिवार की भाषाओं में
सामान्य हैं। भ्राता का समकक्ष ग्रीक शब्द फ्रातिर (या फ्रातोर) है जिसका
अर्थ है फ्रात्रा (बिरादरी) का सदस्य। फ्रातिर में वे सब लोग शामिल हैं जो
एक कुल, वंश या गोत्र के हैं। हिन्दी-भाषी क्षेत्र के कुछ भागों में परस्पर
सम्बधित बन्धु-बांधव "भैयाचार" कहलाते हैं। गांवों में एक उम्र के लोग एक
दूसरे को भाई कह कर संबोधित करते हैं। इस प्रयोग में "भ्राता" शब्द का
प्राचीन अर्थ निहित है। ग्रीक में भाई के लिए एक शब्द और है: अदेल्फोस।
यह शब्द भाई के वर्तमान सीमित अर्थ में प्रयुक्त होता था। इसी प्रकार
स्वसा (बहन) के लिए ग्रीक शब्द था: अदेल्फी। यूनानियों का यह
अपना शब्द था जिसमें पारिवारिक सम्बध सूचित करने वाले वे अन्य
अनेक शब्द भी बनाते थे: अदेल्फिदेओस — भतीजा; अदेल्फिदी — भतीजी,
अदेल्फिदिओन — छोटा भाई, इत्यादि। यह शब्द न संस्कृत में है, न लैटिन
में, न स्लाव भाषाओं में। यह यूनानी भाषा का अपना शब्द माना जायगा।
इस तरह के कुछ शब्द और मिलें तो आप बाध्य होकर सोचेंगे — यह
ग्रीक भारत-यूरोपीय परिवार की भाषा है या इसका स्वतंत्र अस्तित्व है।
पिता से मिलते-जुलते शब्द परस्पर सम्पर्क से तो नहीं आ गये?
पिता के लिए ग्रीक शब्द है 'पतिर'। इसका अर्थ वही है जो पितृ-
सत्ताक समाज में पिता का है। संभव है, भ्राता की तरह पिता पितृसत्ताक
समाज से पहले का शब्द हो। संस्कृत में उसका वह पुराना अर्थ प्राप्त है।

तत्राऽपश्यत्स्थितान्पार्थः पितृनथ पितामहान्।

कुरुक्षेत्र में अर्जुन ने पिताओं और पितामहों को खड़े हुए देखा। यहां
पिता का अर्थ पिता की आयु के सभी लोग, काका या चाचा है। श्राद्ध के
दिनों में जब 'पीतर' विदा होते हैं, तब हम उस शब्द का वही पुराना अर्थ
स्मरण करते है। अवधी में "पीती" का अर्थ चाचा होता है (पितिया
ससुर — मुख्य श्वसुर के भाई)। इससे सिद्ध हुआ कि पिता ठेठ भारतीय
शब्द है, जैसे अदेल्फोस ठेठ यूनानी है। यदि यूरोपीय भाषाओं में पिता का
यही समाजशास्त्र-अनुमोदित, पितृसत्ताक समाज से पहले का, प्राचीन अर्थ
सिद्ध हो सके तो हम उसे भारत-यूरोपीय शब्द मान लेंगे, वर्ना वह भारतीय
शब्द है जिसे यूरोपीय भाषाओं ने पितृसत्ताक अर्थ में बाद को ग्रहण किया है।
ग्रीक में पिता के लिए एक शब्द और है 'गोनेउस' जिसका सम्बंध जन
से है। जन और जनक भारतीय भाषाओं में भी हैं। किन्तु ग्रीक 'तोकेउस' न
भारतीय भाषाओं में है, न लैटिन में। यह शब्द 'तित्तो' या 'तितेको' या

ग्रीक भाषा और संस्कृत में मातृसत्ताक समाज-व्यवस्था के अवशेषों का अनुसन्धान करते हुए प्रोफेसर जॉर्ज टॉमसन ने लिखा है कि ग्रीक भाषा में पितृनामान्त्यसूचक प्रत्यय ईदस (ईदेस) है जिसका आधार 'इद' शब्दांश है और यह है स्त्रीलिंग। "इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीन काल में पुरुष नहीं, स्त्रियां गोत्र (clan) की प्रतिनिधि मानी जाती थीं।"[1] यह देखना दिलचस्प होगा कि इस प्राचीन मातृसत्ताक व्यवस्था के अवशेष ग्रीक भाषा के उन शब्दों में मिलते हैं जो ग्रीक भाषा (या ग्रीक परिवार) तक सीमित हैं या उनमें मिलते हैं जो ग्रीक के समान संस्कृत में भी हैं। उन्होंने अदेल्फोस और अदेल्फी की मिसाल देकर कहा है कि उनकी समता करनेवाले शब्द दूसरी भारत-यूरोपीय भाषाओं में नहीं है। "भारत-यूरोपीय 'भ्रातेर' और 'सुएसोर' ग्रीक में 'फातेर' और 'एओर' रूपों में बच रहे हैं, परन्तु वे परस्पर सम्बन्ध के द्योतक नहीं हैं। ग्रीक पारिवारिक-सम्बन्ध-शब्दावली की सबसे बड़ी विशेषता इन शब्दों का अपना स्थान छोड़ना है और उसकी व्याख्या आवश्यक है।" सवाल स्थान छोड़ने का नहीं है, पहले यह सिद्ध करना होगा कि फातेर और एओर मातृसत्ताक समाज में, किस भिन्न अर्थ में, प्रयुक्त होते थे। 'फातेर' के समान डोरियन (यूनानी भाषाओं में एक) में 'कासिस' शब्द था जिसका अर्थ था एक गोत्र के भाई-बन्धु। फातेर और कासिओइ "मूलतः हर पीढ़ी में एक पिता के लड़के, पिता के भाई के लड़के, पितामह के भाई के नाती इत्यादि होते थे। ये गोत्र-विभाजन की दृष्टि से भाई थे। 'एओर' बाद के एक शब्दकोश में मिलता है, एक जगह इसका अर्थ लिखा है 'पुत्री या चचेरी बहन' (cousin), दूसरी जगह लिखा है 'सम्बधी'।" अदेल्फोस का अर्थ है 'सहोदर'। फातेर अदेल्फोस वह भाई हुआ जो एक ही माता से उत्पन्न हुआ हो।

---

१. जोर्ज थोम्पसन, स्टडीज इन एनशिएंट ग्रीक सोसाइटी, पृष्ठ १४५।

टॉमसन के इस तर्क से यही सिद्ध होता है कि अदेल्फोस प्राचीन शब्द है जो एक ही माता से उत्पन्न मातृसत्ताक युग के सभी भाइयों के लिए प्रयुक्त होता था। यदि यह सिद्ध किया जा सके कि इसी अर्थ में फ्रातेर का प्रयोग पहले होता था, तब यह स्वीकार किया जा सकेगा कि 'भारत-यूरोपीय' 'फ्रातेर' ने अपना स्थान 'अदेल्फोस' को दे दिया। टॉमसन यह मान कर चले हैं कि 'ग्रीक' जिन्होंने यूनान में आने से पहले पितृसत्ताक समाज-व्यवस्था में थे, यूनान में आकर उन्होंने मातृसत्ताक व्यवस्था के सम्बंध-सूचक शब्द अपना लिये। "पुरुषों ने पितृसत्ताक अपनी सुरक्षित रखी, इसलिए इस संदर्भ में फ्रातेर बचा रहा।" यूनानियों में फ्रातेर शब्द अवश्य पितृसत्ताक सम्बंधों का सूचक है, किन्तु इसे उन्होंने बाद को स्वीकार किया। जिस भाषा का मूल शब्द था 'अदेल्फोस', उसके बोलने वाले या तो मातृसत्ताक व्यवस्था में थे, या उससे अगली मंजिल की ओर संक्रमण की दशा में थे। इस भाषा से सम्पर्क हुआ एक अन्य भाषा का जिसमें पितृसत्ताक गोत्र के बन्धुओं के लिए फ्रातेर शब्द का प्रयोग होता था। अदेल्फोस द्वारा फ्रातेर का पदच्युत होना संभाव्य कल्पना नहीं है। पितृसत्ताक व्यवस्था के लोग वैसे भी सामाजिक विकासक्रम में आगे बढ़े हुए होंगे; न भी हो तो ग्रीक 'विजेताओं' ने भाई जैसे सम्बध के लिए विजितों का शब्द अपना लिया होगा, यह बात असाधारण लगती है।

इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए कि फ्रातेर कोई अपवाद रूप [illegible] एकमात्र भारत-यूरोपीय शब्द नहीं है, जिसके समानान्तर 'विजितों' [illegible] 'अ-भारतयूरोपीय' अदेल्फोस शब्द मिलता हो। पिता-माता के लिए [illegible] इसी प्रकार के शब्द हैं। प्राचीन ग्रीक काव्यों में एक शब्द आता है 'हेकुरोस' जिसका अर्थ है सौतेला बाप, 'हेकुरा' हुई सौतेली मां। सम्भव है, इस शब्द का सम्बध 'भारत-यूरोपीय' श्वसुर से रहा हो, किन्तु ग्रीक का प्रचलित श्वसुर-वाचक शब्द है 'पेन्थेरोस' जो उसका अपना है। इसी प्रकार पुत्रवधू के लिए 'नुओस', साली के लिए 'गालोस', सास के लिए 'पेन्थेरा', दादी के लिए 'तीथी', दादी की मां के लिए 'एपीतीथी', नाती के लिए 'उइदोउस' आदि शब्द हैं। पति के लिए एक शब्द है 'पोसिस' जो पति का अपभ्रंश रूप जान पड़ता है, क्योंकि नारी के लिए सम्मान-सूचक 'पोतनिआ' शब्द भी ग्रीक में है। पति के लिए साधारण ग्रीक शब्द है 'अनीर' जिसका अर्थ है मर्द, आदमी। ग्रीक में विवाहित होने (या पत्नी प्राप्त करने) के लिए एक शब्द है 'गमेओ' जिससे अंग्रेजी के मोनोगैमी जैसे शब्द बनते हैं। इससे शब्द बनता है 'गमेतिस'—पति-पत्नी। 'गमेतिस' ग्रीक परिवार का अपना शब्द है। जैसे पुरुषों के विवाह के लिए विशेष शब्द है 'गमेओ', वैसे ही स्त्रियों के विवाह के लिए विशेष शब्द है 'नुम्फेउओ'; इसीसे वधू के लिए 'नुम्फ' और वर के लि[illegible]

'नुम्फिग्रोस' शब्द हैं। इस तरह के और बहुत से शब्द एकत्र किये जा सकते हैं जिनसे पता चलता है कि प्राचीन यूनान के नर-नारी अपने पारिवारिक सम्बंध जताने के लिए जिन शब्दों का व्यवहार करते थे, उनमें भारत-यूरोपीय शब्द नाममात्र को थे; अधिकांश शब्द ऐसे थे जो संस्कृत में (या कभी-कभी निकट-वर्ती लैटिन में भी) नहीं हैं।

ग्रीक भाषा के कुछ सर्वनाम संस्कृत से मिलते हैं, अस्मद्-एगो, माम्-एमे, मे, किन्तु त्वं या युष्मद् के लिए 'सू' है। क या किम् के लिए 'तिस', 'ती' शब्द हैं। प्रथम पुरुष सर्वनामों के लिए एक व्याकरण-लेखक डब्लू. गुनियन रदरफोर्ड ने लिखा है कि ग्रीक में कोई वास्तविक प्रथम पुरुष सर्वनाम है ही नहीं। ग्रीक भाषा के सम्बंध-वाचक शब्द यूरोपीय पद्धति के अनुकूल मूल शब्द के पहले आते हैं, इसके सिवा संस्कृत के विभक्ति-चिन्हों या सम्बंध-सूचक शब्दों से उनका कोई स्पष्ट सम्बंध नहीं दिखाई देता। 'हुपेर' का अर्थ है ऊपर; संभव है, वह 'उपरि' का परिवर्तित रूप हो, किन्तु काता (नीचे), मेता (साथ), अम्फी (लगभग), एपी (दिशा में), परा (ओर से), पेरी (बारे में), एइस (को), एक (से) इत्यादि शेष सम्बंध-वाचक शब्द संस्कृत से असम्बंधित हैं। उर्दू में हिन्दी के सम्बंध-वाचक शब्द — में, पर, से, को — बदले नहीं जा सके; अंग्रेजी के इन, टू, ऑफ, अप, आदि को लैटिन-फ्रांसीसी शब्दावली पदच्युत न कर सकी, उसी प्रकार ग्रीक के सम्बंध-वाचक शब्द प्रायः उसके अपने हैं और 'भारत-यूरोपीय' परिवार में स्वतंत्र ग्रीक भाषा की सत्ता की घोषणा करते हैं।

अब ग्रीक क्रियाओं पर ध्यान देना चाहिए। जानने के लिए 'गिग्नोस्को' धातु संस्कृत 'ज्ञा' का रूपान्तर है। एक दूसरी क्रिया है 'ओइदा' जो संभवतः विद् का रूपान्तर है। इसी अर्थ की द्योतक तीसरी क्रिया है 'इसेमि' ('मैं जानता हूं') जो संस्कृत-परिवार से बाहर की है। चौथी क्रिया 'सुने-इदो' का अर्थ है देखना-समझना। 'काता-मन्थानो'—पांचवीं क्रिया का अर्थ है सीखना-जानना। जानने के लिए अत्यन्त प्रचलित ग्रीक क्रिया है 'एपिस्तामाइ'; इसीसे एपिस्तीमि — ज्ञान, एपिस्तीमोन—ज्ञानी, एपिस्तितोस —ज्ञेय; इसीसे अंग्रेजी का एपिस्टेमोलोजी—ज्ञानशास्त्र। एक ही अर्थ या उससे मिलते-जुलते अर्थ के लिए विभिन्न धातुओं का प्रयोग इस बात की ओर संकेत करता है कि ग्रीक में विभिन्न भाषाओं के तत्वों का समावेश हुआ है। इनमें एक-दो संस्कृत परिवार के हैं, शेष ग्रीक के अपने या अन्य विस्मृत भाषाओं के।

ग्रीक ज़ोइयोस (जीवित), ज़ोओन (जीव, पशु) संस्कृत जीव की याद दिलाते हैं। 'ज़ाओ' धातु का अर्थ है सांस लेना, जीना। इसके समानान्तर अन्य ग्रीक धातुएं हैं बिओओ, प्नेओ, डिआग्नेको, डिआकेरो आदि। मेनाओ

देवता; हिप्पोस — अश्व; केफाली — कपाल, नेफोस — बादल (नभ); ओस्तेओन — अस्थि, इत्यादि। इनके विपरीत बहुत से अति साधारण शब्द संस्कृत से भिन्न हैं। अग्नि — पूर, गाय, बैल — बोउस, ताउरोस; वृक्ष — देन्द्रोस; जनता — दीमोस, प्यास — दिप्सा; वीर — हीरोस; समुद्र — थालस्सा; नदी — पोतामोस; पर्वत — ओरोस, वन — हुली, हरे घास के मैदान — लेइमोन; मृत्यु — थानतोस; रक्त — थेमा, पुरोहित — हिरेउस, मन्दिर — हिएरोन, समय — काइरोस, गधा — ओनोस, मांस — सितोस, क्रेआस; मनुष्य — अन्थ्रोपोस; फल — कर्पोस; लड़की — कोरी; लड़का — कोउरोस; ग्राम — कोमी, सिंह — लेओन, बछड़ा — मोस्खोस, पत्थर — लिथोस; भूख — लिमोस, शब्द — लोगोस; शिशु — नीपिओस, तलवार — क्सीफोस, पक्षी — ओइओनोस, शस्त्र — होप्लोन, प्रभात — ओर्थ्रोस, चन्द्रमा — सेलीनी; अंधकार — स्कोतोस; पहिया — ओग्कोस, देश, धरती — खोरा; ग्रीष्म — थेरोस; ठंड — कुओस, खोपड़ी — क्रानिओन, बाल — कोमी, भिक्षा, नाक — हिस, मुक्तोर, आंख — ओम्मा, पेट — गस्तीर, कान — ओउस, मुंह — स्तोमा, ओंठ — खेइलोस, इत्यादि। इनमें बहुत से शब्द ऐसे हैं जो संस्कृत के अलावा लैटिन से भी भिन्न हैं। इससे ग्रीक भाषा-परिवार — जिसमें इओलियन, डोरियन, आयोनियन, तीन मुख्य भाषाएं शामिल हैं — की स्वतंत्र सत्ता सिद्ध होती है। ग्रीक भाषा या भाषाओं का जन्म किसी आदि भारत-यूरोपीय भाषा से हुआ है, यह धारणा ग्रीक भाषा के मूल शब्द-भंडार का अध्ययन करने से निर्मूल सिद्ध होती है।

लैटिन के एकुउस, पक्वे की मिसाल देकर भाषाविद् कहते हैं कि इसमें मूल भारत-यूरोपीय भाषा की ध्वनियां सबसे अधिक सुरक्षित हैं। इसी धारणा के अनुरूप टॉमसन ने लिखा है कि भारत-यूरोपीय भाषाओं में पारिवारिक सम्बंध-सूचक जो शब्द बचे हैं, उनमें सबसे प्राचीन लैटिन के हैं। पिता के भाई के लड़के लैटिन में पत्रुएलिस कहलाते हैं। लैटिन में पिता के भाई के लिए पत्रुउस शब्द है जैसे संस्कृत में पितृव्य है। पत्रुउस के पुत्र पत्रुएलिस हुए। किन्तु पितृव्य और पत्रुउस बाद के शब्द हैं, पिता का प्राचीनतम अर्थ वह है जिसका संकेत पहले किया जा चुका है। भाई-बहन के लिए लैटिन में फ्रातेर और सोरोर शब्द हैं, किन्तु ग्रीक अदेल्फोस और अदेल्फी के समान उसके दो अपने शब्द हैं, फिलिउस और फिलिया। इनका अर्थ पुत्र-पुत्री भी है। टॉमसन ने 'फेलो' (दूध पीना) धातु से इन शब्दों का सम्बंध दिखाया है जिससे उनका सहोदर-अर्थ सिद्ध होता है। जिस तरह से 'अदेल्फोस' ग्रीक परिवार का अपना शब्द सिद्ध होता है, उसी से फिलिउस भी लैटिन का अपना स्वीकृत होगा। फिलिउस, फिलिया मातृसत्तात्मक परिवार के भाई-बहन

है जिन्होने एक ही मा का दूध पिया है। इन्हें पितृसत्ताक परिवार के अंतर
और गोरोर ने अपदस्थ करने का प्रयत्न किया।

टॉमसन ने भारत-यूरोपीय और लैटिन परिवार सम्बधी शब्दो की एक सूची दी है। लगता है कि किसी शब्द के 'भारत-यूरोपीय' होने के लिए यह आवश्यक नही है कि यह भारतीय भाषाओं में हो ही; यूरोप की ही कुछ भाषाओं मे एक शब्द मिल जाय और भारत मे न भी मिले, तो भी वह 'भारत-यूरोपीय' मान लिया जाता है। इसलिए टॉमसन की सूची मे कुछ ऐसे शब्द हैं जो भारतीय भाषाओ के न होकर भी भारत-यूरोपीय खाने में लिखे हुए हैं। इनमे एक है पितामह के लिए 'आउओस,' लैटिन मे auos। इसी प्रकार लैटिन मे नाती के लिए 'नेपोस' है जिसका 'भारत-यूरोपीय' रूप लिया गया है नेपोट। दामाद के लिए 'गेनेर,' भा. यू. रूप 'गेमे' है। इन शब्दों को लैटिन परिवार का ही मानना अधिक युक्तिसगत होगा। लैटिन मे 'जन्म लेने' के लिए अपनी धातु है 'नास्कोर'। इससे पुत्र के लिए 'नातुस्' और पुत्री के लिए 'नाता' शब्द बनते हैं। जन्म देने के लिए लैटिन की अपनी धातु है 'परिओ', इससे माता-पिता का वाचक शब्द 'पारेन्स' (अंग्रेजी पेरेंट)। बनता है।

लैटिन के सर्वनामो मे एगो, मिही, नोस का उल्लेख हो चुका है। ये सस्कृत से मिलते हैं। किन्तु 'उस' (तद्) के लिए 'इल्ले, इल्ला, इल्लुद' और 'इस्ते, इस्ता, इस्तुद' हैं। 'अपने' (सेल्फ) के लिए 'इप्से, इप्सा, इप्सुम' भी लैटिन के अपने शब्द हैं। इसी प्रकार सम्बध-सूचक शब्दो में प्राय सभी लैटिन-परिवार के ही हैं, 'अब'—से, 'अद'—को, दे—बारे मे, ए या एक्स—से, पश्चात्।

सस्कृत और लैटिन की अनेक धातुओ मे समानता है। सुम्—अस् (जो कुछ कालो मे भू धातु के फुई आदि रूप धारण करती है); एओ—इ (जाना); सेदेओ, सीदो—सद् (बैठना), स्पेक्तो—स्पश् (देखना), कोग्नोस्को—ज्ञा (जानना), दो—दा (देना); वीदेओ—विद् (देखना), इत्यादि। इनसे भिन्न लैटिन की अपनी बहुत सी धातुएं हैं जिनकी कुछ मिसालें ये हैं: सुनना—अउदिओ, चिल्लाना—क्लामो, दौडना—कुर्रो, पुकारना—वोको, बहना—फ्लुओ; रहना—हबीतो; रखना—हबेओ, जानना—इन्तेलेगो, चमकना—नितेओ, विवाह करना—नूबो; लडना—पुग्नो, हसना—रीदेओ, पूछना—रोगो; सास लेना—स्पीरो, उठना—सुर्गो; जलाना—उरो, आना—वेनिओ, खाना—वेस्कोर; रोना—प्लेओ; ले जाना—दूको; कहना—दीको; मारना—इन्तेरफिकिओ, जीतना—विको; करना—फकिओ; उत्तर देना—रेस्पोन्देओ, लाना—पोर्तो, इत्यादि।

८

ग्रीक और लैटिन में ग्रीक ही संस्कृत के अधिक निकट है। संभव है, संस्कृत-परिवार के कुछ शब्द ग्रीक के माध्यम से लैटिन तक पहुँचे हों। लेकिन लैटिन तक उनके पहुँचने का एक स्वतन्त्र मार्ग भी रहा है, यह निश्चित है। ऐसा न होता तो ग्रीक से भिन्न लैटिन में अग्नि के लिए ईग्निस न होता। पारिवारिक सम्बन्ध सूचित करने वाले ग्रीक और लैटिन के शब्दों में जो अन्तर है, उनकी धातुओं और मूल शब्द-भंडार में जो व्यापक भेद है, उससे सिद्ध होता है कि ये दोनों भाषाएँ संस्कृत से भिन्न परिवार की तो हैं ही, ये आपस में भी एक कुल में उत्पन्न सगी बहनें नहीं हैं। लैटिन का अपना परिवार है जिसके अन्तर्गत स्पेनी, पोर्तगाली, इतालवी, आदि आधुनिक भाषाएँ हैं।

इसी प्रकार जर्मन भाषाओं का अपना परिवार है। इसमें स्वीडिश, डैनिश, डच आदि भाषाएँ हैं। जर्मन धरती को न तो लैटिन-भाषियों की तरह 'तेरा' कहते हैं, न यूनानियों की तरह गेग्रा, उनका शब्द है 'एर्दे' जिससे अंग्रेजी 'अर्थ' का सम्बन्ध है। आकाश को वे 'हिमेल' कहते हैं, अंग्रेजी में इसी के लिए 'स्काई' है, जिसका डैनिश में अर्थ है बादल। जर्मन में बादल के लिए 'नभ' नहीं है, उसका अपना शब्द है व्होल्के (अंग्रेजी वेल्किन)। हवा के लिए अंग्रेजी ने लैटिन 'एयर' लिया है, लेकिन जर्मन शब्द है 'लुफ्ट'। वन के लिए 'वाल्ट', पर्वत के लिए 'बेर्ग', नदी के लिए 'फ्लुस' (डैनिश में फ्लोद जिससे अंग्रेजी फ्लड), पानी के लिए उद नहीं 'व्हासेर', हड्डी के लिए अस्थि नहीं 'क्नोख्खेन', कान के लिए लैटिन के समान 'ओर', बालों के लिए अंग्रेजी के समान हेअर; हाथ लैटिन मानुस से भिन्न हाण्ट (अं. हैण्ड) है, पैर के लिए पद नहीं 'फ़ाइस', ओंठ हैं लिपे, नाक अवश्य नाज़े (नासा) है, *दांत भी 'त्सान' शायद कभी दन्त रहा हो (स्वीडिश तन्द)।* पशु के

लिए लैटिन 'ग्रनिमल' से भिन्न 'तिएर' (स्वीडिश द्यूर), पक्षी—फोगेल, बैल—स्तिएर, गाय के लिए हमारे खान्दान का शब्द है कुह (ग्रं. काउ), बछड़ा—काल्फ (ग्रं. काफ); घोड़ा न ग्रश्व है, न एकुउस, हिंदी भाषियों के लिए विचित्र ध्वनिवाला शब्द है 'प्फेर्ड'। मूस जर्मन में भी 'माउस' है, यद्यपि उसकी बिरादरी का चूहा स्वतन्त्र 'राटे' भी है। सर्प है श्लागे। वृक्ष के लिए है बाउम्; जौ के लिए गेर्स्टे (स्वीडिश कोर्न), गेहूं के लिए हाइज़ेन। पिता के लिए फाटेर, मा के लिए मुटेर, भाई के लिए ब्रूडेर, सूनु के लिए ज़ोन, दुहिता के लिए टोख्टेर, स्वसा के लिए श्वेस्टर संस्कृत के समान है जिनसे—कुछ ग्रन्य शब्दों को मिलाकर—भाषाविदों ने इंडोजर्मेनिक परिवार की कल्पना की है। किन्तु बच्चा—किण्ट, लड़की—मैडखेन, पत्नी—फ्राउ, पति—मन (मैन, मर्द)—यहा हम जर्मन-परिवार के ग्रपने शब्द देखते हैं। घर के लिए धाम नही हाउस (स्वीडिश, डैनिश मे हुस)। शहद मधु नही, होनिग (ग्रंग्रेजी हनी), मास—फ्लाइश (ग्रं. फ्लेश), भोजन—नारुंग, भूख—हुंगेर, ग्रादि। क्रियाग्रो मे ग्राना—कोमेन, मरना—स्टेर्बेन (स्वीडिश डोय), जीना—लेबेन, रहना—व्होनेन, देखना—ज़ेहेन, पूछना—फ्रागेन, देना—गेबेन, रखना—हाबेन, करना—टुन (ग्रं. डू), सकना—कोयनेन, डरना—फ्यूर्ख्टेन, मारना—श्लागेन, लाना—ब्रिगेन, पुकारना—रुफेन, पीना—ट्रिंकेन (ग्रं. ड्रिंक), गिरना—फालेन, लड़ना—काम्पफेन, उड़ना—फ्लीगेन, खड़े होना—स्टेहेन (स्था), उठना—ग्राउफस्टेहेन, हँसना—लाखेन, रोना—व्हाइनेन, जलाना—ब्रेनेन, बनाना—माखेन, विवाह करना—हाइराटेन, जोतना—प्फ्लूगेन, बरसना—रेग्नेन, दौड़ना—रेनेन, चमकना—शाइनेन, गाना—ज़िगेन, सोना—श्लाफेन (स्वप्), कहना—जागेन, इत्यादि। जर्मन ग्रौर संस्कृत की बहुत कम धातुएं सामान्य हैं; जो हैं वे दो भाषा-परिवारो के सम्पर्क की ग्रोर संकेत करती हैं, उनके सामान्य उद्गम की ग्रोर नही। भिन्न क्रियाएं बहुत सी हैं।

सर्वनामो मे कौन के लिए व्हेर, क्या के लिए व्हास, किम्-कः से बहुत दूर हैं। 'जो' के लिए व्हेर, व्हास, व्हेल्खेर, व्हेल्खे, कुछ—ग्राइनिगे, प्रत्येक—येडेर। सम्बध-सूचक शब्द प्रायः सभी जर्मन के ग्रपने हैं: मे—इन, का—फोन, को—त्सु, से—ग्राउस, साथ—मिट, पूर्व—फोर।

जितना साम्य लैटिन ग्रौर संस्कृत में था, उतना साम्य भी जर्मन ग्रौर संस्कृत मे नहीं है। हम जितना ही यूरोप के दक्षिण से उत्तर-पश्चिम की ग्रोर चलते हैं, उतना ही इस तरह का साम्य कम होता जाता है। यह साम्य सबसे ग्रधिक पूर्वी यूरोप की भाषाग्रों तथा संस्कृत मे है। इस साम्य पर विचार करने से पहले दो शब्द ग्रीक, लैटिन, जर्मन तथा संस्कृत परिवारों की समानता के बारे में कह देना चाहिए। इस सम्बध मे पहली बात जो उल्लेखनीय है, वह

कि हिन्दी की उत्पत्ति अंग्रेजी से हुई थी, क्योंकि यहां माता-पिता के लिए डैडी-ममी का व्यवहार होता था। आश्चर्य नहीं कि कहीं दादा-माता के दर्शन होने पर वे इस नतीजे पर भी पहुंचें कि दादा डैडी का और माता ममी का अपभ्रंश रूप है! और जापान में भी डैडी-ममी के अवशेष देखकर वे कहेंगे, हिन्दी ही नहीं जापानी भाषा भी अंग्रेजी से निकली है और एशिया की इन भाषाओं के मूल पूर्वज इंगलैंड के निवासी थे जिन्होंने अपनी बुद्धिमत्ता से अणु बम के आविष्कार और प्रयोग द्वारा इस पृथ्वी को मंगल ग्रह निवासियों के लिए जन-शून्य और निरापद बना दिया।

जिन परिवारों में डैडी-ममी का प्रवेश नहीं हुआ, उनके शिक्षित (या अर्द्ध-शिक्षित) सदस्य यह कहते सुने जाते हैं: आज 'फादर' की तबियत खराब है, दफ्तर न जा सकूंगा, या 'मदर' को लेने जाना है, छुट्टी चाहिए। फादर-मदर ऐसी भाषा के शब्द हैं जिसे अन्तरराष्ट्रीय सम्मान प्राप्त है। इसलिए माता-पिता की तुलना में मदर-फादर अधिक सम्मानसूचक हैं। इसी प्रकार वालिद और वाल्दा, अब्बा, खाला आदि का प्रयोग भी यहां के निवासियों में प्रचलित हुआ।

इसलिए जर्मन-लैटिन-ग्रीक में पिता-माता के रूप-आकृति वाले शब्दों से यह सिद्ध नहीं होता कि ये भाषाएं एक परिवार की हैं। साथ ही यह समझना भी सही न होगा कि ये शब्द उनमें केवल सांस्कृतिक प्रभाव के कारण आ गये हैं। इन शब्दों के अलावा और भी साधारण शब्द हैं, सर्वनाम और धातुएं भी हैं, जिनसे भाषाओं के सम्मिश्रण का बोध होता है। ग्रीक में यह प्रक्रिया बहुत अच्छी तरह देखी जा सकती है। ग्रीक भाषा-परिवार ने भारतीय भाषाओं के परिवार-सम्बन्धी शब्दों को अपनाया और वह उसी कोटि के अपने शब्द भी बनाये रहा। यदि सम्मिश्रण न होता तो पिता, माता, भाई, आदि के लिए संस्कृत से मिलते-जुलते शब्दों के अलावा इन्हीं के समानान्तर ग्रीक के अपने शब्द न होते। सर्वनामों में भी यही सम्मिश्रण दिखाई देता है, कुछ संस्कृत से मिलते-जुलते शब्द हैं, कुछ ग्रीक के स्वतन्त्र हैं। इसी प्रकार धातुओं में।

इस सम्मिश्रण में एशियाई आगन्तुकों का स्थान सांस्कृतिक दृष्टि से उच्च-स्तरीय था। परिवार से सम्बन्धित संस्कृत-सामान्य शब्दों पर पितृसत्ताक समाज की छाप है। ये शब्द उस सामाजिक व्यवस्था की ओर संकेत करते हैं जिसमें उत्पादन और वितरण का मुख्य संचालक पुरुष है। पितृसत्ताक समाज में पहले 'पिता' का जो व्यापक अर्थ है, वह भारतीय भाषाओं में मिलता है, ग्रीक और लैटिन में नहीं। वहां पिता केवल पितृसत्ताक परिवार का पिता है। यह आश्चर्य की बात नहीं कि ग्रीक और लैटिन भाषाएं बोलनेवालों ने जहां अपने प्राचीन देवी-देवताओं के नाम सुरक्षित रखे, वहां उन्होंने पिता रूप में एक

विशिष्ट देवता को जन्म दिया जिसका सम्बन्ध संस्कृत परिवार से भी है। यह है यूनानियों का 'ज़ेउस' जिसका षष्ठी-रूप 'दियोस' उसके मूल रूप 'द्यौस' या 'द्यो' की ओर स्पष्ट संकेत करता है। 'द्यावापृथिव्यौ' का साथी यह 'ज़ेउस' लैटिन 'जुपितर' (द्युपितर) है और उसका पितृत्व इतना महत्त्वपूर्ण है कि पितर शब्द उसके साथ जुड़ गया है।

यूनान की पौराणिक गाथाओं में एक दिलचस्प कहानी यह थी कि नये देवताओं ने पुराने देवताओं को पराजित कर दिया। अंग्रेज कवि कीट्स ने इसी विषय पर विकास-सिद्धान्त का आभास देते हुए अपनी प्रसिद्ध कविता 'हाइपीरियन' लिखी थी। इन नये देवताओं का नेता था 'ज़ेउस' और पुरातन देवताओं का प्रतीक था उसका पिता 'क्रोनोस' जो संस्कृत-परिवार से बाहर का नाम है। एथेंस में बूढ़ों को 'क्रूसट' के अर्थ में क्रोनोस कहा जाता था। *लैटिन देवमंडल में जुपितर के पिता का नाम दूसरा है—सातुर्नुस* (सैटर्न, शनि)। पुत्र का नाम एक ही होने से उसके पिता ग्रीक क्रोनोस और लैटिन सातुर्नुस को एक-दूसरे का पर्यायवाची मान लिया गया है। लैटिनभाषियों में भारतीय होली की तरह एक उत्सव होता था —'सातुर्नालिया' जिसमें सामाजिक विधि-निषेध को भुला दिया जाता था। इससे सातुर्न की परम्परागत लोकप्रियता का पता चलता है। इस तरह का कोई त्यौहार क्रोनोस नाम के साथ सम्बद्ध होकर यूनान में न मनाया जाता था। इससे क्रोनोस और सातुर्न की भिन्नता सिद्ध हुई। क्रोनोस के दो पुत्र और थे, एक प्लोउतोन (लैटिन प्लूतो) जो पाताल-लोक का देवता था और दूसरा पोसेइदोन (लैटिन नेप्तूनुस, नेप्च्यून) जो समुद्र का स्वामी था। प्लोउतोन और पोसेइदोन—दोनों ही नाम संस्कृत-परिवार से बाहर के हैं। ये दोनों यूनान के अपने देवताओं के नाम हैं जिनके गोत्र में बड़ा भाई बनकर ज़ेउस शामिल हुआ।

ज़ेउस के समान संस्कृत परिवार के सूर्य ने भी 'हिलिओस' रूप में ग्रीक भाषा में अपना आधिपत्य जमाया। ग्रीक भाषा में सूर्य देवता के लिए अन्य अनेक शब्द हैं, हुपेरिओन, फोइबोस, अपोल्लोन, इनको सह-अस्तित्व का अधिकार देकर सूर्य के लिए प्रचलित शब्द हो गया 'हिलिओस'। चन्द्रमा की देवी 'सेलीनी' का नाम ज्यों का त्यों बना रहा। जिस मातृसत्ताक व्यवस्था में ज़ेउस और हिलिओस उदित हुए, उसके चिह्न यूनान की पौराणिक गाथाओं में देखने को मिलते हैं। ज़ेउस की माता हेरा उसके पिता क्रोनोस की बहन है। प्राचीन मिस्र में जैसे सम्पत्ति का सर्वाधिकार मातृकुल तक सीमित था, इसीलिए वहाँ का सम्राट् अपनी भगिनी का ही पति होता था, वैसे ही यूनान के प्राचीन देवताओं की पद्धति थी। ज़ेउस की मुख्य पत्नी है हीरा और वह भी ज़ेउस की बहन है।

उसने यात्रा की है, उनमें भारत भी है। पौराणिक गाथा-विशारद यह स्वीकार करते हैं कि वह पूर्व से आया हुआ देवता है। उसका एक नाम बाकृखोस है। यह मद का देवता है, साथ ही काव्य से — विशेष रूप से नाटकों से — उसका घनिष्ठ सम्बंध है। वह कवियों को आवेश और प्रेरणा देने वाला देवता है। इस देवता के प्रसाद से जब कोई प्रलाप करने लगता था, तब उस क्रिया को बाकृखियोग कहते थे। इस बाकृखोस देवता का सम्बंध भारतीय वाक् से है। यूनानी वर्णमाला में 'व' ध्वनि नहीं है। ब्रजवासियों के समान यूनानियों ने 'व' का 'ब' किया। लेकिन वाणी के लिए ग्रीक में वाक् जैसा भी कोई शब्द नहीं है। फिर भी भारतीय वाक् से बाकृखोस का स्पष्ट सम्बंध है। यह सम्बंध जोड़ने के लिए काव्य-साहित्य के अलावा भी प्रमाण हैं। एक ग्रीक शब्द है वाग्मा। यह शब्द वाङ्मय का यूनानी रूप हो, चाहे न हो, उसका वाग् वाक् का ही दूसरा रूप है, इसमें सन्देह नहीं। वाग्मा (या बाड्मा) का अर्थ है भाषा या भाषण। एक अन्य ग्रीक क्रिया है अबाके ओ जिसका अर्थ है अवाक् होना। इसी से बना अवाकिस — वाक्-हीन। इस प्रकार यूनानी देव-मंडल के दो पुरुष-देवता ज़ोउस और बाकृखोस पिता आदि के शब्दों के साथ भारत की ओर संकेत करते हैं।

एथेंस के निवासियों में यह किंवदन्ती प्रचलित थी कि उनके पुरखे 'पेलास्गोइ' नामक जन थे जो बाद में हेलेनिक (या ग्रीक) संस्कृति में दीक्षित हुए। इस सम्बंध में टॉमसन ने लिखा है, "एथेंस के जनवादी नागरिकों को इस बात पर अभिमान था कि वे पेलास्गोइ की सन्तान हैं। वे अपने को 'धरती-पुत्र' कहते थे। हेरोदोतस ने उनका वर्णन करते हुए लिखा है कि वे हेलेनिक संस्कृति में दीक्षित हुए। उनका एक प्राचीन राजा था केक्रोप्स, जिसने मातृसत्ताक व्यवस्था की नींव डाली। उसके पहले स्त्रियां स्वच्छन्दता से रमण करती थीं और अपने नाम पर अपनी सन्तान का नाम रखती थीं।"[1] इससे उपर्युक्त स्थापना की पुष्टि होती है कि यूनान के मूलभूत मातृसत्ताक समाज में बाहर से आये हुए जनों ने पितृसत्ताक परिवर्तन किये।

एथेंस के समान यूनान का दूसरा शक्तिशाली राज्य था स्पार्टा। इस राज्य के बारे में टॉमसन ने लिखा है कि वहां एक पति-पत्नी वाली विवाह-प्रथा का इतना कम बंधन था कि दस भाई एक पत्नी रख सकते थे और नारी का पर-पुरुष से सम्पर्क न तो दयनीय समझा जाता था, न दूषित ही।" (उपरोक्त, पृष्ठ १४१)। इस तरह का समाज किस शब्द को पितृसत्ताक व्यवस्था का प्रतीक न बना सकता था। यह शब्द यूनान में बाहर से ही पहुंचा है।

१ स्टडीज इन एन्शियंट ग्रीक सोसाइटी, १३४–३६।

यूनान की पौराणिक गाथाओं की एक विशेषता यह भी है कि देवता प्रायः स्वेच्छिक और उच्छृंखल व्यवहार करते हैं किन्तु देवियाँ उनसे अधिकतर [illegible] के लिए [illegible] रही हैं। प्राचीन यूनानी जन समाज में देवीपूजक था। पति केवल संतान के कारण होता [illegible] था नहीं और बहुत उसे भला है के लिए बार-बार की सर्वोच्च चुनाव किया जाता है। किन्तु प्रायः देवियाँ उसे परिवर्तित करती हैं। पार्थेनिया ज्ञान की देवी है और सदा अविवाहित रही है। चन्द्रमा की देवी के रूप में वह आर्टेमिस के रूप में प्रकट होती है, लेकिन उसका प्रेम विवाह का रूप नहीं लेता। इसके सम्बन्ध अथेना भी चिर-कुमारी है। इस और की देवी हेस्टिया (रोमन वेस्टा) अविवाहित में प्रेम करती है, और वह [illegible] जाता है। डिमीटर कृषि की देवी है। जियस से उसके एक पुत्री हुई पेर्सेफोनी जिसे उसका चाचा पाताल-लोक का स्वामी प्लूटोन उठा ले गया। डिमीटर एक महान् देवी के रूप में पूजी जाती थी किन्तु उसका कोई विवाहित पति नहीं था। ऋग्वेद में अग्नि प्रमुख देवताओं में है, किन्तु यूनानियों में अग्नि की देवी थी हेस्टिया और वह चिरकुमारी थी। उसी का समकक्ष अग्नि का देवता था हिफाइस्टस लेकिन वह लंगड़ा था और उसका काम अस्त्रादि तैयार करना था। अग्नि की देवी और देवता में देवी ही अधिक उपास्य समझी गयी। यूनान के नगरों में एक सार्वजनिक स्थान में अग्नि सदा प्रज्वलित रखी जाती थी और यूनानी जन जब किसी नये प्रदेश में उपनिवेश बनाने जाते थे, तब वे देवता की स्मृति रूप वहाँ से अग्नि अपने साथ ले जाते थे। रोमन जनों के मन्दिरों में चिरकुमारियाँ आजीवन उसकी सेवा करतीं और उपास्य-देवी के समान पवित्र जीवन बिताने का प्रयत्न करतीं। यूनानियों ने भाग्य की कल्पना तीन देवियों के रूप में की थी और दंड देने वाली भी तीन देवियाँ थीं। पुरुष देवों के साथ यूनानी मज़ाक कर सकते थे, उनकी पूजा करते हुए भी उनकी पुरुष सुलभ कमजोरियों पर हँस सकते थे, किन्तु वास्तविक भय था उन्हें देवियों से। यदि भारत आने वाले 'आर्य' यूनान या रोम से आये होते—या रोम और यूनान के आर्यों से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध होता—तो उनके देवी-देवताओं के ग्रीक या लैटिन नाम हमारे यहाँ भी मिलते। किन्तु एक-आध पुरुष देवों के सामान्य नाम ही मिलते हैं, यहाँ की देवियों से संस्कृत-परिवार की देवियों का कोई सम्बंध नहीं है। जेउस पितृसत्ताक समाज का प्रतीक बन कर यूनान के मातृसत्ताक देवीमंडल में प्रतिष्ठित हुआ। जेउस का षष्ठी-रूप दिओस, सम्प्रदान दिइ, और कर्म रूप दिआ होता है। इन रूपों में मूल भारतीय ध्वनि सुरक्षित है।

जेउस का एक पुत्र है दिओनूसोस। इसका सम्बंध भी दिव् धातु के देव या द्यौस से मालूम होता है। वह मद का देवता है और जिन अनेक देशों की

ध्वनि-विज्ञान का साक्ष्य है : शब्दों की मूल ध्वनि ग्रीक-रूसी की अपेक्षा संस्कृत में अधिक सुरक्षित है। दूसरे समाजशास्त्र यह संकेत करता है कि अनेक सामान्य शब्दों का पूर्व-पितृसत्ताक अर्थ भारतीय भाषाओं में बना हुआ है। यूरोपीय और भारतीय परिवारों के सामान्य शब्द इस तथ्य की ओर इंगित करते हैं कि पूर्व-पितृ आदि शब्दों को यूरोप में पितृसत्ताक समाज के अभ्युदय के साथ मान्यता मिली, इनके यूरोपीय पर्यायवाची दब गये और भारतीय शब्दों ने मातृसत्ताक क्षेत्र की विशिष्ट शब्दावली को प्रायः ज्यों का त्यों रहने दिया। तीसरे, इतिहास में भी पूर्व से पश्चिम की ओर अनेक जन-अभियानों का उल्लेख मिलता है। रूसी-संस्कृत के तुलनात्मक अध्ययन से कुछ उसी कोटि के तथ्य सामने आते हैं, जिस कोटि के तथ्य ग्रीक-संस्कृत मूल शब्द भंडार के तुलनात्मक अध्ययन से सामने आये थे। रूसी और अन्य स्लाव भाषाओं में अनेक शब्द ऐसे हैं जिनके पर्यायवाची संस्कृत में तो मिलते हैं, किन्तु उन्हीं के समकक्ष स्लाव-कुल के मूल शब्दों का लोप नहीं हुआ, वरन् ग्रीक-कुल के स्वतंत्र शब्दों की तरह वे भी सुरक्षित हैं। इसके सिवा स्लाव भाषाओं का अपना मूल शब्द भंडार है, अपने विशिष्ट भाषा-तत्त्व हैं जिनसे ग्रीक या जर्मन कुल के समान स्लाव-कुल की स्वतंत्र सत्ता सिद्ध होती है।

पहले परिवार-सम्बंधी शब्दों को लेते हैं। रूसी में पिता शब्द नहीं है, यद्यपि वह ग्रीक, लैटिन और जर्मन में है। उसके बदले 'अतेत्स' (रूसी) है जिसका सम्बंध तात से है। चेकोस्लोवाकिया के शहीद जूलियस फूचिक ने फांसी के तख्ते की छाया में लिखी हुई अपनी पुस्तक में माता-पिता को याद करते हुए 'मामो, तातो' शब्दों द्वारा भारतीय तात के समान पिता को सम्बोधित किया है। बुल्गार भाषा में पिता के लिए एक अन्य शब्द है 'बाश्चा'। उक्रैनी में अतेत्स के साथ-साथ बाश्चा से मिलता-जुलता पितृवाचक शब्द है 'बात्को'। इससे सिद्ध हुआ कि स्लाव कुल में 'तातो' के अलावा उसका अपना शब्द है 'बात'। रूसी में भी इसका लघु रूप है 'बात्यूश्का'।

स्लाव कुल की एक धातु है 'रोद' जिसका अर्थ है जन्म देना। इससे रूसी में पिता के लिए एक अन्य शब्द बनता है 'रोदीतेल' (जनक, ग्रीक तोकेउस् के समान)। उक्रैनी और बुल्गार में भी रोदीतेल। स्लाव भाषाओं ने ग्रीक के समान जन धातु से 'गोनेउस' (जनक) शब्द नहीं बनाया यद्यपि झेन्श्चीना (नारी), झेना (पत्नी), झेनीत् (विवाह करना) आदि रूसी शब्दों में जन के सम्बधी शब्द विद्यमान हैं। ये जन-सम्बधित शब्द संस्कृत-कुल के हुए, रोद-सम्बंधित शब्द स्लाव कुल के।

माता के लिए रूसी शब्द है 'मात'। बुल्गार में यह शब्द नहीं है; इससे मिलता-जुलता 'मात्का' शब्द का अर्थ है गर्भ, योनि। उक्रैनी में 'मात़ि'

सर्वनामों में 'या' (अहम्), तो (तू, त्व), वी (तुम, यद्य स मिलता-जुलता किन्तु भिन्न सर्वनाम), एतोत् (यह, इदम्), प्रश्नवाचक क्तो, च्तो, कतोरी, कक्योइ, चेइ आदि (क्रमशः समुदाय के), तोत् (तद्, वह), सेइ (यह, स.), मोइ (मेरा), स्वोइ (अपना), मी (हम), मेन्या (मुझे), संस्कृत-परिवार के सर्वनामों से मिलते-जुलते हैं। नाम (हमको), नाश (हमारा) उसी सर्वनाम से सम्बन्धित है जिसका 'नः' रूप संस्कृत में है। अन, अनो, अना (वह) स्लावी-कुल के सर्वनामों से मिलते हैं। इसी 'एवो' (उसका, पु.) 'एयो' (उसका, स्त्री.), 'इख' (उनका), अन-अनो-अना से भिन्न उसके अपने परिवार के हैं। इसी प्रकार तकोइ, एताकोइ (ऐसा), द्रुग, द्रुगा (दूसरे), काझ्दी (हरेक), आदि रूसी के अपने शब्द हैं।

सम्बध-सूचक शब्दों में ऊपर के लिए 'नाद' (संस्कृत से भिन्न) किन्तु नीचे के लिए 'नीझे' (संस्कृत के समान), साथ ही नीचे के लिए रूसी का अपना शब्द 'पोद', पर के लिए 'ना', में के लिए 'व', से के लिए 'इज' (फारसी से मिलता हुआ), पीछे के लिए 'जा' संस्कृत से भिन्न हैं। पो (बारे में), चेरेज़ (पार), स्क्वोज़ (बीच से), पेरेद (सामने), व्ने (बाहर), व्नूत्री (भीतर), दल्या (लिए), पोस्ले (पीछे), उ (पर, निकट) आदि रूसी के अपने जान पड़ते हैं। 'प्रोतीव' (विरुद्ध) का सम्बंध अवश्य ही संस्कृत 'प्रति' से है। मध्य के लिए दो शब्द हैं 'मेझ्दु', जो 'मध्य'

... परिवारों के विशेष सामीप्य का साक्षी है।

स्लाव और संस्कृत परिवारो के सामीप्य का एक कारण उपसर्ग और प्रत्ययों का व्यवहार है। यही नहीं कि इस तरह के व्यवहार से दोनों भाषा-परिवारों की एक-सी प्रकृति का पता चलता है, वरन् दोनों के कुछ प्रत्यय और उपसर्ग हैं भी एक ही। इनमे एक है 'स' जिसका अर्थ है सहित। यह अलग से भी सम्बंधसूचक अव्यय के रूप मे प्रयुक्त होता है और अन्य शब्दो के साथ उपसर्ग रूप मे भी जुड़ता है। 'सोवियत' शब्द मे यही 'स' 'इ' धातु के साथ आया है। 'सयूजा' का अर्थ है सघ, 'युज्' धातु मे 'स' उपसर्ग जोड

कर 'मदृशा' बना। इसी प्रकार 'प्र'; 'प्रबुमदेनिये' (जागना), 'बुध्' में 'प्र' जोड़कर क्रिया बनी प्रबुदीर्, प्रबुमदात्। भाववाचक संज्ञाएं बनाने के लिए 'स्त' (या स्त्व) प्रत्यय का प्रयोग वैसे ही होता है जैसे संस्कृत-परिवार की भाषाओं में। ब्रात —भाई, उससे ब्रात्स्त्वो — बिरादरी; मुभ्भ — पुरुष, उससे मुभ्भ्स्त्वो—पुरुषत्व। स्लाव भाषाओं को 'क' प्रत्यय से वैसे ही प्रेम है जैसे संस्कृत को। जैसे बाल से बालक बनाते हैं, वैसे ही उनके यहां दीम (धूम) से दीमोक या कर्तीना (चित्र) से कर्तीन्का। जैसे संस्कृत में धातु के साथ ता या तर जोड़ कर कर्ता बनाते हैं, दा से दाता या दातर, इसी प्रकार रूसी में चितात्—पढ़ना, उससे बना चितातेल् ('र' ने 'ल' रूप धारण किया) —पाठक। कुछ विशेषणों से संज्ञा वैसे ही बनती है जैसे संस्कृत में। सुन्दर में 'ता' जोड़कर जैसे सुन्दरता बनाया, वैसे ही रूसी में 'प्रता' (या म्रोता) जोड़कर 'विसोकिइ' —उच्च, विसोता — उच्चता। हमारे यहां कर्ताभाव में 'क' प्रत्यय व्यवहार में आता है— जैसे पाठक, ग्राहक, वैसे ही वस्तु से सम्बन्ध प्रकट करने के लिए मोरे — समुद्र, मोर्याक — नाविक, रीबा — मछली, रिबाक — मछुवा। क्रियाओं में 'स' उपसर्ग सहित के अर्थ में जुड़ता है, सोब्रात् — एकत्र होना।

रूसी क्रियाओं में 'आनिये', 'एनिये' जोड़कर संज्ञा बनाने का जो क्रम है वह संस्कृत की ल्युट्-प्रक्रिया से मिलता-जुलता है, जैसे ज्ञा से ज्ञान, वैसे ही उचीत् — पढ़ना, उचेनिये — पठन, सोब्रात् — मिलना, सोब्रानिये — मिलन, सभा।

चेक भाषा में एक धातु है 'रिक' जिसका अर्थ है बोलना। फूचिक की पुस्तक में वाक्यांश है - 'रिका दलोही एस् एस्' — लम्बा एस् एस्. सैनिक बोला। इस रिक् का सम्बन्ध हमारे ऋक् और ऋचाओं से है। रूसी में रिच् शब्द भाषण के लिए प्रयुक्त होता है यद्यपि 'रिक्' क्रिया उसमें नहीं है। इसी प्रकार 'वेद' शब्द हमारे यहां ज्ञान के साधारण अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता, किन्तु रूसी में 'वेदात्' का अर्थ है जानना और 'विदेनिये' का अर्थ है ज्ञान, वस्तोक — पूर्व, वस्तकोवेद — प्राच्यविद्या-विशारद।

यह सम्भव है कि स्लाव-भाषाओं में कुछ शब्दों के प्राचीन अर्थ सुरक्षित हों। बुल्गार भाषा का 'माल्का' (गर्भ या योनि) ऐसा ही एक शब्द है। इसी प्रकार रूसी 'अगोन' (अग्नि) से सम्बन्धित एक शब्द है 'अग्नीवो' जिसका अर्थ है चकमक पत्थर। अग्नि उत्पन्न करने में पहले इसीकी आवश्यकता पड़ती थी, इसलिए आश्चर्य नहीं, अग्नि का प्राचीनतम अर्थ यही हो। चेको-स्लोवाकिया के एक सज्जन ने 'चादरा' (चादर) के बारे में एक दिलचस्प बात बतायी थी। वहां 'चादरा' एक फूल का नाम भी है जिसकी आकृति

प्रतिध्वनि जैसी होती है। सम्भव है, बाद में पुश्तू में पीने से उसका स्थान लेने-वाले पात्र का नाम भी पायर पड़ा हो।

स्लाव भाषाओं में कुछ शब्द ऐसे हैं जो संस्कृत में नहीं हैं, यद्यपि अन्य भारतीय भाषाओं में हैं। ऐसा ही एक शब्द है 'मीर'—संसार, दुनिया। 'कश्मीर' में यही मीर है, कश् लोगों का देश; यद्यपि कश्मीरी-भाषी जन बोलचाल (कशीर) में उसका लोप कर देते हैं। यही मीर पामीर में है जिसका अर्थ है चरागाहों का देश। मीर को हम मध्य एशियाई शब्द कह सकते हैं जो स्लाव प्रदेशों में पहुंचा है। कश्मीर के मनुष्य जो भी रहे हों, उन्होंने अपना नाम भारतीय परम्परा और रूसी 'कस्पीस्कोए मोरे' (कास्पियन सागर) में स्मृति-रूप छोड़ दिया है।

इतनी घनिष्ठता होने पर भी यह कहना युक्तिसंगत न होगा कि संस्कृत और स्लाव भाषाएं एक ही परिवार की हैं। स्लाव भाषाओं में कुछ तत्व फारसी के हैं जो संस्कृत से भिन्न हैं, कुछ तत्व ग्रीक के हैं (जिसकी वर्णमाला के आधार पर रूसी आदि भाषाओं की वर्णमाला रची गयी है; चेक की वर्णमाला और लिपि लैटिन पर आधारित है)। स्लाव भाषाएं संस्कृत-परिवार के सम्पर्क में उसी प्रकार आयी हैं जैसे ग्रीक और लैटिन। अन्तर इतना है कि स्लाव-संस्कृत का सम्पर्क बहुत गहरा है और उनका मिश्रण अधिक हुआ है। किन्तु केवल समानताओं को देखना और स्लाव भाषाओं का स्वतंत्र परिवार घोषित करनेवाली उनकी असामान्य विशेषताओं को भूल जाना एकांगी दृष्टिकोण का परिचायक होगा। सर्वनामों, पारिवारिक क्षेत्र के शब्दों, सम्बन्ध-सूचक शब्दों में जहां कुछ संस्कृत-परिवार के हैं, वहां अनेक स्लाव भाषाओं के अपने हैं। इसी प्रकार धातुओं में देलात् — करना, रबोतात — काम करना, खोतेत् — चाहना, मोच् (मोगू, मोझेत) — सकना, क्लास्त् (क्लादू, क्लादोत) — रखना, मीत (मोयू, मोएत) — धोना, उबीवात् (उबीत्) — मारना, रास्ती (वीरोस्ति) — बढ़ना, मेन्यात् — बदलना, तेर्यात् — खोना, ग्रोगात् — छूना, तनूत् — डूबना, बोलेत् — बीमार पड़ना, झेलात् — इच्छा करना, स्त्रोईत् — बनाना, ब्लेस्तेत् — चमकना (यद्यपि किरण के लिए लुच् और जलाने से सम्बन्धित क्रिया लुचीत् भी है), वेस्ति — ले जाना, मूल धातु 'मेच' (जिसका स्वतंत्र प्रयोग अब रूसी में नहीं होता) से मेच्तात् — स्वप्न देखना; जमेचात् — ध्यान से देखना, पमेचात् — चिन्हित करना, — इन शब्दों से स्पष्ट है कि वे किसी प्राचीन मेच धातु से बने हैं जिसका अर्थ है देखना, स्मत्रेत क्रिया भी देखने के अर्थ में प्रयुक्त होती है; मिलोवात् — प्यार करना (यद्यपि इसी अर्थ के लिए लुभ् से बनी हुई क्रिया ल्यूबीत् भी है), पखात् — जोतना, पेत् — गाना, पलुचात् — पाना, तेच् — बहना, उमेत — जानना, योग्य होना, प्लाकात् — रोना, इग्रात् — खेलना, इत्यादि।

भारचर्यजनक रूप से भिन्न हैं, ये हैं, वोत — यहा, ग्दे — कहा, उदेस — इधर, व्‌वोद और पदएद्द — द्वार (द्वेर के अतिरिक्त), वीशे — ऊचा, गोरोद — नगर (पुर या पोलिस नही), गाव — सेलो (ग्राम नही), दारोगा — मार्ग (पथ के समानान्तर), देलो — कार्य, दोभद — वर्षा, द्रुग — मित्र, क्रूप्नो — बडा, मेन्शी — छोटा, लोद्का — नाव, कोराब्ल — जहाज़ (ग्रीक के समान नो की खपत यहा नही हुई), ल्यूदी — लोग, जनता, मेस्तो — स्थान, पबेदा — विजय, पोले — क्षेत्र, राद — प्रसन्न, राज — एक बार, सेम्या — परिवार, त्रूद — श्रम, स्त्रना — देश, तेलो — शरीर, तपेर — अब, तोल्को — केवल, खोल्म — पहाडी, खरोशो — अच्छा, प्लोखोइ — बुरा, इत्यादि।

रूसी तथा अन्य स्लाव भाषाओ के अपने प्रत्यय और उपसर्ग हैं। धातु मे 'व' उपसर्ग लगाकर 'अन्दर' का भाव उत्पन्न किया जाता है, व्‌लोभीन् —

इन भेदों का ध्यान में रखते हुए यह मानना होगा कि ग्रीक और संस्कृत एक परिवार की भाषाएं नहीं हैं। ग्रीक-लैटिन की तुलना में स्लाव भाषाएं हमारे अधिक निकट हैं, ग्रीक परिवार उनकी तुलना में हमसे बहुत दूर है। फिर भी भाषाविदों ने इसी ग्रीक परिवार की कल्पना की और इंडो-स्लाविक परिवार की (वैसी ही परंपरागत) कल्पना न की। इसका कारण आर्य नस्ल की भावना और पश्चिमी यूरोप के कुछ विद्वानों में स्लाव जातियों के प्रति घृणा का भाव हो सकता है। इस घृणा की प्रतिक्रिया में प्रेम की उस सीमा तक न पहुंच जाना चाहिए जहां ग्रीक और संस्कृत का भेद प्राय: मिटता जान पड़े और हम उन्हें एक ही भाषा की दो बोलियां या एक ही परिवार की दो बहुत मिलती-जुलती भाषाएं कहने लगें। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय और स्लाव भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से दोनों ओर की अनेक भाषा-सम्बन्धी गुत्थियां सुलझेंगी। संस्कृत की अनेक धातुएं, प्रत्यय, उपसर्ग, मूल शब्द आज भी उन भाषाओं में व्यवहृत होते हैं। यह तथ्य इस धारणा को फिर पुष्ट करता है कि एक समय संस्कृत यहां किन्हीं क्षेत्रों में बोलचाल की भाषा थी।

जिन तर्कों से यह सिद्ध होता है कि ग्रीक, लैटिन, जर्मन और स्लाव एक ही परिवार की भाषाएं नहीं हैं, वरन् उनके स्वतंत्र परिवार हैं, उन्हीं से यह भी सिद्ध होता है कि संस्कृत भारत-यूरोपीय परिवार की भाषा नहीं है, वरन् उसका अपना स्वतंत्र परिवार है। संस्कृत भारत-यूरोपीय परिवार की भाषा है — इस स्थापना का आधार यह मान्यता है कि संस्कृत तथा यूरोप की कुछ प्राचीन और नवीन भाषाओं में अनेक समानताएं हैं, आर्य यूरोप से या मध्य एसिया से भारत में आये, यहां उन्होंने द्रविड़ों और निषादों को जीत लिया और उन पर अपनी भाषा थोप दी, इस सिलसिले में उनकी मूल भाषा काफी परिवर्तित हो गयी और उसका यह नया रूप हमें वैदिक और लौकिक संस्कृत में देखने को मिलता है। यदि थोड़ी देर के लिए मान लें

कि ये मान्यताएं तर्कसंगत हैं, तो भी उनसे यह सिद्ध न होगा कि संस्कृत भारत-यूरोपीय परिवार की भाषा है। उनसे इतना ही सिद्ध होगा कि संस्कृत और यूरोप की भाषाओं में कुछ समानताएं हैं, इन समानताओं का कारण मूल संस्कृत भाषा (या परिवार) पर यूरोपीय (या बाह्य) भाषा (या भाषाओं) का प्रभाव है। संस्कृत की अधिकांश धातुएं, उनके मूल शब्द-भंडार का सर्वाधिक भाग यूरोपीय क्षेत्र से बाहर का है। जहां तक द्रविड़ भाषाओं के प्रभाव की बात है, उस प्रभाव से संस्कृत 'यूरोपीय' नहीं हो जाती। इसके सिवा द्रविड़ भाषाओं और संस्कृत के मूल शब्द-भंडार अलग-अलग हैं, जो शब्द सामान्य हैं, वे सहज सांस्कृतिक विनिमय का परिणाम हैं, उनसे दो भाषा-परिवारों का सम्मिश्रण बिल्कुल सिद्ध नहीं होता। इस निष्कर्ष से बच निकलना असंभव है कि संस्कृत के मूल तत्व उत्तर भारत की उन भाषाओं से निर्मित हुए हैं जिनका सम्बंध न द्रविड़ परिवार से है, न यूरोप की भाषाओं से। यह स्थापना कि संस्कृत भारत-यूरोपीय भाषा है और उसका वैदिक-लौकिक रूप यूरोपीय आर्यों और भारतीय द्रविड़ों (या निषादों) के सम्मिश्रण का परिणाम है, उतनी ही निराधार है जितनी यह स्थापना कि संसार की तमाम भाषाएं हिब्रू या संस्कृत से निकली हैं।

मान लीजिए द्यौ या दिव रूप ग्रीक ज़ेउस का अपभ्रंश है, युपिटर में द्यु की मूल ध्वनि वर्तमान है, ज़ेउस और युपिटर आकाश के देवता हैं, इसलिए द्यु, द्यौ, दिव भारत-यूरोपीय शब्द हुए। किन्तु आकाश ? भारतीय भाषाओं का प्रचलित शब्द आकाश किस परिवार का है ? ख, गगन, अन्तरिक्ष आदि शब्दों को हम छोड़ देते हैं। द्यु, देव, देवता को यूरोपीय मान लें तो भी सुर बच रहते हैं और भगवान का भग स्लाव हो तो भी 'ईश्वर' को यूरोप में कहां जगह मिलेगी ? लैटिन के नूबीस (बादल) को नभ का मूल यूरोपीय मान लेते हैं और उसका अर्थ भी बादल रहा होगा, यह मान लेते हैं, बादल के लिए रूसी अब्लाको हमारे अभ्र का पूर्वज है, यह भी मान लिया। लेकिन हमारा प्रचलित शब्द मेघ किस अभारतीय परिवार का है ? यदि यह मान लें कि सोल या हिलिओस या सोलन्त्से से सूर या सूर्य शब्द बना है, तो भी 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' के सविता का क्या होगा ? अर्क को किसी निषाद भाषा का मान लें तो भी आदित्य, रवि आदि सूर्योपासक भारतीयों के इतने शब्द हैं (विशेषण नहीं) कि उन्हें यूरोपीय से स्वतंत्र भारतीय परिवार के अपने शब्द मानना ही होगा। चन्द्र के लिए यूरोप की भाषाओं में भिन्न-भिन्न शब्द हैं, यह हम देख चुके हैं। 'लूना' से हमारे चन्द्र का कोई सम्बंध नहीं है। किरण और अंशु रश् से सम्बंधित लैटिन लुक्स, रूसी लुच् से स्वतंत्र हैं। नक्षत्र नक्त और स्तर से बना; मान लें कि नक्त यूरोपीय है और 'स्तार'

से आई तारे और सितारे भी यूरोपीय हैं, किन्तु 'उडुगण केशवदास' के उडु तो यूरोप के नहीं हैं ? और नक्त और निशा यूरोपीय लेकिन रात्रि ? दिन और दिवस यूरोपीय लेकिन मध्याह्न और अपराह्न का प्रहर ? उषा यूरोपीय लेकिन प्रात., प्रभात, सन्ध्या ? अयन लैटिन अन्नुस से बना, लेकिन वर्ष, वत्सर, संवत्सर, अब्द ? धरा को लैटिन 'तेरा' ने ले लिया और ज्या को ग्रीक 'गी' ने, दो प्रचलित शब्द और रहे भूमि और पृथ्वी । उद का पूर्व रूप लैटिन उन्दा (उद रूप लैटिन ऊदुस में है जिसका अर्थ है भीगा, अवधी में 'बाद') या रूसी वोद, किन्तु जल — वारि, पानी, नीर को छोड़ भी दें तो ? अग्नि यूरोपीय हो तो वह्नि, पावक, अनल ? वात स्लाव वेतेर का सगा हो तो वायु, पवन, मरुत् ? तम स्लाव त्मा से बना हो तो अन्धकार ? जन लैटिन गेन्स से बना हो और नर को भी स्लाव नरोद से बना मान लें, फिर भी मनुष्य, मानव और पुरुष बच रहे । पुर यूरोपीय पोलिस से बना हो तो नगर भारतीय है। धाम बाहर से आया हो, तो भी गृह हमारा है । जनी स्लाव झेना के कुनबे की हो तो भी स्त्री भारतीय परिवार की सदस्या हुई (महिला, रमणी, वामा, कान्ता आदि का जिक्र नहीं, नारी को भी नरोद—नर से सम्बन्धित जानकर छोड़ देते हैं) । पति की तलाश ग्रीक में हो सकती है, पत्नी भी वहां मिल सकती है, लेकिन वर-वधू तो यहीं के हैं । इसी प्रकार दुहिता के साथ कन्या, युवा के साथ तरुण, स्थविर (रूसी स्तारिइ) के साथ वृद्ध, माता के साथ जननी, स्वसा के साथ भगिनी, पिता के साथ तात और जनक, सूनु के साथ पुत्र, भ्राता के साथ बन्धु, कपाल (ग्रीक केफाली) के साथ सिर, अक्ष के साथ चक्षु और नेत्र, पाद के साथ चरण, जीव के साथ प्राणी, दन्त के साथ दशन, अश्व के साथ हय, सर्प के साथ अहि, गो के साथ धेनु, श्वान के साथ कुक्कुर, वृक के साथ कोक (भेड़िया) — इस प्रकार प्राय. सभी 'भारत-यूरोपीय' शब्दों के भारतीय पर्याय दिये जा सकते हैं ।

धातुओं में अद् के साथ खाद् और भुज् (अन्न के साथ खाना और भोजन देने वाली), घस्, भक्ष् और अश्, पी के साथ चम्, गम् (या गद्) और 'इ' (एति) के साथ 'या' (याति), पद्, ऋ (ऋच्छति), चर् और चल्; सद् के साथ आस् (बैठना), पश् (स्पश्) और दृश् के साथ ईक्ष्, चक्ष्; लुभ् के साथ कम् (काम और कामायनी वाला कम्), सस् और स्वप् के साथ द्रा और निद्रा, स्वन् और ध्वन् के साथ घुष् और नद्, प्रछ् (स्प्रश्) के साथ याच्; दा के साथ रा (वयं ते अद्य ररिमा हि काममम्, ऋग्वेद ३-१४-५), रुच् के साथ भ्राज्, काश्; स्तु के साथ ऋच्, शस्, स्तुभ्, पत् के साथ त्रस्; अस् और भू के साथ वृत्, ज्वल् के साथ दह् — इसी तरह अन्य 'भारत-यूरोपीय' धातुओं के 'भारतीय' पर्याय मिल सकते हैं । इनके अलावा संस्कृत

की कृ, कृप, कप, कृन्त (काटना), चर्, दृश्, धृ, कृ, वा, वह्, जि, तृ, स्तृ, धा, दम्, दुह्, वद, हन् वम्, ली म्ला, मह्, आदि अपनी धातुओं का प्रभाव स्पष्ट है। ये धातुएँ ऐसी हैं जिनका व्यवहार जन-साधारण करते थे, उनमें से बहुतों का हिन्दी में अब भी व्यवहार होता है। ये सब उत्तर भारत की अपनी सम्पत्ति प्रमाणित है।

सम्बन्ध-सूचक शब्दों में प्रति (ग्रीक प्रोति), परि (ग्रीक पेरि), अपि (ग्रीक एपि), अन्तर (लैटिन इन्तेर) आदि को 'भारत-यूरोपीय' मान लें, तो भी पुरः, अति, अनु, उप, अधि, अधः, पर, परितः, साकम् आदि बहुत से 'भारतीय' शब्द बच रहते हैं। इसी प्रकार सर्वनामों में स, अस्मद्, युष्मद्, एतद्, किम् आदि को 'भारत-यूरोपीय' मानें, तो भी अदस् (असौ, अमू), यद्, एनद्, इदम् (अयम्, इमे), अन्य, स्वं आदि अनेक सर्वनाम बच रहते हैं।

भारत-यूरोपीय परिवार की कल्पना का समर्थन करने वाले विद्वान् यह आवश्यक नहीं समझते कि इस परिवार की सभी भाषाओं में कोई शब्द हो, तब वह भारत-यूरोपीय कहलाये। लैटिन और जर्मन परिवारों का सामान्य शब्द न हो, लैटिन-ग्रीक का ही हो, तब भी वह भारत-यूरोपीय है। स्लाव-संस्कृत का सामान्य शब्द न हो, संस्कृत-जर्मन का सामान्य शब्द हो, तो भी वह भारत-यूरोपीय है। इस तरह की विच्छिन्न समानता के आधार पर उन्होंने एक अविच्छिन्न आदि-परिवार की कल्पना की है। इस तरह की विच्छिन्न (और विभिन्न भाषाओं के लिए विषम) समानता को आधार मान भी लिया जाय, तो भी इस भारत-यूरोपीय परिवार की प्राचीन और नवीन भाषाओं में परस्पर इतना भेद है कि उन्हें एक परिवार की भाषा किसी भी नियम से नहीं माना जा सकता। उनकी ध्वनि-प्रकृति में भेद है। मान लिया कि एक भाषा की बोलियों में भी उतना भेद हो सकता है। उनके व्याकरण में — भाषाओं की भाव-प्रकृति में — भेद है। मान लिया कि ये भेद अन्य भाषाओं के सम्पर्क से या स्वतः विकास-प्रक्रिया से उत्पन्न हो गये हैं, आरंभ में आदि भाषा या आदि भाषा-परिवार का व्याकरण बहुत कुछ एक-सा रहा होगा। फिर भी बच रहा शब्द-भंडार। वाक्य-रचना ठीक न हो, सम्बंध-सूचक शब्द उड़ा दिये जायें, वचन और लिंग का ध्यान न रखा जाय, कारक, विभक्ति-चिह्न आदि को भी भुलाकर कुछ शब्द कह दिये जायें — जैसे हम सवेरा खाना — तो सुननेवाला कुछ-न-कुछ आशय समझ लेगा (कहनेवाले को सवेरे खाना चाहिए)। किन्तु यदि व्याकरण दुरुस्त है और मूल शब्द-भंडार बदल गया है, तो एकाध क्रियार्थक या सम्बंध-सूचक शब्द को छोड़ कर पल्ले कुछ न पड़ेगा। जैसे :

जबत कि मदके तमाशा कुनूं मलामत है।
फुलासो बसे मिशा संमिए मलामत है॥

इस शेर में 'है' मूल भाषा का अकेला शब्द है, बाकी में साधारण हिन्दी-भाषी की समझ में तमाशा ही आयेगा। भाषा का रूप स्थिर करने में मूल शब्द-भंडार की नियामक भूमिका है। इस मूल शब्द-भंडार में हम उन शब्दों को नहीं लेते जिनका विशेष सम्बंध पढ़े-लिखे शिष्ट जनों या उनकी दार्शनिक, साहित्यिक या वैज्ञानिक चर्चा से है। मूल शब्द-भंडार में हम उन शब्दों को लेते हैं जिनके बिना साधारण जनों का काम नहीं चलता। इनमें भी धातुओं का विशेष महत्त्व है क्योंकि भाषाओं का इतिहास बतलाता है कि बाह्य प्रभावों से जब देशी शब्दों का स्थान विदेशी शब्द ले लेते हैं, तब भी क्रियाओं में कम से कम परिवर्तन होता है। इसके सिवा वाक्य रचना, व्याकरण की अन्य विशेषताओं की छानबीन करके हम भाषाओं का वर्गीकरण करते हुए उन्हें किसी परिवार का मान सकते हैं।

यदि यह मान भी लें कि संस्कृत-जर्मन, संस्कृत-लैटिन, संस्कृत-ग्रीक, संस्कृत-स्लाव आदि में जितने सामान्य तत्व हैं, वे एक समय में या समय-समय पर, यूरोप या भारत के बाहर कहीं अन्यत्र से, इस देश में आते रहे हैं, तो भी संस्कृत के मूल शब्द-भंडार का इतना विशाल भाग इन समानताओं से अछूता रहता है कि उसे उत्तर भारत की देशज सम्पत्ति माने बिना कोई चारा नहीं। उसे द्रविड़ परिवार की देन इसलिए नहीं मान सकते कि दाक्षिणात्य बंधुओं का मूल शब्द-भंडार उत्तर-भारतीय शब्द भंडार से भिन्न है, विशेष रूप से क्रियाओं में उतनी भी समानता नहीं है जितनी संस्कृत और सुदूर स्लाव भाषाओं में। किन्तु यह मानने पर कि संस्कृत और यूरोपीय भाषाओं के सामान्य तत्व यूरोपीय भाषाओं की देन हैं या उनके मूल रूप लैटिन में सुरक्षित हैं या संस्कृत में वोल्गातटवासी स्लावों और उत्तर भारतीय द्रविड़ों की शब्दावली का सम्मिश्रण हुआ है, हमारे सामने अनेक दुर्लंघ्य कठिनाइयाँ आ खड़ी होती हैं। रकारबहुला ग्रीक और लैटिन में अनेक शब्द लकारयुक्त क्यों हैं जिनके रकार-युक्त रूप संस्कृत में मिलते हैं (जब कि संस्कृत में लकार-प्रेम ग्रीक-लैटिन के के रकार-प्रेम से कम नहीं है) ? यूरोप की अनेक भाषाओं में ऐसे हकारयुक्त शब्द क्यों मिलते हैं जिनके संस्कृत रूपों में श है (जब कि जर्मन अथवा स्लाव भाषाओं को शकार से जरा भी द्वेष नहीं है) ? लैटिन के जिन शब्दों में 'क' ध्वनि है, उनके संस्कृत रूपों में कहीं क, कहीं च (अश्व, पंच) क्यों दिखाई देता है (जब कि संस्कृत शकार-प्रेम में किसी से पीछे नहीं है) ?

ध्वनि सम्बंधी कठिनाइयों के अलावा भाव-प्रकृति सम्बंधी कठिनाइयाँ हैं। संख्या-वाचक शब्दों में यूरोपीय भाषाएं ग्यारह से उन्नीस तक (कहीं उन्नीस से

[illegible] की [illegible]) [illegible] [illegible] का [illegible] करती है और बीस के [illegible] है, जब कि संस्कृत और हिन्दी [illegible] है [illegible] तक है [illegible] को [illegible] [illegible] है ? यदि [illegible] [illegible]-चिह्न युक्त शब्द के अन्त में रखना [illegible] की प्रकृति है, तो वे संकेत-वाचक शब्दों को — प्राचीन [illegible] ग्रीक और लैटिन को और इनसे निकटतम सम्बन्धित सारी भाषाएं भी — गुण शब्द के पहले क्यों रखती हैं ? कर्त्ता को क्रिया के पहले रखना यदि ग्रीक-लैटिन की स्वतंत्र प्रवृत्ति है, तो यह प्रवृत्ति उनसे सम्बन्धित अन्य भाषाओं में क्यों नहीं दिखाई देती ? यदि ये प्रश्न निरर्थक हैं तो संसार की कोई भी भाषा किसी भी अन्य भाषा की मां, बेटी या बहन इच्छानुसार साबित की जा सकती है। हिन्दी लेखक श्री त्रिलोचन शास्त्री कहते थे कि उणादि सूत्रों से सिद्ध किया जा सकता है कि मियां शब्द मान् धातु से बना है। इस पर उन्होंने एक मार्मिक पद भी सुनाया था

उणादिगण से सिद्ध कर लिया मियां बोलना हुलुक।
मान् धातु से खूब बनाया मियां मुसल्ला मुलुक॥

अलीगढ़ के एक विलक्षण विद्वान् के बारे में सुना था कि वे सिद्ध करते हैं कि अंग्रेजी भाषा उर्दू से निकली है। जैसे 'स्टिक' इस+टिक, इस जगह टिका दो, स्टिक। 'डेकोरेशन', देखो+रे+शान, ध्वनि-भेद से डेकोरेशन। इसी तरह हम जापान को जयप्राग का अपभ्रंश मान लेते हैं। जो लोग भाषा-शास्त्र को विज्ञान मानते हैं, वे यदि इन उदाहरणों पर हंसें, तो हम उनसे जरूर पूछेंगे, पेंटे का 'क' तो पश्च में च हो गया और एकुउस का 'क' अश्व में 'श' हो गया, सत्कृत की इस भेद-वृत्ति का कारण क्या है ?

भाषा की भाव-प्रकृति और मूल शब्द-भंडार की समस्याओं पर वैज्ञानिकों ने कम ध्यान दिया है। यही कारण है कि आदि पुरुष (प्रजापति या पूर्वज) के समान आदि भाषा और पितृ-सत्ताक परिवार की तरह भाषा-परिवार की कल्पना से वे इतने आकृष्ट हुए कि भाषाओं के भेद की ओर उन्होंने कम ध्यान दिया। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान को इस बात का पूरा श्रेय मिलना चाहिए कि पहले असम्बंधित सी दिखनेवाली भाषाओं के अराजक संसार में उसने समानताएं, और ध्वनि-परिवर्तन के नियम निश्चित करके व्यवस्था उत्पन्न की। इस बात का श्रेय स्तालिन को है कि अपने भाषा-सम्बंधी निबंध में उन्होंने भाषा की पहचान (वर्गीकरण आदि) के लिए व्याकरण और मूल शब्द-भंडार को कसौटी के रूप में प्रस्तुत किया।

एशियाई भाषाओं का प्रभाव यूरोपीय भाषाओं पर पड़ा है, इस बात को अस्वीकार करने में आदि भारत-यूरोपीय भाषा-भाषी समुदाय के निवास स्थान

की कल्पना सहायता करती है। पहले यह माना कि भारत-यूरोपीय भाषाओं की जननी एक आदि भाषा थी, फिर माना कि इसके बोलने वालों का निवास कहीं यूरोप में था। फिर इस स्थापना के लिए तुलनात्मक भाषा-विज्ञान से प्रमाण दिये। उदाहरण के लिए, ब्लूमफील्ड ने 'स्नो' (बर्फ) शब्द लिया है। उनके अनुसार यह शब्द यूरोपीय भाषाओं में विभिन्न रूपों में मिलता है, किन्तु भारतीय भाषाओं में नहीं है, इसलिए आदि भारत-यूरोपीय समुदाय का निवास भारत में था — इसकी कोई सम्भावना नही रहती। ग्रीक निफास, निंग, लैटिन निवम, निविस, जर्मन श्ने, रूसी स्नेग आदि एक ही शब्द के भिन्न रूप माने जाते हैं। ग्रीक और लैटिन में जर्मन श और रूसी स किसी कारण लुप्त हो गया है। लेकिन ग्रीक शब्द में 'फ'-ध्वनि कहां से आयी? संस्कृत पिता के समकक्ष जर्मन फाटेर को देखकर विद्वानों ने यह धारणा बनायी कि जहां संस्कृत में 'प' होगा, वहां जर्मन समूह की भाषाओं में 'फ' होगा। ग्रीक में पिता का समकक्ष 'पतिर' है, इसलिए उसमें 'प' के समानान्तर 'फ' न मिलेगा। किन्तु संस्कृत कपाल के समकक्ष ग्रीक 'केफालो' है। जर्मन के समान ही यहां 'फ' ने 'प' का स्थान लिया है। इस तरह का नियम बनाना असम्भव है कि जहां संस्कृत में 'प' होगा, वहां ग्रीक शब्दों में 'प' ही होगा, या जर्मन में 'फ' ही होगा। कारण यह कि प्रत्येक भाषा अपने विकास-क्रम में भिन्न भाषाओं से अनेक प्रकार के — कभी-कभी परस्पर विरोधी — तत्व लेती है। इनमें ध्वनि-तत्व भी शामिल है। संस्कृत में प्रच्छति और प्रश्न में एक ही धातु से सम्बधित छ और श की भिन्न ध्वनियां मौजूद हैं। इसीलिए संस्कृत 'प' के लिए ग्रीक पतिर में 'प' है तो 'केफालो' में 'फ' है।

ग्रीक 'निफास' में श या स का लोप नहीं हुआ, न 'फ' का आगम हुआ है। 'निफास' का मूल रूप है 'निपात'। निपात का 'त' निफास के 'स' में वैसे ही परिवर्तित हुआ जैसे संस्कृत 'पति' ग्रीक 'पोसिस' बना। पोसिस पति का ही ग्रीक रूप है, इसका प्रमाण ग्रीक 'पोतनिआ' है जिसका पत्नी से सम्बध असंदिग्ध है। इस प्रकार निपात से निफास बना। उसका स्नो या श्ने से इतना ही सम्बंध है कि दोनों में 'न' है। इस रीति से संस्कृत 'स्नव' (स्नु, बूंद-बूंद कर गिरना) 'स्नो' के अधिक निकट है। स्नव का अर्थ बर्फ नहीं है लेकिन जर्मन 'श्ने' (क्रिया — श्नाइयेन) में गिरने का भाव अभी भी निहित है। 'एर इस्ट उन्ज इन्स हाउस गेश्नाइट' का अर्थ है: वह हमारे घर मानो आसमान से टपक पड़ा। जो 'गिरे' वह 'स्नो' या 'श्ने'। इसी कारण ग्रीक 'निफास' का विशिष्ट अर्थ है गिरती हुई बर्फ। जो बर्फ गिर चुकी है, उसके लिए दूसरा शब्द है 'खिओन'। बर्फ के गिरने की क्रिया देखकर उसे निपात-निफास नाम दिया गया है। उसके लिए वास्तविक शब्द है 'खिओन'।

इस दूसरे शब्द का सम्बन्ध संस्कृत हिम से है। शीतकाल के लिए ग्रीक शब्द हैं 'सेइमा', 'गेइमोन'। लैटिन में शीतकाल के लिए इसीका प्रतिरूप है 'हिएम्स', 'हिएम्स' (हिएमालिस — शिशिरकालीन) जिसका सम्बन्ध संस्कृत हिम से और भी स्पष्ट है। रूसी में शिशिर के लिए हिम का समकक्ष 'जिमा' है।

यदि ब्लूमफील्ड का यह तर्क मान लिया जाय कि भारतीय भाषाओं में 'स्नो' का समकक्ष शब्द नहीं है, इसलिए आदि भारत-यूरोपीय भाषा-भाषी समुदाय का निवास भारत में न हो सकता था, तो उसी तर्क से यह भी स्वीकार करना चाहिए कि हिम शब्द भारतीय भाषाओं में भी है, दक्षिणी और पूर्वी यूरोप की भाषाओं में भी — इसके अलावा हिमाच्छादित, संसार का उच्चतम और विशालतम पर्वत, पृथ्वी का मानदंड नगाधिराज हिमालय भारत में ही है — इसलिए आदि भारत-यूरोपीय समाज का मूल निवास स्थान भारत में ही होना चाहिए!

यूरोप में 'आर्यों' का आदि निवास स्थान माननेवालों के सामने अनेक कठिनाइयाँ हैं जिनमें से कुछ का वे उल्लेख करते हैं और कुछ का उन्हें आभास नहीं है। एक कठिनाई ईरानी अवेस्ता के सम्बन्ध में है। अवेस्ता और वेदों की भाषा और संस्कृति की समानता देख कर कुछ यूरोपीय विद्वानों ने यह मत प्रकट किया था कि अवेस्ता के देवताओं का स्रोत भारत है। यह धारणा सही थी। पश्चिम की भाषाओं पर संस्कृत-परिवार का जो प्रभाव देखा गया है, उससे यह स्थापना पुष्ट होती है। किन्तु कुछ विद्वानों के मत से भारत लेनेवाला रहा, देनेवाला नहीं। उसमें बाहर से लोग आये, वहाँ से बाहर नहीं गये। इसलिए ईरान पर भारतीय भाषा या संस्कृति का प्रभाव पड़ ही न सकता था। पुरातत्वज्ञ गोर्डन चाइल्ड ने १९२६ में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'एरियन्स' में लिखा था कि ईरान में यदि आर्य सभ्यता का प्रसार भारत से आने वालों ने किया हो, तो उनका समूह काफी बड़ा रहा होगा। लेकिन गोर्डन चाइल्ड को इतने बड़े पैमाने पर भारत से बाहर जाने वाले समुदायों का कोई प्रमाण नहीं मिला। "ऐतिहासिक काल में साधारणतः बाहर के ही लोग भारत आते रहे हैं।" (पृष्ठ ३२)। यद्यपि बात प्रागैतिहासिक काल की है, फिर भी ऐतिहासिक काल के तथ्यों पर आधारित धारणाएँ लेखक को उस समय की घटनाओं को भी इन्हीं बाद के तथ्यों के अनुकूल देखने पर विवश करती है (यद्यपि यह भी सही नहीं है कि ऐतिहासिक काल में भारत से काफी बड़े समूह देश से बाहर नहीं गये)। दूसरा तर्क यह है कि "जिस समय की चर्चा हो रही है, उस समय आर्यों के लिए अपने उपनिवेश बनाने को सारा दक्षिण भारत पड़ा हुआ था। फिर वे अफगानिस्तान के दर्रों को लाँघने क्यों जाते और ईरान के बंजर पठारों पर क्यों घूमते?" इस तर्क में आर्यों को एक विजेता जाति माना गया है,

ईरान की भौगोलिक दशा ग्राज के समान ही प्राचीन काल की भी मानी गयी
है। दोनों बातें मान भी लें, तो इसी तर्क से प्रश्न किया जा सकता है कि
दक्षिण भारत को जीते बिना ही अकबर कश्मीर और कन्दहार में युद्ध करने
क्यों गया था ?

ईरान जैसी कठिनाई बोगाजकोई वाले मितन्नी देवताओं के सम्बंध में
है। जैकोबी, पार्जिटर, कोनाउ ग्रादि का मत था कि मितन्नी देवताओं के
नाम वैदिक हैं और हित्ती-संस्कृत समानता का कारण यह है कि उत्तर भारत
से लोग मेसोपोटामिया में ग्राकर बसे थे। यही नहीं, तेल-एल-ग्रमर्ना के ग्रभि-
लेखों से—गोर्डन चाइल्ड के ग्रनुसार—पता चलता है कि ग्रार्य राजा
सीरिया और फिलिस्तीन में भी थे। यहां बिरिदश्व (बृहदश्व), सुवरदत
(ईश्वरदत्त), यशदत (यशदत्त) जैसे नाम मिलते हैं। इन्हें चाइल्ड ने किसी
भी ग्रार्य भाषा के प्राचीनतम उदाहरण माना है (इससे बृहद् का मूल रूप
बिरिद हुग्रा ! ग्रश्व के मूल रूप एकुग्रस से तो बचे !)। केन्तुम् भाषाग्रों से इन
रूपों का कोई सम्बंध नहीं है। चाइल्ड के ग्रनुसार ये शब्द लगभग शुद्ध भार-
तीय जैसे हैं।

चेक विद्वान् ह्रौज्नी भारत-यूरोपीयों का ग्रादि निवास स्थान यूरोप में
मानते हैं। किन्तु उन्होंने पूर्व से पश्चिम की ग्रोर—भारतीय सीमान्त से ईरान,
इराक, तुर्की, फिलिस्तीन होते हुए मिस्र तक—सांस्कृतिक प्रवाह के कु
दिलचस्प तथ्य दिये हैं। उनके ग्रनुसार संसार में प्राचीनतम लिपि बैबिलोनिय
की है और सम्भवतः उसका प्रभाव मिस्र की लिपि पर भी पड़ा है। सुमेरिय
जनों ने कीलाक्षर लिपि का ग्राविष्कार किया और उनसे बैबिलोनिया के श
जनों और ग्रक्कदियों ने लेखन-कला सीखी। सुमेरियन जनों का एक प्र
उत्तर-पश्चिम से ग्राया और इस उत्तर-पश्चिम में सुवीर या सुबर प्रदेश
था। यह नाम परिवर्तित होकर सुबुर या सुमेर बन सकता है।[1] एक प्रा
सुमेर-ग्रक्कदी राजा का नाम बलिह था।

सौवीर, सुमेर, बलि ग्रादि नाम भारतीय भाषाग्रों के चिरपरि
शब्द हैं।

इसके बाद ह्रौज्नी ने लिखा है कि बैबिलोन के कला-कौशल का
प्राचीन मिस्र पर पड़ा था। कुम्हार का चक्र भी मिस्र में बैबिलोन
पश्चिमी एशिया से ग्राया था। कुदाल के लिए मिस्री शब्द 'मर' सु
भाषा का है और यही शब्द सामी तथा यूरोपीय भाषाग्रों में पहुंचा—
मरोंन, लैटिन मर्रा, फ्रेंच मार (marre)। (भारत के निकटवर्ती प्र

---

[1] ह्रौज्नी, पृष्ठ

[illegible] द्वीप के बीच [illegible] रखते हैं [illegible] एक [illegible] मिलता है।) हल के लिए सुमेरियन [illegible] अक्कादी [illegible], मिस्री में हेनी है। शराब के लिए अक्कादी शिकरु, मिस्री में [illegible] है (जिसका सम्बन्ध भारतीय मधु से हो सकता है)। बढ़ई के लिए सुमेरियन [illegible], अक्कादी नग्गर, मिस्री नजर और इसी का एक रूप [illegible] होता हुआ [illegible] के भी प्रचलित था। इस प्रकार पूर्व के [illegible] सुदूर पश्चिम की ओर धावा मारते रहे।

कश्मीर के कश् जनों का उल्लेख पहले हो चुका है। ह्रौज्नी के अनुसार ईसापूर्व द्वितीय सहस्राब्दी में कस या कस जाति के लोगों ने पांच सौ वर्षों तक राज्य किया था। हैलेनिक जातियों में भी कुश, कुशु या कशि नाम के लोग थे। ग्रीक भाषा के कॉस्साइओइ, किस्सिओइ इन्हीं कश जनों के द्योतक शब्द हैं। कास्पियन सागर के तट पर रहनेवाले कस्पिओइ भी यही थे। इनका एक भाग — ह्रौज्नी के मत से — भारत के उत्तर में काफिरिस्तान आया और उसने हिन्दुकुश नाम के पहाड को यह नाम दिया जिसका अर्थ है कुश-हिन्दुओं का प्रदेश। गिलगित के आसपास कस्पियों की पूर्वी शाखा के वृद्ध लोग बचे हुए हैं। कौकासोस (कौकेशस पर्वत) का अर्थ भी सम्भवतः कसी धातुओं का प्रदेश था। यूनानी लोग इस पर्वत को कस्पियोस ही कहते थे। हित्तियों की राजधानी का नाम था कुश्-शार, कुस्सर। तोखारी आक्रमक कृपाण और कच्छ प्रदेश भी इसी नाम से सम्बधित हैं। कजाक शब्द इसी कस का आत्मज है।

ह्रौज्नी ने कस-सम्बधी अपनी उपर्युक्त स्थापना से यह मत पुष्ट किया है कि कौकेशस और कैस्पियन सागर के निकटवर्ती प्रदेशों से विभिन्न जन इधर-उधर बिखरे। ह्रौज्नी ने कश्मीर, भारतीय पौराणिक गाथाओं के कश्यप और प्रसिद्ध नगर काशी का उल्लेख नहीं किया।

सुमेरियन अरतु, अक्कादी अरल्लू पर्वतमाला का नाम है। रूस के पूर्वी सीमान्त पर उराल पर्वत और अरल सागर भी इसी से सम्बद्ध हैं। (भारतीय अरावली पर्वत का नाम भी उल्लेखनीय है।) सुमेरियन अन आकाश का देवता है; अक्कादी में अनु है। (भारतीय हनु+मान भी पवन पुत्र हैं।) सुमेरियन 'गु' गोवाचक शब्द है जो मिस्री शब्द 'का' बना। ह्रौज्नी ने चीनी और तिब्बत-बर्मी परिवारों में भी इसका अस्तित्व स्वीकार किया है। अन्य विद्वानों के समान वे भी इसका मूलरूप भारतीय 'गो' नहीं मानते। सुमेरियन उरुदु, लैटिन रदुम, स्लाव रुदा धातु (या तांबे) के लिए प्रयुक्त शब्द हैं। (इन्ही से सम्बधित है भारतीय लोह।) बेबिलोन के समुद्री देवता 'अप्सु' को जल-देवता 'एआ' ने परास्त किया। (यह 'अप्सु' भारतीय अप् का सम्बंधी है।)

अश्व के सम्बंध में ह्रौज्नी की स्थापना स्पष्ट और महत्वपूर्ण है। उनका

हौल्ली के अनुमार मानव-जाति का अभ्युदय मध्य एसिया मे हुआ और समय-समय पर यहा के जन मिस्र और अफ्रीका पहुचते रहे। "मालूम होता है कि मध्य एसिया मानव जाति का अभ्युदय केन्द्र था जहा हिम-युग के पश्चात् धरती के सूखने पर और पुरानी निवासभूमि मे आबादी बढने पर कुछ जातियो को बाहर जाना पडा। ये जातियां एक के बाद एक विभिन्न दिशाओं मे कम आबाद और जलवायु की दृष्टि मे अधिक अनुकूल प्रदेशो मे गयी। हिमालय की उपत्यकाओ मे शायद सर्वप्रथम नीग्रो जन अफ्रीका गये। उनके पीछे शीघ्र ही नीग्रोयड जन और उनके बाद हैमिटिक जन बाहर गये। निस्सन्देह अफ्रीकी हैमिटक जनो — जिनमे प्राचीन मिस्री भी शामिल हैं — और एसियाई शामी जनो मे नस्ल और भाषा का निकट सम्बध था। हैमिटिक-शामी और भारत-यूरोपीय भाषाओ मे परस्पर सम्बध सभव है यद्यपि यह दूर का सम्बध है; इस सम्बध के कारण हैमिटिक-शामी जनो की आदि निवास भूमि भारत-यूरोपियो की निवास भूमि — जो सभवत काले सागर और कोकेशस के उत्तर मे थी — से बहुत दूर नही हो सकती, इसलिए यह अनुमान किया जा सकता है कि हैमिटिक जन भी उसी प्रदेश से मिस्र मे आये थे। मिस्र के हैमिटिक जनो के प्राचीनतम लाल और काले मृत्तिका पात्र लघु एसिया (वर्तमान तुर्की) और काकेशस प्रदेश के काले और लाल मृत्तिका पात्रो की याद दिलाते हैं और उनसे पता चलता है कि कहा से और किस दिशा मे प्राचीन हैमिटिक जन एसिया मे घूमते हुए मिस्र पहुचे थे। कुल मिला कर यह वही दिशा है जिससे ईसा पूर्व चतुर्थ सहस्राब्दी मे सुमेर-अक्कदी सभ्यता से प्रभावित होने वाले शामी जन सीरिया और फिलिस्तीन से मिस्र गये थे।" (पृष्ठ ४८)। यह उद्धरण उन लोगो के लिए प्रस्तुत है जो समझते है कि संस्कृत का जन्म प्राचीन मिस्री भाषा से हुआ था। गोर्डन चाइल्ड का कहना था कि बाहर से ही लोग भारत आते रहे थे हौल्ली के तथ्यो से पता चलेगा कि भारत से भी लोग बाहर गये थे और मध्य एसिया से अनेक जातिया मध्य पूर्व और अफ्रीका की ओर गयी थी।

सिन्धु घाटी की सभ्यता से मध्य-पूर्व के शामी जनो का सम्बध था। यूरोपीय विद्वानो के मत से ईसा से डेढ-दो हजार साल पहले या जब भी भारत पर वैदिक आर्यो का आक्रमण हुआ हो, उससे कई हजार साल पहले से ही भारत और मध्य-पूर्व का सम्बध बना हुआ था। इस धारणा को स्वीकार करने मे हौल्ली को कठिनाई है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता की जनक "भारत-यूरोपीय सस्कृत-भाषी जाति थी जिसके बारे मे साधारणत अनुमान किया जाता है कि उसने १५००—१२०० ई पू भारत पर आक्रमण किया था।" (पृष्ठ १६७)। यह तो स्पष्ट है कि अगर किसी भारत-यूरोपीय जाति ने उस-

युग समय में इस देश पर आक्रमण किया भी हो तो सिंधु घाटी की स उससे पुरानी होगी। सिंधु घाटी की लिपि पर ह्रोज़नी ने भी काम किया इस विषय पर उन्होंने सबसे पहले १९३९ में अपना लेख प्रकाशित कि था। हंटर और लैंगडन ने इस लिपि से ब्राह्मी का सम्बन्ध स्थापित कि था। कुछ अन्य लोगों ने उसमें तमिल भाषा पढ़ी थी लेकिन उनको स्थाप मान्य नहीं हुई। ह्रोज़नी के अनुसार इसका सम्बन्ध हित्तियों की चित्र (कीलाक्षरी से भिन्न) लिपि से है। मुद्राओं पर उनके अनुसार देवताओं नाम अंकित हैं। एक नाम है न स म, न त म, जिसे ह्रोज़नी ने नटराज रूप माना है। 'कु ए य' शिव है। मुद्रा आंकने के लिए मूल धातु है 'शि इससे शिश, शियत, मुद्रत, शियता आदि रूप बनते हैं और ह्रोज़नी ने हित्ती क्रिया शइ, शियइ (मुद्रित करना) का सम्बन्ध जोड़ा है। ह्रोज़नी सि घाटी के देवताओं को आर्यपूर्व मानते हैं। हित्ती भाषा भारतीय परिवार है, उसके अंश सिंधु घाटी की भाषा में हैं इसलिए सिंधु घाटी की भाषा सस्कृति — ह्रोज़नी के विवरण के अनुसार — हुई भारतीय। वह आर्य या आर्य-पूर्व — यह इन प्रश्नों के उत्तर पर निर्भर है कि आर्य ये कौन थे उन्होंने भारत पर यदि आक्रमण किया था तो कब ?

ह्रोज़नी ने मुद्रांकन के लिए 'शि' धातु का उल्लेख किया और सिंधु घाटी की 'शि' और हित्ती शइ, शिय का परस्पर सम्बन्ध दिखाया। मालूम होता है कि मुद्रांकन के साथ यह हिन्दी-हित्ती धातु यूरोप पहुंची। लैटिन में मुद्रा के लिए 'सिग्नुम' (अंग्रेजी sign) शब्द है। लैटिन सिगिल्ला का अर्थ है छोटी मूर्तियां और मुद्रा। अंग्रेजी में सिगिलेट (sigillate) का अर्थ होता है मुद्रांकित मृत्तिकापात्र। ग्रीक में मुद्रा या मुद्रा के ऊपर अंकन के लिए शब्द है 'सिमा'। भारतीय शब्द 'चिह्न' उस प्राचीन 'शि' धातु से निर्मित रूप हो सकता है (विशेष रूप से यदि श्रेष्ठि को चेट्टी बोलने वाले लोग उस समय उत्तर-भारत में रहे हों तो यह रूप सहज बोधगम्य हो जाता है)। जो भी हो, हित्ती शइ, शिय, यूनानी सिमा और लैटिन सिग्नुम् का सम्बन्ध तो असंदिग्ध है।

ह्रोज़नी का 'कु ए य' पाठ सही हो और वह शिव का ही दूसरा रूप हो, तो उससे सिद्ध होगा कि केन्तुम्-शतम् (दिश्-दिक् की तरह) दोनों शाखाओं के लोग सिन्धु घाटी की सभ्यता में घुल-मिल रहे थे। शकार का पूर्ण बहिष्कार करनेवाली ग्रीक-लैटिन की तुलना में संस्कृत एक ही शब्द के क-श वाले दोनों रूप लेती है जिससे भारत में दो भिन्न ध्वनि-प्रकृतिवाली भाषाओं के मिश्रण का पता चलता है। भारत के उत्तरी सीमान्त की तोखारी भाषा को केन्तुम् भाषा के अन्तर्गत माना गया है। यूरोपीय आर्यों की एसिया-विजय में यह तोखारी भाषा दाल-भात में मूसरचंद बनकर आ खड़ी हुई। गोर्डन चाइल्ड का

मत है कि नॉर्डिक संस्कृति का उद्गम जो भी हो, उसका प्रसार ढाई हजार से एक हजार सन् ई. पू. तक यूरोप के प्राचीन इतिहास की मुख्य घटना है। (हडसेन्स, पृ २००)। नॉर्डिक बनेंगे हुई केन्तुम्-भाषी। केन्तुम्-ध्वनियों को विकृत किया एशियाई—विशेषकर भारतीय—स्वरवादियों ने। पश्चिम से पूर्व की ओर इस केन्तुम्-ध्वनिविधान में बाधा उपस्थित की तोखारी भाषा ने। यह बाधा गोर्डन चाइल्ड के शब्दों में इस प्रकार है, "मध्य एशिया में यह केन्तुम भाषा क्यों है, इसकी सबसे आसान व्याख्या यह होगी कि उसे मूल एशियाई आर्य-समुदाय का अन्तिम अवशेष माना जाय। आदिम इतिहास में बहुत बाद के युग में आर्य यूरोप से आकर तुर्किस्तान में घूमते फिरे—यह धारणा स्पष्ट ही दुरूह है।" (पृष्ठ ६५-६६)। वास्तव में यह कठिनाई गढ़ी हुई है। उसका कारण लैटिन ध्वनियों की प्राचीनता में विश्वास है। यद्यपि भारतीय जनों द्वारा अश्वविद्या और रथचालन के प्रसार के अनेक प्रमाण मिलते हैं, फिर भी कुछ विद्वान् एकुउस को ही अश्व का पूर्व रूप बताते हैं। वास्तव में केन्तुम् जैसा यूरोपीय भाषाओं का कोई परिवार नहीं है और यदि लैटिन के आधार पर उसे मान भी लिया जाय, तो तोखारी भाषा शुद्ध केन्तुम् परिवार की भाषा नहीं है। उसमें शत के लिए कन्ते है तो दश के लिए शक (देखिए, चाइल्ड, पृष्ठ ६)। गुणे का तो कहना है कि "वास्तव में तोखारी शत परिवार की भाषा थी। हैमलेट की तरह तोखारी जन निश्चय न कर पाये कि पूरब जायें कि पश्चिम। उनकी भाषा में भारत-आर्य और भारत-यूरोपीय दोनों ही वर्गों की विशेषताएं मिलती हैं।"[1] हां, तोखारी में अश्व के लिए 'यक्वे' है जिसे लैटिन एकुउस का पितामह माना जा सकता है।

चाइल्ड के मत से "आदिम आर्य मूलतः नॉर्डिक नस्ल के थे।" (पृष्ठ १६४)। इस धारणा के समर्थन में भाषा-तत्व का हवाला देते हुए उन्होंने कहा है कि "भारत-यूरोपीय भाषाओं में एक विशुद्धतम भाषा वह है जिसे नॉर्डिक लिथुआनियन आज भी बोलते हैं।" (पृष्ठ १६७)। पता नहीं भाषाओं में अशुद्ध कौन हैं, विशुद्ध कौन सी हैं। लिथुआनियन में वैसे ही भिन्न भाषाओं के तत्वों का समावेश है—जैसे ग्रीक, रूसी या संस्कृत में। लैटिन के समान इसमें पंच के लिए 'पेंकी', चत्वारि के लिए 'केतुरी' जैसे क-ध्वनियुक्त शब्द हैं, किन्तु दश के लिए 'दशिम्त' और शत के लिए 'शिम्तस' शब्द है। रूसी स्लूशात (श्रु) के स को क में बदलकर 'क्लौसिति' क्रिया है, इसी प्रकार संस्कृत अश्मन् लिथुआनी में अक्मुओ (और रूसी में भी कामेन) है। 'पेंकी' जैसे शब्दों में क-वर्ण को मूल ध्वनि मानने में जो कठिनाइयां है, उनका उल्लेख

---

१. ऐन इंट्रोडक्शन टु कम्पैरेटिव फिलोलोजी, पूना, १६५०, परिशिष्ट-२।

पहले हो चुकी है। लिथुआनी में श-ध्वनि भी है और श के स्थान में क-ध्वनि भी (यथा ऊपर का उदाहरण क्लोसिति)। फिर इसे केन्तुम् परिवार की भाषा माना जाय या शत की या दोनो का मिश्रण ? संस्कृत 'जीव' लिथु. गिवस् है, यहा भी मूल ध्वनि 'ज' है। लिथुआनी भाषा की वाक्य-रचना अंग्रेजी की अपेक्षा रूसी में—और फलतः संस्कृत-हिन्दी से—अधिक मिलती है, जैसे 'यिम (वह) मने (मुझे) गेरई (अच्छी तरह) वझीस्त (जानता है)। इसीका रूसी रूपान्तर—'अन मेन्या खरशो ज्नाएत'—अंग्रेजी के 'ही नोज मी वेल' से भिन्न है। अंग्रेजी वाक्य मे कर्म और क्रिया-विशेषण क्रिया के बाद आये हैं, रूसी-लिथुआनियन मे पहले। अन्य यूरोपीय भाषाओ के समान लिथुआनिअन में भी सम्बध-सूचक शब्द मूल शब्द के पहले आते हैं—जैसे 'आगरे में' के लिए 'ई आगरा'। यह पद्धति संस्कृत-हिन्दी से भिन्न है। इसके सर्वनाम और सम्बध-सूचक शब्द कही भारतीय शब्दों से मिलते-जुलते हैं, कहीं भिन्न हैं। संस्कृत स के लिए रूसी अन है किन्तु लिथुआनी का अपना यिस है; संस्कृत सा, रूसी अना के लिए लिथुआनी 'यी', इनका बहुवचन 'यिए' है। किन्तु संस्कृत में 'स' और 'सा' पुरुष वाचक होने के साथ निश्चयार्थक सर्वनाम भी हैं, लिथुआनी मे इनके अनुरूप (संस्कृत तद् से) 'तस्', 'ता' रूप हैं। दिलचस्प बात यह है कि रूसी अन, अना से मिलते हुए 'तस्', 'ता' के पर्यायवाची लिथुआनी शब्द 'अनस्', 'अना' भी हैं। एक ही अर्थवाले दो वर्गों के सर्वनाम भाषाओ के मिश्रण के बिना सम्भव नहीं।

रूसी से लिथुआनी भाषा की तुलना करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि कहीं तो लिथुआनी भारतीय भाषाओं के अधिक निकट है और कहीं रूसी। दोनो का अपना शब्द भडार भी है जो संस्कृत—या भारत-यूरोपीय परिवार—के शब्द-भडार से भिन्न है। संस्कृत 'पिता' रूसी के समान लिथुआनी में भी नही है। उसके बदले रूसी अतेरस (स. तात) से मिलता-जुलता शब्द है 'तेवस्'। माता के लिए उसी के अनुरूप 'मोतीना' है, भ्रात के लिए 'ब्रोलिस' है (यहा रूसी ब्रात् हमारे अधिक निकट है)। दुहिता के लिए रूसी में दोच् है, लिथु. में 'दुक्ते'। रूसी 'सेस्त्रा' से लिथुआनी 'सेसुओ' स्वसा के निकट है। इसी प्रकार रूसी 'सीन' से लिथुआनी 'सूनुस्' स. सूनु के समीप है। रूसी में सप्त के लिए सेम किन्तु लिथुआनी मे सेप्तिनी, रूसी में अष्ट के लिए वोसेम किन्तु लिथुआनी में अश्तुओनी, नव के लिए रूसी देव्यत् के अनुरूप—संस्कृत से भिन्न—देविनी। सूर्य के लिए लैटिन सोल के समान लिथुआनी शब्द है सौले; नभ के लिए रूसी नेबो से भिन्न लिथुआनी का अपना शब्द है दगुस; दिन के लिए रूसी देन् के समान ही दिएना, नक्त के लिए रूसी नोच से अधिक निकट लिथुआनी नक्तिस्, अभ्र के लिए रूसी अब्लको किन्तु लिथुआनी

जीने के लिए रूसी झ़ीत्, लिथुआनी गिवेन्ति; मरने के लिए रूसी उमीरात्, लिथुआनी मिर्ति (मृतक के लिए मिरेस्, और अजीव के समान रूप नेगोवस्); सं. सद्, रूसी सदीत्स्या, सोदेत्, लिथुआनी सोदिन्ति, सेस्ति; स्था रूसी स्तोयात्, लिथुआनी स्तोवेति; स. वेग से सम्बधित रूसी वेगात्, लिथुआनी वेगिमोति— मूल धातु है विज् जिससे वेग शब्द बनता है, रूसी-लिथुआनी आदि भाषाओं मे इस संज्ञा से नई क्रिया बनी; रूसी द्विगानिये (गतिशील, चचल) मे यही विज है, द्विगात् (चलना, चचल होना) क्रिया सस्कृत विज् का ही दूसरा रूप है, गति और आन्दोलन के लिए रूसी शब्द द्विझ़ेनिए मे विज् अपनी मूल ध्वनि के अधिक निकट वर्तमान है, लिथुआनी मे द्विगात् के लिए यूदिन्ति, द्विझ़ेनिये के लिए युदेसिमस् शब्द हैं; प्रश्, प्रच्छ् के लिए रूसी प्रोसीत् के समान लिथुआनी प्रशीति; पत् के अनुरूप रूसी में तो वृपदात्, पादत् आदि रूप हैं किन्तु लिथुआनी मे इतेक्ति, क्रिस्ति, ग्रिउति आदि उसके अपने मूल शब्द हैं, रूसी ग्रेत् (गर्मी देना) सं. ग्रीष्म की मूल धातु की ओर सकेत करती है किन्तु इसके लिए लिथुआनी क्रिया है सिल्दिति; रूसी कोपात् (खोदना) से कूप का सम्बन्ध है, लिथुआनी कस्ति मे भी वही धातु हो सकती है; गाने के लिए रूसी पेत् के विपरीत लिथुआनी गिएदोति मे 'गी' धातु विद्यमान है; स. प्लव्, रूसी प्लवात्, इससे कुछ दूर लिथुआनी प्लौक्ति; जागने, प्रबुद्ध होने के लिए रूसी प्रबुदीत्, लिथुआनी पबुदिन्ति, जनने, जन्म देने के लिए रूसी रोदीत् किन्तु लिथुआनी गिन्दिति संभवत: जन् से सम्बधित है; सं. शुश्रू के लिए रूसी स्लुझ़ीत् (सेवा करना), किन्तु लिथुआनी का अपना शब्द है तर्नौति; बहने के लिए रूसी तेच् से भिन्न स. स्र के अनुरूप लिथुआनी स्रोवेन्ति, उसकी अपनी धातु भी है तेकेति; स. त्वर् के अनुरूप रूसी त्वरीत् है किन्तु लिथुआनी शब्द है कुर्ति; त्रस् के लिए रूसी त्रुसीत् किन्तु लिथुआनी मे 'भी' (भय) वाली क्रिया है, बियोतिस् या मिन्तिस्।

पत्र के लिए रूसी कोनू के समान लिथुआनी का स्वतंत्र शब्द है भिगंस्, परिसग्। प्रभात और सायंकाल के लिए जैसे रूसी के स्वतंत्र शब्द हैं उत्रो, वेचेर, वैसे ही लिथुआनी के शब्द हैं रितस् और वाकरस्। उषा के लिए रूसी ज़र्या से भिन्न लिथुआनी औश्र में उषा का मूल बीज वर्तमान है। चमकने के लिए रूसी ब्लेस्तेत्, लिथुआनी ब्लिज़गेति, दोनों [illegible] भिन्न हैं। [illegible] के लिए इसी प्रकार रूसी [illegible], लिथुआनी [illegible] (विशेष [illegible] सागर); नानी के लिए रूसी [illegible], लिथुआनी [illegible]; यहाँ के लिए रूसी ज़्देस्, लिथुआनी [illegible]; मैं के लिए रूसी या, लिथुआनी अश; ऊपर के लिए रूसी नाद, लिथुआनी [illegible]; कहाँ के लिए रूसी गदे, लिथुआनी कुर, कब, [illegible] के लिए रूसी कोगदा, लिथुआनी [illegible]; नगर (पुर) के लिए रूसी गोरोद

लिथुमानी विल्कस्, बच्चों के लिए रूसी दति, लिथुमानी वेकइ, वर्षा के लिए रूसी दोज्द, लिथुमानी लिटुस्, मार्ग के लिए रूसी दरोगा, लिथुमानी केलि-यस्, नाश के लिए रूसी ग्बेल्श, लिथुमानी गेंगूम्दे, वन के लिए रूसी लेस, लिथुमानी मिश्कस्, लिथिमा नाव के लिए रूसी लोद्का, लिथुमानी नैवेलिस, वाल्त्रिस, पैर के लिए रूसी नोगा, लिथुमानी कोजा; हाथ के लिए रूसी रुका, लिथुमानी रंका, गाय के लिए रूसी करोवा, लिथुमानी कार्वे, काम करने के लिए रूसी रबोतत्, लिथुमानी दिर्बंति, प्रसन्न के लिए रूसी राद, लिथुमानी लइमे, मुख के लिए रूसी रोत, लिथुमानी बुर्ना, ग्राम के लिए रूसी सेल्स्को, लिथुमानी कइमा—ये शब्द संस्कृत से भिन्न हैं, कहीं आपस में मिलते हैं और कहीं रूसी-लिथुमानी में परस्पर भिन्न हैं।

संस्कृत पक्ष से लिथुमानी में अक्षिस रूप बनता है यद्यपि आंख के लिए रूसी शब्द ग्लाज है। गाने के लिए रूसी में संस्कृत परिवार की धातु स्लाव् है किन्तु लिथुमानी में 'मिएगोति' क्रिया है। संस्कृत द्रोणी का रूसी रूपान्तर 'दोलीना' है किन्तु लिथुमानी शब्द 'स्लेनिस' है। संस्कृत जीव से रूसी शब्द जिवोत बना है किन्तु लिथुमानी में पेट के लिए 'पिल्वस' शब्द है। किसान के लिए रूसी क्रेस्त्यानिन हमारे परिवार का ही है किन्तु लिथुमानी शब्द है 'वल्स्तिएतिस'। ऋक् से सम्बधित रूसी शब्द रेच है किन्तु भाषा के लिए लिथुमानी शब्द है 'कल्ब'। स्मिति के लिए रूसी स्मेयात्स्या से भिन्न है लिथुमानी युप्रोक्तेस। विधवा के लिए रूसी वदोवा से भिन्न लिथुमानी 'नश्ले' है। इस तरह के शब्दों को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि रूसी की अपेक्षा लिथुमानी संस्कृत के अधिक निकट है। रूसी में संस्कृत की तरह जहां त्व प्रत्यय लगता है—जैसे पुरुषत्व के लिए मुभ्रेस्त्व, वहां लिथुमानी में मस् लगता है जैसे वीर से विरिश्कुमस्। इसी प्रकार रूसी में ता जोड़कर विशेषण से भाववाचक संज्ञा बनाई जाती है, दोब्री, दोब्रोता (दयालु, दयालुता) किन्तु लिथुमानी में गेरास, गेरुमस्। संस्कृत ज्ञा की समरूप धातु ज्नात और भ्रिनोति रूसी और लिथुमानी दोनों में है किन्तु संस्कृत में जैसे ज्ञा से ज्ञान संज्ञा बनती है, वैसे रूसी में तो ज्नानिये संज्ञा बनेगी किन्तु लिथुमानी में भ्रिनोति से संज्ञा बनेगी भ्रिनोयिमस्। इसी प्रकार रूसी में दा धातु से दान् शब्द बनता है किन्तु लिथुमानी में उसी की समकक्ष धातु से दान के लिए शब्द बनता है 'दुम्रोक्ले'। रूसी में 'क' प्रत्यय का वैसे ही प्रयोग होता है जैसे संस्कृत में; यथा अनुवाद से कर्ता भाव में अनुवादक, किन्तु लिथुमानी में वेर्तीमस् से वेर्तेयस्। संस्कृत में कृ से जैसे कर्तृ, कर्ता, कर्तारः आदि रूप बनते हैं, वैसे ही रूसी में उचीत् (शिक्षा देना) से उचीतेल् शब्द (र का स्थान ल ने लिया) शिक्षक के अर्थ

मे बना किन्तु लिथुआनी मे यही यस् प्रत्यय लगता है, मोकुति मे मोकितोयस्। मानना होगा कि कुल मिला कर लिथुआनी की अपेक्षा रूसी संस्कृत-परिवार के अधिक निकट है।

चाइल्ड की यह स्थापना कि मूल आर्य-भाषा का शुद्धतम रूप लिथुआनी मे है, उतनी ही सही है जितनी यह धारणा कि उस मूल भाषा की ध्वनियां लैटिन में सबसे अधिक सुरक्षित हैं। कम से कम नौर्डिक जाति का विजय-अभियान लिथुआनी भाषा के तत्वो से सिद्ध नही होता।

चाइल्ड के मत को डॉ. बी. के. घोष ने "वैदिक एज" नामक ग्रंथ में आर्य-समस्या पर विचार करते हुए दोहराया है। डॉ. घोष कलकत्ता विश्वविद्यालय मे भाषा-विज्ञान के अध्यापक हैं। उनके अनुसार तुलनात्मक भाषा-विज्ञान ने आर्यों की जिस मूल भाषा के गठन का अनुसधान किया है, उसकी निकटतम लिथुआनी भाषा है, न कि संस्कृत या उसकी कोई बेटी। वे उसे हित्ती और तोखारी से बाद की भाषा भी मानते हैं, किन्तु उसके रूप-गठन को प्राचीन मानकर वे कल्पना करते हैं कि "सतम्-केन्तुम् विच्छेद के बाद एक समूचा भारत-यूरोपीय समुदाय लिथुआनिया मे आ पहुचा और वहां की एकान्त वनस्थली में उसने अपना सुदीर्घ किन्तु महत्वपूर्ण घटनाओं से हीन राष्ट्रीय जीवन प्राय. पूर्ण अलगाव मे आरम्भ किया। इससे उनकी भाषा को परिवर्तन और प्रगति के लिए अवसर न मिला। अन्य भारत-यूरोपीय भाषाभाषी देशों में स्वयं भारत-यूरोपीय जन इतना नही आये जितना उनकी भाषाएं।" इस कल्पना की आवश्यकता बिल्कुल न पड़े यदि लिथुआनी भाषा में 'आर्य-कुल' से भिन्न उसके अपने तत्वो पर भी ध्यान दिया जाय। यदि उसकी ध्वनि-सम्बधी मिश्रित विशेषताओं को देखा जाय (यह न माना जाय कि लिथुआनी पेंक्वे के 'क' को हमने पच मे 'च' बनाया और क्लोसिति के 'क' को किसी कारण से 'च' के बदले 'श' रूप देकर श्रु धातु बना लिया), पूर्वी स्लाव भाषाओं से उसके मूल शब्द-भडार, धातु-प्रत्यय आदि का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो उसकी विशेष प्राचीनता की धारणा सहज ही खंडित हो जाय।

यूरोप से एशिया की ओर आर्य-अभियान की कल्पना करनेवालों की तुलना मे उनका मत अधिक मान्य है जो मध्य एशिया से उनका यूरोप, ईरान, भारत आदि मे प्रसार मानते हैं (होज्नो आदि)। मध्य एशिया मे भी जो विद्वान् पामीर या उसके आसपास के प्रदेश को आर्यों की आदि निवास भूमि मानते हैं (एडुअर्ड मेयर आदि), उनका मत सत्य के अधिक निकट है। भाषा-विज्ञान और पुरातत्व दोनों ही इस सत्य की ओर इगित करते हैं कि पूर्व से पश्चिम की ओर ऐसे जनों का अभियान हुआ जो संस्कृत परिवार से मिलती-जुलती भाषाएं बोलते थे। इन भाषाओं के सम्पर्क मे बेबिलोन से लेकर मिस्र तक के

र्यों जन भागे, उधर कोकेशस, तूर्की, मध्य तथा दक्षिणी यूरोप पर भी इनका प्रभाव पड़ा। स्लाव, जर्मन, ग्रीक, लैटिन परिवारों में जो समानता है, उनका कारण इनका संस्कृत-परिवार की भाषाओं से सम्पर्क है। इन परिवारों का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। इसी प्रकार संस्कृत का भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। यदि यूरोपीय भाषाओं ने संस्कृत के मिलते-जुलते तत्वों को यूरोपीय या अन्य एशियाई भाषाओं की देन माना जाय, तो भी संस्कृत की समग्रता को देखते हुए यह समानता इतनी आंशिक है कि संस्कृत को स्वतन्त्र भारतीय भाषा स्वीकार करना ही होगा। वैसे संस्कृत भी कोई अमिश्रित 'शुद्ध' रक्त-वर्णवाली भाषा नहीं है। उसमें भी विभिन्न वृत्तिवाली भाषाओं का सम्मिश्रण हुआ है। शुद्ध भाषाएं भाषाविदों की नस्ल-सम्बंधी कल्पना की देन हैं वास्तविक स्थिति से उनका कोई सम्बंध नहीं है।

छठा अध्याय

भाषा-परिवार और आदि भाषा

भाषाओं के भारत-यूरोपीय परिवार की कल्पना, इस परिवार की आदि भाषा का अनुमान, उस भाषा के बोलनेवालों की आदि भूमि, उनके रहन-सहन, समाज-व्यवस्था आदि के सम्बध मे स्थापनाए नस्ल के बारे मे विद्वानो की धारणाओ से जुड़ी हुई है। डॉ बी. के. घोष ने "वैदिक एज" मे 'आर्य-समस्या' पर विचार करते हुए लिखा है कि "उस अति प्राचीनकाल में, जब मूल भारत-यूरोपीय भाषा गठित हो रही थी, इस तरह का विशेष समाज केवल नस्ल-सम्बधो पर आधारित हो सकता था, शुद्ध सास्कृतिक सम्बधो का प्रश्न ही न उठता था।"

पहले तो यह निश्चित नही है कि नस्ल (रेस) के लक्षण क्या है। कम से कम त्वचा का रंग नस्ल का आधार नही हो सकता। काले-पीले या श्वेत वर्ण के लोगों मे किसी की नाक लम्बी है तो किसी की चपटी, किसी की खोपडी लम्बी है तो किसी की चौडी और गोल, किसी की आखे नीली है तो किसी की भूरी। कुछ लोग आख, नाक, खोपडी के अलावा बालो को बहुत महत्व देते हैं। अन्य जन इनके साथ — या इनके अतिरिक्त — रक्त की जाच करते हैं। नृतत्वविशारद जूलियन हक्सले और ए. सी. हैडन ने अपनी पुस्तक "वी यूरोपियन्स" (लदन, १६३५) मे इस धारणा का खंडन किया है कि माता का रक्त किसी तरह सन्तान के रक्त मे मिल जाता है। गर्भ-स्थिति मे शिशु और माता के रक्त का मिश्रण नहीं होता। पिता के रक्त का प्रश्न ही नही है। जहा तक कद का सवाल है, वह बहुत कुछ परिवेश पर निर्भर रहता है। त्वचा का वर्ण नस्ल की परख के लिए सही कसौटी नही है; कम से कम ऊपर से देखने मे वह भ्रामक होता है। इन विद्वानों का मत है कि मनुष्य के शारीरिक गठन की जो भिन्न कोटिया हैं, उनमे कोई भी अमिश्रित नही है। यूरोप से एसिया के पूर्व की ओर चलें, तो गोर वर्ण और पीत वर्ण के बीच मे सैकड़ो मध्यस्थ रंग मिलते है जो न शुद्ध पीत हैं, न शुद्ध श्वेत। नस्ल क्या है, इसकी व्याख्या करना कठिन

है, हैडन और हक्सले के मत से "यह अति वांछनीय है कि मानव-समुदायों के सिलसिले में 'रेस' को शब्द-विज्ञान की शब्दावली से निकाल दिया जाय।" (पृष्ठ १०७)। इंगलैंड के गौरांग निवासियों की त्वचा के वैज्ञानिक परीक्षण से पता चलता है कि "यह ऐसा देश है, जिसके निवासी गौर से अधिक श्याम वर्ण के हैं।" (पृष्ठ २८)। अफ्रीकावासी नीग्रो भी किसी शुद्ध श्याम वर्ण नस्ल के नहीं हैं। उनमें कौकेशिक और हैमिटिक समुदायों का मिश्रण हुआ है। (पृ. १००)। ऐसी स्थिति में यह कल्पना करना कि आदि भारत-यूरोपीय भाषा के बोलने वाले लम्बे, बृहत्काय, लम्बी नासिका वाले, गौरवर्ण, नीलाक्ष एवं हिरण्यकेश नार्डिक कुल के आर्य थे, साहस का काम है।

विभिन्न युगों में यूरोप की ओर एसिया से किस प्रकार अनेक जातियां गयीं और वहां बस गयीं, इस बारे में हक्सले और हैडन भाषाविज्ञान की इस स्थापना को पुष्ट करते हैं कि जातियों के ये अभियान एसिया से यूरोप की ओर हुए थे।

यूरोप के पुरातत्वज्ञों ने जिन प्राचीन प्रस्तर-आयुधों की खोज की है, उनके आधार पर हक्सले और हैडन ने लिखा है कि इनका प्रयोग करनेवाले जन यूरोप में अफ्रीका और एसिया से आये थे। (पृष्ठ ५३)। मानव की उत्पत्ति के बारे में उनका कहना है कि "यह लगभग निश्चित है कि मनुष्य की उत्पत्ति किसी वानर जैसे पशु से हुई जो अर्ध-ऊष्म या साधारण ऊष्म प्रदेश में रहता था। यह उत्पत्ति अवश्य ही कई लाख वर्ष पहले हुई होगी लेकिन यह बिल्कुल निश्चित है कि यूरोप उसकी मूल निवास-भूमि नहीं थी।" (पृष्ठ ५७)। मानव के पुरखों के अलावा स्वयं मानव के बारे में उनका कहना है कि यह निश्चित है कि यूरोप उसका आदि निवास-स्थान नहीं था। अमरीका में भी वे उसका जन्म नहीं मानते। उनके अनुसार संभावना मध्य एसिया और अफ्रीका के पक्ष में है। यह तो हुई सम्भावनाओं की बात। पुरातत्व के आधार पर प्राचीन जनों के अभियान "एसिया और अफ्रीका से उत्तर और पश्चिम की ओर हुए हैं," इन विद्वानों के मत में ऐसा मानना चाहिए। (पृष्ठ ६६)। यूरोप के मेडीटरेनियन, यूरेशियाटिक और नौडिक — तीनों टाइपों को वे बाहर से आकर यूरोप में बसा हुआ मानते हैं। हंगरी के मग्यार जनों को वह एसिया से आया हुआ मानते हैं। (पृष्ठ २१८)। इसी प्रकार बुल्गार जनों को वह एसिया से आया हुआ बतलाते हैं। "अति प्राचीन काल में एशियाई और दक्खिनी रूस के मैदानों में दीर्घ कपालवाली घुमन्तू जातियां पर्यटन करती रही थीं और वे मध्य यूरोप में भी पहुंचीं।" (पृष्ठ २१७)।

अमरीकी नृतत्वज्ञ फ़ान्ज़ बोआस ने "द माइंड ऑव प्रिमिटिव मैन" नामक अपनी पुस्तक में अपना तथा अन्य विद्वानों का यह मत दिया है

कि एशिया से अनेक धान्य और पशु यूरोप में आये। इन्हीं में भाषाविज्ञान का प्रमुख वाहन अश्व भी था। (पृष्ठ १९८)। इसके अलावा ताँबे का प्रयोग सम्भवतः एशिया से यूरोप और चीन में फैला। (पृष्ठ १३०)। इसी प्रकार लोहे के प्रयोग के बारे में बील्स और होइयर ने यह मत प्रकट किया है कि उसका प्रयोग भारत तथा निकट पूर्व में एक सहस्राब्दी ई. पू. या उससे भी पहले दक्षिण एशिया में फैला।[1] हर तरह के प्रमाण उत्तर भारत या भारत के उत्तर वाले प्रदेश को सांस्कृतिक विसरण-केन्द्र के रूप में प्रस्तुत करते हैं। आश्चर्य की बात होगी यदि ताँबा, पशु, अनाज आदि का उपयोग इधर से यूरोप पहुँचा हो, लेकिन भाषाएँ सब उधर से इधर आ गयी हों।

वर्गहीन आदिम समाज-व्यवस्था रक्त-सम्बंध पर आधारित समझी जाती है। किन्तु इन प्राचीन समाजों की रक्त-सम्बंधी नीति दक्षिण अफ्रीका की गोरी सरकार की वर्णभेद वाली नीति से अधिक उदार और प्रगतिशील थी। हक्सले और हैडन ने स्काटलैंड के कबीलों का उल्लेख किया है जो दूसरे कबीलों से आनेवालों को अपने में मिला लेते थे। इसी प्रकार आयरलैंड में बहुत से अजनबियों और गुलामों को कबीलों या गोत्रों में शामिल कर लिया गया। बाइबिल की एक उक्ति इस तथ्य की ओर संकेत करती है, "जो अजनबी तुम्हारे साथ आकर रहे, वह तुम्हारे लिए वैसा ही होगा जैसे वह तुम्हीं में पैदा हुआ हो और तुम उससे वैसे ही स्नेह करोगे जैसे खुद अपने से करते हो।" (लेवेटिकस से हक्सले और हैडन द्वारा उद्धृत)। अमरीकी आदिवासियों की समाज व्यवस्था का अध्ययन करते हुए मौर्गन ने इस बात का उल्लेख किया था कि एक गोत्र के लोग अजनबियों को अपने में मिलाकर उन्हें अपना गोत्र-नाम दे देते थे। युद्ध में वे जिन्हें बन्दी बनाते थे, उन्हें या तो मार डालते थे, या इसी प्रकार उन्हें अपना भाई बना लेते थे। प्राचीन यूनानी समाज के विशेषज्ञ टॉमसन ने ग्रीक और रोमन जनों में इसी प्रथा का उल्लेख किया है। अजनबी को कुछ धार्मिक कृत्य पूरे करने होते हैं जिनसे यह समझा जाता है कि वह अजनबी-रूप में मर गया और नया जन्म लेकर (द्विज बनकर) नये गोत्र का सदस्य बन जाता है। प्राचीन कबीलों में वर्ण-सम्बंधी आग्रह की कल्पना आधुनिक विद्वानों के दुराग्रह पर ही आधारित है। डॉ. घोष की भी मान्यता है कि बादवाले भारत-यूरोपीयों में —बिखरने से पहले ही—नस्लों का मिश्रण हो चुका था। इस मिश्रण में नारी-अपहरण की उदार नीति का भी हाथ रहा होगा, इसमें सन्देह नहीं।

---

१. राल्फ एल. बील्स और हैरी होइयर, ऐन इंट्रोडक्शन टु एंथ्रोपोलौजी, न्यूयार्क, १९५७, पृष्ठ २४६।

आदि भाषा बोलने वालो के यहां एक शब्द था ग्वेर या ग्वेरो। "संस्कृत मे उसके रूप ग्रावन् का अर्थ कुछ संकीर्ण होकर (सोमरस को) निचोडने का पत्थर होता है।"[1] वैसे 'उत्तर रामचरित' मे राम का दुख देखकर जब 'अपि-ग्रावा रोदिति', —पत्थर भी रोने लगे थे—तब शायद सोमरस निचोड़ने वाले पत्थरो मे विशेष रूप से करुणरस उत्पन्न हुआ होगा। मान लिया कि यह शब्द यूरोप की कुछ अन्य भाषाओं मे भी है और उसका अर्थ चक्की का पत्थर या हाथ-चक्की है, तो भी पत्थर के लिए जर्मन स्टाइन (डच स्टीन, डैनिश और स्वीडिश स्टेन, अंग्रेजी स्टोन), लैटिन की भाषाओं मे पिएत्रा, पेड्रा आदि (ग्रीक पेत्रोस), ग्रीक भाषा का अन्य शब्द लिथोस (जिससे अंग्रेजी मे प्रस्तर युग की व्यंजना के लिए शब्द बने हैं), रूसी कामेन्, संस्कृत अश्मन्, प्रस्तर आदि यही सिद्ध करते हैं कि भारत-यूरोपीय भाषाओं मे पत्थर के लिए अनेक शब्द हैं। इनमे रूसी-लिथुआनी-संस्कृत के सामान्य शब्द अश्मन् को मूल शब्द क्यो न माना जाय, ग्रावा को ही यह अधिकार क्यो दिया जाय? या यह क्यो न माना जाय कि इस 'परिवार' के विभिन्न वर्गों ने स्वतंत्र रूप मे अपनी प्रस्तरयुगीन सभ्यता विकसित की थी?

एक अन्य आद्य भारत-यूरोपीय शब्द 'मेल्ग' माना गया है जो संस्कृत मे मृज् रूप मे है। अन्य भारत-यूरोपीय बोलियो मे इसका अर्थ दूध दुहना (to milk) हो गया। रूसी मे दूध के लिए मिल्क का सगोती मोलोको है लेकिन दुहने के लिए भारतीय दुह् की समरूप धातु है 'दोईत'। लिथुआनी मे अंग्रेजी के समान दुहने के लिए मिल्क वाली धातु है—मेल्झ्ति। लैटिन समुदाय मे दूध के लिए लात, लेइते, लै आदि शब्द हैं, 'मिल्क' जर्मन परिवार के लिए छोड़ दिया गया है। फ्रांसीसी मे दुहने के लिए 'त्रैर' शब्द है जिसका अर्थ खींचना भी है। लैटिन मुल्गेरे के अनुरूप ग्रीक मे दोहन-क्रिया के लिए अमेल्गो धातु है (वास्तव मे वह नाम धातु है, संज्ञा को क्रिया बनाकर प्रयुक्त किया गया है), किन्तु दूध के लिए लैटिन मे अपना शब्द है 'लाक' और इसीसे मिलता-जुलता यूनानी शब्द है गाल या गालक्तोस। इन सभी ग्रीक-लैटिन शब्दो को मेल्ग का अपभ्रंश मान लिया जाय, तभी दुह् और दुग्ध से यह सिद्ध होगा कि आर्यों की म्लेग-क्रिया भारतीय अनार्यों को पसंद नही आयी और वे उसे दोहन के बदले रगडने के अर्थ मे प्रयुक्त करते रहे। वर्ना यह मानना होगा कि दूध और दोहन के लिए भारत-यूरोप परिवार मे भिन्न-भिन्न शब्द थे।

तुलनात्मक भाषा-विज्ञान से आर्यो के जीवन के बारे मे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि वे बराह, भेड़िया, लोमड़ी, गीध आदि जानवरों से परिचित

---

1 डॉ. चाटुर्ज्या, भारतीय-आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ २६।

थे। उनके पालतू जानवरों में भेड़, बकरी, घोड़ा और सूअर थे। "वे कुछ पक्षियों और मछली तथा कुछ जलचर जीवों को भी जानते थे।" इन तथ्यों के निष्कर्ष यूरोपीय भाषाओं के उन सामान्य शब्दों पर निर्भर हैं जिन्हें उन्होंने भारतीय या मध्य एसियाई आगन्तुकों से ग्रहण किया था। इसका यह अर्थ नहीं है कि जिन वस्तुओं के लिए सामान्य शब्द नहीं हैं, उनसे वे परिचित नहीं थे। यूरोप की अनेक भाषाओं में नाक के लिए नासा शब्द के विभिन्न रूप मिलते हैं, कान के लिए उनके अपने अनेक शब्द हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि पितृसत्ताक व्यवस्था तक प्रगति कर चुकने वाले आर्य कान नामक वस्तु से परिचित नहीं थे, या उसके लिए उनकी भाषा में शब्द ही नहीं था। जिस तर्क-पद्धति से भौगोलिक वस्तुओं के सामान्य नामों के अध्ययन द्वारा यह कल्पना की गयी कि आदिम आर्य "किसी अपेक्षाकृत शुष्क गैरिक प्रदेश में निवास करते थे", उससे यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है कि आर्यों के नाक तो थी लेकिन कान नहीं थे!

चाइल्ड ने लिखा है कि शिकार खेलने के लिए भारत-यूरोपीय भाषाओं में कोई सामान्य शब्दावली नहीं है। इसका भी यह अर्थ न होगा कि वन-पर्वतों को लांघने वाले आर्य शिकार ही न खेलते थे। वैसे आखेट का सम-रूप रूसी शब्द 'अखोता' है। मधु के लिए सामान्य शब्द है, मधुमक्खी के लिए नहीं; इसका अर्थ यह नहीं है कि आर्य मधुमक्खियों से अपरिचित थे या छत्ते से शहद निकालने की उन्हें कोई दैवी विधि मालूम थी। ऐसे ही मछली के लिए सामान्य शब्द नहीं है, जिसका अर्थ यह न होगा कि आर्यों को मांस से बैर था लेकिन मछली से परहेज था या वे मछली खाना जानते ही न थे। नमक के लिए सामान्य शब्द नहीं है, इसलिए नमक खाना तो वे जानते ही न होंगे!

यह स्वीकार करना होगा कि सामान्य शब्दावली के आधार पर आर्य-जनों के निवास या जीवन के बारे में पूर्ण तथ्यों का पता नहीं चल सकता। इस भ्रान्त धारणा [illegible] चाहिए कि जिन वस्तुओं के लिए सामान्य शब्द हैं, उनसे तो आर्य परिचित थे और जिनके लिए नहीं हैं, उनसे वे अपरिचित थे। सही व्याख्या यह है कि यूरोपीय भाषाओं ने एशियाई आगन्तुकों के अनेक शब्दों को स्वीकार किया, और कितनों को अस्वीकार किया, [illegible] कहीं भाषा को अस्वीकार किया।

[illegible]

किसान के लिए रूसी का अपना शब्द है मुझीक।) लैटिन में देहात के आदमी को अग्रेस्तिस्, किसान को अग्रिकोला, खेती को अग्रिकुल्तूरा कहेंगे। कृष् का कृष् रूप इटली में बना हो, यह आवश्यक नहीं, संभावना इसी की अधिक है कि यहीं से कुछ लोग ऐसे गये हों जो — वाक्, याग्, दिक्, दिग् में ग रूपों के समान — कृष को ग्रष् कहते हों। कश्मीरी में किसान के लिए ग्रूस शब्द है। इसलिए कृषि और अग्रि का सम्बंध असंभव नहीं है। ग्रीक में किसान के लिए अग्रोतिस् शब्द है।

स्वयं कृष् में दो मूल शब्दों का योग मालूम होता है, कु — पृथ्वी, ऋष् (भेदन, गमन अर्थ में)। ऋ धातु का अर्थ भी चलना है। कश्मीरी में ऋग्ग् का अर्थ होता है रेखा। संस्कृत शब्द रेखा की मूल धातु लिख् मानी जाती है। उसका सीधा सम्बंध ऋष् से भी हो सकता है। ऋष् का सम्बंध भेदन से, रेखा खींचने से होता है। यह धातु भी कृष् के अर्थ में प्रयुक्त हो सकती है। यदि यह अर्थ स्वीकार हो तो ऋषि का बहुत सीधा अर्थ निकलता है किसान। मंत्रद्रष्टाओं को ऋषि कहते हैं, वे ऋचाओं के गायक हैं। इन प्राचीन ऋषियों को कृषि से घृणा न थी। उनका इन्द्र श्रम करने वालों का सखा था। इसलिए कृषि से ऋषि शब्द का सम्बंध जोड़ने में उसका गौरव कम नहीं होता। ऋषि से विशेषण बनता है आर्ष। ऋ धातु के अरिष्यति आदि रूप बनते हैं। ऋ का अर् होना संस्कृत व्याकरण के अनुकूल है। अब ग्रीक में हल चलाने या खेत जोतने के लिए यही क्रिया है, अरोओ रूप में। धरती के लिए गेआ शब्द से जुड़ने पर गेओर्गोस शब्द बनता है जिसका अर्थ है किसान। लैटिन में जोतने के लिए धातु है अरो, उसीसे हल के लिए शब्द बनता है अरात्रुम। लैटिन की तरह ग्रीक में हल के लिए शब्द है अरोत्रोन। रूसी में जोतने के लिए पखात शब्द है किन्तु उक्रैनी में अर-वंशीय 'ओराति' है, उसी के समान लिथुआनी में 'अर्ति' क्रिया है। अरमः को हलयः कहने वाली किसी पच्छिमी (यानी भारत की पच्छिमी) जाति के पास यही 'अर' धातु पहुंचे तो बड़ी सुविधा से हल हो जायगी। कश्मीरी में हल के लिए हकार हीन अलवञ्ञ् शब्द है। इस विवरण में और बातें विवादास्पद हो सकती हैं, निर्विवाद तथ्य यह है कि लैटिन और ग्रीक में जोतने के लिए एक ही धातु है और रूसी तथा संस्कृत में किसान के लिए समरूप शब्द है। इससे यह सिद्ध है कि ग्रीक-लैटिन और कुछ स्लाव जनों के पूर्वज और रूसी-संस्कृत भाषियों के पूर्वज एक साथ नहीं तो अलग-अलग कृषि-विद्या से परिचित थे। पूर्व से पश्चिम जाने वाले आर्यों का सम्पर्क जिस समय यूरोपीय जातियों से हुआ, उस समय वे खेती करना न जानते थे, केवल पशु-पालन से परिचित थे, यह धारणा भ्रान्त सिद्ध होती है।

भारत और यूरोप की भाषाओं में जो शब्द समान रूप से मिलते हैं, उनका ध्वनिभेद यूरोप में ही उत्पन्न हुआ हो, यह आवश्यक नहीं है। इस तरह का ध्वनिभेद यूरोप पहुंचने से पहले भी उनमें था, यह बात मानी जा सकती है। जहां से भी 'आर्य' गये हों, वे एक ही समय में तो गये नहीं। वे अनेक कबीलों में विभक्त रहे होंगे और उनकी बोलियों में समानता रहते हुए भी भेद रहे होंगे। केन्तुम्-शतम् विशेषताओं के मिश्रण वाले तोखारियों को भारत के उत्तर में देखकर यह स्थापना पुष्ट होती है। केन्तुम्-शतम् का भेद क और श ध्वनियों का ही नहीं है। इतना ही भेद होता तो शतम् का कतम् या केतुम् रूप होता। केन्तुम् में एक अनुनासिक ध्वनि और जुड़ी हुई है। संस्कृत में पथ शब्द भी है और पंथ भी। आर्यों की एक शाखा जिसे अनुनासिकता से विशेष प्रेम नहीं था, स्लाव प्रदेशों की ओर गयी। इसलिए रूसी में शत के लिए 'स्तो' शब्द है, 'सोत्न्या' भी है किन्तु सन्त जैसा रूप नहीं है। दूसरी शाखा यूनान गयी जहां श का क रूप तो है (शत-हेकाटोन एक के लिए है, शत के लिए कतोन्), लेकिन श और त के बीच में न का प्रवेश नहीं है। लैटिन में हमें क और न दोनों ध्वनियों से निर्मित केन्तुम् मिला। बीस के लिए लैटिन शब्द विगिन्ति है जिसमें न की ध्वनि विश् (विश्) के बाद जुड़ी हुई है किन्तु इतालवी में सीधा वेन्ती रूप है, पुर्तगाली में त्रिन्ते। लिथुआनी में शत का शिम्तस् रूप है और इसी ध्वनि-प्रकृति के अनुरूप जर्मन में सौ के लिए हुडेर्ट, बीस के लिए त्स्वानत्सिग, डच में ट्विंटिग, अंग्रेजी में ट्वेंटी। संस्कृत में पथ और पंथ—दोनों प्रकार की ध्वनियां हैं। हिन्दी के बीस, तीस आदि शब्द विंश, त्रिंश के विपरीत निरनुनासिक हैं जिससे यह निष्कर्ष निकलेगा कि ये शब्द उस शाखा की देन हैं जिसने दो वर्णों के बीच में अनुनासिक अलंकरण को स्वीकार न किया था।

यदि हम यूरोप जाने वाली आर्यों की तीन शाखाएं मानें, तो यह बात और स्वीकार करनी होगी कि इनमें से प्रत्येक शाखा में अनेक बोलियों के—प्रायः विभिन्न भाषा परिवारों के—तत्व मौजूद थे। यथा रूस जाने वालों में धु को स्नू बोलने वाली प्रवृत्ति भी थी और 'र' को अपरिवर्तित रख उमीरात् बोली जाने वाली प्रवृत्ति भी। यूनान की ओर जाने वालों में जन को गेनोम (ज को ग) कहनेवाली दोनों को जोयोम (ज को ज) और जन को गेनोस् में म स्वीकार करने वाली प्रवृत्ति भी थी और तरह की प्रवृत्तियां थीं। गेनोस् में स को ह में परिवर्तित करके हुप्नोस कहने वाली प्रवृत्ति भी। स्वप्न के स को ह में परिवर्तित करके हुप्नोस कहने वाली प्रवृत्ति भी। इसी प्रकार हटाये जाने वाले शब्दों में भ्रातर को फ्रातेर (भ को फ) और नभ को नूबस् (भ को ब) कहने वाली प्रवृत्तियां थीं। जर्मन भाषा में म...

[illegible] है [illegible] संस्कृत के शब्द [illegible] से [illegible] नहीं रहते हैं।

इसी प्रकार [illegible]। [illegible] के [illegible] भी है। [illegible] के [illegible] के साथ [illegible] है [illegible] के साथ ही रहते हैं। इसी प्रकार [illegible] शब्दों की विभिन्न बोलियों की [illegible] थी। [illegible] और [illegible], [illegible] और [illegible] और देव, [illegible] और [illegible], [illegible] ([illegible]) और [illegible] आदि [illegible] से पूर्व [illegible] परिवार की विभिन्न भाषाओं [illegible] समान रूप से विद्य-मान थे। इसका परिणाम यह निकला कि [illegible] की आदि भाषा के रूप में [illegible] एक [illegible] मूल भाषा की कल्पना करते हैं, उसका कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है।

भाषा वृक्ष के समान नहीं है जिसकी शाखाएँ तक तने से फूटती हैं, जिसकी जड़ें एक निश्चित स्थान से खोद कर निकाली जा सकती हैं और उसके बीज का पता लगा कर उसके वंश का नामकरण किया जा सकता है। यद्यपि वृक्ष उतना जड़ नहीं होता जितना वह दिखाई देता है, फिर भी भाषा असंदिग्ध रूप से अधिक चंचल और परिवर्तनशील होती है। वह वृक्ष से अधिक नदी के समान है जिसमें विभिन्न सहायक नदी-नाले भी अपना जल मिला देते हैं, जिसमें अरब समुद्र के बादलों का पानी कितना है और कितना हिन्द महासागर के बादलों का, यह पता लगाना प्रायः असंभव है।

आर्य-परिवार की भाषाओं की समानता और भिन्नता के बारे में भूतत्त्व शास्त्र के पंडित फ्रान्ज बोआस ने लिखा है, "आर्य भाषाओं के अध्ययन के अनुभव से हमारी प्रवृत्ति इन्हें समान भाषागत स्रोतों का सदस्य मानने की होगी, लेकिन यह अनुमान बुनियादी भेदों की कैफियत नहीं देता। यह संभावना भी छोड़ दी जाती है कि रूप सम्बन्धी विशेषताएं उन्होंने (औरों से) ग्रहण की होंगी, इसलिए अभी यह परिणाम विश्वसनीय नहीं मालूम होता।"[1] बोआस उन थोड़े से लोगों में हैं जो भाषाओं की समानता के साथ उनके भेद पर भी ध्यान देते हैं। भाषाविदों का साधारण नियम यह है कि एक परिवार की भाषाओं में समानता देख कर वे आदिभाषा की कल्पना कर लेते हैं और परिवार के सभी सदस्यों को उस आदि पूर्वज की सन्तान मान लेते हैं। उदाहरण के लिए लैटिन परिवार की भाषाओं को लैटिन का ही आधुनिक परिवर्तित रूप कहा जाता है। ऐसा कहने वाले पुराने तुलनात्मक भाषाविज्ञान के आचार्य

---

१. फ्रान्ज बोआस, रेस, लैंग्वेज एंड कल्चर, १९४८, पृष्ठ २०४।

ही नही थे, ब्लूमफील्ड जैसे आधुनिक भाषाविज्ञानी भी कहते है, "फ्रान्स में लैटिन (जिसे अब फ्रेंच कहते हैं)" दो हज़ार वर्षों से बोली जाती रही है। जिन भाषाओं को हम एक परिवार की मानते हैं, वे इतनी समान होती हैं कि ब्लूमफील्ड के अनुसार उन्हे "एक ही प्राचीन भाषा के भिन्न रूप" होना चाहिए। भारत की बहुत सी भाषाओं मे अरबी-फारसी के सैकड़ो शब्द प्रचलित हैं। इसका अर्थ यह नही है कि कश्मीरी, बंगला और मराठी मे किसी आदि भाषा से ये शब्द चले आ रहे है।

इसी प्रकार यूरोपीय भाषाओ की अनेक समानताओं का आधार एशियाई भाषाओं का प्रभाव हो सकता है; इन समानताओं से यह सिद्ध नही होता कि वे किसी आदि भाषा मे भी वर्तमान थी। गो शब्द के बारे मे प्रचलित मत यह है कि यह सुमेरियन शब्द है; इसी प्रकार परशु का आदि रूप पिलक्कु अक्कादी भाषा का शब्द माना जाता है। यदि भाषाविदों की गो और परशु सम्बधी धारणाओ को सत्य माना जाय तो यही सिद्ध होगा कि भारत-यूरोपीय भाषाओ मे गो और परशु शब्द सामान्य है, पर उन्हें आदि आर्य भाषा का अंग नही माना जा सकता। जर्मन-समुदाय की भाषाओं मे धरती के लिए एर्डे (या एर्दे) शब्द है; डैनिश और स्वीडिश मे योर्ड। इससे अनुमान यह होगा कि यह आदि जर्मन भाषा का शब्द होगा। यह बिल्कुल संभव है कि जर्मन जनों मे धरती के लिए कोई अन्य शब्द प्रचलित रहा हो और इसी परिवार के इस ऐर्डे या योर्ड ने बाहर से आकर उसे स्थान-च्युत कर दिया हो। होरनी के मत से यह अरबी शब्द अर्दन का समरूप है। इसी प्रकार स्लाव भाषाओं मे मार्ग के लिए "दरोगा" शब्द बैबिलोनी "दरगु" है। वृक्ष के लिए स्लाव "द्रोवो" हिब्रू "लोब" है। सीग के लिए लैटिन "कोर्नु" अरबी "करनुम्" है (और दोनों का सम्बध संस्कृत श्रृंग से हो सकता है, श के क मे परिवर्तित होने से करनुम् और कोर्नु रूप बने, 'श' के 'ह' में परिवर्तित होने से अंग्रेजी हॉर्न बना)। यह तो हुआ होरनी का मत। लैटिन परिवार की भाषाओं की एक विशेषता ग्रीक और जर्मन परिवारो की तरह निश्चयार्थक शब्दों का प्रयोग है जिन्हे अंग्रेजी मे डेफिनिट आर्टिकल कहते है। जैसे धरती के लिए इतालवी ला तेर, स्पेनी ला तिएरा, इतालवी [illegible]

ता (याद) के लिए उक्रैनी मोस्यत्त, रूसी पूत (पथ) के लिए श्ल्याख, बीमा (छत) के लिए पत्रीवृल्या, रेच (भाषण) के लिए मोवा, स्त्राना (देश) के लिए क्रईना (रूसी में 'क्राइ' प्रदेश या सीमान्त के लिए ही प्रयुक्त होता है), उज़िन (शाम का भोजन) के लिए वेचेर्या (रूसी वेचेर, सध्या), उत्रो (सवेरा) के लिए रानोक, गोल्म (पहाडी) के लिए गाँव, ख़रोशो (सुन्दर) के लिए गार्नो, शाग (कदम) के लिए क्रोक, सोवेत (सोवियत) या पचायत के लिए भी उक्रैनी का अलग शब्द है रादा, गोरोद (नगर) के लिए मिस्तो (लियुमानी के समान), जदेस (यहा) के लिए तूत, काक (कैसे) के लिए याक, पख़ात् (जोतने) के लिए ओराति (परिनिष्ठित रूसी में यह क्रिया नही है, यद्यपि बोलियों मे ओरात् है), पल्चात् (पाना) के लिए ओदेर्झिवात्, पनिमात् (समझना) के लिए रोज़ुमीति, स्त्रोईत् (बनाना) के लिए बुदुवाति (भी), पोतेर्यात् (खोना) के लिए जगुबीति, प्रयातात् (छिपाना) के लिए खोवाति, झेच् (जलाना) के लिए पेक्ति, उमेरीत (मरना) के लिए उमेन्शुवाति शब्द हैं। साधारणत. एक परिवार की भाषाओ मे दिशाओ के लिए एक से शब्द होते हैं। किन्तु रूसी-उक्रैनी मे पूर्व के लिए वस्तोक और स्खिद, पश्चिम के लिए जापद और जाखिद, उत्तर के लिए सेवेर और पीवृनिच्, और दक्षिण के लिए यूग और पीवृदेन शब्द हैं। दिनों के नाम साधारणतः मिलते हैं किन्तु इतवार के लिए रूसी मे वस्क्रेसेने, उक्रैनी मे नेदील्या, मगल के लिए रूसी मे वतोर्निक, उक्रैनी मे वीवृतरोक शब्द हैं। मूल शब्द-भडार मे जहा इतना भेद हो, वहा उक्रैनी और रूसी की तुलना अग्रेजी के ब्रिटिश और अमरीकी रूपो से कैसे की जा सकती है ? लैटिन परिवार की भाषाओ की तरह स्लाव परिवार की भाषाओ की सामूहिक सम्पत्ति के अलावा उनकी निजी शब्द-सम्पत्ति भी है। लैटिन परिवार की तरह स्लाव भाषा-परिवार भी भिन्न दिशाओं से आये हुए भिन्न प्रकृति के तत्वों से बना है। आदि भाषा की कल्पना से इस भिन्नता और एक ही परिवार की भाषाओं के निजत्व की व्याख्या नहीं होती।

इसी प्रकार जर्मन-परिवार की भाषाओ के मूल शब्द-भडार का अध्ययन करने से यह धारणा पुष्ट नही होती कि ये सब भाषाएं किसी आदि जर्मन भाषा का परिवर्तित रूप हैं। मूल शब्द-भडार मे जहां बहुत बड़ी समानता है, वहां उल्लेखनीय असमानता भी है। अश्व जैसे आवश्यक पशु के लिए जर्मन शब्द लीजिए। लैटिन एकुउस का तो यहा प्रवेश ही नही है, स्वीडिश और डैनिश में हेस्ट और हेग्स्ट शब्द हैं तो जर्मन और डच् मे फ्फेर्ड और पार्ड ... यहां हम भाषाओ के परिवार-निर्माण की प्रक्रिया स्पष्ट रूप मे देखते हैं। एक ही परिवार की दो भाषाएं ऐसी है जिनमे हेग्स्ट या उससे मिलता-जुलता शब्द प्रचलित है और अन्य दो भाषाएं ऐसी है जिनमे फ्फेर्ड या उसका परि-

न्तार; पीटना — इता. बात्तेरे, स्पेनी गोल्पेमार; लाना — इता. दोर्तोरे,
आएर; बनाना — इता. कोस्त्रुइर, फा. बाती (र); पुकारना — इता.
मारे, फा. आपूले (र); ले जाना—इता. पोर्तारे, स्पेनी लेवार, खाना —
मञ्जिआरे, स्पेनी कोमेर; गिरना — इता. कदेरे, फा. तोम्बे (र); जान
इता. अन्दारे, फा. अले (र); सुनना — इता. उदीरे (या सेन्तीरे),
आलान्द्र; मारना (वध करना)—इता. उच्चिदेरे, स्पेनी मतार, फा. तुए (
चमकना — इता. ब्रिल्यारे, रिस्प्लेन्डारे, स्पेनी लुचीर; लेना — इता.
स्पेनी तोमार; जागना—इता. स्वेल्लियारे, स्पेनी देस्पेर्तार; काम करना—
लवोरारे, फा. त्रवाइये (र) इत्यादि।

मूल शब्द-भंडार की इस भिन्नता से पता चलता है कि लैटिन परि
की भाषाओं की, लैटिन से भिन्न, अपनी सम्पत्ति भी रही है, लैटिन से
ग्रहण करने की भी उन सबकी प्रक्रिया एक नहीं है तथा उन्होंने लैटि
अलावा अन्य भाषाओं से भी शब्द ग्रहण किये हैं। इसलिए उनमें पर
बहुत बड़ी समानता होते हुए भी यह कहना गलत होगा कि वे लैटि
आधुनिक रूप हैं या यह कि फ्रांस (या इटली) में दो हजार साल से
बोली जाती रही है।

इसी प्रकार स्लाव भाषाओं की समानताएं देखकर यह कल्पना की
है कि वे सब एक आदि स्लाव भाषा का वर्तमान रूप हैं। रूसी, उक्रैनी,
रूसी भाषाओं के लिए ब्लूमफील्ड ने लिखा है कि वे (एक ही भाषा
"परस्पर बोधगम्य भिन्न रूप हैं, लगभग उतने ही भिन्न रूप जितने
के ब्रिटिश और अमरीकी रूप।" (पृष्ठ ४४)। अंग्रेजी के ब्रिटिश
अमरीकी रूपों में जितना ध्वनि-भेद है, उतना शब्द-भेद नहीं है। अमरी
अंग्रेजी में कुछ नये शब्द गढ़े गये हैं जिनमें से कुछ ब्रिटिश रूप में भी
हो गये हैं, कुछ शब्द अमरीका के आदिवासियों या नीग्रो जातियों की भाषा
लिये गये हैं, कुछ अंग्रेजी के प्राचीन रूप हैं जो परिनिष्ठित ब्रिटिश अंग्रेजी
प्रयुक्त नहीं होते। किन्तु ब्रिटिश और अमरीकी अंग्रेजी—दोनों में मुख्य
प्रकार, किन्तु आदि एक ही है जिसके कारण एक भाषा मानना ही उचित

[illegible] अवश्य प्रचलित है। [illegible] शब्द के लिए हेम्ट और पृथ्वे शब्द दो गोत्रों से आये हैं, ये दो गोत्र पहले भिन्न थे, अब मिलकर एक हो गये हैं। ऐसे ही अनेक गोत्रों के मिलन से भाषा-परिवार का निर्माण होता है। जब इसमें एक गोत्र बलवान सिद्ध होता है या कई गोत्रों से आये हुए कुछ शब्द सामान्य रूप से अनेक बोलियों या भाषाओं में स्वीकृत हो जाते हैं, तो हम इन सामान्य तत्वों के आधार पर उन सभी बोलियों को एक ही मूल गोत्र की उपज मान बैठते हैं।

लैटिन और स्लाव परिवारों में आकाश या बादल के लिए सम शब्द मिलता है लेकिन जर्मन में इसके लिए शब्द है व्होल्के। डेनिश में भिन्न शब्द स्काई है और स्वीडिश में मोल्न। आकाश जैसी साधारण कल्पना के लिए एक परिवार की चार भाषाओं में तीन भिन्न-भिन्न शब्द हैं। अन्धकार के लिए जर्मन में डुकेलहाइट है तो डेनिश में मोर्के। धूल के लिए जर्मन स्टोब, स्वीडिश डम, जंगल के लिए जर्मन व्हाल्ट, डच बोस, स्वीडिश स्कोग; पहाड़ी के लिए जर्मन ह्यूगेल, डेनिश बाक्के, समुद्र के लिए जर्मन जे (अंग्रेजी सी), डेनिश हाव्न; मेघगर्जन के लिए जर्मन डोनेर (अंग्रेजी थडर), स्वीडिश अस्क; जौ के लिए जर्मन गेर्स्टे, डेनिश बिग, स्वीडिश कोर्न; गेहूं के लिए जर्मन व्हाइत्सेन, डच तर्व, गांव के लिए जर्मन डोर्फ, स्वीडिश बी, लड़के के लिए जर्मन युंगे, डेनिश द्रेंग, स्वीडिश गोसे; बच्चे के लिए जर्मन किंट, स्वीडिश बार्न; लड़की के लिए जर्मन मैड्खेन, डेनिश पिगे, स्वीडिश फ्लिका; नारी के लिए जर्मन फ्राउ, स्वीडिश विवना; अग्नि के लिए जर्मन फोयर, स्वीडिश एल्ड, मक्खन के लिए जर्मन बुटेर, स्वीडिश स्मोयर; मांस के लिए जर्मन फ्लाइश, स्वीडिश कोयट, कुल्हाड़ी के लिए जर्मन आक्स्ट, डच बियल; कुदाल के लिए जर्मन हाक्के, डच शोफेल; हंसिया के लिए जर्मन जेंसे, डेनिश ले; भोजन के लिए जर्मन नारुंग, डच् वोयड्सेल। क्रियाओं में खाने के लिए जर्मन एसेन, डेनिश स्पिज़े; करने के लिए डच् डोएन (अंग्रेजी डू, जर्मन टुन), स्वीडिश गोयरा; काम करने के लिए जर्मन आरबाइटेन, डच् में इसका समरूप आरबाइडेन है, साथ ही भिन्न शब्द व्हेर्कन भी है जिससे अंग्रेजी 'वर्क' सम्बधित है; लाने के लिए जर्मन ब्रिंगेन, स्वीडिश हैम्टा; ले जाने के लिए डच् द्रागेन, डेनिश बाएरे; मरने के लिए जर्मन स्टेर्बेन, स्वीडिश डोय (अंग्रेजी डाइ); हंसने के लिए जर्मन लाखेन, स्वीडिश स्क्राट्टा; प्यार करने के लिए जर्मन लीबेन, स्वीडिश एल्स्के; बनाने के लिए जर्मन माखेन, स्वीडिश गोयरा; खेलने के लिए जर्मन स्पीलेन, स्वीडिश लेका; दौड़ने के लिए [illegible] रेनेन, स्वीडिश लोयपा; धोने के लिए जर्मन व्हाशेन, स्वीडिश त्वेत्ता; [illegible] लिए रूसी [illegible] जर्मन व्हाइनेन, डेनिश ग्राएडे; उत्तर देने के लिए जर्मन आंट-[illegible] (नक्षत्र) के [illegible] स्वर। कुछ अन्य साधारण शब्दों का भेद इस प्रकार है: [illegible] लिए सेल्यानिन शब्द, डच् अस्टेर, स्वीडिश बकोम; दूर—जर्मन व्हाइट, डेनिश

साग्ट; निकट—जर्मन नाह्, डच् डिस्टबियू; पुन:—जर्मन व्हीडेर, डेनिश इगेन (अंग्रेजी अगेन); सदा—जर्मन इमेर, डेनिश आल्टिड; कभी नही—जर्मन नी (अंग्रेजी नेवर), डेनिश आल्ड्रिग; अवसर—जर्मन ओपट, डच डिकविल्न; शीघ्र—जर्मन वाल्ट, डेनिश स्नार्ट; वसन्त—जर्मन फ्रूह्लिग, डच लेटें (इससे तुलना करनी चाहिए 'वसन्त' की जो संस्कृत-परिवार की सभी भाषाओं में प्रचलित है); समय—जर्मन त्साइट (शामी परिवार से आया हुआ शब्द, हिन्दी साअत), डच् आदि में टिड; चमकीला—स्वीडिश और डेनिश में ल्युस और लिन संस्कृत रूच् से, किन्तु जर्मन का अपना शब्द है हेल, उसीसे डच् में हेल्डर; गन्दा—जर्मन श्मुत्सिग, डच फुइल; तैयार—जर्मन बेराइट या फेर्टिग, डच क्लार; पका हुआ—जर्मन राइफ (अंग्रेजी राइप), स्वीडिश मोगेन।

जर्मन भाषा-परिवार के मूल शब्द भंडार के अध्ययन से वही परिणाम निकलता है जो लैटिन और स्लाव भाषा-परिवारो के अध्ययन से निकला था। आदि जर्मन भाषा की कल्पना निराधार है। जर्मन-परिवार की प्रमुख भाषाओ के निर्माण मे न जाने कितने कबीलो की बोलियो का योगदान है। उन बोलियो का समग्र रूप अब प्राप्त नही है किन्तु विशुद्ध आदि-आर्य भाषा से जर्मन का सम्बध जोड़ने वालो को तंग करने के लिए वे कबीले अपने सैकडो शब्द छोड गये हैं। कही जर्मन परिवार मे संस्कृत कुल के शब्द जमे हुए हैं, कहा शामी परिवार के मेहमान अपने अस्तित्व की घोषणा कर रहे हैं, कही एक ही वस्तु के लिए भिन्न-भिन्न डच्, जर्मन, स्वीडिश और डेनिश शब्द यह घोषित करते हैं कि वे परस्पर भिन्न बोलियो वाले कबीलो की देन हैं। भाषा-तत्वो का जितना मिश्रण अन्य परिवारो मे हुआ है, उससे कम जर्मन-परिवार मे नहीं हुआ। इस पर भी कोई आदि-जर्मन या आर्य भाषा का आग्रह करे और जर्मन-परिवार की भाषाओ को उसी का वर्तमान 'परिवर्तित' रूप माने तो इसका कारण उसकी समाज और नस्ल सम्बधी भ्रान्त धारणाएं ही मानी जायेंगी। वह जैसे पितृसत्ताक परिवार से भिन्न किसी अन्य परिवार की कल्पना नहीं कर सकता और इस पितृसत्ताक परिवार वाले समाज का सम्बध नस्ल से जोडता है, वैसे ही भाषा के क्षेत्र मे माता और पुत्री का सम्बध स्थापित किये बिना वह भाषाओ के विकास की कल्पना ही नहीं कर सकता।

आदि आर्य-भाषा की देखादेखी आदि द्रविड भाषा की कल्पना की गयी है। इस आदि द्रविड से दक्षिण भारत की प्रमुख भाषाओ की उत्पत्ति मानी गयी है। ध्वनि और व्याकरण सम्बधी भेदो के अलावा द्रविड भाषाओ मे मूल शब्द-भंडार सम्बधी भेद भी महत्वपूर्ण है। संस्कृत परिवार की भाषाओ मे जहा संख्यावाचक एक शब्द का सर्वत्र व्यवहार होता है, वहा तमिल में ओंण्णु या ओंरु शब्द है और तेलुगु मे ओकटि। धाड के लिए तमिल शब्द

एँ. है, तेलुगु एनिमिदि; नौ के लिए तमिल ओन्बदु, तेलुगु तोम्मिदि; पचास के लिए तमिल ऐम्बदु, तेलुगु याभै। इसी तरह सर्वनामों में महत्वपूर्ण भेद है। मैं के लिए तमिल और तेलुगु में क्रमशः नान् और नेनु शब्द है। इनमें नकारमूलक एक सामान्य सर्वनाम स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु हम के लिए तमिल में नाम्, नांगळ शब्द है और तेलुगु में इनसे भिन्न मेमु शब्द है। इसी तरह तुम के लिए तमिल-तेलुगु के नींगळ और मीरु शब्द हैं; वह (पुल्लिंग) के लिए अवन् और अतडु, वह (स्त्रीलिंग) के लिए अवळ और आमे, वे (स्त्री और पुल्लिंग दोनों) के लिए अवर्गळ और वारु। शायद ही किसी भाषा-परिवार के सर्वनामों में इतना भेद मिले जितना द्रविड़ भाषाओं के सर्वनामों में मिलता है। शब्द-भंडार में सर्वनाम अपेक्षाकृत अधिक स्थिरता का परिचय देते हैं। अन्य भाषाओं और संस्कृतियों के प्रभाव से जब दूसरे शब्द पदच्युत होने लगते हैं, तब सर्वनाम धैर्य से अपनी प्राचीन सार्वभौम सत्ता की रक्षा करते हैं। द्रविड़ भाषाओं में सर्वनामों की भिन्नता इस बात का दृढ़ प्रमाण है कि ये भाषाएं एक आदि भाषा से उत्पन्न नहीं हुईं वरन् उनके निर्माण में—उनके अत्यन्त मूलभूत तत्वों के निर्माण में भी—अनेक भाषा-परिवारों का योग रहा है।

इसी तरह का भेद क्रियाओं में देखा जाता है। खाना के लिए—तमिल शाप्पि, तेलुगु तिनु, कन्नड उण्णु; पीना—त. कुडि, ते. त्रागु; देखना—त. पार, ते. चूचु; सुनना—त. केळ, ते. विनु; बैठना—त. उक्कार, ते. कूर्चु; बोलना—त. पेशु, ते. माटलाडु; देना—त. कॉडु, ते. इय्यु, पढ़ना—त. पडि, ते. चदुवु। घोड़े के लिए तमिल शब्द है कुदिरै, तेलुगु शब्द है गुर्रमु। मुंह के लिए तमिल है वाय, तेलुगु है नोरु। अच्छे के लिए तमिल है नल्ल, तेलुगु है मंचि। इसी प्रकार मूल शब्द-भंडार के हर क्षेत्र में यथेष्ट भेद देखा जा सकता है। ऊपर—मलयालम् मुकळिल्, तेलुगु पैन, नीचे—मल. ताळ, ते क्रिंद, कन्नड़ केळगे, बाहर—मल. पुरत्तु, ते. बयिट, कन्नड़ होरगे, अंदर—मल. अकत्तु, ते. लोपल, कन्नड़ वडगे; आगे—मल. मुम्पिल, ते. एदुट, पीछे—मल. पिन्निल, ते. वेनुक, कन्नड़ हिन्दे इत्यादि।

कुछ लोग मलयालम् को तमिल की पुत्री मानते हैं। दोनों भाषाओं में काफी समानता है किन्तु मलयालम् तमिल से उत्पन्न नहीं हुई। भात को मल. में चोरु कहते हैं, तमिल में शादम (कन्नड़ कूडु)। सुपारी मल. में अटक्क है, तमिल में पाक्कु। तमिल और मलयालम् में दिशाओं के नाम सामान्य हैं किन्तु पश्चिम के लिए तमिल शब्द है मेर्कु और मलयालम् में उससे भिन्न शब्द है पटिञ्ञाह। दिनों के नाम के साथ जैसे हिंदी में वार शब्द लगता है, वैसे ही तमिल में किळमै का प्रयोग होता है।

ट्‌च जाता है—यथा इनकार के लिए तमिल है आदी किट्टमे, मल. मे ...लवराट्‌च।

तमिल मे छोटा के लिए उरु, मलयालम् मे चुन्दु (कन्नड़ तुटि); ...गो के लिए तमिल म तम्बि है किन्तु मलयालम् का शब्द है वेळुलम्। ...रा—त. मे पॉन्च, मल मे वनिय, बुरा—त मे कॅटु, मल मे चीत। ...मिल और मलयालम् मे भिन्न विशेषण जोड़कर पितावाचक शब्द मे चाचा ...दि के लिए नये शब्द बनते हैं, तमिल—पेरियप्पा, बड़े चाचा, मल. ...िच्चन्छन्, चाचा, दादा के लिए तमिल का संक्षिप्त शब्द है ताता किन्तु मल. ...। विशेषण जोड़कर बनता है मच्छनुटच्छन्, नानी के लिए तमिल शब्द है ...रन्, मल. मे कहेंगे मवन्टे मकन्। तमिल मे नाना के लिए वही शब्द है जो ...दादा के लिए—ताता, किन्तु मल मे नाना के लिए कहेंगे मुत्तच्छन्। तमिल ...मे दादी और नानी के लिए एक ही शब्द है पाट्टि, मल मे दादी के लिए है अच्छन्टम्म, नानी के लिए अम्मूम्म। इस तरह के भेद क्रियाओ मे भी हैं। सोना—त. तुगु, मल. उरङ्डुक; रोना—त. अळु, म करयुक; देखना—त पार, मल. कागुक या नोक्कुक; पढ़ना—त. पडि, मल वोयिक्कुक; कहना—त. सॉल, मल. परयुक; बोलना—त पेसु, मल. ससारिक्कुक इत्यादि।

मलयालम और शेष द्रविड भाषाओं मे बहुत बड़ा अन्तर यह है कि पुरुष-वचन आदि के अनुसार तमिल-तेलुगु मे जहां क्रिया-रूप बदलते हैं, वहां मलयालम मे वे अपरिवर्तित रहते हैं—यथा 'वरुन्नु' मैं आता हू, तू आता है, वह आता है, हम आते हैं, तुम आते हो, आप आते हैं, वे आते हैं—वर्तमान काल के इन सभी रूपो के लिए प्रयुक्त होगा। यह आश्चर्य की बात होगी कि तमिल मे उत्पन्न होकर मलयालम् भाषा व्याकरण मे इतनी स्वतत्र हो गयी हो! लिंग-वचन और पुरुष के कारण क्रिया का रूप बदलना—यह एक तरह की भाव-प्रकृति हुई; इनके कारण क्रिया-रूप का न बदलना—यह दूसरी तरह की भाव-प्रकृति हुई। दोनो का अन्तर इस बात की ओर सकेत करता है कि मलयालम तथा अन्य द्रविड भाषाओ की व्याकरण-व्यवस्था मे मौलिक अन्तर है। इससे मलयालम् के भिन्न मूल स्रोत का पता चलता है।

यहां हमने द्रविड भाषाओ की भिन्नता पर जोर दिया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि उनमे बहुत बड़ी समानता नही है, विशेष कर तमिल और मलयालम् मे। किन्तु समानता इस धारणा का निश्चित प्रमाण नही है कि दोनो का मूल स्रोत एक है अथवा उनमे माता और पुत्री का सम्बंध है। दो भाषाओ मे समानता के अनेक कारण हो सकते हैं। यदि कोई कबीला या जाति घुमन्तू ... है कि वह अन्य स्थानो की बोलियो से शब्द ... क्रमण करते हैं, वहा के लोगो को

जीत लेते हैं या उनके साथ बस जाते हैं, तब भी भाषाओं के मिश्रण की प्रक्रिया देखी जाती है। अनेक कबीले परस्पर सम्पर्क की सुविधा के लिए किसी एक कबीले की भाषा को सामान्य व्यवहार के लिए अपना सकते हैं, ऐसी स्थिति में यह मुख्य भाषा अन्य कबीलों की भाषाओं को भी प्रभावित करेगी।

बस्तर की हलबी बोली हलबा जाति की भाषा है। डॉ. विनयमोहन शर्मा के अनुसार "वह जाति जहा-जहा गयी, वहा-वहां की स्थानीय बोलियो का अपनी बोलियो मे समावेश करती गयी।"[1] एक हलबी कहानी में चूहा शेर से कहता है, "मोचो मारले से तुचो का बड़ाई मीलोते।" यहां मोचो और तुचो मराठी की षष्ठी विभक्ति चिन्ह 'चा' के अनुकरण पर बनाये गये हैं। "को नी दिन मे आपलो येचे दाया का बदला दीहो।" इस वाक्य में आपलो मराठी की द्वितीया विभक्ति चिन्ह 'ला' के सम पर बना है; येचे मराठी की षष्ठी विभक्ति चिन्ह का अनुसरण करता है। हलबी का मूलाधार हिन्दी का है। लेकिन विभक्ति-चिन्ह जैसे भाषा के आधारभूत तत्व भी अस्थिर सिद्ध हुए हैं और उन्होने मराठी रूपों के सामने अपना स्थान छोड दिया है। इसी प्रकार मालवी मे हिन्दी, राजस्थानी और गुजराती रूपो का मिश्रण हुआ है: "छोटो छोरो सब अपनो मालमत्तो लईने कोई दूसरा देस चल्यो गयो।"[2] यहा 'लई ने' गुजराती प्रभाव की ओर सकेत करता है और 'चल्यो गयो' राजस्थानी आधार की ओर। 'दन मे' का 'मे' शुद्ध हिन्दी रूप है। हैदराबाद की दखिनी मे 'भूलना नको', 'उठने का नामई च नहीं लेते' जैसे प्रयोगो मे मराठी का प्रभाव ग्रहण किया गया है।[3] अंग्रेजी का प्राचीन सर्वनाम है 'ही' (he)। पहले इसी का बहु-वचन हिए या ही प्रयुक्त होता था। कर्ता और कर्म के लिए यही रूप थे। 'उनका' के लिए हिग्रोरा और 'उन्हे' के लिए 'हिम्रोम' रूप प्रचलित थे। इगलैंड पर डैनिश जनो ने आक्रमण किया, उस देश के कई हिस्सो मे वे बस गये। उनके सर्वनाम दे, देम, देग्रर (they, them, their) ने अंग्रेजी के ही, हिम्रोरा, हिम्रोम आदि रूपों को पदच्युत कर दिया और वे अंग्रेजी भाषा का अग बन गये। हेनरी ब्रैडले ने इस सम्बध मे लिखा है, "ऐसा बहुत कम होता है कि एक भाषा अपनी व्याकरण-व्यवस्था को दूसरी भाषा-रूपो से समृद्ध करे, किन्तु अंग्रेजी ने

---

१. डॉ. विनयमोहन शर्मा, बस्तर की हलबी बोली; सम्मेलन पत्रिका, इलाहाबाद, पौष सं० २०११।

२. श्री श्याम परमार, भाषा-विज्ञान में मालवी का स्थान; वीणा, मार्च-अप्रैल, १९५४।

३. श्रीराम शर्मा, दक्खिनी का गद्य और पद्य, पृ. ४५६।

[illegible] एक भाषा से दूसरी भाषा की उत्पत्ति मानना आवश्यक नहीं है।

सामन्ती व्यवस्था से पहले मानव-समाज के संगठन का रूप जन या गण, कबीला या ट्राइब रहता है। एंगल्स ने "परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और राज्य-सत्ता की उत्पत्ति" शीर्षक अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में लिखा है कि अमरीकी आदिवासी जन की विशेषता यह थी कि उनकी निवास-भूमि (अथवा उनकी अधिकृत धरती) निश्चित थी। निश्चित निवास-भूमि सभी कबीलों की विशेषता नहीं होती। अनेक कबीले घुमन्तू जीवन बिताते हैं; कुछ कबीले निश्चित निवास-भूमि में रहने पर भी बाह्य कारणों से घुमन्तू जीवन बिताने पर विवश किये जा सकते हैं। यह जन या कबीला सामाजिक संगठन जड़ या स्थिर न होकर काफी लचीला साबित होता है। इस तरलता के कारण सदा आन्तरिक न होकर बाह्य भी होते हैं। एंगल्स ने अमरीकी सेनेका जन के बारे में लिखा है कि जो युद्ध-बन्दी मारे न जाते थे, वे जन के किसी गोत्र द्वारा अपने में मिला लिये जाते थे। कभी-कभी कुछ गोत्रों के सदस्यों की संख्या इतनी कम हो जाती थी कि उन्हें दूसरे गोत्रों से 'सामूहिक रूप में' नये सदस्य बनाने पड़ते थे। इस प्रकार प्राचीन जनों का रक्त-सिद्धान्त काफी लचीला था, आत्मरक्षा और जीवन-क्षमता की आवश्यकताओं के अनुरूप उसमें परिवर्तन हुआ करता था और इस परिवर्तन का असर भाषा पर भी पड़ता था।

---

१. हेनरी ब्रैडले, द मेकिंग ऑफ़ इंगलिश, १९२५, पृष्ठ ५४।

मिलने से इस नये जन की रचना हुई थी।[1] इसी प्रकार कुरु और पाञ्चालों ने अपना संयुक्त गण बनाया। प्राचीन ग्रंथों में कुरु-जन का अलग उल्लेख कम मिलता है, उनका नाम साधारणतः पाञ्चालों के साथ आता है और "बहुधा स्पष्ट रूप से संयुक्त जाति के रूप में कुरु-पाञ्चाल का उल्लेख किया जाता है।"[2] इसी प्रकार अंधक और वृष्णि जनों ने अपना संघ बनाया था जिसके नेता कृष्ण की कठिनाइयों का वर्णन महाभारत में मिलता है। बौद्ध काल में विदेह और लिच्छवि तथा अन्य जनों ने मिलकर वज्जि संघ बनाया था।

प्रत्येक समाज को बाह्य और आन्तरिक दोनों तरह के विरोधों का सामना करना पड़ता है। वर्तमान समय में अमरीकी या ब्रिटिश पूंजीवाद को अपने मजदूर वर्ग से आन्तरिक विरोध का सामना इतना अधिक नहीं करना पड़ रहा है जितना उपनिवेशों की जनता के बाह्य विरोध का। मानव इतिहास में इस समय इस बाह्य विरोध की प्रमुख भूमिका है। सामाजिक विकास की ऐसी मंजिल में, जब उत्पादन और वितरण के साधन कुछ लोगों के हाथों में केन्द्रित न हुए हों, जब व्यक्तिगत सम्पत्ति, वर्ग और राज्यसत्ता का पूर्ण अभ्युदय न हुआ हो, अर्थात् समाज को अग्रसर करने के लिए आर्थिक हितों ने वर्ग संघर्ष का रूप न लिया हो, उस मंजिल में यह स्वाभाविक है कि आन्तरिक विरोध से अधिक बाह्य कारणों से जनों का विघटन और नव-निर्माण हो। इन कारणों में युद्ध, आत्मरक्षा और आक्रमण मुख्य हैं। इसलिए दो कबीले मिलकर शक्तिशाली बनें, यह स्वाभाविक है। यही नहीं, आवश्यकतानुसार अनेक जन मिलकर अपने विशाल संघ भी बनाते हैं। एंगेल्स ने उन पांच अमरीकी आदिवासी जनों की चर्चा की है जिन्होंने समानता के आधार पर अपना स्थायी संघ बनाया था। "ये एक ही भाषा की निकट-सम्बंधित बोलियां बोलते थे।" एंगेल्स मानते थे कि उनकी बोलियां एक ही भाषा की विभिन्न शाखाएं थीं। संघबद्ध होने पर वे किस भाषा का व्यवहार करते थे? वे उस मूल भाषा का व्यवहार करते थे जिससे उनकी बोलियां उत्पन्न हुई थीं या उनकी बोलियों में ही उनके आदान-प्रदान का माध्यम कोई एक बोली बन गयी थी? स्पष्ट है कि मूल भाषा कोई रही भी हो तो उसका प्रचलित बोलियों से अलग कोई अस्तित्व न था। एंगेल्स के अनुसार "सामान्य भाषा, जिसमें केवल बोलियों का भेद था, उनका एकवंशीय होना प्रकट करती थी और उसका प्रमाण थी।" यदि यह सामान्य भाषा व्यवहार में आती थी, तो वह उन बोलियों में से ही कोई एक रही होगी।

---

१. द वैदिक एज, पृष्ठ २४६।

२. विमला चरन लॉ, ट्राइब्स इन ऐन्शेन्ट इंडिया, पूना, १९४३, पृष्ठ १९-२०।

[illegible] से यह जान पड़ता है कि ये खड़ी बोली हिन्दी की [illegible] है। यह परि-निष्ठित हिन्दी खड़ी बोली की, बोली रूप में अब भी है। ब्रज, अवधी आदि की तरह खड़ी बोली भी अनेक बोलियों का समूह थी और है, वह किसी रूप में भी 'कुरुजनपद' की परिनिष्ठित भाषा नहीं थी। एक बोली के आधार पर हिन्दी का विकास हुआ। इस हिन्दी ने ब्रज की दूसरी बोलियों को प्रभावित करना शुरू किया। अवधी में 'मैं' सर्वनाम न था, हम से ही काम चलता था। अब मैं का प्रयोग साधारण हो गया है। ब्रज में 'हौं' का बोलबाला था लेकिन 'मैं' ने उसे भी खदेड़ना शुरू कर दिया है, कहना चाहिए कि बहुत पहले शुरू कर दिया था (मैया मोरी मैं नहिं माखन खायो), क्योंकि जातीय भाषा के रूप में खड़ी बोली का प्रसार अंग्रेजी राज से पहले की प्रक्रिया है। ब्रज, अवधी और खड़ी बोली में उत्तम पुरुष एकवचन सर्वनाम 'मैं' का सर्वत्र अस्तित्व देख कर यदि कोई यह परिणाम निकाले कि ये सब एक ही 'मैं' सर्वनाम सम्पन्न आदि भाषा से उत्पन्न हुई हैं, तो यह भ्रान्त धारणा होगी। इसी प्रकार मलयालम और तमिल में सामान्य सर्वनाम देख कर निश्चित रूप से यह परिणाम नहीं निकाला जा सकता कि उनका आदि स्रोत एक है अथवा उनमें से एक भाषा दूसरी से उत्पन्न हुई है। यहां समानता से अधिक भिन्नता महत्वपूर्ण है। यदि मलयालम में ऐसे तत्व हों जो न तमिल के हों, न संस्कृत के हों, तो संभावना यही है कि वे मलयालम के अपने होंगे। दो भाषाओं की समानता के कारण अनेक हो सकते हैं, इस समानता से आदि मूल स्रोत की स्थापना अनिवार्यतः सिद्ध न होगी। इन अनेक कारणों में प्राचीन जनों का संघबद्ध होना एक प्रधान कारण है।

एंगेल्स ने पांच अमरीकी आदिवासी जनों का हवाला दिया है। इन्होंने *अपना स्थायी संघ बनाया था। उनकी एक सामान्य भाषा थी जिसने विभिन्न* बोलियों में आंशिक समानता स्थापित की होगी। ये जन उत्तरी अमरीका में रहते थे। दक्षिण अमरीका में वीर इन्का जाति रहती थी जिसने स्पेन से आने वाले दस्युओं का मुकाबला किया था। ये उत्तर में कोलम्बिया से लेकर मध्य चिली तक तीन हजार मील के इलाके में फैले हुए थे; पश्चिम में प्रशान्त महासागर के तट से लेकर अमेजन वनों तक इनका अधिकार था। इतने विशाल प्रदेश में एक भाषा के बिना वे अपना प्रभुत्व कायम न रख सकते थे। "उनकी एक सामान्य भाषा थी 'किचुआ' जिसे उनके अधीन कबीले अपनी भाषा के अतिरिक्त जानते थे।"[1] वैदिक काल में विश्वामित्र ने पुरु, यदु आदि दस जनों

---

१. विलियम जेड फोस्टर, आउटलाइन पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ द अमेरिकाज, न्यूयॉर्क, १९५१, पृष्ठ ३६।

है। आधुनिक भाषाशास्त्री इन्हें एक आदि-स्रोत से उत्पन्न नहीं मानते। एगेन्स की मान्यता यह थी कि इनका स्रोत एक था, किन्तु कबीलों के विघटन और और प्रसार से इनमें बहुत बड़ा भेद उत्पन्न हो गया, "भाषाएं इतना ही नहीं बदल गयीं कि एक के बोलनेवाले दूसरों को समझ न सकें, वरन् यहां तक बदल गयीं कि उनकी मूल एकता का प्रत्येक चिह्न मिट गया"। यूनान और भारत में यह मूल एकता बनी रही और उत्तरी अमरीका में मिट गयी, यह आश्चर्य की बात होगी। अमरीकी भाषाएं शब्द-भंडार में ही भिन्न नहीं हैं, उनका गठन, उनकी भाव-प्रकृति भी भिन्न-भिन्न है। इन भाषाओं की एक से अधिक भिन्न स्रोतों से रचना हुई है। यद्यपि अमरीकी आदिवासियों में नस्ल और वर्ण की बहुत बड़ी समानता है, किन्तु भाषाओं का गठन शारीरिक गठन की तुलना में हजार गुना विविध है। अमरीकी आदिवासियों की भाषाएं अच्छी तरह सिद्ध करती हैं कि भाषा-गठन नस्ल के आधार पर नहीं होता।

यदि इन्का जन की भाषा और उससे प्रभावित अन्य बोलियां आज जीवित होतीं, तो शायद वहां भी हम कुछ-कुछ वैसी ही समानता देखते जैसी उत्तर भारत या यूनान की भाषाओं में देखते हैं। उत्तरी अमरीका के आदिवासी जन जहां-तहां गणबद्ध हो रहे थे, किन्तु यह प्रक्रिया छिन्न-भिन्न हो गयी और उनकी भाषाएं परस्पर समानता उत्पन्न न कर सकीं। समानता जन्मजात ही नहीं होती, बाद में भी उत्पन्न हो जाती है। यूनान या उत्तर भारत की भाषाओं में समानता न भी रही होगी, तो भी एथेंस या भरत-जन के अधिनायकत्व के कारण वह समानता उत्पन्न हुई होगी। यूरोप की उन भाषाओं का उदाहरण लीजिए जो लैटिन परिवार के अन्तर्गत हैं। इनमें इतनी बड़ी समानता है कि लोग इन्हें लैटिन का ही आधुनिक रूप मानते हैं। इटली, फ्रांस, स्पेन और पुर्तगाल की मूल भाषाएं बिल्कुल मिट गयीं, यह कहना गलत है। अगर वे भाषाएं बिल्कुल मिट जातीं तो जैसे अमरीका, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड में अंग्रेजी ही बोली जाती है, वैसे ही इटली, फ्रांस आदि में एक ही भाषा बोली जाती जो वास्तव में लैटिन होती, उसका आधुनिक रूप भी नहीं। उस लैटिन तथा प्राचीन लैटिन में उतना ही अन्तर होता जितना अठारहवीं सदी की अंग्रेजी और आधुनिक अंग्रेजी में है, अर्थात् मूलतः कोई अन्तर न होता। किन्तु लैटिन-परिवार की आधुनिक भाषाओं तथा प्राचीन लैटिन में बहुत अन्तर है, विशेष रूप से गठन या भाव प्रकृति की दृष्टि से। लैटिन-परिवार की भाषाओं में परस्पर यथेष्ट अन्तर है, विशेषकर मूल शब्द-भंडार की दृष्टि से। इससे सिद्ध हुआ कि स्पेनी, पुर्तगाली, इतालवी और फ्रांसीसी भाषाएं एक ओर तो लैटिन से और परस्पर भी भिन्न हैं; यह उनके मौलिक निजत्व का प्रमाण है। दूसरे उनमें बहुत समानता है जिसका आधार लैटिन

है। अतः भिन्न भाषाओं में जहां समानता नहीं थी, वहां समानता उत्पन्न हुई; वे पहले जिस परिवार की सदस्य नहीं थी, उसकी सदस्य बन गयी।

एंगेल्स ने लैटिन के प्रसार के बारे में लिखा था, "जहां ग्रीक भाषा ने मुकाबला न किया, वहां सभी जातीय भाषाओं ने अपभ्रंश लैटिन के सामने घुटने टेक दिये। अब जातिगत भेद न रह गये; गॉल, इबेरियन, लिगूरियन, नोरीकन आदि न रह गये। सभी रोमन बन गये।... विभिन्न प्रान्तों की लैटिन बोलिया एक दूसरे से और भी जुदा होती गयी।" ग्रीक भाषा के अलावा जर्मन-परिवार की भाषाओं ने भी यथेष्ट जीवन-क्षमता का परिचय दिया। फ्रांस और स्पेन मे भी सभी बोलियों ने घुटने नही टेके। बास्क भाषा अपनी स्वाधीनता का झंडा अभी तक ऊंचा किये है। अन्य प्राचीन मूल भाषाएं फ्रांस, इटली आदि की आधुनिक भाषाओं और बोलियों मे अपने अवशेष छोड़ गयी है। एंगेल्स की टिप्पणी से जो तथ्य सिद्ध होता है, वह यह कि एक भाषा के प्रसार से विभिन्न भाषाओं मे समानता उत्पन्न हो सकती है और जो भाषाएं पहले एक परिवार की सदस्य नहीं थी या भिन्न परिवार की थी, वे अब एक नये परिवार की सदस्य बन गयी हैं।

साराश यह कि प्राचीन भाषाओं — अथवा प्राक् सामन्ती व्यवस्था में रहने वाले लोगों की भाषाओं — का अध्ययन करते समय यह याद रखना चाहिए कि कबीला, जन या ट्राइब स्थिर इकाई नहीं है, जन रक्त-सम्बंध पर आधारित होते हुए भी इस सम्बध का बराबर उल्लघन करता है, युद्ध-बन्दियों को अपने में शामिल करता है, आवश्यकतानुसार अजनबियों को अपने मे शामिल करता है, अन्य जनों के साथ स्थायी अथवा अस्थायी संघ बनाता है। अपने पर्यटनशील जीवन मे एक देश के जन दूसरे देश मे पहुंचते हैं। इसी प्रकार अनेक भारतीय या भारतीय सीमान्त के जन यूरोप गये थे। ये 'आर्य' एक प्रदेश मे रहने वाले और एक परिनिष्ठित भाषा बोलने वाले न थे; वे विभिन्न प्रदेशों मे बिखरे हुए थे और मिली-जुली भाषाएं बोलते थे। आदि आर्य-जन की भाषा से संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि भाषाएं उत्पन्न हुई हैं, यह धारणा भ्रांत सिद्ध होती है। इसी प्रकार फ्रांसीसी, इतालवी भाषाएं लैटिन या आधुनिक रूप नहीं हैं। आदि जर्मन, आदि द्रविड़ से सम्बधित धारणाएं इसी प्रकार निराधार हैं। भाषाओं की समानता जन्म जात हो, यह आवश्यक नहीं; वह अनेक सामाजिक कारणों से भी उत्पन्न होती है। इस समानता के आधार पर किन्हीं भाषाओं को एक परिवार के अन्तर्गत मानना सही है, किन्तु उन्हें एक ही आदि स्रोत से उत्पन्न मानना अनिवार्यतः सही नहीं है। एक ही परिवार में भाषाओं की भिन्नता उनकी मौलिक स्वतंत्रता प्रमाणित करती है।

सातवां अध्याय

संस्कृत परिवार और प्राकृत-अपभ्रंश

लैटिन-परिवार की भाषाओं की उत्पत्ति किसी आदि लैटिन से नहीं हुई, न जर्मन, स्लाव, द्रविड़ आदि भाषा-परिवारों की उत्पत्ति अपनी-अपनी आदि भाषाओं से हुई है। इसी प्रकार संस्कृत-परिवार की भाषाओं का जन्म भी संस्कृत से नहीं हुआ। इस परिवार की भाषाओं को हम संस्कृत का आधुनिक परिवर्तित रूप नहीं कह सकते। परिनिष्ठित लैटिन या संस्कृत के व्यवहार की मंजिल बाद को है; उससे पहले की मंजिल वह है जब लैटिन या संस्कृत स्वयं एक बोली थी, उसके साथ उससे मिलती-जुलती अन्य बोलियां भी बोली जाती थीं।

डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने वैदिक भाषा के लिए लिखा है, "लगभग ६०० वर्ष ई. पू. तक अफगान सीमा प्रदेश से बंगाल तक आर्य-भाषा का एक-छत्र साम्राज्य स्थापित हो गया। सर्वप्रथम समस्त आर्य उपभाषाओं में से उपादान लेते हुए एक साहित्यिक अथवा कलात्मक भाषा का निर्माण हुआ।"[1] यहां आर्य भाषा के एकछत्र साम्राज्य पर बहस करने की जरूरत नहीं है, महत्व की बात है, आर्य उपभाषाओं का उल्लेख। साहित्यिक भाषा इन्हीं बोलियों में से एक या अधिक के उपादान लेकर विकसित हुई थी। एकछत्र साम्राज्य रहा भी होगा तो अपने-अपने क्षेत्र में इन अनेक बोलियों का, न कि एक आर्य-भाषा का।

डॉ. चाटुर्ज्या की एक अन्य स्थापना है, "वैसे तो संस्कृत देश के किसी भी भाग में घर की भाषा नहीं थी, हां, हम यों मान सकते हैं कि केवल ईसा-पूर्व की कुछ शताब्दियों में पंजाब तथा मध्यदेश (आधुनिक पश्चिमी उत्तर प्रदेश) की बोलियों पर इसका आरम्भिक स्वरूप आधारित था।"[2]

---

१. भारतीय आर्य-भाषा और हिन्दी, पृष्ठ १८४।

२. उपरोक्त, पृष्ठ १८७।

है।"[1] इस कथन मे आधुनिक भाषाओ की आश्चर्यजनक जानकारी परिलक्षित है, वैदिक भाषा के प्रति अपार श्रद्धा का प्रदर्शन भी है, वैदिक और लौकिक संस्कृत के शब्द-भंडार के तुलनात्मक अध्ययन का निष्कर्ष तो सन्निहित है ही। किन्तु अत्यन्त प्राचीन काल मे ही वैदिक भाषा का क्षेत्र — मध्यदेश — अनेक जनपदो मे बटा हुआ था। डॉ. वर्मा के शब्दो मे "लगभग २४०० पू. ई. से ६०० पू. ई. तक मध्यदेश के जनपद अनेक परिवर्तनों के होते हुए भी सम्पन्न तथा स्वतंत्र रूप मे वर्तमान रहे। गत ढाई हजार वर्षों के साम्राज्यो, राजवंशो और विदेशी आक्रमणकारियो की उथल-पुथल मे यद्यपि इन जनपदों का स्वतंत्र राजनीतिक अस्तित्व आज नही रह गया है, किन्तु इनका व्यक्तित्व प्रादेशिक बोली, संस्कृति तथा सामाजिक संगठन के रूप मे आज भी वर्तमान है।"[2] इन जनपदो का अपना व्यक्तित्व 'आज भी' वर्तमान है; इसका अर्थ यह हुआ कि ढाई हजार साल पहले वह व्यक्तित्व बहुत ज्यादा वर्तमान रहा होगा। इस व्यक्तित्व के उपादानो मे एक महत्वपूर्ण तत्व है प्रादेशिक बोली।

अन्यत्र उन्होने लिखा है, "प्राचीन मध्यदेश अनेक जनपदो मे बटा था। इनका अस्तित्व आज भी है। इनका व्यक्तित्व हिन्दी की प्रधान बोलियो की सीमाओ के रूप मे स्पष्टतया दिखलाई पडता है।"[3] यदि जनपदो की ऐसी भिन्नता संस्कृत के मूल क्षेत्र मे थी, तो यह सहज अनुमेय है कि 'समस्त भारत' मे जनपदो की विविधता और भी अधिक रही होगी। उन प्राचीन भाषाओ की सामग्री कुछ-न-कुछ आधुनिक भाषाओ मे भी सुरक्षित होनी चाहिए।

श्री किशोरीदास वाजपेयी ने बहुत स्पष्टता और दृढता से इस धारणा का खंडन किया है कि हिन्दी की उत्पत्ति संस्कृत से हुई है। जहा ब्लूमफील्ड जैसे भाषा विज्ञानी फासीसी को लैटिन का आधुनिक रूप कहते है, जहां डॉक्टर सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या जैसे पारगत भाषाविद् संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश की सीढियो के बिना आधुनिक भाषाओ तक पहुंच नही पाते, वहा संस्कृत के पंडित होते हुए वाजपेयी जी का यह कहना कि हिन्दी संस्कृत की पुत्री नहीं है, बौद्धिक ईमानदारी की एक अनुकरणीय मिसाल है। ईमानदारी के अलावा यह साहस का भी काम है, क्योकि संस्कृत के प्रति श्रद्धा की होड मे कोई भी हिन्दी की स्वतंत्र सत्ता मानने की ढिठाई नही कर सकता। इसलिए वाजपेयी जी की

---

१. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा : मध्यदेश, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, पृष्ठ २८।

२. उपरोक्त, पृष्ठ २०।

३. उपरोक्त, पृष्ठ ११।

यहा भी बहस इस बात से नही है कि संस्कृत इस देश के किसी भाग की भाषा थी या नही, महत्व की बात यह है कि वह एक निश्चित प्रदे बोलियों पर आधारित थी। ये बोलिया वर्तमान हिन्दी-भाषी क्षेत्र की थीं

अन्यत्र उन्होंने आद्य भारतीय आर्य-भाषा की "विभिन्न प्रादे बोलियो" की चर्चा की है जिसका अर्थ यह है कि यह कल्पित आद्य भार आर्य-भाषा पहले किसी बहु-जन-स्वीकृत परिनिष्ठित रूप मे प्रचलित न उसका अस्तित्व इन्ही "विभिन्न प्रादेशिक बोलियों" के रूप मे ही था। प्रादेशिक बोलियो मे समानता के साथ विषमता भी थी। डॉ. चाटुर्ज्या के से कारक विभक्तियो के कई ऐसे रूप "जो कि वैदिक या लौकिक संस्कृत नही मिलते" आद्य भारतीय आर्य-भाषा की इन प्रादेशिक बोलियो मे मिलते और वे मध्य भारतीय आर्य-भाषा मे सुरक्षित रहे। इसका अर्थ यह हुआ संस्कृत की समानान्तर बोलियो मे परस्पर व्याकरण-सम्बंधी विभिन्नता थी। मूल शब्द-भंडार और ध्वनि की भिन्नता भी रही होगी, यह सहज है अनुमान किया जा सकता है।

यदि सस्कृत के समानान्तर उससे मिलती-जुलती—किन्तु व्याकरण रूपों मे कही-कही भिन्न—भाषाए इस देश मे बोली जाती थी, तो यह स्वीकार करना होगा कि उनका प्रभाव आधुनिक भारतीय भाषाओं पर भी पड़ा होगा। किन्तु व्यवहार मे इस संभावना को भुला दिया जाता है। भाषाशास्त्री एक आदि भारतीय आर्य-भाषा की बात करते हैं। इस आदि भाषा से मध्य भारतीय आर्य-भाषा बनी और उससे आधुनिक भाषाओ का जन्म हुआ। यदि आद्य, मध्य और नव्य विशेषणो का आतंक दूर कर दिया जाय तो बात वही पुरानी है: पहले थी देववाणी संस्कृत; वह विकृत होकर प्राकृत बनी और प्राकृत ने अपभ्रंशो के मार्ग से आधुनिक भाषाओं का रूप लिया। इस बात को डॉ. चाटुर्ज्या ने बहुत स्पष्ट शब्दों मे एक जगह — आद्य-नव्य के झमेले मे पड़े बिना — यो लिखा है, "प्रादेशिक अपभ्रंशो की राह से होती हुई प्राकृतें, परिवर्तित होकर, आधुनिक भारतीय भाषाएं बन गयी थी।" इस प्रकार सस्कृत के समानान्तर विभिन्न बोलियों के सिद्धांत का लोप हो जाता है। यदि कोई कहे कि ये प्राकृतें ही तो प्रचलित बोलिया थी, तो निवेदन है कि इन प्राकृतो को संस्कृत की "समानान्तर" बोलिया नही माना गया, उपर्युक्त स्थापनाओ मे वे सस्कृत के बाद की मंजिल वाली बोलियां बतायी गयी हैं।

डॉ. धीरेन्द्र वर्मा ने आधुनिक भाषाओं और वैदिक-भाषा के सम्बध पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, "यदि तद्भव-रूपों की दृष्टि से देखा जाय, तब तो समस्त भारतीय आधुनिक भाषाओं का मूलाधार ऋग्वेद की ही भाषा

।"[1] इस कथन मे आधुनिक भाषाओ की आश्चर्यजनक जानकारी परिलक्षित है, वैदिक भाषा के प्रति अपार श्रद्धा का प्रदर्शन भी है, वैदिक और लौकिक संस्कृत के शब्द-भडार के तुलनात्मक अध्ययन का निष्कर्ष तो सन्निहित है ही। किन्तु अत्यन्त प्राचीन काल मे ही वैदिक भाषा का क्षेत्र — मध्यदेश — अनेक जनपदो मे बटा हुआ था। डॉ. वर्मा के शब्दो मे "लगभग २४०० पू. ई. से ६०० पू. ई. तक मध्यदेश के जनपद अनेक परिवर्तनो के होते हुए भी सम्पन्न तथा स्वतत्र रूप मे वर्तमान रहे। गत ढाई हजार वर्षों के साम्राज्यो, राजवशो और विदेशी आक्रमणकारियों की उथल-पुथल मे यद्यपि इन जनपदों का स्वतत्र राजनीतिक अस्तित्व आज नही रह गया है, किन्तु इनका व्यक्तित्व प्रादेशिक बोली, सस्कृति तथा सामाजिक सगठन के रूप मे आज भी वर्तमान है।"[2] इन जनपदो का अपना व्यक्तित्व 'आज भी' वर्तमान है; इसका अर्थ यह हुआ कि ढाई हजार साल पहले वह व्यक्तित्व बहुत ज्यादा वर्तमान रहा होगा। इस व्यक्तित्व के उपादानो मे एक महत्वपूर्ण तत्त्व है प्रादेशिक बोली।

अन्यत्र उन्होने लिखा है, "प्राचीन मध्यदेश अनेक जनपदो मे बटा था। इनका अस्तित्व आज भी है। इनका व्यक्तित्व हिन्दी की प्रधान बोलियों की सीमाओ के रूप मे स्पष्टतया दिखलाई पडता है।"[3] यदि जनपदो की ऐसी भिन्नता सस्कृत के मूल क्षेत्र मे थी, तो यह सहज अनुमेय है कि 'समस्त भारत' मे जनपदो की विविधता और भी अधिक रही होगी। उन प्राचीन भाषाओ की सामग्री कुछ-न-कुछ आधुनिक भाषाओ मे भी सुरक्षित होनी चाहिए।

श्री किशोरीदास वाजपेयी ने बहुत स्पष्टता और दृढ़ता से इस धारणा का खडन किया है कि हिन्दी की उत्पत्ति सस्कृत से हुई है। जहां ब्लूमफील्ड जैसे भाषा विज्ञानी फ्रासीसी को लैटिन का आधुनिक रूप कहते है, जहा डॉक्टर सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या जैसे पारगत भाषाविद् सस्कृत-प्राकृत-अपभ्रश की सीढ़ियो के बिना आधुनिक भाषाओ तक पहुच नही पाते, वहां सस्कृत के पडित होते हुए वाजपेयी जी का यह कहना कि हिन्दी सस्कृत की पुत्री नहीं है, बौद्धिक ईमानदारी की एक अनुकरणीय मिसाल है। ईमानदारी के अलावा यह साहस का भी काम है, क्योंकि सस्कृत के प्रति श्रद्धा की होड मे कोई भी हिन्दी की स्वतत्र सत्ता मानने की ढिठाई नही कर सकता। इसलिए वाजपेयी जी की

१. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा : मध्यदेश, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, पृष्ठ २६।

२. उपरोक्त, पृष्ठ २०।

३. उपरोक्त, पृष्ठ ११।

हिन्दी-संस्कृत सम्बधी स्थापना का अन्यतम महत्व है। "हिन्दी शब्दानुशासन" के आरम्भ में ही उन्होंने लिखा है, "हिन्दी की उत्पत्ति उस संस्कृत भाषा से नही है, जो कि वेदो मे, उपनिषदो मे तथा वाल्मीकि या कालिदास आदि के काव्य-ग्रंथों मे हमे उपलब्ध है। 'करोति' से 'करता है' एकदम कैसे निकल पड़ेगा ? 'राम : करोति' की तरह 'सीता करोति' भी संस्कृत मे चलता है, परन्तु हिन्दी मे 'लड़का चलता है, करता है, खाता है' और 'लड़की चलती है, करती है, खाती है' होता है। कितना अन्तर ! यह ठीक है कि 'चल, खा, कर' शब्द-रूप संस्कृत के 'चल, कृ, खाद्' से मिलते-जुलते हैं। परन्तु इस मेल-जोल का यह मतलब नही कि 'चलति' से 'चलता है' निकल पड़ा ! दोनो की चाल एकदम अलग-अलग है।" वाजपेयी जी ने भाषा के दो तत्वों मे महत्वपूर्ण भेद किया है। एक तत्व है शब्द-रूपो का; इस दृष्टि से 'चलति' और 'चलता है' मे समानता है। हम इसे मूल शब्द-भंडार की समानता कहेगे। दूसरा तत्व है, 'चाल' का। दोनों की चाल एकदम अलग-अलग है। दोनों भाषाओं मे शब्दो के व्यवहार का ढग अलग-अलग है। इसे हम भाव-प्रकृति का भेद कहेगे। हिन्दी और संस्कृत "दोनों का पृथक् और स्वतंत्र पद्धति पर विकास हुआ है।" यदि इस अकाट्य तथ्य को भारतीय भाषाशास्त्री और कोश निर्माता अच्छी तरह समझ लें तो वे हिन्दी—या बंगला—को संस्कृत के साँचे में ढालने का प्रयास न करें।

हिन्दी और संस्कृत मे बहुत बड़ी समानता भी है। इसलिए वाजपेयी जी दोनों को "एक ही मूल भाषा की शाखाएं" मानते हैं किन्तु शाखाएं इतनी बड़ी है कि "तना कही दिखाई भी नही देता और इतना विस्तार कि कोई सहसा समझ नही पाता कि कहा से ये चली हैं !" जो तना दिखाई नही देता उसका अनुसंधान क्या किया जाय ? वाजपेयी जी के सामने एक निष्कर्ष स्पष्ट है : हिन्दी की अनेक विशेषताओं का सम्बध न वैदिक संस्कृत से है, न लौकिक संस्कृत से, न अपभ्रंश से। उनका सम्बध खड़ी बोली क्षेत्र की किसी प्राचीन बोली से ही हो सकता है।

वाजपेयी जी बोलचाल की भाषा को प्राकृत कहते हैं। वैदिक ऋषियों ने जिस भाषा का संस्कार किया, वह अपने 'जन-गृहीत रूप' मे प्रथम अवस्था की प्राकृत हुई। "दूसरी अवस्था की प्राकृतें बहुत कुछ कृत्रिम रूप में हमारे सामने उपस्थित हैं।" कहने को वे प्राकृत हैं; वास्तव मे हैं अप्राकृत ! इनसे हिन्दी की उत्पत्ति का सम्बध क्या हो सकता है ? हिन्दी का सम्बध प्राकृत की तीसरी अवस्था से होना चाहिए। इस सिलसिले में वाजपेयी जी ने लिखा है, "कुछ बजार में प्राकृत का तीसरा रूप जो प्रचलित था, उसका नाम-रूप कुछ भी हमारे सामने नहीं है ! प्राकृत के (दूसरी तथा तीसरी अवस्था के) जो भी

रूप साहित्य में उपलब्ध है, उनमें हिन्दी की पद्धति बैठती नहीं है। इन सभी प्राकृतों में वर्तमान काल की क्रियाएं तिङन्त हैं, जिनमें कर्ता के अनुसार पुल्लिंग-स्त्रीलिंग में कोई रूप-परिवर्तन नहीं होता। 'पिमा पुच्छइ' और 'मापा पुच्छइ'। उभयत्र 'पुच्छइ' है। यह संस्कृत के 'पिता पृच्छति', 'माता पृच्छति' की छाया है। हिन्दी में रूप बदलता है—'पिता पूछता है'—माता पूछती है।' हिन्दी की यह विशेषता किसी भी प्राकृत में दिखाई नहीं देती। जिस (कुरु जनपद की) प्राकृत में यह बात थी, उसका कोई रूप हमारे सामने है नहीं। कई कड़ियां टूटी हैं। कुछ भी हो, साहित्य में उपलब्ध प्राकृतों में से कोई भी ऐसी नहीं है, जिसे हिन्दी (खड़ी बोली) का उद्गम माना जा सके। हां, अवधी आदि का सम्बन्ध उनसे जरूर है।"

वाजपेयी जी ने बड़ी स्पष्टता से अपनी कठिनाइयों का उल्लेख किया है। वैज्ञानिक प्रगति के लिए कठिनाइयों का उल्लेख कम महत्वपूर्ण नहीं होता। समस्या का समाधान पाने से पहले समस्या की स्पष्ट स्वीकृति आवश्यक होती है। आद्य, मध्य और नव्य आर्य-भाषा अथवा संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश की सुगम नसेनी छोड़कर लुप्त प्राचीन भाषाओं की कल्पना करना उन्हीं लोगों का काम है जिनमें सरल, प्रचलित और लोकप्रिय किन्तु अवैज्ञानिक मान्यताओं का विरोध करने का साहस है, जिनमें कठिनाइयों से टकराने और अनुसंधान के नये मार्ग खोजने के लिए पर्याप्त आत्म-विश्वास है।

वाजपेयी जी की आदि प्राकृत वैदिक भाषा का दूसरा नाम है। दूसरी अवस्था की प्राकृत साहित्य में प्राप्त—प्रचलित अर्थ में गृहीत—प्राकृत है। तीसरी अवस्थावाली प्राकृत 'पिमा पुच्छइ' वाली अपभ्रंश है। वाजपेयी जी हिन्दी की अनेक मूल विशेषताओं को इन तीनों में किसी से भी उत्पन्न नहीं मानते। दूसरे शब्दों में उन्होंने संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश की सुगम नसेनी को उठाकर एक किनारे रख दिया है। यह उनके ग्रंथ 'हिन्दी शब्दानुशासन' का युगान्तरकारी महत्व है। उनकी यह स्थापना बिलकुल सही है कि हिन्दी की ये विशेषताएं कुरुजन पद की किसी प्राकृत में रही होंगी। यहां प्राकृत से तात्पर्य णकारबहुला साहित्यिक प्राकृत से नहीं है। तात्पर्य है खड़ी बोली क्षेत्र की प्राचीन साधारण जनों की भाषा से। यह भाषा कितनी प्राचीन थी? कम से कम वह उस समय बोलचाल की भाषा जरूर थी जब साहित्य में संस्कृत का व्यवहार साधारण नियम था।

हिन्दी में 'ने' का प्रयोग कहां से आया? किसी प्राकृत में मिलता नहीं। आया होगा प्राकृत की ही किसी धारा से। "प्राकृत का वह ('ने' वाला) रूप निश्चय ही 'खड़ी बोली' के क्षेत्र में, कुरु जनपद में (उ. प्र. के मेरठ डिवीजन में) जन-गृहीत रहा होगा। अन्यथा वहां 'ने' कैसे कूद पड़ती? और

यहीं क्यों न टूट गई? संस्कृत के गढ़ काशी-क्षेत्र में यह क्यों न अवतरित हो गयी?" ये सब प्रश्न उन पंडितों को परेशान करने के लिए हैं जो संस्कृत के एक रूप से भारतीय भाषाओं के पर्याप्त रूप उत्पन्न कर सकते हैं। वाजपेयी जी ने हठवादिता के इस मार्ग से भिन्न अनुसंधान की ओर राह निकाली है। संस्कृत के समानान्तर यहां अन्य भाषाएं भी प्रचलित थीं। इनमें और संस्कृत में व्याकरणगत भेद भी था। इन लोक-प्रचलित भाषाओं ने संस्कृत को प्रभावित किया। इसका प्रमाण भी संस्कृत कवियों के यहां विद्यमान है। उपर्युक्त शंकाओं का समाधान करते हुए वाजपेयी जी लिखते हैं, "'खड़ी बोली' के क्षेत्र में कदाचित् संस्कृत भी कृदन्तप्रधान ही कभी चलती हो! महाकवि राजशेखर ने लिखा है—'कृत्प्रयोगरुचयः उदीच्याः'। यानी, उत्तर भारत के (उत्तर प्रदेश के, उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र के) लोग कृदन्त क्रियाएं बहुत पसन्द करते हैं। राजशेखर ने संस्कृत-प्रयोग के सम्बंध में यह निर्देश किया है। इसका मतलब यह भी हो सकता है कि इस क्षेत्र के संस्कृत-विद्वानों पर अपनी जनभाषा का प्रभाव पड़ा और वे अपनी मातृभाषा की पद्धति पर (संस्कृत के) कृदन्त प्रयोग अधिक करने लगे। यह भी सम्भव है कि संस्कृत नहीं, उस समय की 'खड़ी बोली' के बारे में ही उनकी कलम से ही वैसा निकला हो; यद्यपि संस्कृत ग्रंथ में वैसा कह रहे हैं! उस समय 'खड़ी बोली' प्रकट होकर जन-व्यवहार में मदद दे रही थी।"

यदि हिन्दी-भाषियों की अंग्रेजी वाक्य-रचना पर हिन्दी का प्रभाव पड़ सकता है, तो संस्कृत पर उसी से मिलती-जुलती भाषा की भाव-प्रकृति का प्रभाव पड़ना बिलकुल स्वाभाविक बात होगी। निष्कर्ष यह निकला कि हिन्दी जैसी भाषाओं की हर विशेषता को संस्कृत में न ढूंढकर उन भाषाओं में मानना चाहिए जो संस्कृत के समानान्तर यहां बोली जाती थीं। भाषाओं के उद्गम और विकास के अनुशीलन की यह सही पद्धति है और उस पद्धति से भिन्न है जो हिन्दी की हर विशेषता को संस्कृत से उत्पन्न मानने का आग्रह करती है। यह बात गौण है कि वाजपेयी जी 'ने' की उत्पत्ति संस्कृत बालकेन के 'इन' से मानते हैं।

अब देखना चाहिए कि आद्य भारतीय आर्य-भाषा और मध्य भारती आर्य-भाषा अथवा संस्कृत और प्राकृत का अन्तर क्या है। दो भाषाओं स्वतंत्र अस्तित्व मानने के लिए व्याकरण और मूल शब्द-भंडार में अंतर ह चाहिए। यदि केवल ध्वनि का अंतर है तो हम कहेंगे कि भाषा एक ह केवल उच्चारण की भिन्नता है। अंग्रेज आलोचक मैथ्यू आर्नोल्ड जब अम गये थे, तब अमरीकी जनता उच्चारण भेद के कारण उनकी भाषा स पाती थी और अमरीकी उच्चारण का अभ्यास करने के लिए उन्हें वहां

[illegible]

[illegible] हम देख चुके हैं कि [illegible] परिवार को [illegible] है।

मध्य भारतीय आर्य-भाषा का अभ्युदय कब हुआ, किन प्रदेशों में पहले हुआ, किनमें बाद में हुआ, यह सब [illegible] निश्चित किया जा चुका है। "बुद्ध से कुछ पहले, लगभग ६०० वर्ष ई० पू० तक पूर्वी भारत में भारतीय आर्य-भाषा का प्राचीन काल पूर्णतया परिवर्तित हो चुका था, जबकि पश्चिमोत्तर भारत — उदीच्य — तथा मध्यवर्ती मध्यदेश — में भी जहाँ तक ध्वनि-विज्ञान का प्रश्न था, वैदिक (या प्राचीन) काल ही चल रहा था, परन्तु अनन्तर में यहाँ की भाषा भी पूर्व के प्रादेशिक बोलियों के समान हो गयी थी।" मध्य भारतीय आर्य-भाषा का अभ्युदय पूर्व में ही पहले क्यों माना गया, उत्तर-पश्चिम में पहले क्यों नहीं, इसका कोई कारण नहीं दिया गया। पूर्वी भारत में प्राचीन काल पहले क्यों परिवर्तित हुआ? क्या उधर अनार्य ज्यादा थे और उन्होंने आर्य भाषा को ज्यादा प्रभावित किया? पश्चिमोत्तर भारत में आर्य भाषा की पुरानी ध्वनियाँ क्यों कायम थीं? क्या उधर शुद्ध आर्य ज्यादा थे? यदि आर्य ज्यादा थे, तो भाषा के अनन्तर काल में वहाँ भी परिवर्तन कैसे हो गया? आर्य-अनार्य प्रभावों वाला सूत्र इन शंकाओं का कोई समाधान प्रस्तुत नहीं करता।

एक व्याख्या यह है कि सीमान्त की दरद बोलियों और पंजाब की बोलियों की विशेषता यह है कि वे अधिक रूढ़िबद्ध रही हैं। "उदीच्य की इस ध्वनि-विज्ञान-सम्बन्धी रूढ़िबद्धता की तुलना में पूर्व की भाषाओं का ध्वनि-वैज्ञानिक ह्रास (अथवा विकास) बहुत अधिक शीघ्रतर हुआ।" पंजाब का

'पज' मूल ध्वनि की रक्षा करता है या पच ? पंजाबी 'प्रा' में मूल ध्वनि है या 'प्रात' म ? कश्मीर शब्द में मूल शब्द मीर सुरक्षित है या कश्मीरियों द्वारा उच्चरित 'कशीर' में ? क्या श-ष-स की ध्वनिया कश्मीरी-पंजाबी में पूर्वी बोलियों की अपेक्षा ह में कम परिवर्तित होती हैं ? केवल द्वित्वस्थित व्यंजनो के सरक्षण के आधार पर इतना व्यापक सिद्धात स्थिर नहीं किया जा सकता कि उदीच्य भाषाओ मे ध्वनि-सम्बंधी रूढिबद्धता है और प्राच्य भाषाओ का ध्वनि-क्षय हुआ है। इस क्षय और रूढिबद्धता के कल्पित भेद से आद्य और मध्य आर्य भाषाओं का अन्तर समझने मे कुछ भी सहायता नही मिलती।

एक अत्यन्त विचित्र सिद्धान्त यह है कि आद्य भाषा के बोलने वाले इस बात को जानकर शब्दो का उच्चारण करते थे कि "किसी एक शब्द का धातु भाग कौन सा है और प्रत्यय भाग कौन सा।" उदाहरण के लिए "जन्मजात आर्य-भाषी" धर्म शब्द कहता होगा तो उस समय "स्वभावतः उसके मन मे इस शब्द का 'धर्/म' इस प्रकार विश्लेषण हो जाता होगा।" शायद ही किसी भाषा के बोलने वाले धातु-प्रत्यय का ध्यान रख कर शब्दो का उच्चारण करते हो। यदि सभी "जन्मजात आर्यभाषी" भाषाशास्त्री रहे हो, तो बात दूसरी है। क्या वे श्रद्धा का उच्चारण करते समय हृदय से उसके सम्बध का ध्यान रखते थे ? क्या वे प्रच्छ कहते हुए यह ध्यान रखते थे कि वे प्रश्न की प्रश् क्रिया का क्षयग्रस्त रूप बोल रहे हैं ? सौभाग्य से वे भाषाशास्त्री न थे, वर्ना संस्कृत मे नियमो के इतने अपवाद न मिलते, उसमे रूपों, शब्दो, ध्वनियो की विविधता न होती, संस्कृत ससार की अत्यत समृद्ध भाषा न होकर डॉ. रघुवीर का कोशमात्र होती। किन्तु शब्दों को धातु-प्रत्यय के ज्ञान के बिना उच्चरित करने से क्या नई भाषा की सृष्टि हो सकती है ? आभाषा और मभाषा के भेद की व्याख्या धातु-प्रत्यय के ज्ञान या अज्ञान से कैसे हो सकती है ?

ध्वनि-क्षय के समान रूप-तत्व के क्षय का सिद्धात माना गया है। सज्ञारूपों मे द्विवचन का धीरे-धीरे लोप हो गया। यह एक नकारात्मक प्रक्रिया हुई। भाषा ने अपने एक व्याकरण-रूप का प्रयोग करना बद कर दिया। इस तरह वैदिक भाषा के अनेक रूप लौकिक संस्कृत मे छोड दिये गये हैं। किन्तु इससे दोनो मे मौलिक भाषागत अन्तर उत्पन्न नही होता। क्षय की दूसरी मिसाल यह दी गयी है कि "कारको की सख्या कम कर दी गयी और एक ही कारकरूप एकाधिक कारको का काम देने लगा।" यह भी वही नकारात्मक प्रक्रिया हुई। एक ही कारक-रूप अनेक कारको का काम देने लगा—इसकी मिसालें हम संस्कृत तथा प्राचीन-नवीन यूरोपीय भाषाओं मे मिलती हैं।

कुछ रूप ऐसे भी हैं जो "वैदिक या लौकिक सस्कृत में नही मिलते रन्तु प्राभाम्रा की विभिन्न प्रादेशिक बोलियो में पाये जाते थे, मभाम्रा मे [रक्षित देखे जाते हैं।" जो रूप वैदिक या लौकिक सस्कृत मे नही मिलते, प्राभाम्रा की प्रादेशिक बोलियो मे—प्रर्थात् सस्कृत की समानान्तर भाषाम्रो —प्रचलित रहे होगे, यह कल्पना बिल्कुल तर्क-सगत है। यदि प्राकृतो मे से रूप मिलें जो सस्कृत मे न हो, तो यह अनुमान करना उचित होगा कि ये रूप प्राचीन हैं, यद्यपि वे सस्कृत मे नही आये। डॉ. चाटुर्ज्या के शब्दो मे 'इससे यही सिद्ध होता है कि प्राभाम्रा के सभी कारक-रूप वैदिक तथा सस्कृत मे सुरक्षित न रह सके।" इससे यह भी सिद्ध हुम्रा कि प्राभाम्रा-मभाम्रा-नभाम्रा की नसेनी यहां काम नही आयी। इससे यह निष्कर्ष भी निकलता है कि आधुनिक भाषाम्रो के हर रूप को सस्कृत से सिद्ध करने का प्रयास न करना चाहिए। आधुनिक भाषाम्रो के अनेक रूपो के बारे मे यह स्थापना भी गलत न होगी कि वे उतने ही पुराने हैं जितने वैदिक रूप, यद्यपि न वे वैदिक भाषा मे हैं, न उनकी उत्पत्ति वैदिक रूपों से हुई है।

यह मानने पर भी कि मभाम्रा के अनेक रूप वैदिक और लौकिक सस्कृत मे सुरक्षित न रह सके होगे, डॉ चाटुर्ज्या ने इन रूपो के जो उदाहरण दिये हैं, उन्हें उन्होने सस्कृत मे ही उत्पन्न सिद्ध किया है। मभाम्रा रूप राम-केरक तथा रामस्य केरक कैसे बने ? एक वैदिक प्रयोग है—सूरे दुहिता। इसका अर्थ है सूर्य की पुत्री। यह सूरे सूरस् रहा होगा। स् का लोप हो गया; कार्य-कम् से केरक बना! इसी प्रकार मभाम्रा का 'कहि=कहा', यह प्राभाम्रा का 'कधि' माना गया है। यह भी एक प्रकार का क्षय है जिसके लिए जिम्मेदार हैं अनार्य। "यहा हम परोक्ष द्राविड या दक्षिण-देशीय (ऑस्ट्रिक) प्रभाव की प्रतिक्रिया का अनुमान कर सकते हैं।" इस सदर्भ मे लैटिन शब्दो के फ़ासीसी रूप और उच्चारण पर ध्यान देना चाहिए। साधारण नियम है अतिम व्यजन को उदरस्थ कर जाना। क्या इस क्षय के लिए भी हम यूरोप के अनार्यों को जिम्मेदार मानें ? उधर स्पेनी मे फ़ासीसी के समरूप शब्दो का भरा-पूरा उच्चारण होता है, इसे क्या हम वहा आर्यों की अधिकता का फल मानें ?

क्रियारूपो मे प्राभाम्रा के अधिकाश भेद लुप्त हो गये। भूतकाल के लिए कृदन्त रूपो का चलन हुम्रा, यह रूप "अकर्मक होने पर कर्ता के, एव सकर्मक होने पर कर्म के विशेषण का कार्य करता था।" जैसे मैं गया या मैं गयी—यह अकर्मक रूप हुम्रा; मैंने खाना खाया, मैंने रोटी खाई—यह सकर्मक रूप हुम्रा। लेकिन अवधी मे—वह घर मां रहे (वह घर में था) और वह घर मा रहे (वह घर मे थी)—इन दोनो रूपो में 'रहे' क्रिया अपरिवर्तित रहती है। वह विशेषण का काम करे तो उसे था, थी के लिगभेदानुसार अपना

रूप बदलना चाहिए। इसी प्रकार सकर्मक क्रिया के भूतकाल में वह रोटी खायेसि; वह भातु खायेसि। यहां रोटी-भात के लिंगभेदानुसार खायेसि क्रिया में भेद नही हुआ। इसलिए यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि "क्रिया का भूतकालिक रूप स्वभावतः विशेषण का कार्य करने लगा।" सर्वत्र ऐसा नियम नही है। इसके बाद यह टिप्पणी और भी गलत है कि "इस विषय मे आर्य भाषा ने द्रविड के मार्ग का अनुसरण किया, क्योकि द्रविड़ भाषा मे क्रिया से अपने-आप विशेषण का बोध होता था।" रूसी मे धन चिताल, अना चिताला —उसने पढा, लिंगभेद से चिताल क्रिया के दो रूप बने। क्या हम कहे कि यह रूसी पर द्रविड भाषा के प्रभाव का परिणाम है ? फिर वह 'द्रविड भाषा' कौन सी है जिसमे क्रिया से अपने-आप विशेषण का बोध होता है ? वास्तव मे द्रविड 'भाषाए' तो हैं, द्रविड 'भाषा' नही है। इन भाषाओ के अपने-अपने नियम हैं; कुछ नियमो मे समानता है, कुछ मे भेद है। मलयालम् के क्रियारूपों की विशेषता का उल्लेख पहले हो चुका है जिनमे लिंग-वचन-पुरुष के अनुसार भेद होता ही नही है। नस्ल का सिद्धान्त रामबाण का काम करता है। हर मर्ज की अचूक दवा है। आर्य-भाषा मे जो भी 'क्षय' हो उसके लिए जिम्मेदार ठहराना चाहिए द्रविड़ो को। उदारतावश कभी-कभी हम इस क्षय को आर्य-द्रविड़ संस्कृतियो का समन्वय भी कह लेते हैं।

शब्द-निर्माण-प्रक्रिया के सम्बंध मे एक सिद्धान्त यह माना गया है कि नभाआ की ओर संक्रमण वेला में 'अल्ल, इल्ल, ऍल्ल, ड' आदि गुरुता-लघुता सूचक प्रत्ययो का प्रयोग बढता है। पहले तो अल्ल, इल्ल सभी नव्य भारतीय भाषाओ मे प्रयुक्त नही होते; दूसरे इनका प्रयोग भारत के बाहर भी दर्शनीय है यथा संस्कृत स्वसा, फ्रासीसी सॅर, इतालवी सोरेल्ला; संस्कृत भ्रातृ, इतालवी फ्रातेल्लो। भाषा-शास्त्रियो को चाहिए कि उन्होने जैसे भारतीय आर्य-भाषा के आद्य-मध्य-नव्य तीन खंड किये हैं, वैसे ही वे यूरोपीय आर्य भाषाओ के भी कर डालें।

मभाआ की तीन अवस्थाए कल्पित की गयी हैं—प्राथमिक, परिवर्तनकालीन, अपभ्रंश। इनके "ध्वनि-तत्व तथा रूप-तत्व की स्थिति-रेखा सम्यक निश्चयात्मक रूप से स्थिर की जा चुकी है।' यह स्थिरीकरण इतना स्पष्ट है कि "इस विषय का और अधिक विवेचन अनावश्यक होगा।" लेकिन मुख्य समस्या यह है कि मभाआ यानी प्राकृतो को आधुनिक भाषाओ की माता माना जाय या नही। आधुनिक भाषाओ में कोई मागधी की पुत्री है तो कोई शौरसेनी की, सन्देह है इसी मातृत्व की व्यवस्था मे। "कहने का तात्पर्य यह है कि प्राचीन भारतीय वैयाकरणो द्वारा प्रादेशिक नामों के साथ उल्लिखित प्राकृत बोलिया किस हद तक आधुनिक प्रादेशिक बोलियों की पूर्वज कही जा

सकती हैं।" आद्य-मध्य-नव्य वाली नसेनी उतनी सुगम सिद्ध नहीं होती जितनी उसके यूरोपीय निर्माताओं ने उसे घोषित किया था। आधुनिक भाषाओं और प्राकृतों के सम्बंध को समझना क्या सरल काम है? नहीं, "यह प्रश्न बड़ा जटिल है।" जटिल प्रश्न भी हल किये जा सकते हैं लेकिन प्राकृतों के बारे में जो सामग्री मिलती है, वह "इतनी कम और मिश्रित प्रकार की है कि उसके आधार पर उपर्युक्त प्रश्न का सुलझना असम्भव-सा प्रतीत होता है।" एक प्रकार से यह असफलता की स्वीकृति है जिस पर विद्वान् भाषाशास्त्री को बधाई देनी चाहिए। इस प्रकार की असफलता के बाद ही सफलता के आंशिक दर्शन हो सकते हैं। प्राकृतों के आधार पर आधुनिक भाषाओं की उत्पत्ति और विकास की व्याख्या क्यों 'असम्भव' सी प्रतीत होती है? इसलिए कि संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश की व्याख्या-पद्धति का आधार प्राचीन रूढ़िवाद है, उसमें भाषाओं के प्रति जो दृष्टिकोण अपनाया गया है, वह मूलत: गलत है। दुर्भाग्य से यूरोपीय भाषाविदों के अनेक योग्य अनुवर्ती अपनी पद्धति की असफलता को मान लेने पर भी उसे छोड़ नहीं पाते।

मुख्य कठिनाई यह है कि प्रादेशिक बोलियों के नाम पर जो प्राकृतें मिलती हैं, वे विश्वसनीय नहीं हैं। उनकी तुलना आधुनिक नाटकों में व्यवहृत किसी बोली की नकल से की जा सकती है। डॉ. चाटुर्ज्या ने बिल्कुल ठीक लिखा है कि यह नाटकों वाली नकल भी असल के जितना निकट होती है, उतना प्राकृतें प्रादेशिक बोलियों के निकट नहीं थीं। श्रद्धेय डॉ. चाटुर्ज्या ने प्राकृतों की कृत्रिमता के बारे में लिखा है, "वास्तव में हमें उपलब्ध, उनका रूप, वैयाकरणों (तथा तत्पश्चात् के प्राकृत लेखकों) द्वारा, शौरसेनी, मागधी, महाराष्ट्री, पैशाची आदि किस प्रकार की प्रादेशिक बोलियां होनी चाहिए, इस दृष्टि से कल्पित किया हुआ रूप है।"[1]

भाषा-विज्ञान के विद्यार्थियों को "कल्पित किया हुआ रूप है", इस वाक्यांश को खूब अच्छी तरह ध्यान से देखकर, उसका अर्थ समझकर हृदयंगम कर लेना चाहिए। इस कल्पित किये हुए रूप के आधार पर अब तक भाषाविद् आधुनिक भाषाओं की उत्पत्ति और विकास को समझते रहे हैं। इसी के आधार पर वे हिन्दी, बंगला आदि भाषाओं को संस्कृत की पुत्रियां सिद्ध करते रहे हैं। इसी के आधार पर उन्होंने प्राभाषा-मभाषा-नभाषा का ताना-बाना खड़ा किया है। उस तानेबाने में स्वयं उलझकर वे पुकार उठे हैं, यह सब जाल है; "मभाषा की शब्द-रेखाएं, जान पड़ता है, आधुनिक प्रान्तीय भाषाओं तथा बोलियों के सूक्ष्म अध्ययन से ही स्थिर की जा सकती हैं, साथ में जो भी प्रकाश

---

1. भारतीय आर्य-भाषा और हिन्दी, पृष्ठ ९८।

स्वयं प्राकृतों से भिन्न सके, यह तो रहेगा ही।" मभाषा की रूपरेखा पनी निश्चित होने को है। संस्कृत और आधुनिक भाषाओं के बीच की कड़ी कोन सी थी, यह अभी स्थिर होना है। इस बीच की कड़ी को निश्चित करने का उपाय वर्तमान भाषाओं का अध्ययन ही हो सकता है—यह स्थापना भी की गयी नहीं है। आश्चर्य इस बात पर है कि जिस पैराग्राफ का अंतिम वाक्य ऊपर आता है जिसमें मभाषा की रूपरेखा को स्थिर करने के भावी कार्यक्रम की ओर संकेत है—उसी पैराग्राफ के पहले वाक्य में यह दावा किया गया है कि मभाषा की विभिन्न अवस्थाओं के ध्वनि-तत्त्व तथा रूप-तत्त्व की स्थिति-रेखा लगभग निश्चयात्मक रूप से स्थिर की जा चुकी है। जो रूपरेखा पहले लगभग स्थिर दिखाई देती है, वही कुछ क्षणों बाद लगभग अस्तित्वहीन हो जाती है।

यह शंका किसी के मन में न रहनी चाहिए कि जिसे मभाषा कहा गया है, वह प्राकृतों से किसी प्रकार भिन्न है। 'मभाषा' का प्रयोग इस संज्ञा को 'प्राकृतों' की तुलना में अधिक वैज्ञानिक मानकर किया गया है। मूल स्थापना वही है जिसे यहां के पंडितों ने बहुत पहले प्रचारित किया था : "संस्कृत के पश्चात् ये भाषाएं आयीं जिन्हें हम वैज्ञानिक दृष्टि से उसीके कनीयस् रूप कह सकते हैं। ये प्राचीन 'प्राकृतें' तथा आधुनिक 'भाषाएं' हैं।"[1] संस्कृत, उसके बाद प्राकृत, फिर भाषा—विकास की इन मंजिलों का यहां स्पष्ट उल्लेख है। अन्यत्र इस प्रकार की व्याख्या भी है : "भारतीय आर्य-भाषा के विकास की द्वितीय अवस्था—प्राकृत या मध्ययुगीय आर्यकाल" इत्यादि। अब कोई संशय न रहना चाहिए कि कल्पित प्राकृतों के युग को आर्य-भाषा के विकास का मध्य युग माना गया है। किन्तु यदि प्राकृतें ही कल्पित हैं, तो आर्य-भाषा का मध्ययुग कल्पित नहीं है, इसका क्या प्रमाण है? कल्पित प्राकृतों के आधार पर यह कैसे पता चला कि "बुद्ध के कुछ पहले, लगभग ६०० वर्ष ई. पू. तक पूर्वी भारत में भारतीय आर्य-भाषा का मभाषा काल पूर्णतया प्रतिष्ठित हो चुका था?" शायद इस स्थापना का आधार यह हो कि भगवान बुद्ध ने पंडितों की भाषा संस्कृत को छोड़कर अपने लोक-धर्म का प्रचार लोक-भाषा में किया था। लेकिन "एक बात जो स्पष्ट होती जा रही है, वह यह है कि पालि भाषा का मगध प्रदेश से कोई सम्बंध नहीं है, यद्यपि उसका एक वैकल्पिक नाम 'मागधी भाषा' है। पालि वास्तव में शौरसेनी से सम्बधित एक मध्यदेशीय भाषा है।"[2]

भगवान बुद्ध ने पालि में उपदेश दिये—पहले तो इसी का कोई प्र

१. उप., पृष्ठ ८४।
२. उप., पृष्ठ ६८।

नही है। फिर पालि को मागधी प्राकृत नही कहा जा सकता। जिस हद तक वह प्रकृत भाषा है—कृत्रिम प्राकृत नही—उस हद तक उसका सम्बध मध्य देश से है। इस मध्य देश की प्राकृत के आधार पर यह कैसे कहा जा सकता है कि ६०० ई. पू. तक "पूर्वी भारत मे" मभाभा काल पूर्णतया प्रतिष्ठित हो चुका था? और यह कैसे कहा जा सकता है कि जिन प्रदेशो से पालि का विशेष सम्बध था, वहा तब तक वैदिक ध्वनिया ही प्रचलित थी? बुद्ध से कुछ पहले, पालि-क्षेत्र से दूर, पूर्वी भारत मे मभाभा काल पूर्णतया प्रतिष्ठित हो गया, "जब कि पश्चिमोत्तर भारत—उदीच्य तथा सभवतः मध्य-देश—मे भी, जहा तक ध्वनि-विज्ञान का प्रश्न था, वैदिक (या प्राभाभा) रूप ही चल रहा था!"[1] न तो ऐतिहासिक दृष्टि से ६०० ई पू. के लगभग मभाभा को प्रतिष्ठित मानने का प्रमाण है, न भौगोलिक दृष्टि से पश्चिमोत्तर प्रदेश की तुलना मे पूर्वी भारत को उसका प्रतिष्ठा-क्षेत्र मानने का कोई कारण है। यह सारा विश्लेषण और भी आश्चर्यजनक हो जाता है जब हम सुनते हैं कि पश्चिमोत्तर प्रदेश मे ६०० ई. पू तक—यानी कम से कम दो हजार साल तक—वैदिक ध्वनिया सुरक्षित रहीं, लेकिन रूप तत्व मे वहा की भाषा अन्य बोलियों के समान हो परिवर्तित हो गयी!

प्राकृतो का रूप प्रमाणिक नही, उनका क्षेत्र प्रामाणिक नही; उनका अभ्युदय-काल प्रामाणिक नही। इसलिए आद्य आर्य-भाषा के क्षय के जो अनार्य उपकरण बताये गये हैं, वे भी प्रमाणिक नही हैं। सस्कृत-प्राकृत का मुख्य भेद ध्वनि-सम्बधी है, जबकि सस्कृत और आधुनिक भाषाओ का भेद ध्वनि के अलावा रूप-गठन और मूल शब्द-भडार से सम्बधित भी है। सस्कृत से भिन्न प्राकृतें जन-साधारण की स्वतत्र भाषाए थी या नही, इसकी कसौटी यह है कि उनकी अपनी व्याकरण व्यवस्था और अपना मूल शब्द-भडार हैं या नही। गच्छति-गच्छदि, कथय-कधेहि, भूत्वा-भविय, करिष्यामि-करिस्स, पश्यति-पेक्खदि, प्राकृत-पाउअ, कृति-कइ, कवि-कइ, श्रेष्ठ-सेठो—इस तरह के भेद संस्कृत-प्राकृत का मौलिक भेद प्रकट नही करते। मागधी प्राकृत मे यदि शकार-प्रेम अधिक है—विलास-विलाश, सारस-शालश आदि—तो शौरसेनी से उसका यह मौलिक भेद न हुआ। पालि मे यदि बुद्ध, बुद्धेन, बुद्धाय, बुद्धस्स, बुद्धेसु आदि रूप मिलते हैं तो इससे पालि की स्वतत्र व्याकरण-व्यवस्था सिद्ध नही होती।

इसके सिवा जहा कुछ ध्वनि-परिवर्तन वास्तविक स्थिति की ओर सकेत करते है, वहा बहुत से शब्द कुछ 'नियमो' के अनुसार गढ़े गये हैं। भो

---

1. उप, पृष्ठ ८४।

किशोरीदास वाजपेयी का यह तर्क बिल्कुल सही है कि "यदि राजा का रूप राग्रा कभी जनगृहीत हुग्रा होता, तो ग्राज भी वह उसी रूप में कहीं चलता दिखाई देता। उल्टी गंगा पहाड़ पर न चढ़ती कि 'राग्रा' को फिर जनता 'राजा' कर देती। 'राग्रा' बनाया हुग्रा रूप है, प्राकृत व्याकरणों में दी हुई विधि के ग्रनुसार। कहीं जन-भाषा में किसी पद के उपान्त्य व्यंजन का लोप देख कर वैसा लिख दिया गया होगा कि 'ग्रन्तिम सस्वर व्यंजन का स्वर शेष रहता है, व्यंजन का लोप हो जाता है' बस, वह नियम बन गया! सर्वत्र वैसा बनाया जाने लगा। ऐसा विकृत रूप भाषा का कर दिया गया है कि ग्रचरज होता है!"[1] ग्रपभ्रंशों पर भी इन प्राकृतों का बहुत ग्रसर पड़ा है, इतना ग्रसर पड़ा है कि इन्हें भी प्राकृतों में—या मभाग्रा की तृतीय ग्रवस्था में—गिना जाता है। प्राकृतों से भिन्न ग्रपभ्रंशों की विशेषता यह है कि इनमें ग्राधुनिक भाषाग्रों के कुछ रूप मिलते हैं। लेकिन प्राकृत-प्रभाव के कारण ग्रपभ्रंश भी निहायत ग्रप्राकृतिक हो गयी हैं। वाजपेयी जी के शब्दों में "कर्ण कटुता का तो कोई ठिकाना ही नहीं। संस्कृत में तथा हिन्दी ग्रादि ग्राधुनिक भाषाग्रों में ऐसा कोई शब्द न मिलेगा, जिसके प्रारम्भ में 'ण' हो। परन्तु प्राकृतों में णकारादि शब्दों की बेहद भरमार है। यहां तक कि 'न' भी 'ण' कर दिया गया है!" ग्रपभ्रंश कवियों में पुष्पदंत तथा ग्रनेक सिद्धों का नाम लिया जाता है। "भगवान भला करें हमारे राहुल सांकृत्यायन का, जिनके ग्रसाधारण पुरुषार्थ से पुष्पदंत की तथा ग्रनेक सिद्धों की वाणी सामने ग्रायी। 'सिद्ध' कवियों के ग्रतिरिक्त ग्रन्य भी बहुत से कवियों का पुनरुद्धार राहुल जी ने किया है। ग्राश्चर्य ग्राप करेंगे, इनमें से कितने ही समसामयिक कवियों की भाषा में ग्राकाश-पाताल का ग्रन्तर है।" यह ग्रन्तर स्वाभाविक है, क्योंकि ग्रपभ्रंश पर कृत्रिम प्राकृतों का प्रभाव है; उसमें बोलचाल की भाषा के कुछ रूप ही ग्राये हैं, वह बोलचाल की भाषा नहीं है। जैसे गोरखवाणी ग्रौर पुष्पदन्त की भाषा में ग्रन्तर है, वैसे ही एक कवि, विद्यापति की मैथिल ग्रौर उनकी ग्रपभ्रंश में ग्रन्तर है। ग्रपभ्रंश में न केवल संस्कृत का भ्रष्ट रूप है, वरन् उसमें ग्राधुनिक भाषाग्रों का भी भ्रष्ट रूप प्रस्तुत किया गया है। ग्रपभ्रंश-साहित्य में हम हिन्दी रूपों को जहां-तहां पहचान सकते हैं, किन्तु संस्कृत-प्राकृत के बाद उसे विकास की कड़ी नहीं मान सकते।

जिस तरह मध्य भारतीय ग्रार्य-भाषा के ग्रभ्युदय का देश-काल निश्चित कर लिया गया था, उसी तरह नव्य भारतीय ग्रार्य-भाषा के ग्रभ्युदय का देश-काल भी निश्चित कर लिया गया है। मभाग्रा के ग्रभ्युदय में ग्रहिंसावतार

1. हिन्दी शब्दानुशासन, पृष्ठ 11।

सम्मान तुर्क ने भाषाओं को दी, जो नभाभा के अभ्युदय में हिमायती तुर्क आक्रमणकारियों ने मदद की। "लगभग १००० ई. के आसपास में आर्य-भाषा के इतिहास का एक नया युग—'नव्य-भारतीय-आर्य' काल—प्रारम्भ होता है।" इस प्रारम्भ का कारण तुर्कों का आक्रमण और भारत में इस्लाम का आगमन है। "तुर्कों की विजय के साथ एक बिल्कुल नूतन, अपूर्वागत वस्तु देश में आयी। वह था उनका बिल्कुल अ-हिन्दू तथा आक्रामक वृत्ति वाला इस्लाम धर्म।" इस धर्म के वाहक थे तुर्क। "वे 'दीन' के अनुयायियों के रूप में अपने को 'खुदा' के 'बन्दे' मानते थे, जिनका मुख्य कर्तव्य 'काफिर बुत-परस्तों' को अपने धर्म इस्लाम की छत्रछाया में लाना और 'खुदा' के हुक्म का विरोध करनेवालों को लूटना तथा मौत के घाट उतारना था।" इस आक्रमण की प्रतिक्रिया में हिन्दू जाति ने धर्मरक्षा का जो बीड़ा उठाया, उसी से नव्य आर्य भाषाओं का अभ्युदय सभव हुआ। धर्मरक्षा से भाषाओं के अभ्युदय की कहानी इस प्रकार है · "तुर्कों की विजय की प्रारम्भिक हलचलपूर्ण शताब्दियों में उन्होंने भारतीयों के मानस को भी बलपूर्वक अपने ही सदृश बनाने की चेष्टा की; उनकी यह प्रवृत्ति भारतीय संस्कृति के लिए बड़ी हानिप्रद सिद्ध हुई; अधिकांश भारतीय विचारधारा के नियामक तो विदेशी म्लेच्छों के इस नूतन प्रकार के बर्बर आक्रमण की आकस्मिकता तथा हिंसात्मकता के समक्ष किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये, और जो सभल रह सके, उन्होंने इस आक्रमण से अपनी सभ्यता के आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक उपादानों के सरक्षण करने के प्रयत्न आरंभ कर दिये। जनता में अपने उच्च आध्यात्मिक और सांस्कृतिक विचारों के प्रसार के लिए उन्होंने लोकभाषा को अपना माध्यम बनाया, इस प्रकार जनता अपने जीवन और धर्म को अन्तरित कर तुर्कों का-सा न बनाये, इसके लिए उन्होंने प्रयत्न किये। तुर्की आक्रमण की चोट से आयी हुई प्रथम मूर्छा से ज्यों ही उत्तर भारतीय हिन्दू सभल कर उठे, त्यों ही उनमें अटनशील धर्म-प्रचारक तथा उपदेशक निकल पड़े, जो ईश्वर को राम, कृष्ण और शिव आदि विभिन्न रूपों से देखते थे और हिन्दू धर्म के प्राचीन एकेश्वरवाद का प्रचार करते थे।" इस प्रकार नव्य आर्य-भाषाओं का अभ्युदय हिन्दुओं के सभलने और हिन्दू धर्म के प्रचार से सम्बद्ध था। इतिहास की इस व्याख्या को स्वीकार कर लिया जाय, तो भी यह सिद्ध नही होता कि हिन्दू धर्म की रक्षा के कारण मभाभा से नभाभा का जन्म हो गया। बहुत-से-बहुत धर्म-प्रचारकों ने लोक-भाषाओं को "अपना माध्यम बनाया," उन्होंने उन्हें जन्म नही दिया। आश्चर्य की बात यह है कि तुर्क-आक्रमण को जहा धर्म और संस्कृति के लिए इतना हानिकर माना गया है, वहा भाषाओं के अभ्युदय के लिए उसे उतना ही आवश्यक स्वीकार किया गया है। स्थापना यह है कि

क बोलचाल की भाषाएं सारे उत्तर भारत से तिरोहित हो जाये और अचानक न्हीं की पुत्रियां—दूसरी भाषाएं—उत्पन्न हो जायं। भारत पर तुर्क आक्रमण की व्याख्या से यह बिलकुल स्पष्ट नहीं होता कि प्रादेशिक अपभ्रंशों की राह से होती हुई प्राकृतें, परिवर्तित होकर, आधुनिक भारतीय भाषाएं कैसे बन गयी थीं। यदि अपभ्रंशमार्गी प्राकृतों के आधुनिक भाषाएं बनने की यह पद्धति सही हो, तो भी उसे तुर्क आक्रमण से एकदम असम्बद्ध स्वतंत्र प्रक्रिया ही माना जायगा।

अब देखना चाहिए कि मभाआ से—जिसका प्राप्त रूप संदिग्ध और कृत्रिम माना गया है—नभाआ की उत्पत्ति कैसे हुई। शुरूआत होती है ध्वनि-क्षय से। "मभाआ युग से भाषा में एक प्रकार के क्षय का आरम्भ हो गया था। यह क्षय अबाध गति से बराबर चलता रहा।" जब यह क्षय-प्रक्रिया सम्पूर्ण हो गयी, तब "विकास और शक्ति-सचय की एक नयी क्रिया" का आरम्भ हुआ। इस नयी क्रिया का पहला उदाहरण यह है : "भारतीय-आर्य भाषी प्रदेश के अधिकांश भाग में 'अक्क' तथा 'अकम्' के सदृश प्राकृत शब्दों का 'अ' स्वर तथा 'क' व्यंजन संकुचित हो गया, और वे क्रमशः 'आक' तथा 'अका' बन गये। दोनों ही उदाहरणों में व्यंजन की दीर्घता (या द्वित्व) तथा अंतिम स्वर की स्थान-पूर्ति के लिए स्वर को दीर्घ बना दिया गया।" जितना समय अक्क के उच्चारण में लगता है, उतना ही आक के; अकम् और अका भी तीन-तीन मात्राओं के शब्द हैं। स्वर-व्यंजनों में स्थान-परिवर्तन हुआ; उच्चारण-काल ज्यों का त्यों रहा। न यह क्षय-प्रक्रिया हुई, न शक्ति संचय की नयी क्रिया। 'माता' से मा, माय, माई, मैया, महतारी आदि अनेक रूप हमारी जनपदीय बोलियों में प्रचलित हैं; इनमें कहां क्षय-सिद्धान्त माना जाय, कहां शक्ति-संचय की क्रिया ?

मभाआ से नभाआ की उत्पत्ति की दूसरी मिसाल यह है : "किसी व्यंजन के पहले आया हुआ पूर्ण सानुनासिक घटकर निकटस्थ स्वर का नासिक्यो-भवन-मात्र रह गया (उदाहरण 'चन्द्र, चन्द, चांद')।" लेकिन हिन्दी में चन्द्र भी प्रचलित रहा, परिनिष्ठित हिन्दी में ही नहीं, बोलचाल की भाषा और बोलियों में भी। रामलीला या रामायण पाठ के समय जनसाधारण बार-बार "बोल रजा रामचन्द्र की जै" ध्वनि करते रहे हैं। यदि कोई कहे, जनता रामचंद्र नहीं रामचंद की जै बोलती है, तो दूसरा उदाहरण है इन्द्र का। गांव की स्त्रियां रूपगर्विता को तिरस्कार भाव में कहती हैं—बड़ी इन्द्र की परी बनी है। इन्दर रूप उर्दू-पंजाबी में स्वीकृत है, हिन्दी क्षेत्र की बोलियों में नहीं। भूषण ने "इन्द्र जिमि जंभ पर" लिखकर लोक-भाषा के ध्वनि-सिद्धान्त की अवहेलना न की थी।

भारतीय समाज में ऐसी शक्ति अपने-आप उत्पन्न न हुई थी जो अपभ्रंशों को हटा कर लोक-भाषाओं को सामने लाती। "यदि भारतीय जीवन की धारा पूर्वनिर्मित दिशा में ही बहती रहती, और उस पर बाहर का कोई भीषण आक्रमण न हुआ होता, तो सभवतः, जैसा पहले सुझाव रखा जा चुका है, नव्य-भारतीय-आर्य साहित्यो का श्रीगणेश तथा विकास एक-दो शताब्दी पश्च ही होता।" अंग्रेजी राज की प्रगतिशील भूमिका से मिलता-जुलता यह तु आक्रमण की प्रगतिशील भूमिका का सिद्धान्त है। अंग्रेज भारत को गुला न बनाते तो पाश्चात्य सभ्यता से हमारा सम्पर्क न होता और तब आधुनि साहित्य — विशेषकर बंगला साहित्य — का अभ्युदय भी न होता। उसे प्रकार न तुर्क हमला करते, न हिन्दू संभलते, न उनके धर्म-प्रचारक लोक भाषाओं को अपनाते। यहा यह प्रश्न करना संगत है कि उन्होंने लोक-भाषाओं को किसके विरुद्ध अपनाया — तुर्क आक्रमणकारियो की भाषा तुर्की के विरुद्ध या अपभ्रंशों के विरुद्ध ? ऊपर की व्याख्या मे तुर्की के मुकाबले देशी भाषाओं की रक्षा की ओर संकेत नही है; सकेत है अपभ्रंशों के मुकाबले में लोक-भाषाओं के आगे बढने का। ऊपर "यदि भारतीय जीवन की धारा" आदि जो वाक्य उद्धृत किया गया है, वह अपभ्रंशो के प्रसंग मे ही; उससे पहले का वाक्य है, "नभाआ के पूर्ण रूप से उदय हो जाने पर भी अपभ्रंश (एव कुछ अंशो मे प्राकृत) की परम्परा बराबर चलती रही; ई. १५वी शताब्दी के अन्त मे संकलित 'प्राकृत-पैंगल' इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है।" नभाआ का अभ्युदय हुआ १००० ई. के आसपास। पांच सौ वर्ष तक ये नव्य भाषाएं अपने आसन पर प्रतिष्ठित न हो सकी। वे अपना आसन किससे मांग रही थी ? अपनी ही अपभ्रंश माताओ से। मां-बेटी के इस झगड़े को निपटाया तुर्क आक्रमण ने। हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए यह आवश्यक हो गया कि हिन्दू जाति अपभ्रंश माताओ को त्यागकर नव्य आधुनिक पुत्रियों का साथ दे ! आधुनिक भाषाएं प्राकृतों से उत्पन्न हुई हैं, इस स्थापना को उपर्युक्त संदर्भ मे दोहराया गया है : "प्राकृतो का युग बीत चुका था। प्रादेशिक अपभ्रंशों की राह से होती हुई प्राकृतें, परिवर्तित होकर, आधुनिक भारतीय भाषाएं बन गयी थी।" यदि यह मान ले कि तुर्क आक्रमण के प्रभाव से अपभ्रंशों को हटना पड़ा और नव्य भाषाओं ने उनका स्थान लिया, तो भी — इस क्रिया से पहले ही — "प्राकृतों का युग बीत चुका था।" यदि प्राकृतें कृत्रिम साहित्यिक भाषा थी, तो उनके युग बीतने का सवाल भी क्यो उठे ? वास्तविक व्यवहार मे उनका अस्तित्व था ही नही। बोलचाल की भाषाएं आद्य-नव्य भले रही हो, मध्य नही थी। यदि प्राकृतें बोलचाल की भाषा थी, तो उनके युग बीतने का कोई कारण होना चाहिए; कम-से-कम तुर्क आक्रमण से तो यह संभव नहीं

कि बोलचाल की भाषाएं सारे उत्तर भारत से तिरोहित हो जायें और अचानक उन्ही की पुत्रियां—दूसरी भाषाएं—उत्पन्न हो जायं। भारत पर तुर्क आक्रमण की व्याख्या से यह बिलकुल स्पष्ट नही होता कि प्रादेशिक अपभ्रंशो की राह से होती हुई प्राकृतें, परिवर्तित होकर, आधुनिक भारतीय भाषाएं कैसे बन गयी थीं। यदि अपभ्र शमार्गी प्राकृतो के आधुनिक भाषाएं बनने की यह पद्धति सही हो, तो भी उसे तुर्क आक्रमण से एकदम असम्बद्ध स्वतंत्र प्रक्रिया ही माना जायगा।

अब देखना चाहिए कि मभाषा से—जिसका प्राप्त रूप संदिग्ध और कृत्रिम माना गया है—नभाषा की उत्पत्ति कैसे हुई। शुरुआत होती है ध्वनि-क्षय से। "मभाषा युग से भाषा मे एक प्रकार के क्षय का आरम्भ हो गया था। यह क्षय अबाध गति से बराबर चलता रहा।" जब यह क्षय-प्रक्रिया सम्पूर्ण हो गयी, तब "विकास और शक्ति-सचय की एक नयी क्रिया" का आरम्भ हुआ। इस नयी क्रिया का पहला उदाहरण यह है : "भारतीय-आर्य भाषी प्रदेश के अधिकांश भाग मे 'अक्क' तथा 'अकम' के सदृश प्राकृत शब्दो का 'अ' स्वर तथा 'क' व्यंजन संकुचित हो गया, और वे क्रमशः 'आक' तथा 'अका' बन गये। दोनो ही उदाहरणो में व्यंजन की दीर्घता (या द्वित्व) तथा अंतिम स्वर की स्थान-पूर्ति के लिए स्वर को दीर्घ बना दिया गया।" जितना समय अक्क के उच्चारण मे लगता है, उतना ही आक के, अकम और अका भी तीन-तीन मात्राओ के शब्द हैं। स्वर-व्यंजनों मे स्थान-परिवर्तन हुआ; उच्चारण-काल ज्यो का त्यो रहा। न यह क्षय-प्रक्रिया हुई, न शक्ति सचय की नयी क्रिया। 'माता' से मा, माय, माई, मैया, महतारी आदि अनेक रूप हमारी जनपदीय बोलियो मे प्रचलित हैं, इनमे कहा क्षय-सिद्धान्त माना जाय, कहा शक्ति-सचय की क्रिया ?

मभाषा से नभाषा की उत्पत्ति की दूसरी मिसाल यह है : "किसी व्यंजन के पहले आया हुआ पूर्ण सानुनासिक घटकर निकटस्थ स्वर का नासिक्यी-भवन-मात्र रह गया (उदाहरण 'चन्द्र, चन्द, चाँद')।" लेकिन हिन्दी मे चन्द्र भी प्रचलित रहा, परिनिष्ठित हिन्दी मे ही नहीं, बोलचाल की भाषा और बोलियो मे भी। रामलीला या रामायण पाठ के समय जनसाधारण बार-बार "बोल रजा रामचन्द्र की जै" ध्वनि करते रहे हैं। यदि कोई कहे, जनता रामचद्र नही रामचद को जै बोलती है, तो दूसरा उदाहरण है इन्द्र का। गाव की स्त्रियां रूपगर्विता को तिरस्कार भाव मे कहती हैं—बड़ी इन्द्र की परी बनी है। इन्दर रूप उर्दू-पंजाबी मे स्वीकृत है, हिन्दी क्षेत्र की बोलियो म नही। भूषण ने "इन्द्र जिमि जंभ पर" लिखकर लोक-भाषा के ध्वनि-सिद्धान्त की अवहेलना न की थी।

चंद को यदि मभाषा का माने तो प्रेमचंद जैसा प्रिय नाम प्राचा प्राय आर्य (प्रेम) और प्राचा मध्य आर्य (चंद) रहेगा, उसे नव्य आर्य-भाषा का नाम माना ही न जा सकेगा। एक प्रचलित कहावत है "हाल-भात में मूसर चंद"; इसमें चंद रूप की लोकप्रियता का पता चलता है। चंद की तुलना में चांद को विशेष रूप से नव्य क्यों माना जाय? चंद का एक लोकप्रिय रूप चदा भी है—"आजु सुहाग की राति, चदा तुम उदहो, उदहो।" चांद के अलावा उसका एक और लघु रूप चानू भी कहीं-कहीं बोला जाता है और चन्दरमा या चंदरमा में हलन्त द का स्थान पूरा द ले लेता है। पंजाबी बोलियों को नासिक्यीभवन-नियम का अपवाद माना गया है: "पंजाब की बोलियों में इस प्रकार के व्यंजन-सम्बंधी परिवर्तनों का गतिरोध हुआ और इस विषय में उनका अपना भिन्न पथ रहा।" भिन्न पथ अवश्य रहा, लेकिन गतिरोध क्यों माना जाय? जब तक बुलन्दशहर का नाम लोगों की जबान पर है, तब तक इस ध्वन्यात्मक गतिरोध को कैसे मान्यता दी जाय?

तीसरा परिवर्तन इस प्रकार है: "प्राभाषा तथा मभाषा की 'च' 'ज' ध्वनियों का मराठी में (कुछ विशेष संयोगों में), गंजाम की उड़िया में, सूरत की गुजराती में, कुछ राजस्थानी बोलियों में, परबतिया या गोरखाली तथा पूर्वी बंगाल में, 'त्स' तथा 'द्ज़' (ts, dz) में परिवर्तन।" ज, झ आदि आर्य ध्वनियां मानी गयी थीं। यजस्य-यजत्स्य, पुरोहितं-पुरस्धितम्, ऋत्विजम्-ऋत्विजम्, भर्गो-भर्गज्, धियो-धियज् आदि रूपों में दूसरा रूप शुद्ध मूल-आर्य माना गया था और पहला रूप अनार्य-प्रभावित—या स्वतः अपभ्रष्ट—भारतीय रूप। अब मभाषा के बाद उन शुद्ध आर्य ध्वनियों का पुनः अभ्युदय हुआ। लेकिन इसका प्रमाण क्या है कि राजस्थान, महाराष्ट्र आदि के लोग पहले च, ज ही बोलते थे और च, ज की ध्वनियों से अपरिचित थे? मराठी भाषा के उद्गम और विकास पर अपने ग्रंथ में श्री कुलकर्णी ने इस सम्बध में एक दिलचस्प नियम का उल्लेख किया है। तत्सम शब्दों में च, छ, ज, झ—इन ध्वनियों का शुद्ध तालव्य उच्चारण होता है। तद्भव और देशी शब्दों में च-वर्ग का उच्चारण दन्त्य-तालव्य होता है लेकिन तद्भव शब्दों में भी जब च-वर्ग का कोई वर्ण ई, ए, ऐ, य—इनमें किसी से पहले होता है, तब उसका उच्चारण शुद्ध तालव्य होता है। इसके उदाहरण दिये हैं: चिमट, चिवट, चेट्टक, चेतविणे, चिता, जिनगर, झिपरी।[1] इससे सिद्ध है कि मराठी जैसी भाषा में च-च् आदि का परिवर्तन नियम तद्भव शब्दों के विकास

---

[1] कृष्ण जी पांडुरंग कुलकर्णी—मराठी भाषा: उद्गम व विकास, १९५०; पृष्ठ २६३–६४।

[illegible] नहीं होगा। [illegible] यह [illegible] समूह को सभी भाषाओं के लिए [illegible] है, वह [illegible] है।

ध्वनि-परिवर्तन से सम्बन्धित एक उदाहरण : "'हूं' के लिए बहुत लोग [illegible] ध्वनियों का उच्चारण करते हैं।" इससे पता चला कि [illegible] का ध्वनि-सम्बन्धी कोई एक ही व्यापक नियम नहीं है। उनकी ध्वनि-प्रकृति में काफी विभिन्नता है। यह विभिन्नता एक हद तक वैदिक भाषा में भी प्रकट हो चुकी थी — विशेषकर [illegible] ध्वनियों के सम्बन्ध में।

ध्वनि-सम्बन्धी एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि उत्तर-भारत की बोलियां एक-दूसरे को प्रभावित करती रही हैं। हमारे विचार में बहुत प्राचीन काल में मुंडा, आर्य, द्रविड़ आदि भिन्न माने जाने वाले भाषा-परिवार भी एक-दूसरे को प्रभावित करते रहे थे। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि "हिन्दी पर कई एक बातों में पंजाबी का प्रभाव स्पष्ट है, बगला पर उत्तर-प्रदेशीय भाषाओं एवं बिहारी बोलियों का, जो स्वयं हिन्दी या हिन्दुस्ता(स्था)नी के प्रभावान्तर्गत हैं, प्रभाव रहा है।" इससे यह निष्कर्ष निकालना उचित होगा कि उत्तर भारत की कोई भी भाषा अपने ही तत्त्वों से नहीं बनी, उसके निर्माण में अन्य बोलियों का भी योग है। यदि लोग इस बात को समझें कि जिस भाषा पर उन्हें इतना अहंकार है, उसके निर्माण में अन्य भाषाओं का भी हाथ है, तो जातीय अहंकार की मात्रा कुछ कम हो जाय। लेकिन भाषाओं के परस्पर प्रभाव और सम्पर्क का उचित सिद्धान्त मानने के बाद यह आवश्यक नहीं है कि हम किसी प्रदेश की बोलियों को एकमात्र प्रभाव-स्रोत मान लें और अन्य भाषाओं को सदा दूसरों से प्रभावित होने वाला मानें। "भारत में भाषागत प्रभाव का स्रोत साधारणतया पश्चिम में पंजाब की ओर से पूर्व की ओर बहता रहा है, और पंजाब हमेशा से आर्यों के तथा आर्य-प्रभाव के प्रसार का मुख्य केन्द्रस्थल रहा है।" दूसरे अध्याय में हमने देखा था कि पूर्वी बोलियां रकार-बहुला हैं, पछाहीं बोलियां लकार-बहुला। लकारवाले रूप बाद के सिद्ध हुए थे, रकारवाले प्राचीन। भरत या कुरुजन का क्षेत्र — जहां की बोली संस्कृत का मुख्य आधार थी — पंजाब में न होकर हिन्दी भाषी प्रदेश में आता है। यह आश्चर्य की बात होगी कि आर्य-प्रभाव के प्रसार का केन्द्र तो पंजाब रहा, और आर्य संस्कृति के प्रधान केन्द्र गंगा-जमुना के किनारे पाये गये। "पंजाब का यह महत्वपूर्ण स्थान कुछ अंशों में तो परम्परा को लेकर है; कुछ अंशों में पंजाब के निवासियों की कार्यशीलता भी इसका कारण है।" कलकत्ते में पंजाबी टैक्सी ड्राइवर बहुत अधिक हैं, उनके बंगाली समान-धर्मा बहुत कम। कार्यशीलता के इस तरह के और बहुत से प्रमाण दिये जा सकते हैं। देश के विभाजन के बाद उत्तर प्रदेश के व्यापारियों को इस कार्य-

चंद को यदि मभामा रूप माने तो प्रेमचंद जैसा प्रिय नाम भाषा प्राय
प्रेम) और भाषा मध्य आर्य (चंद) रहेगा, उसे नव्य आर्य-भाषा का
माना ही न जा सकेगा। एक प्रचलित कहावत है "दाल-भात मे मूसर
; इससे चद रूप की लोकप्रियता का पता चलता है। चंद की तुलना मे
को विशेष रूप से नव्य क्यों माना जाय ? चंद का एक लोकप्रिय रूप चंदा
है —"आजु सुहाग की राति, चंदा तुम उइहौ, उइहौ।" चाँद के अलाव
का एक और लघु रूप चानू भी कहीं-कहीं बोला जाता है और चन्दरमा या
रमा मे हलन्त द का स्थान पूरा द ले लेता है। पंजाबी बोलियों को
सिवयोभवन-नियम का अपवाद माना गया है: "पंजाब की बोलियो मे इस
कार के व्यजन-सम्बंधी परिवर्तनों का गतिरोध हुआ और इस विषय में उनका
पना भिन्न पथ रहा।" भिन्न पथ अवश्य रहा, लेकिन गतिरोध क्यों माना
जाय ? जब तक कृशनचंदर का नाम लोगों की जबान पर है, तब तक इस
ध्वन्यात्मक गतिरोध को कैसे मान्यता दी जाय ?

तीसरा परिवर्तन इस प्रकार है: "प्राभाम्रा तथा मभाम्रा की 'च' तथा
'ज' ध्वनियो का मराठी में (कुछ विशेष सयोगों मे), गंजाम की उड़िया मे
सूरत की गुजराती मे, कुछ राजस्थानी बोलियों में, परबतिया या गोरखा
तथा पूर्वी बगाल मे, 'त्स' तथा 'द्ज़्' (ts, dz) मे परिवर्तन।" ज, झ
आदि आर्य ध्वनिया मानी गयी थी। यजस्य-यज्ञस्य, पुरोहितं-पुरस्-
धितम्, ऋत्विजम्-ऋत्विज्ञम्, भर्गो-भर्गज्, धियो-धियज् आदि रूपो मे दूसरा
रूप शुद्ध मूल-आर्य माना गया था और पहला रूप अनार्य-प्रभावित — या स्वतः
अपभ्रष्ट — भारतीय रूप। अब मभाम्रा के बाद उन शुद्ध आर्य ध्वनियों का
पुनः अभ्युदय हुआ। लेकिन इसका प्रमाण क्या है कि राजस्थान, महाराष्ट्र
आदि के लोग पहले च, ज ही बोलते थे और च, ज की ध्वनियों से अपरिचित
थे ? मराठी भाषा के उद्गम और विकास पर अपने ग्रंथ मे श्री कुलकर्णी
ने इस सम्बध मे एक दिलचस्प नियम का उल्लेख किया है। तत्सम शब्दों मे
च, छ, ज, झ — इन ध्वनियों का शुद्ध तालव्य उच्चारण होता है। तद्भव
और देशी शब्दो मे च-वर्ग का उच्चारण दन्त्य-तालव्य होता है लेकिन तद्भव
शब्दो मे भी जब च-वर्ग का कोई वर्ण ई, ए, ऐ, य — इनमे किसी से संयुक्त
होता है, तब उसका उच्चारण शुद्ध तालव्य होता है। इसके उदाहरण दिये हैं:
चिमट, चिवट, चेट्टक, चेतविणें, चिता, जिनगर, झिपरी।[1] इससे सिद्ध हुआ
कि मराठी जैसी भाषा में च-च् आदि का परिवर्तन नियम तद्भव शब्दो मे भी

१. कृष्ण जी पांडुरंग कुलकर्णी — मराठी भाषा : उद्गम व विकास; पुणे
१९५०; पृष्ठ १९३–९४।

[illegible] स्पष्ट नहीं होता। फिर यह [illegible] को सभी भाषाओं के लिए [illegible] नहीं है, यह भी स्पष्ट है।

[illegible] के [illegible] : "'हुँ' के लिए बहुत सी [illegible] भिन्न ध्वनियों का प्रयोग करती हैं।" इससे पता चला कि [illegible] का ध्वनि-[illegible] कोई एक ही व्यापक नियम नहीं है। उसकी ध्वनि-प्रवृत्तियाँ [illegible] विभिन्न हैं। यह विभिन्नता एक हद तक वैदिक भाषा में भी प्रकट हो चुकी थी — विशेषकर [illegible] ध्वनियों के सम्बन्ध में।

ध्वनि-सम्बन्धी एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि उत्तर-भारत की बोलियाँ एक-दूसरे को प्रभावित करती रही हैं। हमारे विचार से बहुत प्राचीन काल से आर्य, मुंडा, द्रविड़ आदि भिन्न माने जाने वाले भाषा-परिवार भी एक-दूसरे को प्रभावित करते रहे थे। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि "हिन्दी पर कई एक बातों में पंजाबी का प्रभाव स्पष्ट है, बंगला पर उत्तर-प्रदेशीय भाषाओं एवं बिहारी बोलियों का, जो स्वयं हिन्दी या हिन्दुस्ता(स्था)नी के प्रभावान्तर्गत हैं, प्रभाव रहा है।" इससे यह निष्कर्ष निकालना उचित होगा कि उत्तर भारत की कोई भी भाषा अपने ही तत्वों से नहीं बनी, उसके निर्माण में अन्य बोलियों का भी योग है। यदि लोग इस बात को समझें कि जिस भाषा पर उन्हें इतना अहंकार है, उसके निर्माण में अन्य भाषाओं का भी हाथ है, तो जातीय अहंकार की मात्रा कुछ कम हो जाय। लेकिन भाषाओं के परस्पर प्रभाव और सम्पर्क का उचित सिद्धान्त मानने के बाद यह आवश्यक नहीं है कि हम किसी प्रदेश की बोलियों को एकमात्र प्रभाव-शील मान लें और अन्य भाषाओं को सदा दूसरों से प्रभावित होने वाला मानें। "भारत में भाषागत प्रभाव का स्रोत साधारणतया पश्चिम में पंजाब की ओर से पूर्व की ओर बहता रहा है, और पंजाब हमेशा से आर्यों के तथा आर्य-प्रभाव के प्रसार का मुख्य केन्द्रस्थल रहा है।" दूसरे अध्याय में हमने देखा था कि पूर्वी बोलियाँ रकार-बहुला हैं, पछाँहीं बोलियाँ लकार-बहुला। लकारवाले रूप बाद के सिद्ध हुए थे, रकारवाले प्राचीन। भरत या कुरुजन का क्षेत्र — जहाँ की बोली संस्कृत का मुख्य आधार थी — पंजाब में न होकर हिन्दी भाषी प्रदेश में आता है। यह आश्चर्य की बात होगी कि आर्य-प्रभाव के प्रसार का केन्द्र तो पंजाब रहा, और आर्य संस्कृति के प्रधान केन्द्र गंगा-जमुना के किनारे पाये गये। "पंजाब का यह महत्वपूर्ण स्थान कुछ अंशों में तो परम्परा को लेकर है; कुछ अंशों में पंजाब के निवासियों की कार्यशीलता भी इसका कारण है।" कलकत्ते में पंजाबी टैक्सी ड्राइवर बहुत अधिक हैं, उनके बंगाली समान-धर्मा बहुत कम। कार्यशीलता के इस तरह के और बहुत से प्रमाण दिये जा सकते हैं। देश के विभाजन के बाद उत्तर प्रदेश के व्यापारियों को इस कार्य-

दच्छिना, सच्छन, पज्जी, छज्जा, झज्झर, टट्टर, खट्टा, लट्टू, हट्टा-कट्टा, भट्ठी, बप्पा, पम्मा, दन्नू, भब्भड, हल्ला-गुल्ला, छल्ला, गल्ला, दुनल्ला, पल्ला (पल्ले पड़ना, पल्ला झाड़ना), खैरसल्ला (भल्ला-भल्ला खैरसल्ला), बर्रे, हर्रे (हड़), चरमर्र, मर्हू (मरहूर), मेल्हा (मे पर बलाघात, ए स्वर ह्रस्व; सनके पौधों के डंठल), गुम्मा, रस्सा, भस्सी, इत्यादि। इस तरह के युग्म व्यंजन वाले सैकड़ो शब्द है जो अवधी, ब्रज, बुन्देलखंडी आदि बोलियों मे प्रचलित है। युग्म व्यंजनो को मध्य भारतीय आर्य-भाषा की विशेषता मानना, फिर इस मभाषा से पंजाबी का सम्बध जोड़ना, हिन्दी के कल, सच आदि रूपों को पंजाबी से आया हुआ बताना — इस व्यूह रचना मे नव्य-आर्य-भाषा ऐसे फस जाती है जैसे मकड़ी के जाले मे मक्खी।

तीसरा प्रश्न यह है कि हिन्दी मे क्या कल, सच आदि रूप ही प्रचलित हैं? कहावत है सांच को आंच क्या। और काल्हि करै सो आज कर, आज करै सो अब; छिन मे परलै होत है बहुरि करैगा कब। कल, सच आदि के साथ काल्हि, साच आदि रूप भी हिन्दी बोलियो मे प्रचलित हैं। फिर यह नियम कैसे माना जाय कि मभाषा मे पहले अक्षरो का अ ह्रस्व कर दिया गया और अन्तिम दीर्घ या द्वितीय व्यंजन ह्रस्व हो गया या अकेला रह गया?

डॉ. चाटुर्ज्या ने एक बहुत दिलचस्प मिसाल फारसी शब्दो के पंजाबीकरण की दी है: "फारसी 'चादर', 'उमेद' से क्रमशः 'चद्दर', 'उम्मेद' आदि। हिन्दी मे इनकी जगह एक व्यंजन का सीधा रूप लिया गया है।" उम्मेद वाला रूप अवधी मे प्रचलित है; हिन्दी मे साधारणत उम्मीद रूप का चलन है। चद्दर-चादर दोनो रूप हिन्दी मे स्वीकृत हैं। ध्यान देने की बात यह है कि मूल शब्द मे जहां युग्म-व्यंजन नहीं हैं, वहां पंजाबी (और अवधी) ने उन्हे संलग्न कर लिया है। इससे यह उचित निष्कर्ष निकालना चाहिए कि संस्कृत और प्राकृत (तथा पंजाबी) मे जहा युग्म व्यंजन मिलें — और हिन्दी मे एक ही व्यंजन मिले — वहा आंख मूद कर संस्कृत-प्राकृत (या पंजाबी) वाले रूप को प्राचीन और हिन्दी रूप को उससे अपभ्रष्ट न मान लेना चाहिए। मूल शब्द चादर है, चद्दर नहीं; उमेद (या उमीद) है, उम्मेद नही। फारसी-अंग्रेजी के शब्दो मे जहा यह युग्म स्थापन-क्रिया समापन्न हो, वहां कौन मूल है, कौन अपभ्रंश — इस बारे मे सन्देह नहीं रहता। इससे भाषा की मूल प्रकृति का पता चलता है। अंग्रेजी शब्द सेक्रेटरी का सिकट्टर (या सिकत्तर) रूप देख कर कोई न कहेगा कि मूल शब्द सिकट्टर है या उसमे मभाषा के युग्म व्यंजन सुरक्षित हैं। किन्तु हिन्दी कल की तुलना मे कल्य और कल्ल को प्राचीन रूप मानने मे कम लोगो को संकोच होता है!

मृच्छकटिक नाटक मे मैत्रेय कहता है: एव्व विभ। इसका संस्कृत रूप

[illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], पत्ता (पत्ते [illegible], [illegible]), [illegible] ([illegible]), बर्रे, हर्रे (हर), [illegible], [illegible] ([illegible]), [illegible] (ये दर असल, ए स्वर ह्रस्व; इनके दोनों के [illegible]), [illegible], [illegible], [illegible], इत्यादि। इस तरह के युग्म व्यंजन वाले सैकड़ों शब्द हैं जो अवधी, ब्रज, बुन्देलखंडी आदि बोलियों में प्रचलित हैं। युग्म व्यंजनों को मध्य भारतीय आर्य-भाषा की विशेषता मानना, फिर इन समासों में पंजाबी का सम्बन्ध जोड़ना, हिन्दी के कल, सब आदि रूपों को पंजाबी से आया हुआ बताना — इस अशुद्ध रचना में मध्य-आर्य-भाषा ऐसे फंस जाती है जैसे मकड़ी के जाले में मक्खी।

तीसरा प्रश्न यह है कि हिन्दी में क्या कल, सब आदि रूप ही प्रचलित हैं? कहावत है माघ को आज रहा। और काल्हि करै सो आज कर, आज करै सो अब, छिन में परलै होत है बहुरि करेगा कब। कल, सब आदि के साथ काल्हि, सब्ब आदि रूप भी हिन्दी बोलियों में प्रचलित हैं। फिर यह नियम कैसे माना जाय कि न-आधा में पहले अक्षरों का अ ह्रस्व कर दिया गया और अन्तिम दीर्घ या द्वितीय व्यंजन ह्रस्व हो गया या अकेला रह गया?

डॉ. चाटुर्ज्या ने एक बहुत दिलचस्प मिसाल फारसी शब्दों के पंजाबीकरण की दी है : "फारसी 'चादर', 'उमेद' से क्रमशः 'चद्दर', 'उम्मेद' आदि। हिन्दी में इनकी जगह एक व्यंजन का सीधा रूप लिया गया है।" उम्मेद वाला रूप अवधी में प्रचलित है, हिन्दी में साधारणतः उम्मीद रूप का चलन है। चद्दर-चादर दोनों रूप हिन्दी में स्वीकृत हैं। ध्यान देने की बात यह है कि मूल शब्द में जहां युग्म-व्यंजन नहीं हैं, वहां पंजाबी (और अवधी) ने उन्हें उत्पन्न कर लिया है। इससे यह उचित निष्कर्ष निकालना चाहिए कि संस्कृत और प्राकृत (तथा पंजाबी) में जहां युग्म व्यंजन मिलें — और हिन्दी में एक ही व्यंजन मिले — वहां आंख मूंद कर संस्कृत-प्राकृत (या पंजाबी) वाले रूप को प्राचीन और हिन्दी रूप को उससे अपभ्रष्ट न मान लेना चाहिए। मूल शब्द चादर है, चद्दर नहीं; उमेद (या उमीद) है, उम्मेद नहीं। फारसी-अंग्रेजी के शब्दों में जहां यह युग्म स्थापन-क्रिया सम्पन्न हो, वहां कौन मूल है, कौन अपभ्रंश — इस बारे में सन्देह नहीं रहता। इससे भाषा की मूल प्रकृति का पता चलता है। अंग्रेजी शब्द सेक्रेटरी का सिकट्टर (या सिक्त्तर) रूप देख कर कोई न कहेगा कि मूल शब्द सिकट्टर है या उसमें मभाषा के युग्म व्यंजन सुरक्षित हैं। किन्तु हिन्दी कल की तुलना में कल्य और कल्ल को प्राचीन रूप मानने में कम लोगों को संकोच होता है!

मृच्छकटिक नाटक में मैत्रेय कहता है : एव्व विम। इसका संस्कृत रूप

इच्छिना, सच्छन, मज्जी, छज्जा, झज्झर, टट्टर, खट्टा, लट्ठ, हट्टा-कट्टा, भड्डरी, बप्पा, मम्मा, दब्बू, भब्भड, हल्ला-गुल्ला, छल्ला, गल्ला, दुनल्ला, पल्ला (पल्ले पड़ना, पल्ला झाड़ना), खैरसल्ला (मल्ला-मल्ला खैरसल्ला), ढर्रं, हर्रं (हड़), चरमर्रं, मर्हू (मरहर), मेल्हा (से पर बलाघात, ए स्वर ह्रस्व; सनके पौधों के डंठल), गुस्सा, रस्सा, मस्सी, इत्यादि। इस तरह के युग्म व्यंजन वाले सैकड़ों शब्द हैं जो अवधी, ब्रज, बुन्देलखंडी आदि बोलियों में प्रचलित हैं। *युग्म व्यंजनों को मध्य भारतीय आर्य-भाषा की विशेषता मानना*, फिर इस मभाषा से पंजाबी का सम्बंध जोड़ना, हिन्दी के कल, सच आदि रूपों को पंजाबी से आया हुआ बताना — इस व्यूह रचना में नव्य-आर्य-भाषा ऐसे फंस जाती है जैसे मकड़ी के जाले में मक्खी।

तीसरा प्रश्न यह है कि हिन्दी में क्या कल, सच आदि रूप ही प्रचलित हैं? कहावत है साँच को आँच क्या। और काल्हि करै सो आज कर, आज करै सो अब; छिन में परलै होत है बहुरि करैगा कब। कल, सच आदि के साथ काल्हि, साँच आदि रूप भी हिन्दी बोलियों में प्रचलित हैं। फिर यह नियम कैसे माना जाय कि मभाषा में पहले अक्षरों का अ ह्रस्व कर दिया गया और अन्तिम दीर्घ या द्वितीय व्यंजन ह्रस्व हो गया या अकेला रह गया?

डॉ. चाटुर्ज्या ने एक बहुत दिलचस्प मिसाल फारसी शब्दों के पंजाबीकरण की दी है: "फारसी 'चादर', 'उमेद' से क्रमशः 'चद्दर', 'उम्मेद' आदि। हिन्दी में इनकी जगह एक व्यंजन का सीधा रूप लिया गया है।" उम्मेद वाला रूप अवधी में प्रचलित है; हिन्दी में साधारणतः उम्मीद रूप का चलन है। चद्दर-चादर दोनों रूप हिन्दी में स्वीकृत हैं। ध्यान देने की बात यह है कि मूल शब्द में जहाँ युग्म-व्यंजन नहीं हैं, वहाँ पंजाबी (और अवधी) ने उन्हें उत्पन्न कर लिया है। इससे यह उचित निष्कर्ष निकालना चाहिए कि संस्कृत और प्राकृत (तथा पंजाबी) में जहाँ युग्म व्यंजन मिलें — और हिन्दी में एक ही व्यंजन मिले — वहाँ आँख मूंद कर संस्कृत-प्राकृत (या पंजाबी) वाले रूप को प्राचीन और हिन्दी रूप को उससे अपभ्रष्ट न मान लेना चाहिए। मूल शब्द चादर है, चद्दर नहीं, उमेद (या उमीद) है, उम्मेद नहीं। फारसी-अंग्रेज़ी के शब्दों में जहाँ यह युग्म स्थापन-क्रिया सम्पन्न हो, वहाँ कौन मूल है, कौन अपभ्रंश — इस बारे में सन्देह नहीं रहता। इससे भाषा की मूल प्रकृति का पता चलता है। अंग्रेज़ी शब्द सेक्रेटरी का सिकट्टर (या सिकत्तर) रूप देख कर कोई न कहेगा कि मूल शब्द सिकट्टर है या उसमें मभाषा के युग्म व्यंजन सुरक्षित हैं। किन्तु हिन्दी कल की तुलना में कल्य और कल्ल को प्राचीन रूप मानने में हम लोगों को संकोच होता है!

मृच्छकटिक नाटक में मैत्रेय कहता है: एव्वं विय। इसका संस्कृत रूप

हुआ—एकमिव। यहां व्यंजनों के द्वित्वभाव को प्राकृत की विशेषता समझ कर एव का एक्क किया गया है। इससे एक्क रूप प्राचीन और एव उससे उत्पन्न नहीं माना जा सकता। रदनिका उसी नाटक में "एव पनु" का प्राकृत रूप "एओ पनु" बोलती है; पनु नवीन और पनु प्राचीन रूप नहीं है। हा पितृ का हदो रूप नाटकों में बारबार आता है। हदो का ह दीर्घ हा में परिवर्तित नहीं हुआ जैसे पत्र से पात रूप माना जाता है। वर्धमानक कहता है. एदंसकदा मज्जु कडुआ बदृला। ये बदृला संस्कृत के एक सकारवाले वर्तिवर्ते है। और इसका एक तकारवाली नाया या नायिका है। प्राकृत में इति के स्थान पर 'ति' रूप का चलन है। उत्तर रामचरित में सीता कहती है: ओसरिदु इच्छामि। इसका संस्कृत रूप है अपसर्तुमिच्छामि। इच्छामि का एक प्रकार इच्छिम में द्वित्वभाव से स्थित है। डॉ. सरयूप्रसाद अग्रवाल ने 'प्राकृत-विमर्श' में 'पेम्म वज्जा' से एक उद्धरण दिया है। पेम्म प्रेम का प्राचीन रूप नहीं है, प्रेम ही मूल शब्द है। एक अन्य वज्जा—पियोल्लासवज्जा—में एक पद आता है "एक्केण विणा पियमानुसेण"; यहां एकेन का प्राकृत रूप एक्केण माना गया है। मूल रूप 'एक' ही है। डॉ. अग्रवाल ने 'रावणवहो' से जो उद्धरण दिये हैं, उनमें संस्कृत ध्रियते की जगह धरिज्जइ, मूर्छते की जगह मुच्छिज्जइ, म्रियेति की जगह मिम्मत्ति, जीवेत् की जगह जीवेज्ज आदि द्वित्व-भाव वाले रूप मिलते हैं। इन उदाहरणों से यह बिलकुल स्पष्ट हो जाना चाहिए कि किसी शब्द में युग्म व्यंजनों का अस्तित्व उसकी प्राचीनता का प्रमाण नहीं है। सच्च और सच, कम्म और काम में सच्च और कम्म को प्राचीन रूप सिद्ध करने के लिए युग्म व्यंजनों के अलावा किसी अन्य तर्क का सहारा लेना चाहिए।

चरित शब्द प्राचीन है या चरित्र? युग्म व्यंजनो के कारण चरित्र शब्द शायद अधिक श्रद्धास्पद माना जाता है। किन्तु भवभूति ने उत्तर रामचरित ही लिखा, उत्तर रामचरित्र नही। तुलसीदास ने रामचरित मानस लिखा। हिंदी चरित चरित्र का विकृत रूप न हुआ; वह हमारे यहा अपने 'संस्कृत' रूप मे ही प्रतिष्ठित है। संस्कृत मे यत्र-तत्र है, किंचित् भिन्न अर्थ मे इतस्ततः भी हिंदी की बोलियो मे त्र वाले रूप नही हैं, इतै-उतै आदि रूप हैं। इन इतै-उतै को क्या यत्र-तत्र का विकृत रूप मानें? अवधी मे हन् (मारना) धातु का प्र भी प्रयोग होता है। संस्कृत मे इससे एक रूप बनता है घ्नन्ति। मूल धातु हन् या घ्न? हिन्दी मे जानना क्रिया का चलन है; संस्कृत मे जानाति आदि रूप चलते हैं। मूल धातु जान् मानी जाय या ज्ञा? गायत्री मंत्र मे वरेण्यम् मूल रूप है या वरेणियम्? डॉ. चाटुर्ज्या ने उसका प्रचलित संस्कृत रूप उद्धृत करते हुए 'वरेणियम्' लिखा है (कल्पित आदिम रूप तो वरइनियम् माना गया है

किसकी चर्चा यहां नहीं की जा रही है)। वेंकटराव ने वैदिक छंदों के प्रसंग में लिखा है कि [illegible] को [illegible], [illegible] को [illegible], [illegible] को [illegible], [illegible] को [illegible] पढ़ना चाहिए। यदि इस प्रसंग के नियमों को हम याद रखें तो आधुनिक भाषाओं के बारे में बहुत सी उलझनें दूर हो जाएं।

कृदन्तों में ध्वनि-प्रकृति की एक विशेषता यह काम करती रही है कि धातु में दो व्यंजन हों तो प्रथम को हलन्त कर देते थे। जैसा रूप है जानाति; इसमें धातु जान् प्रतिष्ठित है। ज्ञा को त्याग और हलन्त करके गुरु ध्वनि प्रकृति के अनुरूप नयी धातु रची गयी था। उसका उपयोग हुआ भविष्य काल के लिए, जानाति आदि में। इससे ज्ञा बनी जान। संस्कृत के जानत् (जानता हुआ), जानान (जाननेवाला) आदि रूपों में मूल जान् धातु असंकुचित रूप में विद्यमान है। करोति, करोमि, कर्म आदि में धातु है कर्, उसका संकुचित रूप बना कृ। कृ से कर् नहीं हुआ, कर् से कृ रूप बना है जिससे करोमि के समानान्तर कृणोमि आदि रूप बने। कर्तन (काटना), कर्तनी (कैंची), कर्तरी (चाकू) आदि में काटने के लिए धातु है कर्त्। इसका संकुचित रूप हुआ कृत् जिससे कृन्तति आदि रूप बने। हिन्दी धातु काट् कृत् का विकृत रूप न होकर कर्त् का ही सहज परिवर्तित रूप है। कर्षति, कर्षण आदि में धातु है कर्ष्; इसीका संकुचित रूप बना कृष्। कर्षक रूप उतना ही 'संस्कृत' है जितना कृषक। कर्ष् से कर्षित रूप बनता है और कृष् से कृष्ट। कृष्ट से कर्षित सिद्ध करना आवश्यक नहीं है। गिरति में धातु हुई गिर् (निगलना), संकुचित रूप गृ। जरते, जर् (गाना), जृ, तर्पण, तर्प्, तृप (तृप्त), तरति, तर् (तैरना, पार करना), तृ, दर्श, दर्शन, दर्श, दृश (दृश्य, दृश्यते), धरा, धर्म, धरण, धर, धृ (ध्रियते), नर्तक, नर्तन, नर्तित, नर्त्, नृत् (नृत्य), भरति, भरण, भर्ता, भर्, भृ (ध्रियते, भृत्य), मरति, मरण, मर, मृ (मृत्यु, मृत) आदि। दर्शन-दृश्य, नर्तन-नृत्य, मरण-मृत्यु — संस्कृत में इस तरह के द्वंद्व-रूपों का कारण दो ध्वनि-प्रकृतिवाली भाषाओं (या भाषा समूहों) का मिश्रण है। इनमें कौन से रूप प्राचीन हैं, यह कहना कठिन है। क्रिया-रूपों को देखें तो भरति, मरति, तरति की लोकप्रियता निर्विवाद है। इन रूपों का लगभग वैसा ही चलन आज भी है। यूरोपीय भाषाओं में इनकी जो समरूप धातुएं हैं वे मर, भर् आदि असंकुचित रूपों के अनुकूल अधिक हैं। रूसी मेर्त्वेत्, मेर्त्वीत, म्योर्त्वी (मृत) आदि में मर्त्य से मिलते-जुलते रूप हैं, मृत से नहीं। इसी प्रकार लैटिन मोरिम्रोर। इस नियम के अपवाद रूप में जान् की अपेक्षा ज्ञा रूप यूरोप में अधिक अपनाया गया है: रूसी ज्नात, ज्नानिये; यूनानी गिग्नोस्को, ग्नोसिस। इसके विपरीत भृ के बदले भर् से यूनानी फेरो, अंग्रेजी बेअर रूप बने हैं।

संस्कृत धातुओं की एक विशेषता यह है कि वे क्रिया-रूपों में एक अति-

हुआ—"[illegible]। यहाँ [illegible] के द्वित्वभाव को प्राकृत की [illegible]
कर रूप का [illegible] किया गया है। इसमें एक का प्राचीन और एक उसके
प्राकृत नहीं माना जा सकता। इसलिए उसी नाटक में "एग धनु" का प्राकृत
रूप "[illegible] धनु" बोलते हैं, धनु नवीन और धनु प्राचीन रूप नहीं है।
हा [illegible] का इसी रूप नाटकों में बारबार आता है। इसी का हर्षवर्धन में
परिवर्तित नहीं हुआ और [illegible] में धान रूप माना जाता है। वर्तमानक कहा
है, [illegible] धनु कहा बहना। ये बहना [illegible] के एक सहारके
[illegible] है। और [illegible] एक तकारका ही नाया या नायिका है। प्राकृत में दो
के स्थान पर 'नि' रूप का चलन है। उत्तर रामचरित में सीता कहती है
[illegible] इत्यादि। इसका प्राकृत रूप है [illegible]। इत्यादि
एक प्रकार इत्यादि में द्वित्वभाव से लिखते हैं। डॉ. सरयूप्रसाद अग्रवाल ने
'प्राकृत-विमर्श' में 'पेम्म वज्जा' से एक उद्धरण दिया है। पेम्म प्रेम का प्राचीन
रूप नहीं है, प्रेम ही मूल शब्द है। एक अन्य वज्जा—पियोल्लासवज्जा—
में एक पद आता है "एक्केण विणा पियमानुसेण"; यहाँ एकेन का प्राकृत रूप
एक्केण माना गया है। मूल रूप 'एक' ही है। डॉ. अग्रवाल ने 'रावणवहो'
से जो उद्धरण दिये हैं, उनमें संस्कृत ध्रियते की जगह धरिज्जइ, मूर्छते की जगह
मुच्छिज्जइ, म्रियेति की जगह मिमति, जीवेत् की जगह जीवेज्ज आदि द्वित्व-
भाव वाले रूप मिलते हैं। इन उदाहरणों से यह बिलकुल स्पष्ट हो जाना
चाहिए कि किसी शब्द में युग्म व्यंजनों का अस्तित्व उसकी प्राचीनता का
प्रमाण नहीं है। सच्च और सच, कम्म और काम में सच्च और कम्म को
प्राचीन रूप सिद्ध करने के लिए युग्म व्यंजनों के अलावा किसी अन्य तर्क का
सहारा लेना चाहिए।

चरित शब्द प्राचीन है या चरित्र? युग्म व्यंजनों के कारण चरित्र शब्द
शायद अधिक श्रद्धास्पद माना जाता है। किन्तु भवभूति ने उत्तर रामचरित
ही लिखा, उत्तर रामचरित्र नहीं। तुलसीदास ने रामचरित मानस लिखा।
हिंदी चरित चरित्र का विकृत रूप न हुआ; वह हमारे यहाँ अपने 'सस्कृत' रूप
में ही प्रतिष्ठित है। संस्कृत में यत्र-तत्र है, किंचित् भिन्न अर्थ में इतस्ततः भी।
हिंदी की बोलियों में त्र वाले रूप नहीं हैं, इतै-उतै आदि रूप हैं। इन इतै-उतै
को क्या यत्र-तत्र का विकृत रूप मानें? अवधी में हनु (मारना) धातु का अभी
भी प्रयोग होता है। संस्कृत में इससे एक रूप बनता है घ्नन्ति। मूल धातु हन् है
या घ्न? हिन्दी में जानना क्रिया का चलन है; संस्कृत में जानाति आदि रूप
चलते हैं। मूल धातु जान् मानी जाय या ज्ञा? गायत्री मंत्र में वरेण्यम् मूल रूप
है या वरेणियम्? डॉ. चाटुर्ज्या ने उसका प्रचलित संस्कृत रूप उद्धृत करते हुए
'वरेणियम्' लिखा है (कल्पित आदिम रूप तो वरइनियम् माना गया है

जिसकी चर्चा यहा नही की जा रही है)। मैकडनल ने वैदिक छंदो के प्रसंग मे लिखा है कि ज्येष्ठ को ज्य-इष्ठ, ऐह्यम् को म्र-इह्यम्, एन्द्र को म्रा-इन्द्र, स्याम को सिम्राम पढना चाहिए। यदि इस तरह के नियमो को हम याद रखें तो म्राधुनिक भाषाम्रो के बारे मे बहुत सी उलझनें दूर हो जायं।

कुरजनो मे ध्वनि-प्रकृति की एक विशेषता यह काम करती रही है कि धातु मे दो व्यंजन हो तो प्रथम को हलन्त कर देते थे। क्रिया रूप है जानाति; इसमे धातु जान् प्रतिष्ठित है। जा को ह्रस्व म्रौर हलन्त करके कुरु ध्वनि प्रकृति के म्रनुकूल नयी धातु रची गयी ज्ञा। उसका उपयोग हुम्रा भविष्य काल के लिए, ज्ञास्यति म्रादि मे। उसीसे संज्ञा बनी ज्ञान। संस्कृत के जानन् (जानता हुम्रा), जानान (जाननेवाला) म्रादि रूपो मे मूल जान् धातु म्रसंकुचित रूप मे विद्यमान है। करोति, करोमि, कर्म म्रादि मे धातु है कर्, उसका संकुचित रूप बना कृ। कृ से कर् नहीं हुम्रा, कर् से कृ रूप बना है जिसमे करोमि के समान्तर कृणोमि म्रादि रूप चले। कर्तन (काटना), कर्तनी (कैंची), कर्तरी (चाकू) म्रादि मे काटने के लिए धातु है कर्त्। इसका संकुचित रूप हुम्रा कृत् जिससे कृन्तति म्रादि रूप बने। हिन्दी धातु काट् कृत् का विकृत रूप न होकर कर्त् का ही सहज परिवर्तित रूप है। कर्षति, कर्षण म्रादि मे धातु है कर्ष्; इसीका संकुचित रूप बना कृष्। कर्षक रूप उतना ही 'संस्कृत' है जितना कृषक। कर्ष् से कर्षित रूप बनता है म्रौर कृष् से कृष्ट। कृष्ट से कर्षित सिद्ध करना म्रावश्यक नही है। गिरति मे धातु हुई गिर् (निगलना), संकुचित रूप गृ। जरते, जर् (गाना), जृ, तर्पण, तर्प्, तृप (तृप्त), तरति, तर् (तैरना, पार करना), तृ, दर्श, दर्शन, दर्श्, दृश (दृश्य, दृश्यते), धरा, धर्म, धरण, धर, धृ (ध्रियते), नर्तक, नर्तन, नर्तित, नर्त्, नृत् (नृत्य), भरति, भरण, भर्ता, भर्, भृ (भ्रियते, भृत्य); मरति, मरण, मर, मृ (मृत्यु, मृत) म्रादि। दर्शन-दृश्य, नर्तन-नृत्य, मरण-मृत्यु—संस्कृत मे इस तरह के द्वंद्व-रूपो का कारण दो ध्वनि-प्रकृतिवाली भाषाम्रो (या भाषा समूहो) का मिश्रण है। इनमे कौन से रूप प्राचीन हैं, यह कहना कठिन है। क्रिया-रूपो को देखें तो भरति, मरति, तरति की लोकप्रियता निर्विवाद है। इन रूपो का लगभग वैसा ही चलन म्राज भी है। यूरोपीय भाषाम्रो मे इनकी जो समकक्ष धातुएं हैं वे मर, भर् म्रादि म्रसंकुचित रूपो के म्रनुकूल म्रधिक हैं। रूसी मेर्त्वेत्, मेर्त्वीज, म्योर्त्वी (मृत) म्रादि मे मर्त से मिलते-जुलते रूप है, मृत से नही। इसी प्रकार लैटिन मोरिम्रोर। इस नियम के म्रपवाद रूप मे जान् की म्रपेक्षा ज्ञा का यूरोप मे म्रधिक म्रपनाया गया है: रूसी ज्नात्, ज्नानिये; यूनानी गिग्नोस्को, ग्नोसिस। इसके विपरीत भृ के बदले भर् से यूनानी फेरो, म्रंग्रेजी बेम्रर रूप बने हैं।

संस्कृत धातुम्रो की एक विशेषता यह है कि वे क्रिया-रूपो मे कुछ परि-

रिक्त व्यंजन जोड़ लेती है। इसका कारण उनकी वर्णपात की आवश्यकता हो सकती है; यह भी संभव है कुछ ध्वनियों की आवृत्ति उन्हें विशेष प्रिय हो और इसलिए साधारण के रूप में भी अतिरिक्त व्यंजनों का उपयोग करती हों। दा धातु को लीजिए। इसके ददाति आदि रूपों में एक अतिरिक्त द से काम लिया गया है। दत्त जैसे रूप में यह द्वित्वभाव वर्तमान है लेकिन दान, दाता आदि रूपों में मूल धातु दा ही है। दान और दाता दत्त और दत्ता रूपों से नहीं बने; ये हिंदी काम (कर्म से भिन्न) के समान संस्कृत के सहज रूप हैं रूपों में दाद्, दादात् क्रिया के रूप दद् से भिन्न दा धातु को मान्यता देते हैं हिंदी क्रिया देना संस्कृत दा या दद् का भ्रष्ट रूप नहीं है। वह संस्कृत के समानान्तर किसी जनपदीय भाषा की क्रिया है जो दा से मिलती-जुलती है किन्तु उससे उत्पन्न न होकर उसके समकक्ष व्यवहार में आती रही है। देय रूप को दा के बदले दे धातु से भी सिद्ध किया जा सकता है। संस्कृत में गाने के लिए गृ धातु है जिससे गृणाति आदि रूप बनते हैं। इसी अर्थ के लिए गा धातु भी है जिससे गायति आदि रूप बनते हैं। एक ही अर्थ के लिए गृ और गा दो धातुओं का चलन यह सिद्ध करता है कि वैदिक काल में विभिन्न जन एक ही धातु के भिन्न रूपों को काम में लाते थे। वैदिक भाषा में कभी-कभी ये एक से अधिक रूप मिल भी जाते हैं। हिंदी क्रिया गाना गृ के बदले गा से सम्बधित है। रूप-विकार में अन्तर है किन्तु धातु हिंदी तथा अन्य भाषाओं में ज्यों की त्यों बनी हुई है। इसका दूसरा रूप है 'गै' जिससे गाये, गाति, जिगाति आदि रूप बनते हैं। गेष्ण और गेष्णु का अर्थ होता है गायक; इन रूपों से लगता है कि गा का एक अन्य रूप गे भी रहा है। देय के समान उसीसे गेय भी सिद्ध होना चाहिए। अश् से अश्नाति, आप् से आप्नोति, इष् से इष्णे उद् से उनत्ति, ऋज् से ऋञ्जति, ऋध् से ऋध्नोति, कृ से कृणोति, कृत् से कृन्तति क्री से क्रीणाति, क्षि से क्षीणाति, गृ से गृणामि, ग्रभ् से ग्रभ्नाति, ग्रह् गृह्णाति, चि से चिनोति, छिद् से छिनत्ति, जु से जुनोति, ज्या से जिनाति, तुज् से तुञ्जते, तृद् से तृणत्ति, तृप् से तृप्नोति—ये रूप सिद्ध करते हैं कि संस्कृत में मूल धातु के साथ अतिरिक्त वर्ण का प्रयोग कितना साधारण है। इन रूपों से यह भी सिद्ध होता है कि केन्तुम्-सतम् का वर्गीकरण कितना निरर्थक है। यूरोप की किसी भाषा की धातुएं इस अतिरिक्त न का ऐसा व्यवहार नहीं करतीं जैसा संस्कृत की धातुएं करती हैं। अतिरिक्त 'ण' की तो वहां चर्चा ही निरर्थक है। हिंदी में चिनोति के समान चुनता रूप है जो चि से भिन्न किसी अन्य जनपदीय भाषा की चु धातु का सनातन रूप है। किन्तु अतिरिक्त न का प्रयोग हिंदी का साधारण नियम नहीं है। यदि कृणोति, क्षीणाति, छिनत्ति आदि से कोई इनके समकक्ष हिन्दी रूप निकाले और यह

यदि [illegible] के [illegible] का लोप हो गया, तो [illegible] के [illegible] के [illegible] का [illegible] मानना चाहिए। जब [illegible] में [illegible] धातु के अनेक रूप विद्यमान हैं, तब हिंदी आदि भाषाओं की 'प्रकृति' का [illegible] की कुछ [illegible] धातुओं में ही उत्पन्न क्यों माना जाय?

पृ (भरना) से पृणाति रूप बनता है। इससे पृणति या प्राणति रूप भी बन सकता था। पृ के साथ ण का प्रयोग [illegible] बलाघात के लिए है। पृ (पेरना) का रूप बनता है पृणाति। यहाँ भी ण के साथ न को सम्बद्ध किया गया है बलाघात के लिए। इसी प्रकार कृ से कृणाति, गृ से गृणाति, दृ से दृणाति, [illegible], स्तृ से स्तृणाति, [illegible], आदि रूपों में अतिरिक्त व्यंजन न का प्रयोग बलाघात के लिए है।

संस्कृत में प्रच्छति है, हिंदी में पूछत, पूछता। यह आवश्यक नहीं कि प्रच्छ से पुच्छ और पुच्छ से पूछ बना हो। मूल धातु 'प्रश्न' में निहित 'प्रश्' है। प्रश् से प्रछ् बनेगा, प्रच्छ् नहीं। प्रच्छ में अतिरिक्त च बलाघात के लिए है। प्रश् या उससे मिलते-जुलते अन्य रूप से पृछति रूप बन सकता है। यह बिलकुल गलत है कि ईरान से [illegible] प्रकार आर्य पहले जब भी यहाँ के कुछ जन प्रच्छति बोलते थे, तब उनके दूसरे भाईबंद इस बलाघात की आवश्यकता न अनुभव करके पृछति ही बोलते थे। धातु प्रश् है, इसलिए प्रशति, प्रछति या पृछति जैसा रूप प्रच्छति की तुलना में प्राचीन माना जा सकता है।

हिन्दी क्रिया पेरा (पेरहु, पेरना आदि), पश्च को समझ पेश जैसी किसी धातु से बनी है। पश्च का क और पश्च का य बलाघात के लिए हैं। इस प्रकार के बलाघात के अभाव में मूल धातु से सीधे पेश रूप बन सकता है। इसी प्रकार देख धातु दृश का विकृत रूप नहीं है, देखा के समान वह किसी एकारमूलक धातु से बनी है। हिन्दी धातु ला संस्कृत घा से उत्पन्न नहीं है; वास्तव में मूल धातु रही है ला, उसमें द—दद् के द की तरह—जोड़ा गया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि संस्कृत की धातुएँ हिन्दी से उत्पन्न हुई हैं। तात्पर्य केवल इतना है कि अनेक धातुओं के मूल रूप संस्कृत की तुलना में हिन्दी आदि भाषाओं में अधिक सुरक्षित हैं। इसी प्रकार हिन्दी पी धातु को लीजिए। संस्कृत में इसका रूप होता है पिबति। इस रूप में धातु के साथ जो ब जोड़ा गया है, उसे हिन्दी स्वीकार नहीं करती। हमारा सीधा रूप है पीता या अवधी-आदि में अतिरिक्त य के साथ पियत। पियत और पीता रूपों को पिबति से सिद्ध नहीं किया जा सकता। अवधी-आदि अतिरिक्त व्यंजन लेती हैं तो वह संस्कृत के ब से भिन्न है, ब बदलकर य नहीं बना। खड़ी बोली का पीता रूप सीधा पी धातु से बना है। धातु मे पिब् का मध्य रूप है पा।

रिक्त व्यंजन जोड़ लेती है। इसका कारण उनकी बलाघात की आवश्यकता हो सकती है; यह भी संभव है कुछ ध्वनियों की आवृत्ति उन्हें विशेष प्रिय हो और इसलिए रागतत्व के रूप में वे अतिरिक्त व्यंजनों का उपयोग करती हों। दा धातु को लीजिए। इसके ददाति आदि रूपों में एक अतिरिक्त द से काम लिया गया है। दत्त जैसे रूप में यह द्वित्वभाव वर्तमान है लेकिन दान, दाता आदि रूपों में मूल धातु दा ही है। दान और दाता दत्त और दत्ता रूपों से नहीं बने; वे हिंदी काम (कर्म से भिन्न) के समान संस्कृत के सहज रूप हैं। रूसी में दात्, दावात् क्रिया के रूप दद् से भिन्न दा धातु को मान्यता देते हैं। हिंदी क्रिया देना संस्कृत दा या दद् का भ्रष्ट रूप नहीं है। वह संस्कृत के समानान्तर किसी जनपदीय भाषा की क्रिया है जो दा से मिलती-जुलती है किन्तु उससे उत्पन्न न होकर उसके समकक्ष व्यवहार में आती रही है। देय रूप को दा के बदले दे धातु से भी सिद्ध किया जा सकता है। संस्कृत में गाने के लिए गृ धातु है जिससे गृणाति आदि रूप बनते हैं। इसी अर्थ के लिए गा धातु भी है जिससे गायति आदि रूप बनते हैं। एक ही अर्थ के लिए गृ और गा दो धातुओं का चलन यह सिद्ध करता है कि वैदिक काल में विभिन्न जन एक ही धातु के भिन्न रूपों को काम में लाते थे। वैदिक भाषा में कभी-कभी ये एक से अधिक रूप मिल भी जाते हैं। हिंदी क्रिया गाना गृ के बदले गा से सम्बधित है। रूप-विकार में अन्तर है किन्तु धातु हिंदी तथा अन्य भाषाओं में ज्यों की त्यों बनी हुई है। इसका दूसरा रूप है 'गै' जिससे गाये, गाति जिगाति आदि रूप बनते हैं। गेष्ण और गेष्णु का अर्थ होता है गायक; इ रूपों से लगता है कि गा का एक अन्य रूप गे भी रहा है। देय के समान उसी गेय भी सिद्ध होना चाहिए। अश् से अश्नाति, आप् से आप्नोति, इष् से इ उद् से उनत्ति, ऋज् से ऋञ्जति, ऋध् से ऋध्नोति, कृ से कृणोति, कृत् से कृन्तति, क्री से क्रीणाति, क्षि से क्षीणाति, गृ से गृणामि, प्रभ् से प्रभ्नाति, ग्रह् से गृह्णाति, चि से चिनोति, छिद् से छिनत्ति, जु से जुनोति, ज्या से जिनाति, तुज् से तुञ्जते, तृद् से तृणत्ति, तृप् से तृप्नोति—ये रूप सिद्ध करते हैं कि संस्कृत में मूल धातु के साथ अतिरिक्त वर्ण का प्रयोग कितना साधारण है। इन रूपों से यह भी सिद्ध होता है कि केन्तुम्-शतम् का वर्गीकरण कितना निरर्थक है। यूरोप की किसी भाषा की धातुएं इस अतिरिक्त न का ऐसा व्यवहार नहीं करतीं जैसा संस्कृत की धातुए करती हैं। अतिरिक्त 'ण' की तो यहां चर्चा ही निरर्थक है। हिंदी में चिनोति के समान चुनता रूप है जो चि से भिन्न किसी अन्य जनपदीय भाषा की चु धातु का सनातन रूप है। किन्तु अतिरिक्त न का प्रयोग हिंदी का साधारण नियम नहीं है। यदि कृणोति, क्षीणाति, छिनत्ति आदि से कोई इनके समकक्ष हिन्दी रूप निकाले और यह

यदि [illegible] संस्कृत के [illegible] का लोप हो गया, तो इसे [illegible] के [illegible] व्यञ्जनों के दुर्बलता का प्रमाण मानना चाहिए। जब वैदिक भाषा में ही एक धातु के अनेक रूप विद्यमान हैं, तब हिंदी आदि भाषाओं की क्रियाएं संस्कृत की कुछ परिनिष्ठित धातुओं से ही उत्पन्न क्यों मानी जाएं?

स्फुट् (फटना) से स्फुटति रूप बनता है। इससे फटति या फुटति रूप भी बन सकता था। फ के साथ स का प्रयोग [illegible] बलाघात के लिए है। स्फुर् (फैलना) का रूप बनता है स्फुरति। यहाँ फ के साथ स को सम्बद्ध किया गया है बलाघात के लिए। इसी प्रकार कुप् से कुप्यति, तुट् से तुट्यति, त्रुट् से त्रुट्यति, त्रुड् से त्रुड्यति, त्वर् से त्वरति, पत् से पत्यति, पुट् से पुट्यति, आदि रूपों में अतिरिक्त व्यञ्जन य का उपयोग बलाघात के लिए है।

संस्कृत में प्रच्छति है, हिंदी में पूछना, पूछता। यह आवश्यक नहीं कि प्रच्छ से पुच्छ और पुच्छ से पूछ बना हो। मूल धातु 'प्रश्न' में निहित 'प्रश्' है। प्रश् से प्रछ् बनेगा, प्रच्छ् नहीं। प्रच्छ में अतिरिक्त च बलाघात के लिए है। प्रश् या उससे मिलते-जुलते प्रछ रूप से पूछति रूप बन सकता है। यह बिलकुल सम्भव है कि देश में इस प्रकार लोग रहे जब भी यहाँ के कुछ जन प्रच्छति बोलते थे, तब उनके दूसरे भाईबन्द इस बलाघात की आवश्यकता न अनुभव करके पृछति ही बोलते थे। धातु प्रश् है, इसलिए प्रछति, प्रछति या पुछति जैसा रूप प्रच्छति की तुलना में प्राचीन माना जा सकता है।

हिन्दी क्रिया पेख (पेखहु, पेखना आदि), पश्य की अपेक्षा पेख जैसी किसी धातु से बनी है। पश्य का श और पश्य का य बलाघात के लिए हैं। इस प्रकार के बलाघात के अभाव में मूल धातु से सीधे पेख रूप बन सकता है। इसी प्रकार देख धातु दृश का विकृत रूप नहीं है, देखा के समान वह किसी एकारमूलक धातु से बनी है। हिन्दी धातु ला संस्कृत भाद् से उत्पन्न नहीं है; वास्तव में मूल धातु रही है ला, उसमें द — दद् के द् की तरह — जोड़ा गया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि संस्कृत की धातुएं हिन्दी से उत्पन्न हुई हैं। तात्पर्य केवल इतना है कि अनेक धातुओं के मूल रूप संस्कृत की तुलना में हिन्दी आदि भाषाओं में अधिक सुरक्षित हैं। इसी प्रकार हिन्दी पी धातु को लीजिए। संस्कृत में इसका रूप होता है पिबति। इस रूप में धातु के साथ जो ब जोड़ा गया है, उसे हिन्दी स्वीकार नहीं करती। हमारा सीधा रूप है पीता या अवधी-आदि में अतिरिक्त य के साथ पियत। पियत और पीता रूपों को पिबति से सिद्ध नहीं किया जा सकता। अवधी-आदि अतिरिक्त व्यंजन लेती हैं तो वह संस्कृत के ब से भिन्न है, ब बदलकर य नहीं बना। खड़ी बोली का पीता रूप सीधा पी धातु से बना है। धातु में पिब् का अन्य रूप है पा।

रिक्त व्यंजन जोड़ लेती है। इसका कारण उनकी बलाघात की आवश्यकता हो सकती है; यह भी सभव है कुछ ध्वनियों की आवृत्ति उन्हें विशेष प्रिय हो और इसलिए रागतत्व के रूप में वे अतिरिक्त व्यंजनों का उपयोग करती हो। दा धातु को लीजिए। इसके ददाति आदि रूपों में एक अतिरिक्त द से काम लिया गया है। दत्त जैसे रूप में यह द्वित्वभाव वर्तमान है लेकिन दान, दाता आदि रूपों में मूल धातु दा ही है। दान और दाता दन्न और दत्ता रूपों से नहीं बने; ये हिंदी काम (कर्म से भिन्न) के समान संस्कृत के सहज रूप हैं। रूसी में दात्, दावात् क्रिया के रूप दद् से भिन्न दा धातु को मान्यता देते हैं। हिंदी क्रिया देना संस्कृत दा या दद् का भ्रष्ट रूप नहीं है। वह संस्कृत के समानान्तर किसी जनपदीय भाषा की क्रिया है जो दा से मिलती-जुलती है किन्तु उससे उत्पन्न न होकर उसके समकक्ष व्यवहार में आती रही है। देय रूप को दा के बदले दे धातु से भी सिद्ध किया जा सकता है। संस्कृत में गाने के लिए गृ धातु है जिससे गृणाति आदि रूप बनते हैं। इसी अर्थ के लिए गा धातु भी है जिससे गायति आदि रूप बनते हैं। एक ही अर्थ के लिए गृ और गा दो धातुओं का चलन यह सिद्ध करता है कि वैदिक काल में विभिन्न जन एक ही धातु के भिन्न रूपों को काम मे लाते थे। वैदिक भाषा मे कभी-कभी ये एक से अधिक रूप मिल भी जाते हैं। हिंदी क्रिया गाना गृ के बदले गा से सम्बधित है। रूप-विकार मे अन्तर है किन्तु धातु हिंदी तथा अन्य भाषाओं मे ज्यों की त्यो बनी हुई है। इसका दूसरा रूप है 'गै' जिससे गाये, गाति, जिगाति आदि रूप बनते है। गेष्ण और गेष्णु का अर्थ होता है गायक; इन रूपों से लगता है कि गा का एक अन्य रूप गे भी रहा है। देय के समान उसीसे गेय भी सिद्ध होना चाहिए। अश् से अश्नाति, आप् से आप्नोति, इष् से इच्छे, उद् से उनत्ति, ऋज् से ऋज्जति, ऋध् से ऋध्नोति, कृ से कृणोति, कृत् से कृन्तति, क्री से क्रीणाति, क्षि से क्षीणाति, गृ से गृणामि, ग्रभ् से ग्रभ्नाति, ग्रह् से गृह्णाति, चि से चिनोति, छिद् से छिनत्ति, जू से जुनोति, ज्या से जिनाति, तुज् से तुञ्जते, तृद् से तृणत्ति, तृप् से तृप्नोति—ये रूप सिद्ध करते हैं कि संस्कृत मे मूल धातु के साथ अतिरिक्त वर्ण का प्रयोग कितना साधारण है। इन रूपों से यह भी सिद्ध होता है कि केन्तुम्-सतम् का वर्गीकरण कितना निरर्थक है। यूरोप की किसी भाषा की धातुएं इस अतिरिक्त न का ऐसा व्यवहार नही करती जैसा संस्कृत की धातुएं करती हैं। अतिरिक्त 'ण' की तो वहां चर्चा ही निरर्थक है। हिंदी मे चिनोति के समान चुनता रूप है जो चि से भिन्न किसी अन्य जनपदीय भाषा की चु धातु का सनातन रूप है। किन्तु अतिरिक्त न का प्रयोग हिंदी का साधारण नियम नही है। यदि कृणोति, क्षीणाति, छिनत्ति आदि से कोई इनके समकक्ष हिन्दी रूप निकाले और प्र

कहें कि नव्य-आर्य-भाषा में ध्वनिक्षय के कारण न-ण का लोप हो गया, तो इसे ध्वनिक्षय के बदले व्याख्याता के बुद्धिक्षय का प्रमाण मानना चाहिए। जब वैदिक भाषा में ही एक धातु के अनेक रूप विद्यमान हैं, तब हिंदी आदि भाषाओं की क्रियाओं को संस्कृत की कुछ परिनिष्ठित धातुओं से ही उत्पन्न क्यों माना जाय ?

इष् (चाहना) से इच्छति रूप बनता है। इससे इषति या इछति रूप भी बन सकता था। छ के साथ च का आगम इ पर बलाघात के लिए है। इष् (भेजना) का रूप बनता है इष्यति। यहां ष के साथ य को सम्बद्ध किया गया है बलाघात के लिए। इसी प्रकार क्रुध् से क्रुध्यति, तुष् से तुष्यति, तृष् से तृष्यति, द्रुह् से द्रुह्यति, नृत् से नृत्यति, पश् से पश्यति, पुष् से पुष्यति, आदि रूपों में अतिरिक्त व्यंजन य का उपयोग बलाघात के लिए है।

संस्कृत में प्रच्छति है, हिंदी में पूछत, पूछना। यह आवश्यक नहीं कि प्रच्छ से पुच्छ और पुच्छ से पूछ बना हो। मूल धातु 'प्रश्न' में निहित 'प्रश्' है। प्रश् से प्रछ बनेगा, प्रच्छ नहीं। प्रच्छ में अतिरिक्त च बलाघात के लिए है। प्रश् या उससे मिलते-जुलते अन्य रूप से पूछति रूप बन सकता है। यह बिलकुल संभव है कि ईसा से डेढ़ हजार साल पहले जब भी यहां के कुछ जन प्रच्छति बोलते थे, तब उनके दूसरे भाईबंद इस बलाघात की आवश्यकता न अनुभव करके पूछति ही बोलते थे। धातु प्रश् है, इसलिए प्रशति, प्रछति या पूछति जैसा रूप प्रच्छति की तुलना में प्राचीन माना जा सकता है।

हिन्दी क्रिया पेख (पेखहु, पेखना आदि), पश्य की समरूप पेश जैसी किसी धातु से बनी है। पेक्ख का क और पश्य का य बलाघात के लिए हैं। इस प्रकार के बलाघात के अभाव में मूल धातु से सीधे पेख रूप बन सकता है। इसी प्रकार देख धातु दृश का विकृत रूप नहीं है; देना के समान वह किसी एकारमूलक धातु से बनी है। हिन्दी धातु खा संस्कृत खाद् से उत्पन्न नहीं है; वास्तव में मूल धातु रही है खा, उसमें द—दद् के द् की तरह—जोड़ा गया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि संस्कृत की धातुएं हिन्दी से उत्पन्न हुई हैं। तात्पर्य केवल इतना [illegible] मूल रूप संस्कृत की तुलना में हिन्दी [illegible] इसी प्रकार हिन्दी पी धातु को [illegible] रूप में धातु के साथ जो [illegible] हमारा सीधा रूप है पीता [illegible] पीता रूपों को [illegible] लेती है [illegible] लेती का

हिन्दी क्रिया सोना का सम्बंध संस्कृत स्वप् से नहीं है। स्वप् में प् प्रति-
रिक्त व्यंजन के रूप में है। संस्कृत में सोने के लिए एक धातु है सस्। सस् और
स्वप् एक ही धातु के दो भिन्न रूप हैं। इन्हीं के समकक्ष हम उस धातु के
तीसरे रूप की कल्पना करते हैं, 'सो' की। हिन्दी सोना न सस् से बना है, न
स्वप् से। वह इन्हीं के साथ अन्य जनपदों में प्रचलित 'सो' का वर्तमान परि-
वर्तित रूप है। इसी तरह हिन्दी बोना संस्कृत वप् से भिन्न है। वप् और बो
एक ही मूल धातु के दो भिन्न रूप हैं। बो वप् के समकक्ष है यद्यपि उससे
स्वतंत्र है। प्रवपी बवत, ग्रवव आदि में बव् वप् से मिलता-जुलता तीसरा रूप
हो सकता है।

मूल धातु के दो या तीन रूपों की चर्चा से यह न समझना चाहिए कि
हिन्द प्रदेश की विभिन्न जनपदीय भाषाएं एक ही आदि भाषा से उत्पन्न हुई हैं।
पहले तो यहां उनकी समानताओं की ही चर्चा हो रही है, भिन्नताओं की नहीं।
इसके अलावा यह स्मरण रखना चाहिए कि परिनिष्ठित भाषा के समान परि-
निष्ठित उच्चारण भी सामाजिक विकास पर निर्भर होता है। किसी भी भाषा
को बोलनेवाला सम्पूर्ण मानव-समुदाय अपने शब्द-भंडार का एक सा उच्चा-
रण नहीं करता। भाषा के अन्दर बोलियों के भेद हैं और हर बोली में उप-
बोलियों का अन्तर है—बारह कोस पर बोली बदलने की बात में उच्चारण
भेद भी शामिल है। यह क्रम आज का नहीं है। इस सिलसिले में ब्लूमफील्ड
की उस बात को याद रखना चाहिए कि भाषा के बोलनेवाले जितनी ध्वनियां
करते हैं, वे सभी सार्थक नहीं होतीं। उन्होंने अमरीकी आदिवासी मेनोमिनी
जाति का उदाहरण दिया था। पानी के लिए निपीव् शब्द कहने पर कभी
लगता है शब्द निपीव् है, कभी निबीव्। यहां सार्थक ध्वनि-क्रिया केवल ओठों
को बंद करना और श्वास को नाक से निकलने न देना है। यह तो हुई एक
आदिवासी जाति की बात। अब एक समुन्नत समाज का उदाहरण लीजिए।
प्रसिद्ध जर्मन कवि गेटे अपने देशवासियों के उच्चारण से काफी परेशान थे।
उन्होंने एकरमन से बातचीत करते हुए कहा था कि उत्तरी जर्मनी के लोगों
का उच्चारण शुद्ध है और उसे बहुत कुछ आदर्श रूप में ग्रहण किया जा सकता
है। लेकिन मुआबियन, आस्ट्रियन और सैक्सन लोगों का उच्चारण दूषित है।
"हमारे प्रिय नगर व्हाइमार के निवासियों ने भी मुझे काफी उद्विग्न किया है।
इनमें एकदम हास्यास्पद गलतियां देखने को मिलती हैं। कारण यह कि यहां
के स्कूलों में स्पष्ट उच्चारण द्वारा उन्हें ब और प, ड और ट का भेद करना
नहीं सिखाया जाता। मालूम होता है कि उनके लिए ब, प, ड और ट चार
भिन्न वर्ण हैं ही नहीं। वे केवल एक कठोर और कोमल ब का उच्चारण
करते हैं और एक कठोर और कोमल ड का। इस तरह मानो वे सूचित करते

है कि कि प और ट का अस्तित्व है ही नहीं। ऐसे लोग जब पाइन (पीड़ा, अंग्रेजी पेन) कहते हैं तो लगता है बाइन (पैर) कह रहे हैं, जब पास (अंग्रेजी पास, निकलना) कहते हैं तो लगता है बास (अंग्रेजी बेस, मंद स्वर) कह रहे हैं, टेकेल (एक कुत्ता) कहते हैं तो लगता है डेकेल (आवरण) कह रहे हैं।" पर गेटे ने इन व्यंजनों के अलावा दो स्वरों के अस्पष्ट उच्चारण की मिसाल भी दी है। जर्मन ध्वनि ü (यू) का उच्चारण इ जैसा सुनने मे आता था। लोग क्युस्टेनबेह्वोनेर (समुद्रतटवासी) को किस्टेनबेह्वोनेर (सन्दूक मे रहनेवाला) कहते थे। यही नही, ग और क की ध्वनिया भी अस्पष्ट सुनाई देती थी। नाट्य-गृहों मे गार्टेनहाउस (उद्यान गृह) के बदले कार्टेनहाउस (ताश के पत्तों का घर), गासे (गली) के बदले कासे (सदूक) सुनने को मिलता था। "ग के स्थान पर क का उच्चारण अभिनेताओ मे ही नही धर्माचार्यों मे भी मिलता है।" अर्थात् उच्चारण की यह तरलता साधारण शिक्षाप्राप्त अभिनेताओं की ही विशेषता नही थी; विशेष शिक्षाप्राप्त धर्माचार्यों मे भी उसके दर्शन होते थे। इससे मिलती-जुलती मिसाल सस्कृत से दी जा सकती है। संस्कृत गर्त का एक वैदिक रूप कर्त भी है। इन दो रूपों का कारण ग-क वाला भेद है। इन उदाहरणों से सिद्ध हुआ कि एक ही भाषा के बोलने वाले शिक्षित जन भी अनेक शब्दो का भिन्न उच्चारण कर सकते हैं। ग्रिम ने ध्वनि-परिवर्तन सम्बंधी नियम बनाते समय इस बात पर ध्यान न दिया था कि उसके बहुत से देशवासी उस समय भी — प्राचीन-काल की बात दरकिनार — क-ग, प-ब और ट-ड का स्पष्ट भेद न करते थे। प्राचीन काल मे कहां क का ग हुआ, कहां प का ब, यह सब इस मान्यता के आधार पर कल्पित किया गया था कि एक समाज के लोग एक काल विशेष मे शब्दो का एक सा ही उच्चारण करते थे। उच्चारण मे समानता शिक्षा और अभ्यास से उत्पन्न होती है। हमारे देश मे सस्कृत का सही उच्चारण सिखाने के लिए भगीरथ प्रयत्न किये गये। 'पुरानी हिन्दी' मे चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने राजशेखर का हवाला देते हुए लिखा है कि द्रविड़ लोग सस्कृत गद्य को भी पद्य के समान गाकर पढ़ते थे। गुजरात और राज-स्थान के लोग संस्कृत मे अपभ्रंश के अश मिलाकर एक ही ढग से पढ़ते थे। कश्मीरी पंडित सस्कृत मे सुन्दर कविता रचते थे, लेकिन पढ़ते थे तो लगता था "कानो मे गिलोय की पिचकारी है।" उत्तरापथ के लोग नक्की सुर मे पढ़ते थे।

अब आश्चर्य न होना चाहिए कि प्राचीन जनपदों मे कोई स्वपिति कहता था, तो कोई ससित और अन्य जन सोवति से काम लेते थे। ऐसी स्थिति मे स्वप् से सो धातु बनी है, यह कहना उचित न होगा। जब हम कहते हैं कि स्वप्, सस् और सो एक ही मूल धातु के तीन रूप हैं, तो उनका अर्थ इतना ही

हिन्दी क्रिया सोना का सम्बंध संस्कृत स्वप् से नही है। स्वप् मे प् अति-रिक्त व्यंजन के रूप में है। संस्कृत मे सोने के लिए एक धातु है सस्। सस् और स्वप् एक ही धातु के दो भिन्न रूप हैं। इन्ही के समकक्ष हम उस धातु के तीसरे रूप की कल्पना करते हैं, 'सो' की। हिन्दी सोना न सस् से बना है, न स्वप् से। वह इन्हीं के साथ अन्य जनपदों में प्रचलित 'सो' का वर्तमान अपरि-वर्तित रूप है। इसी तरह हिन्दी बोना संस्कृत वप् से भिन्न है। वप् और बो एक ही मूल धातु के दो भिन्न रूप हैं। बो वप् के समकक्ष है यद्यपि उससे स्वतंत्र है। अवधी बवत, बवब आदि में बव् वप् से मिलता-जुलता तीसरा रूप हो सकता है।

मूल धातु के दो या तीन रूपों की चर्चा से यह न समझना चाहिए कि हिन्द प्रदेश की विभिन्न जनपदीय भाषाएं एक ही आदि भाषा से उत्पन्न हुई हैं। पहले तो यहां उनकी समानताओं की ही चर्चा हो रही है, भिन्नताओं की नहीं। इसके अलावा यह स्मरण रखना चाहिए कि परिनिष्ठित भाषा के समान परि-निष्ठित उच्चारण भी सामाजिक विकास पर निर्भर होता है। किसी भी भाषा को बोलनेवाला सम्पूर्ण मानव-समुदाय अपने शब्द-भंडार का एक सा उच्चा-रण नही करता। भाषा के अन्दर बोलियो के भेद हैं और हर बोली में उप-बोलियो का अन्तर है—बारह कोस पर बोली बदलने की बात में उच्चारण भेद भी शामिल है। यह क्रम आज का नही है। इस सिलसिले में ब्लूमफील्ड की उस बात को याद रखना चाहिए कि भाषा के बोलनेवाले जितनी ध्वनियां करते है, वे सभी सार्थक नही होती। उन्होने अमरीकी आदिवासी मेनोमिनी जाति का उदाहरण दिया था। पानी के लिए निपीव् शब्द कहने पर कभी लगता है शब्द निपीव् है, कभी निबीव्। यहां सार्थक ध्वनि-क्रिया केवल ओंठों को बद करना और श्वास को नाक से निकलने न देना है। यह तो हुई एक आदिवासी जाति की बात। अब एक समुन्नत समाज का उदाहरण लीजिए। प्रसिद्ध जर्मन कवि गेटे अपने देशवासियों के उच्चारण से काफी परेशान थे। उन्होने एकरमन से बातचीत करते हुए कहा था कि उत्तरी जर्मनी के लोगों का उच्चारण शुद्ध है और उसे बहुत कुछ आदर्श रूप में ग्रहण किया जा सकता है। लेकिन सुआबियन, ऑस्ट्रियन और सैक्सन लोगों का उच्चारण दूषित है। "हमारे प्रिय नगर व्हाइमार के निवासियों ने भी मुझे काफी उद्विग्न किया है। इनमें एकदम हास्यास्पद गलतियां देखने को मिलती हैं। कारण यह कि यहां के स्कूलों में स्पष्ट उच्चारण द्वारा उन्हें ब और प, ड और ट का भेद करना नही सिखाया जाता। मालूम होता है कि उनके लिए ब, प, ड और ट चार भिन्न वर्ण हैं ही नहीं। वे केवल एक कठोर और कोमल ब का उच्चारण करते हैं और एक कठोर और कोमल ड का। इस तरह मानो वे सूचित करते

प्राचीन रो धातु से बनी है यद्यपि यह धातु इस रूप में संस्कृत में नहीं है। रुद् और रु की तुलना में रु-वाली धातु प्राचीन माननी चाहिए और रो को रु के समकक्ष। उत्तर रामचरित मे सीता राम के लिए कहती हैं : परुण्णो होदि। इसका सस्कृत रूप है : प्ररुदितो भवति। स्पष्ट ही रुदितो से रुण्णो नही बना; उसका सम्बध वैदिक रु से है।

नाटकों की प्राकृत मे पश्चिमोत्तर प्रदेश—राजस्थान, हरियाना आदि—की उच्चारण-विशेषताओं की खासी नकल की गयी है। दारुण की जगह दालुण पश्चिमी बोलियो के लकारप्रेम की नकल मे बना। पुनः-पुनः की जगह पुणो-पुणो उनकी बोलियो मे णकार-बाहुल्य की ओर सकेत करता है। स्फुटति की जगह फुडइ, एतेन की जगह एदिणा जैसे रूप इस बात की ओर सकेत करते हैं कि पश्चिमोत्तर वासियो को अघोष वर्णों की तुलना मे सघोष वर्णों से अधिक प्रेम था। अघोष-सघोष भेद के कारण ही शरद्-शरत्, तद्-तत् जैसे विकल्प-रूप देखने को मिलते हैं। इसी प्रवृत्ति से पच का पंज, मातर का मादर, पितर का पिदर रूप होता है। ईरानी-पजाबी मे यह प्रवृत्ति आज भी पायी जाती है। यदि ईरानी 'आर्य'—या आर्य ईरान होकर—भारत आये होते तो यहां भी पज, पिदर, मादर रूप प्रचलित होते। यूरोप मे जहां यह पश्चिमोत्तरी प्रभाव पडा है, वहां मदर, फादर, ब्रदर जैसे रूप मिलते हैं। जहा इस प्रभाव से मुक्त प्राचीनतर भारतीय रूपो का प्रभाव पडा है, वहां पतिर, मातिर, भ्रात् आदि रूप मिलते हैं। इस पश्मोत्तरी प्रभाव से स्वयं सस्कृत मुक्त नहीं है। पश्चिमोत्तर प्रदेश की वर्तमान बोलियो मे र के स्थान पर ल, ड और ड का प्रयोग अधिक होता है। सस्कृत मे दबाने के लिए पीड् धातु है। लभेत् सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीडयन—बालू को पेर कर तेल भले ही निकाला जा सके। हिन्दी क्रिया पेरना पीड् से भिन्न तो है ही, वह उससे अधिक प्राचीन भी है। पेर् या पीर् के र का ड हुआ है, ड का र नही।

सस्कृत के विकास मे पूर्वी प्रदेशो की कितनी महत्वपूर्ण भूमिका रही है, इसे न समझ पाने के अनेक कारण हैं। एक कारण ईरान-अफगानिस्तान होकर आर्यों के आगमन की कहानी है। दूसरा कारण कुरुक्षेत्र या उससे और भी उत्तर के प्रदेशो से वेदो का सम्बंध है। तीसरा कारण पूर्वी प्रदेशों की वर्तमान गरीबी है जिससे सस्कृत जैसी भाषा के विकास मे उनके योग की कोई कल्पना नही करता। किन्तु वेद-मत्रों की रचना और वैदिक भाषा का विकास दो भिन्न वस्तुए हैं। प्राचीन काल मे मगध और कोशल के साम्राज्य सामन्ती विकास के मुख्य क्षेत्र रहे हैं, इसे भी स्मरण रखना चाहिए। सस्कृत में पीड् जैसे रूप देख कर यह धारणा दृढ़ होती है कि इस तरह के अनेक शब्द पूर्व से पश्चिम गये हैं और उनकी मूल र-ध्वनि ल य ड मे परिवर्तित हुई है।

प्राचीन रो धातु से बनी है यद्यपि यह धातु इस रूप में संस्कृत में नही है। रुद् और रु की तुलना में रु-वाली धातु प्राचीन माननी चाहिए और रो को रु के समकक्ष। उत्तर रामचरित में सीता राम के लिए कहती हैं : परुण्णो होदि। इसका संस्कृत रूप है : प्ररुदितो भवति। स्पष्ट ही रुदितो से रुण्णो नही बना; उसका सम्बन्ध वैदिक रु से है।

नाटकों की प्राकृत में पश्चिमोत्तर प्रदेश—राजस्थान, हरियाना आदि—की उच्चारण-विशेषताओ की खासी नकल की गयी है। दारुण की जगह दालुण पश्चिमी बोलियो के लकारप्रेम की नकल मे बना। पुनः-पुनः की जगह पुणो-पुणो उनकी बोलियो मे णकार-बाहुल्य की ओर सकेत करता है। स्फुटति की जगह फुडइ, एतेन की जगह एदिणा जैसे रूप इस बात की ओर सकेत करते हैं कि पश्चिमोत्तर वासियो को अघोष वर्णों की तुलना मे सघोष वर्णों से अधिक प्रेम था। अघोष-सघोष भेद के कारण ही शरद्-शरत्, तद्-तत् जैसे विकल्प-रूप देखने को मिलते हैं। इसी प्रवृत्ति से पच का पंज, मातर का मादर, पितर का पिदर रूप होता है। ईरानी-पजाबी मे यह प्रवृत्ति आज भी पायी जाती है। यदि ईरानी 'आर्य'—या आर्य ईरान होकर—भारत आये होते तो यहा भी पज, पिदर, मादर रूप प्रचलित होते। यूरोप में जहा यह पश्चिमोत्तरी प्रभाव पड़ा है, वहा मदर, फादर, ब्रदर जैसे रूप मिलते हैं। जहां इस प्रभाव से मुक्त प्राचीनतर भारतीय रूपो का प्रभाव पड़ा है, वहा पतिर, मातिर, भ्रातृ आदि रूप मिलते हैं। इस पश्चिमोत्तरी प्रभाव से स्वय सस्कृत मुक्त नही है। पश्चिमोत्तर प्रदेश की वर्तमान बोलियो मे र के स्थान पर ल, ड और ढ का प्रयोग अधिक होता है। सस्कृत मे दबाने के लिए पीड् धातु है। लभेत् सिकतासु तैलमपि यत्नत पीडयन—बालू को पेर कर तेल भले ही निकाला जा सके। हिन्दी क्रिया पेरना पीड् से भिन्न तो है ही; वह उससे अधिक प्राचीन भी है। पेर् या पीर् के र का ड हुआ है, ड का र नही।

सस्कृत के विकास मे पूर्वी प्रदेशों की कितनी महत्वपूर्ण भूमिका रही है, इसे न समझ पाने के अनेक कारण हैं। एक कारण ईरान-अफगानिस्तान होकर आर्यों के आगमन की कहानी है। दूसरा कारण कुरुक्षेत्र या उससे और भी उत्तर के प्रदेशो से वेदो का सम्बंध है। तीसरा कारण पूर्वी प्रदेशों की वर्तमान गरीबी है जिससे सस्कृत जैसी भाषा के विकास मे उनके योग की कोई कल्पना नही करता। किन्तु वेद-मत्रों की रचना और वैदिक भाषा का विकास दो भिन्न वस्तुएं हैं। प्राचीन काल मे मगध और कोसल के साम्राज्य सामन्ती विकास के मुख्य क्षेत्र रहे हैं, इसे भी स्मरण रखना चाहिए। सस्कृत मे पीड् जैसे रूप देख कर यह धारणा दृढ होती है कि इस तरह के अनेक शब्द पूर्व से पश्चिम गये हैं और उनकी मूल र-ध्वनि ल ड ढ मे परिवर्तित हुई है।

अपभ्रंश के मार्गों से आधुनिक भाषाएं उत्पन्न हुई — अनुसधान की इस पद्धति को अपनाने वाले स्वयं उससे असंतोष प्रकट कर चुके है। सही पद्धति यह है कि हम आधुनिक भाषाओ मे प्राचीन तत्वों की स्थिति स्वीकार करे, उनकी हर विशेषता को सस्कृत से उत्पन्न सिद्ध करने का आग्रह न करें, एक क्षेत्र — यथा हिंद प्रदेश — की बोलिया एक-दूसरे को प्रभावित करती रही हैं, उनके रूप एक-दूसरे मे मिलते रहे हैं, और कुछ तत्व ऐसे है जो सस्कृत मे भी नही हैं किन्तु जिनका प्राचीनतम रूप हिन्दी आदि भाषाओ मे सुरक्षित है, यह सिद्धान्त मानें। अनार्य प्रभाव से प्राकृतों का जन्म हुआ, गौतम बुद्ध से कुछ पहले पूर्वी क्षेत्रो मे मभाषा प्रतिष्ठित हो चुकी थी और नभाआ का अभ्युदय तुर्क-आक्रमण मे हुआ — इस तरह की स्थापनाए अवैज्ञानिक हैं और इतिहास की वास्तविकता से उनका कोई सम्बध नही है। मभाआ और नभाआ का अन्तर प्रकट करने के लिए जो ध्वनि-सम्बधी विशेषताए बतायी गयी हैं, वे एकागी हैं और पूर्व-निश्चित मान्यताओ के समर्थन के लिए गढ़ी गयी हैं। इनमे सबसे हास्यास्पद युग्मव्यजन वाले संस्कृत-प्राकृत-पंजाबी शब्दो को प्राचीन मानने से सम्बंधित स्थापना है। अनेक सस्कृत शब्दो मे यह द्वित्वभाव स्थापित करके उन्हे प्राकृत बनाया गया है, इससे उनकी प्राचीनता सिद्ध नही होती। स्वय सस्कृत में बहुत से ऐसे रूप हैं जो व्यजन-संकोच का परिणाम हैं, कृ, ज्ञा आदि की तुलना मे कर्, जान् आदि अधिक ही प्राचीन हैं, कम नहीं। भाषा का परिनिष्ठित उच्चारण स्थिर होते-होते होता है। इस उच्चारण-सम्बधी अस्थिरता के कारण एक ही जनपदीय भाषा मे किसी धातु-विशेष के अनेक रूप हो सकते हैं। अनेक जनपदीय भाषाओ मे कुल मिलाकर ये रूप और भी अधिक होंगे। इन विभिन्न प्राचीन रूपो से आधुनिक भाषाओ के शब्द-भडार और व्याकरण का घनिष्ठ सम्बध है।

कृत्प्रयोगप्रचय उदीच्याः। पश्चिमोत्तर-वासियों को कृदन्त-प्रयोग से ही विशेष प्रेम न था; वे सहायक क्रिया के रूप में कृ धातु का भी प्रयोग करते थे। खड़ी बोली की प्रवृत्ति देखिए। "दर्द करता है"—व्रज, अवधी आदि में पिरात, सहायक क्रिया के बिना ही सीधा रूप है; खड़ी बोली मे पार्यें पिराने जैसा प्रयोग असम्भव है। आधुनिक हिन्दी सहायक क्रियाओ पर बहुत अधिक निर्भर है। उसकी मूल क्रियाएं नष्ट होती जा रही हैं। अवधी आदि मे वे क्रियाएं सुरक्षित ही नही हैं, संज्ञा से नई क्रियाएं बनाने मे वहा जरा भी दिक्कत नही होती। हिन्दी मे कहेंगे जिद करना, अवधी मे बनायेंगे जिद्यात। इसी तरह जूते लगाना—जुतियाओब (अपरिनिष्ठित हिन्दी मे जुति-याना और उसी तरह लतियाना, धपरियाना), बड़-बड़ करना—बरबरात, हहर-हहर की ध्वनि करना—हहरात, पत्थर फेकना—पथर्याओब, पीछा करना—पछियाओब, धूप खाना—घमाब, क्रोध करना—रिसाब, याद करना—सुमिरब इत्यादि। संस्कृत और पूर्वी बोलियो—जिनमे व्रज भी शामिल है—की आन्तरिक समानता इस तरह के क्रिया-प्रयोग हैं।

पूर्वी-पश्चिमी बोलियो में एक भेद य-व से सम्बंधित है। कुछ धातुएं अपने रूपो मे अतिरिक्त वर्णों के लिए य स्वीकार करती हैं, कुछ व। जीने के लिए संस्कृत मे जीव् धातु है। स्पष्ट ही इसमे व वर्ण बाद में मिला है, मूल धातु 'जी' है जो हिन्दी मे प्रयुक्त होती है। रूसी में जी वाला झीत् रूप है और पश्तीवात मे जीव् वाला रूप भी। अवधी में जियत-जियब रूप हैं, व-युक्त रूप नही। खड़ी बोली मे भी जियो, जियेंगे आदि य-वाले रूप ही हैं। इसी प्रकार पिब मे व की परिवर्तित ध्वनि व है, किन्तु हिन्दी मे पियेंगे, अवधी मे पिय[illegible] रूप हैं। संस्कृत में गायते, जायते, ध्यायते आदि य वाले रूप हैं। हिन्दी 'गायेंगे', किन्तु अवधी मे गावब (गवैया में यह व स्पष्ट है)। दोनो ओर [illegible] बोलिया एक-दूसरे को प्रभावित करती रही हैं, इसलिए य-व वाले रूप घुल-[illegible] गये हैं। हिन्दी मे शुद्ध रूप आवेंगे-जावेंगे है या आयेंगे-जायेंगे, यह उल[illegible] उसी सत्य की ओर संकेत करती है।

हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओ की अपनी व्याकरण-व्यवस्था है, उनका अपना शब्द-भंडार है। उन्हे हम संस्कृत की पुत्रियां या देववाणी का आधुनिक परिवर्तित रूप नही कह सकते। प्राचीन काल मे संस्कृत यहां की एकमात्र भाषा नहीं रही। उसके साथ यहां अन्य भाषाएं बोली जाती थी जो संस्कृत से मिलती-जुलती थीं, फिर भी उससे भिन्न थी, जैसे हिन्दी की सारी बोलिया एक-दूसरे से भिन्न हैं। जो लोग हिन्दी आदि नव्य भारतीय भाषाओं को संस्कृत से उत्पन्न मानते हैं, वे भी संस्कृत के समानान्तर अन्य भाषाओं का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। संस्कृत का विकृत रूप प्राकृतें थीं और उनके

अपभ्रंश के बाद ही आधुनिक भाषाएँ उत्पन्न हुईं — अनुमान की इस पद्धति को असंगत बताते हुए हम इसे अन्यत्र प्रकट कर चुके हैं। सही पद्धति यह है कि इन आधुनिक भाषाओं में प्राचीन रूपों की स्थिति स्वीकार करें, उनको हर स्थिति का संस्कृत से उत्पन्न सिद्ध करने का आग्रह न करें, एक ओर — यथा हिंदी में — वे बोलियाँ एक-दूसरे को प्रभावित करती रही हैं, उनके रूप एक-दूसरे से भिन्न रहे हैं, और कुछ रूप ऐसे हैं जो संस्कृत में भी नहीं हैं किन्तु जिनका प्राचीनतम रूप हित्ती आदि भाषाओं में सुरक्षित है, यह सिद्धान्त मानें। आर्य समाज में प्राकृतों का जन्म हुआ, लेकिन बुद्ध से कुछ पहले पूर्वी क्षेत्रों में अपभ्रंश प्रतिष्ठित हो चुकी थी और नभाषा का अभ्युदय तुर्क-आक्रमण से हुआ — इस तरह की व्याख्याएँ अवैज्ञानिक हैं और इतिहास की वास्तविकता से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। अपभ्रंश और नभाषा का अन्तर प्रकट करने के लिए जो ध्वनि-सम्बन्धी विशेषताएँ बतायी गयी हैं, वे एकांगी हैं और पूर्वनिश्चित मान्यताओं के समर्थन के लिए गढ़ी गयी हैं। इनमें सबसे हास्यास्पद द्वित्वव्यंजन वाले संस्कृत-प्राकृत-पंजाबी शब्दों को प्राचीन मानने से सम्बन्धित स्थापना है। अनेक संस्कृत शब्दों में यह द्वित्वभाव स्थापित करके उन्हें प्राकृत बनाया गया है, इससे उनकी प्राचीनता सिद्ध नहीं होती। स्वयं संस्कृत में बहुत से ऐसे रूप हैं जो व्यंजन-संकोच का परिणाम हैं, कृ, ज्ञा आदि की तुलना में कर्, जान् आदि अधिक ही प्राचीन हैं, कम नहीं। भाषा का परिनिष्ठित उच्चारण स्थिर होते-होते होता है। इस उच्चारण-सम्बन्धी अस्थिरता के कारण एक ही जनपदीय भाषा में किसी धातु-विशेष के अनेक रूप हो सकते हैं। अनेक जनपदीय भाषाओं में कुल मिलाकर ये रूप और भी अधिक होंगे। इन विभिन्न प्राचीन रूपों से आधुनिक भाषाओं के शब्द-भंडार और व्याकरण का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

सरी तरह की अति प्रगतिशील स्थापना सर जार्ज ग्रियर्सन के
"लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इंडिया" की भूमिका में मिलती है। उन्होंने
भारत में बोलचाल की आर्य-भाषा शताब्दियों से प्राकृत कहलाती
कृत का अर्थ है संस्कृत, समूस्कृत, सँवारी हुई, नकली भाषा से भिन्न
म भाषा। 'प्राकृत' की इस व्याख्या से यह परिणाम निकलता
ो के संकलनकर्ता ब्राह्मणों ने इन मंत्रों में अपेक्षाकृत कृत्रिम संस्कृत
त रखी है। वेदमंत्रों के समय की बोलचाल की भाषाएं वास्तव
।"[1] ग्रियर्सन ने वैदिक भाषा की कृत्रिमता सिद्ध करने के लिए
विश्लेषण नहीं किया। उनकी स्थापना का आधार प्राकृत-संस्कृत
स्तित्व और उनका अर्थभेद है। भले ही वैदिक काल में 'संस्कृत'
तन न रहा हो, ग्रियर्सन ने प्राकृत-संस्कृत का भेद उस समय के
य माना है। १८८६ में वियना में होने वाली ओरिएंटल कांग्रेस
व द्वारा भारत सरकार से इस देश की भाषाओं का सर्वेक्षण करने
किया था। आठ साल बाद भारत सरकार ने इस ओर ध्यान
क्षण से मद्रास, हैदराबाद और मैसूर बाहर रखे गये। इस प्रकार
सर्व-भारत का सर्वे न कर सका था। सरकार ने हर जिले के
एजेंट और अन्य कर्मचारियों के पास खाली फार्म भेज दिये और
गया कि वे भाषा का नाम और उसके बोलने वालों की संख्या लिख
त जैसे देश में कहां कौन-सी भाषा बोली जाती है और इसके बोलने
हैं, इन बातों का पता लगाना हमेशा आसान नहीं होता। स्वाधी-
के बाद भी स्वयं भारत के लोग इस बारे में सदा एकमत नहीं हो
भारत की तो बात दूर, पंजाब जैसे एक राज्य के लोगों में ही इस
कर मतभेद है कि उनकी भाषा हिन्दी है या पंजाबी। इसलिए
भूतपूर्व अंग्रेज सरकार ने जिला कर्मचारियों को जो काम सौंपा था,
सरल न था, जितना वह ऊपर से देखने में लगता है। हिमालय की
दसों जिले के ... अफसर ने बड़ी मेहनत से सरकारी प्रश्नों
... पन्ने में लिख भेजा। वह उत्तर सर जार्ज
... किसी में उसका रूप न
... न के लिए वह कागज
... भाषा का नाम और

यदि गांव-गहगावे मे राजे की बात पोते जैसी ही है, तो राजे-पोते मे कोई अन्तर नहीं है। उदाहरण निरर्थक हुआ। ग्रियर्सन का यह कहना सही नहीं है कि संस्कृत से उधार लिए हुए शब्द "रूप-विकार मे बहुत कम बदलते हैं।"

उन्होंने क्रियाओं के बारे में एक दूसरा सिद्धान्त स्थिर किया है। आधुनिक भाषाओं मे मूल क्रिया अपने रूप बदलती है लेकिन यह जरूरी नहीं है कि संज्ञाएं भी अपना रूप बदलें। इसलिए आम तौर से तत्सम शब्द क्रियाओं के के लिए नहीं ग्रहण किये जाते। ऐसा करना आवश्यक हुआ तो एक दूसरी तद्भव क्रिया की मदद ली जाती है। अपनी इस स्थापना के समर्थन में ग्रियर्सन ने दर्शन शब्द का उदाहरण दिया है। "अगर हम कहना चाहें कि वह देखता है, तो हम दर्शन नहीं कह सकते बल्कि हमें कहना होगा कि दर्शन करे।"[1]

ग्रियर्सन ने यह मान लिया है कि संस्कृत मे दर्शन क्रिया है। हिन्दी मे वह क्रिया के बदले संज्ञारूप मे करे के साथ प्रयुक्त होती है। यदि दर्शन संस्कृत मे भी संज्ञा है, तो हिन्दी और संस्कृत के प्रयोग मे अन्तर क्या हुआ? जहां तक दृश धातु की बात है, हिन्दी की देखना आदि क्रियाएं उससे या उसकी समकक्ष अन्य धातुओं से सम्बन्धित हैं। "यद्यपि जहां-तहां अपवाद मिलते हैं, फिर भी हम इसे व्यापक नियम (जुनिवर्सल लॉ) मान सकते हैं कि इंडो-आर्यन वर्नाक्युलर की संज्ञाएं तत्सम (या अर्ध-तत्सम) अथवा तद्भव होती हैं लेकिन इंडो-आर्यन वर्नाक्युलर की क्रियाएं तद्भव ही होती हैं।"[2] यदि पढ़ को पठ् से निकली हुई तद्भव धातु मानें—यद्यपि ग्रियर्सन का यह आशय नहीं है—तो भी हिन्दी-संस्कृत की बहुत सी धातुएं एकदम सामान्य हैं। कर, खन, गा (गाना), गाह (अवगाहे), जन, जान, जीव, तप, तर, दह, दुह, धाव, नह, पि (पा या पिब्), भन (भूषन भनत सिवराज वीर तेरे त्रास), मर, सह, हन, चल, लिख आदि पचीसों धातुएं हिन्दी-संस्कृत मे सामान्य हैं। उनमे अन्तर इतना ही है कि संस्कृत में वे हलन्त हैं या वर्ण-संकोच से करोति का कर् कृ मान लिया गया है। ग्रियर्सन की प्रवृत्ति संस्कृत और आधुनिक भाषाओं के सम्बंध को कम करके दिखाने की ओर है।

संस्कृत और हिन्दी के क्रिया-रूपों का भेद दिखाने के लिए ग्रियर्सन अनार्य उपकरणों का सहारा लेते हैं। उनके अनुसार हिन्दी क्रिया-रूपों पर हिन्दी-चीनी भाषाओं का असर पड़ा है। उदाहरण यह दिया है। संस्कृत मे भूत काल के दो रूप होते हैं: मैंने उसे मारा और वह मुझ से मारा गया। आधुनिक भाषाओं मे दूसरा रूप ही प्रचलित है। "No modern Indo

---

1. उप., पृष्ठ १२८-२९।
2. उप., पृष्ठ १२९।

उसके बोलने वालों की संख्या न लिखी हुई थी। उसमें भाषाशास्त्र से अनभिज्ञ किन्तु चतुर किसी भारतवासी ने जिलाधीश के प्रश्न का उत्तर लिखाया था— हम नहीं समझता कि तुम क्या कहता है।

शिमला से थोड़ी दूर की समकालीन पहाड़ी बोली की जाँच-पड़ताल में जब आई. सी. एस. स्तर के विद्वान् को इतनी कठिनाई हो सकती थी, तब वेदमन्त्रों के समय की प्राकृतों का अनुशीलन करने मे उन्हें कितनी दुर्लंघ्य बाधाओं का सामना करना पड़ा होगा, पाठक इसकी कल्पना कर सकते हैं। ऐसा कोई तरीका न था कि परम प्रतापी ब्रिटिश साम्राज्य वैदिक मंत्रद्रष्टाओं के पास खाली फार्म भेज देता और उनसे भाषा का नाम और उसके बोलने वालों की संख्या मंगवा लेता। किंतु यदि वैदिक ऋषियों को मंत्र-दर्शन होता था, तो भाषा-शास्त्रियों को भाषा-तत्त्व-दर्शन क्यों नहीं हो सकता? उन्होंने अपने सहज ज्ञान के बल पर घोषित कर दिया कि वैदिक मंत्रों की भाषा कृत्रिम थी। इस कृत्रिमता का विशेष कारण यह था कि वेदमंत्रों को ब्राह्मणों ने संकलित किया था और उन्हें सुरक्षित रखा था। लेकिन इसमें ब्राह्मणों से अधिक भारत की जलवायु का दोष है, क्योंकि "लिखित रूप लेने पर प्राकृत भी जड़ (fixed) हो गयी, ठीक वैसे ही जैसे ब्राह्मण-परम्परा में संस्कृत जड़ हो गयी थी। वह अनेक पीढ़ियों तक साहित्यिक भाषा बन कर अपरिवर्तित रही।"¹ इसलिए परिवर्तनशील भाषा के नमूने आपको इस देश में मिल ही नहीं सकते। उन्होंने लिखित रूप लिया नहीं कि जड़ हुए। टेपरिकार्डर का चलन उस समय था नहीं।

ग्रियर्सन के अनुसार तद्भव उन शब्दों को नहीं कहते जो संस्कृत रूपों से बने हैं। तद्भव शब्द वे हैं जो आदि प्राकृतों से चले आ रहे हैं। इन प्राकृतों का संस्कृत से सम्बन्ध नहीं है। "अधिकांश शब्द ऐसे हैं जो आदि प्राकृत की बोलियों से निकले हैं और ये बोलियाँ वे नहीं हैं जिनसे क्लासिकल संस्कृत निकली है।"² आधुनिक भाषाओं के शब्द-भंडार से संस्कृत का इतना कम सम्बन्ध है, तब उनके व्याकरण से तो और भी कम होगा। "इन भाषाओं के जीवित व्याकरणों में संस्कृत व्याकरण का एक रूप भी जोड़ा नहीं गया।"³ उन्होंने मिसाल दी है घोड़ा और राजा शब्दों की। राजा शब्द का बहुवचन घोड़े की तरह राजे नहीं होता। लेकिन इससे सिद्ध क्या हुआ? यदि घोड़े की तरह राजे रूप नहीं बनता तो इससे संस्कृत व्याकरण का असर साबित हुआ

१. उप., पृ० १२६।
२. उप., पृ० १२७।
३. उप., पृ० १२८।

यदि राजे-महराजे में राजे की धात पोहे जैसी ही है, तो राजे-पोहे में कोई अन्तर नहीं है। उदाहरण निरर्थक हुआ। ग्रियर्सन का यह कहना सही नहीं है कि संस्कृत से उधार लिए हुए शब्द "रूप-विकार में बहुत कम बदलते हैं।"

उन्होंने क्रियाओं के बारे में एक दूसरा सिद्धान्त स्थिर किया है। आधुनिक भाषाओं में मूल क्रिया अपने रूप बदलती है लेकिन यह जरूरी नहीं है कि संज्ञाए भी अपना रूप बदलें। इसलिए आम तौर से तत्सम शब्द क्रियाओं के के लिए नहीं ग्रहण किये जाते। ऐसा करना आवश्यक हुआ तो एक दूसरी तद्भव क्रिया की मदद ली जाती है। अपनी इस स्थापना के समर्थन में ग्रियर्सन ने दर्शन शब्द का उदाहरण दिया है। "अगर हम कहना चाहें कि वह देखता है, तो हम दर्शन नहीं कह सकते बल्कि हमें कहना होगा कि दर्शन करे।"[1]

ग्रियर्सन ने यह मान लिया है कि संस्कृत में दर्शन क्रिया है। हिन्दी में यह क्रिया के बदले संज्ञारूप में करे के साथ प्रयुक्त होती है। यदि दर्शन संस्कृत में भी संज्ञा है, तो हिन्दी और संस्कृत के प्रयोग में अन्तर क्या हुआ? जहा तक दृश धातु की बात है, हिन्दी की देखना आदि क्रियाए उससे या उसकी समकक्ष अन्य धातुओं से सम्बधित हैं। "यद्यपि जहां-तहां अपवाद मिलते हैं, फिर भी हम इसे व्यापक नियम (युनिवर्सल लॉ) मान सकते हैं कि इंडो-आर्यन वर्नाक्युलर की संज्ञाए तत्सम (या अर्ध-तत्सम) अथवा तद्भव होती हैं लेकिन इंडो-आर्यन वर्नाक्युलर की क्रियाए तद्भव ही होती हैं।"[2] यदि पढ़ को पठ् से निकली हुई तद्भव धातु मानें—यद्यपि ग्रियर्सन का यह आशय नहीं है—तो भी हिन्दी-संस्कृत की बहुत सी धातुए एकदम सामान्य हैं। कर, खन, गा (गाना), गाह (अवगाहे), जन, जान, जीव, तप, तर, दह, दुह, धाव, नह, पि (पा या पिब्), भन (भूषन भनत सिवराज वीर तेरे त्रास), मर, सह, हन, चल, लिख आदि पचीसों धातुए हिन्दी-संस्कृत में सामान्य हैं। उनमें अन्तर इतना ही है कि संस्कृत में वे हलन्त हैं या वर्ण-संकोच से करोति का कर् कृ मान लिया गया है। ग्रियर्सन की प्रवृत्ति संस्कृत और आधुनिक भाषाओं के सम्बध को कम करके दिखाने की ओर है।

संस्कृत और हिन्दी के *क्रिया-रूपों* का भेद दिखाने के लिए ग्रियर्सन अनार्य उपकरणों का सहारा लेते हैं। उनके अनुसार हिन्दी क्रिया-रूपों पर हिन्दी-चीनी भाषाओं का असर पड़ा है। उदाहरण यह दिया है। संस्कृत में भूत काल के दो रूप होते हैं: मैंने उसे मारा और वह मुझ से मारा गया। आधुनिक भाषाओं में दूसरा रूप ही प्रचलित है। "No modern Indo

---

१. उप, पृष्ठ १२८-२९।

२. उप, पृष्ठ १२९।

Aryan language ever says 'I struck him' or 'I went,' but all say 'he was struck by me' or 'I am gone'."[1] ग्रियर्सन ने हिन्द-चीनी भाषाओं के प्रभाव की बात चलायी थी। उससे उपर्युक्त उदाहरण का कोई सम्बंध नहीं है। वास्तव में उनके दिमाग में समस्या है हिन्दी कारक चिन्ह 'ने' की। संस्कृत में यह 'ने' है नहीं। इसको उन्होंने संस्कृत के किसी तीसरे भूतकालीन रूप से सम्बद्ध किया है। उनका कहना है कि संस्कृत में भूत काल का एक तीसरा रूप था जो अकर्मक क्रियाओं के साथ आता था (सुप्तः, मृतः, गतः, आदि)। इसकी मिसाल अंग्रेजी शब्दावली में यह है : it is gone by me; हिन्दी में कह लीजिए, मेरे द्वारा जाना हुआ। संस्कृत मे यह रूप अकर्मक क्रियाओं के साथ ही था, आधुनिक भाषाओं में वह सकर्मक क्रियाओं के साथ भी चालू हो गया। सकर्मक क्रियाओं में इस रूप की मिसाल है : मैंने उसको मारा। इसका अंग्रेजी अनुवाद यह दिया गया है by me, with reference to him, striking was done; i द्वारा, उसके सम्बध में, मारने का काम किया गया।

इस उलझन की जड़ यह है कि संस्कृत क्रिया-रूपों मे लिंगभेद होता ... है। लिंगभेद होता है कृदन्त रूपों मे। गच्छति, अगच्छत् में लिंगभेद नही है; लिंगभेद है, गतः, गता मे। इस कृदन्त को कुछ लोग शुद्ध क्रिया नहीं मानते; इसलिए उनके विचार से हिन्दी मे क्रियावाचक विशेषण हैं या सहायक क्रियाएं हैं, शुद्ध क्रियाएं है ही नही। अन्य लोग जो कृदन्त रूपों को क्रिया मानते हैं कहते है कि हिन्दी मे तिङन्त क्रियाएं कम हैं, कृदन्त रूपों का प्रयोग ही अधिक होता है। "हिन्दी मे कृदन्त क्रियाएं ही अधिक हैं। वर्तमान काल की सबकी सब क्रियाएं कृदन्त हैं; सहायक क्रिया केवल 'है' ही तिङन्त है—लड़का पढ़ता है, लड़की पढ़ती है। भूतकाल की भी सभी क्रियाएं कृदन्त हैं—लड़का गया और लड़की गयी।"[2]

शुद्ध क्रिया की दृष्टि से लिंग-भेद, पुरुष-भेद, वचन-भेद अनावश्यक हैं। क्रिया किसी काल मे सम्पन्न होती है, इसलिए काल-भेद ही काफी होना चाहिए। साहबी हिन्दुस्तानी के "हम खाना मांगता" मे मांगता भूत, भविष्य वर्तमान त्रिकाल सिद्ध रूप है। "चाय होना" जैसी खानसामा-हिन्दी में हो रूप होगा (या होगी) का काम करता है। श्री किशोरीदास वाजपेयी ने ब ठीक लिखा है, "शुद्ध क्रिया मे लिंग, वचन आदि कुछ है ही नहीं! उसे 'भ कहते है। आप लड़कों की गिनती कर सकते हैं, लिंग-भेद भी समझ स

1. उप., पृष्ठ १३२।
2. हिंदी शब्दानुशासन, पृष्ठ ४२०।

है, परन्तु 'लड़के पानी पीते हैं' कहने में 'पीते' की क्रिया को कैसे गिनेंगे? उस (क्रिया) के लिंगभेद भी कैसे करेंगे?" इसलिए मलयालम् में मैं आता हूं — ञान् वरुन्नु, तू आता है — नी वरुन्नु, वह आता है — नी वरुन्नु, वह आता है — अवन् वरुन्नु, वे आते हैं — अवर वरुन्नु। कर्ता बदलता रहता है, लेकिन क्रिया-रूप वरुन्नु ज्यों-का-त्यों स्थिर रहता है। अन्य द्रविड़ भाषाओं में इसके विपरीत क्रिया-रूप बदलते हैं। संस्कृत में वचन और पुरुष के अनुसार पठति, पठन्ति, पठामि, पठाव: आदि एक ही काल के भिन्न रूप होते हैं। वचन के हिसाब से हिन्दी-संस्कृत दोनों में क्रिया-रूप का बदलना आवश्यक है, लेकिन पुरुष और लिंग का महत्त्व दोनों भाषाओं में एक सा नहीं है। हिन्दी में पढ़ते हैं कहने से यह बोध न होगा कि हम पढ़ते हैं या वे पढ़ते हैं। इसी तरह पढ़ता है कहने से तू पढ़ता है और वह पढ़ता है, दोनों का बोध हो सकता है; पढ़ता हूं, पढ़ते हो, कहने से उत्तम और मध्यम पुरुष का बोध होगा। संस्कृत में क्रिया का हर रूप कर्ता के बिना भी अपना पुरुष घोषित करता है। लिंग-भेद में हिन्दी की प्रकृति संस्कृत से और भी भिन्न है। संस्कृत से भिन्न यहां दो ही लिंग हैं किन्तु मराठी ने त्रिलिंग भेद द्वारा आधुनिक भाषाओं को सर्वत्र क्षय-ग्रस्त होने के कलंक से बचा लिया। वैसे दक्षिण की भाषाओं में जहां-तहां यह त्रिलिंगभेद मिलता है। विद्वान् उसे चाहे तो अनार्यों पर आर्य प्रभाव का प्रमाण कह सकते हैं। महाराष्ट्र से बंगाल की ओर चलिए — लिंगभेद का महत्त्व क्रमशः कम होता जाता है। ग्रियर्सन का आर्यों की बाह्य और अभ्यन्तर शाखाओं वाला भेद यहां तिरोहित हो जाता है। संस्कृत से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध किसका है, बंगला का या मराठी का? इसका निर्णय वहां के विद्वान् करें; एक बात स्पष्ट है कि यहां एक भाषा-परिवार ऐसा रहा है जिसमें लिंग-भेद का अतिशय आग्रह रहा है, दूसरा परिवार ऐसा रहा है जिसमें इस तरह का आग्रह बिलकुल नहीं रहा, वरन् आज भी हिन्दी से लिंगभेद मिटाने का सत्याग्रह वर्तमान है। इस दृष्टि से मराठी और बंगला — संस्कृत की दोनों पुत्रियां — देश के दो विरोधी छोरों पर हैं, भूगोल-विचार से ही नहीं, भाषा-तत्त्व-विचार से भी। हिन्दी की पूर्वी बोलियों की तुलना में पछाही बोलियां लिंगभेद का आग्रह अधिक प्रकट करती हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि यह आग्रह संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण के अलावा क्रिया-रूपों में भी प्रकट हुआ। इस प्रकार हिन्दी भाषा की भाव-प्रकृति ने संगत रूप से संस्कृत दायरे से बाहर वाले व्याकरण-रूपों को प्रभावित किया। उस भाव-प्रकृति ने क्रिया-रूपों को भी बहुत कुछ — पूरी तरह नहीं — अपने में समेट लिया।

यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि क्रिया-रूपों में लिंगभेद कुछ भारतीय भाषाओं की ही विशेषता नहीं है। यूरोप की अनेक भाषाएं — जो किसी न

किसी रूप में संस्कृत-परिवार के सम्पर्क में आयी है—यही विशेषता प्रकट करती है।

नभाषा की कृदन्त-सम्बंधी विशेषता के बारे में डॉ. चाटुर्ज्या ने लिखा है : "परन्तु सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह हुई कि कुछ कृदन्त भी कालरूपों के आधारो में रूप म प्रतिष्ठित हुए। उदा. 'कृत> किम,- कीन, कीष, कृत-मल्ल, इल्ल> कमल्ल, कयिल्ल> कइल-, कैल, केल; कुर्वन्त्-> करन्त- > करता, करदा, करित्-, करत्; कर्तव्य-> अर्द्ध-तत्सम मभाभा –करितव्व> अर्ध-तत्सम — करिअव्व-, करिअवव्-, करिव-,करब-, करिब, इत्यादि।"

इस स्थापना मे यह मान लिया गया है कि सस्कृत मे कृदन्त काल-निरपेक्ष हैं। वाल्मीकि ने व्याध के लिए कहा था — पापात्मना कृत कष्टं। उस पापात्मा ने बुरा किया। यहां कृत स्पष्ट ही कालवाचक है। यदि किया जैसे रूप कृत से उत्पन्न माने जायं तो सस्कृत और हिन्दी मे कोई भेद नही है। श्री किशोरीदास वाजपेयी सस्कृत मे भी कृदन्त रूपो की काल-व्यजना की ओर सकेत करते हुए कहते हैं :" संस्कृत मे अकर्मक धातुओ से प्रकृत 'त' प्रत्यय' कर्तरि' होता है। अर्थात् अकर्मक क्रियाओ मे भूतकालिक त-प्रत्ययान्त रूप कर्तृवाच्य होते हैं —कर्ता के लिंग-वचन का अनुसरण करते हैं। ठीक यही स्थिति हिन्दी मे है—

"बालकः सुप्तः, बालिका सुप्ता, बालकाः सुप्ताः—लडका सोया, लड़की सोयी, लड़के सोये।" इसलिए यदि कृत और कुर्वन्त् से कालबोध हुआ, तो संस्कृत से भिन्न हिन्दी मे यह कोई नया परिवर्तन न हुआ।

एक बात और अस्पष्ट है। कृत से किया बना तब त अन्तर्धान हो गया। जब कुर्वन्त् से करता बना, तब त अन्तर्धान होने के बदले हलन्त से पूर्ण बना, और दीर्घ आ के साथ अपने अस्तित्व की बहुत जोरदार घोषणा करने लगा। कर्तव्य मे वह बीच से ही उड़ गया और छोड़ गया सक्षिप्त रूप करब। त वर्ण के इस उच्छृखल व्यवहार का कोई कारण नही बताया गया। इसलिए कृत से किया और कुर्वन्त् से करता रूपों की सिद्धि पर थोड़ा सन्देह होना स्वाभाविक है। वर्तमान काल मे महाराष्ट्र से लेकर बगाल तक क्रिया-रूपो मे यह त विद्यमान है। मराठी — मी करितों; हिन्दी — मैं करता हू; बगला — आमि करितेछि। रूसी, लैटिन, ग्रीक आदि भाषाओं के वर्तमान कालीन क्रिया-रूपों मे भी इस त का अस्तित्व प्रकट होता है। उधर भूतकाल मे म्या केला, मैंने किया, आमि कर्लाम्। रूसी मे चिताल, पिसाल जैसे भूतकाल-वाचक लकारान्त रूप हैं। बगला-मराठी आदि के लकारान्त रूपो की समानता आश्चर्यजनक है; उतनी ही आश्चर्यजनक त के अन्तर्धान होने की बात है। जहा तक करब के ब का सम्बध है, वह बगला, भोजपुरी आदि के अलावा लैटिन के भविष्यवाचक क्रिया-रूपो मे भी मिलता है—लाउदाबो—प्रशसा करूंगा।

"वह करता है" जैसे वाक्य में 'है' का अस्तित्व देखकर भाषाशास्त्री सोचता है, 'करोति' से 'करता' भले बन जाए, 'करता है' कैसे बनेगा ? यह दरअसल कुर्वन् अस्ति का हिन्दी रूप है, भले ही संस्कृत में कुर्वन् अस्ति जैसा प्रयोग प्रायः दुर्लभ हो। इसके अलावा करोति आदि रूप केवल पुरुष और वचन में कर्त्ता का अनुसरण करते हैं, किन्तु हिन्दी के करता है, करती है, आदि रूप लिंग में भी कर्त्ता का अनुसरण करते हैं। मराठी रूप तो करितो — वह करता है — में करितो का प्रयोग आहे (है) के बिना ही हुआ है। मराठी के करितो, करितोस, करितात आदि रूप वैसे ही हैं जैसे संस्कृत के करोति, कुर्वन्ति आदि। मराठी में संस्कृत से भिन्न ये रूप लिंग-भेद भी सूचित करते हैं किन्तु बंगला में करितेछि स्त्री-पुरुष दोनों के लिए प्रयुक्त होता है। अवधी में 'हम करित है' स्त्री-पुरुष दोनों के लिए प्रयुक्त हो सकता है, यद्यपि 'वह करत है' और 'वह करति है' में पुलिंग और स्त्रीलिंग का भेद है। मराठी में तीन लिंग, खड़ी बोली में द्विलिंग भेद अनिवार्य, अवधी में विकल्प से और बंगला में तिरोहित, यद्यपि करतो, करता, करित, करिते रूप एक-दूसरे से बहुत ही मिलते-जुलते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि क्रिया रूप द्वारा लिंगभेद सूचित होना उसके कृदन्त होने का निश्चित प्रमाण नहीं है। वही रूप जो एक भाषा में लिंगभेद से सम्बद्ध है, दूसरी भाषा में उससे परे है। करतो, करता, करित, करिते आदि रूप संस्कृत के समानान्तर बोली जानी वाली भाषाओं में प्रचलित थे, वे रूप कुर्वन् नहीं करोति आदि के समकक्ष हैं, यह मान लिया जाय तो खींचतान करके, हिन्दी क्रिया-रूपों को संस्कृत कृदन्तों से बाँधने का काम समाप्त हो जाय। एक बात निश्चित है, संस्कृत में जो अर्थ कुर्वन् का है, वह हिन्दी 'करता है' का नहीं है। करता है, और करता हुआ, इन दोनों रूपों में अन्तर है। श्री किशोरीदास वाजपेयी ने कृदन्त क्रिया और कृदन्त विशेषण का अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है, "जिस संज्ञा या विशेषण आदि में किसी क्रिया ('धातु') का अर्थ झलक मारता हो, उसे कृदन्त शब्द कहते हैं।" कृदन्त की यह बहुत अच्छी व्याख्या है। कृदन्त विशेषण से भिन्न कृदन्त क्रिया में क्रिया की प्रधानता होगी, लेकिन यह प्रधानता झलक भर दिखाती है, वह पूर्ण क्रिया नहीं बन पाती। इसीलिए उसे अस्ति आदि का सहारा लेना पड़ता है।

हिन्दी में 'है' की जितनी भरमार है, संस्कृत में अस् का प्रयोग उतना ही अनावश्यक समझा जाता है। ऋग्वेद में "ये शुभ्राः घोरऽवर्पसः सु. क्षत्रासः रिशादस। मरुद्भिः अग्ने आगहि।" (ऋग्वेद, म. ७, सू. ४६)। मरुत शुभ्र हैं अर्थात् शोभा वाले हैं। वे घोरवर्पस हैं, उग्र रूप धारण करते हैं। रिशादस हैं, हिंसकों के भक्षक हैं। इस वर्णन में अस् धातु से कहीं काम नहीं लिया गया। "यो अपां नेता स जनासः इन्द्रः" — इस तरह के टुकड़ों में नेता के

बाद पुनः अस् का प्रयोग नहीं किया गया। "द्योर्मे पिता जनिता नाभिः" (ऋ. ४ ?. पृ १२)—यहाँ इ जनि वाली है, अस् के प्रयोग द्वारा क्रिया को अनावृत्त नहीं बनाया गया। छान्दोग्योपनिषद् में—"मनो हिंकारो वाक्प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं प्रतिहारः प्राणो निधनमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतम्" (एकादश खंड)। मन हिंकार, वाक् प्रस्ताव, चक्षु उद्गीथ, श्रोत्र प्रतिहार, प्राण निधन; यह गायत्र प्राणों में प्रोत (बना हुआ)। 'है' का सर्वत्र लोप! वाल्मीकि ने अपनी श्लोक-रचना के बारे में लिखा था :

समाक्षरैश्चतुर्भिर्यः पादैर्गीतो महर्षिणा।
सोऽनुव्याहरणाद् भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः।

यहाँ गीतः, आगतः पूर्ण क्रिया का स्थान ग्रहण किये हुए हैं। गीता में कृष्ण कहते हैं : "या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।" सब जीवों के लिए जो रात्रि है, 'है' का पुनः अभाव। "तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता;" प्रतिष्ठिता अस्ति या भवति नहीं। इसी भाव-प्रकृति का अनुसरण करते हुए मराठी में भी करितो, तो जातो आदि प्रयोग होते हैं। 'मैं नहीं हूँ' के लिए केवल 'मी नाही' का प्रयोग हिन्दी में सम्भव नहीं है। इसलिए हिन्दी में 'करता है' जैसे रूपों में 'है' देखकर यह न समझना चाहिए कि 'करता' कृदन्त से बना है; वह 'करोति' के समान कर् धातु का ही सहज रूप है।

भूतकाल के लकारान्त रूपों को कृत जैसे रूपों से सिद्ध किया गया है। "भोजपुरी भाषा और साहित्य" में डॉ. उदयनारायण तिवारी ने लिखा है, "ल—अतीत के सम्बंध में डॉ. चटर्जी ने पूर्ण रूप से विचार किया है। बंगला, असमिया तथा उड़िया—इल्-अतीत, बिहारी—अल्-अतीत तथा मराठी—इल्, अल-अतीत की उत्पत्ति सं.—त,-इत+सं. लघुवाची या विशेषणीय प्रत्यय—ल के विस्तृत रूप—इल-अल>-इल्ल (-एल्ल),-अल्ल से हुई है।"[1] त, इत का तकार कहाँ खो गया ? भूतकाल में लघुवाची विशेषणीय प्रत्यय की आवश्यकता क्यों हुई ? ल ने इल्ल, अल्ल आदि विस्तृत रूप क्यों धारण किये ? इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं है। लेकिन यह 'ल' अतीत वाचक ही नहीं है। "ओकर घर देखल जाला"—उसका घर देखा जाता है। "रोटी खाइल जाला"—रोटी खायी जाती है।[2] राजस्थान की कुछ बोलियों में यही 'ल' भविष्य काल के लिए प्रयुक्त होता है। एक लोककथा में 'मराय दू ला',[3] एक आधुनिक राजस्थानी कविता में 'जड दूं ली', 'कर दू ली',[4]

---

१. डॉ. उदयनारायण तिवारी; भोजपुरी भाषा और साहित्य, पृष्ठ २६६।
२. उप., पृष्ठ २६०।
३. दो राजस्थानी लोक-कथाएं, नया राजस्थान, २७ जनवरी १६५७।
४. रामदेव आचार्य, सपना रो कयां विसवास ?, प्रेरणा, अगस्त १६५५।

र्विवर मुकुन्द की प्रसिद्ध कविता 'मैनागो' में 'गाऊं ना' भविष्य के लिए प्रयुक्त हुए हैं। महाराष्ट्र, राजस्थान, भोजपुरी प्रदेश और बंगाल—देश के बाहर रूस तक—इस न का प्रयोग आकस्मिक नहीं है। ये सब भाषाएं उन प्राचीन बोलियों के आधार पर विकसित हुई हैं जो आपस में मिलती-जुलती थीं। इनमें परस्पर मिलने-जुलनेवाली कुछ बातें ऐसी भी हैं जो संस्कृत में नहीं हैं। यह इन भाषाओं की संस्कृतेतर समानता हुई। उसे संस्कृत से कम प्राचीन मानने का कोई कारण नहीं। लकारान्त रूप—भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल के लिए—वैसे ही शुद्ध क्रियावाचक हैं जैसे 'करता है' का 'करता'। 'करता' के समान ही इन रूपों में कहीं लिंग-भेद होता है, कहीं नहीं होता। भोजपुरी में 'हम देखलीं,' हमने देखा, दोनों लिंगों में प्रयुक्त होता है किन्तु तुमने देखा के लिए पुल्लिंग रूप है देखल सन्हि और स्त्रीलिंग रूप है देखलु सन्हि।[1] डॉ. तिवारी ने इस सम्बंध में लिखा है, "कभी-कभी संज्ञापदों का लिंगज्ञान क्रियाओं द्वारा भी निर्धारित होता है।" इसका उदाहरण दिया है, घर जरि गइल, घर जल गया; पोथी जरि गइलि, पोथी जल गयी। इस प्रकार के लिंगभेद को भोजपुरी की सहज प्रकृति न मानकर उन्होंने यह मत प्रकट किया है कि "भोजपुरी क्रियापदों में लिंग का पार्थक्य खड़ी बोली के ही प्रभाव से आया है।"[1] डॉ. तिवारी का यह मत सही जान पड़ता है। लिंगभेद पश्चिम की भाषाओं में अधिक है, पूर्व की भाषाओं में कम। यदि भोजपुरी में आंशिक रूप से उत्पन्न यह लिंगभेद खड़ी बोली के प्रभाव से हो, तो उससे यही सिद्ध होगा कि हिन्द प्रदेश की बोलियां एक-दूसरे को बराबर प्रभावित करती रही हैं और व्याकरण में लिंगहीनता जैसी विशेषता भी अचल और अभेद्य नहीं है। लिंगभेद भी अन्य भाषाओं के प्रभाव से उत्पन्न हो सकता है; इसलिए करता, करती, गया, गयी रूपों में लिंगभेद देखकर उन्हें तुरत कृदन्त न मान लेना चाहिए।

डॉ. तिवारी ने "तु चलऽ" की उत्पत्ति संस्कृत चलत, चलथ रूपों से संभव मानी है। 'उ चलो' की उत्पत्ति 'चलतु' से 'प्रतीत होती है।' "ऐसा प्रतीत होता है कि जब अनुज्ञा तथा निर्देशक के रूप उलट-पलट गये, तब यह-ओ निर्देशक प्रत्यय बन गया। पुनः वर्तमान काल के रूप (चलति> चलइ> चले) तथा भविष्यत् के रूप (चलिष्यति > चलितिइ > चलिहइ) के अन्तर को स्पष्ट रखने के लिए भी औ > ओ का व्यवहार किया जाने लगा।"[3] अनुज्ञा और निर्देशक के रूपों में उलटफेर हुआ हो, चाहे न हुआ हो,

---

१. भोजपुरी भाषा, पृष्ठ २७०।
२. उप., पृष्ठ १८५।
३. उप, पृष्ठ २६५।

श्रोर चले चलति से, चलिहइ चलिष्यति से बना हो चाहे न बना हो, उपर्युक्त विवेचन में महत्वपूर्ण बात यह है कि भोजपुरी मे ,चलति, चलिष्यति जैसे तिङन्त रूपों के समकक्ष क्रिया रूप प्राप्त हैं। उन्हे कृदन्त रूप सिद्ध करने का प्रयास नही किया गया। जैसे चलति से चले श्रोर चलिष्यति से चलिहइ तिङन्त क्रिया रूप बने हैं, वैसे ही चलता है श्रोर चलेगा भी तिङन्त रूप हैं। भविष्य काल मे हमारे परिवार की भाषाएं कही क्रिया मे संस्कृत इष् का स्मृति चिह्न स श्रोर उसका परिवर्तित रूप ह जोड़ती हैं, कही भू का ब श्रोर कहीं अज्ञात-कुल-शील गा। कर्तव्य से ब की सिद्धि श्रावश्यक नही है। कर्तव्य जैसा रूप पुरुष-वचन भेद से परे है किन्तु लैटिन में बकारान्त भविष्य रूप संस्कृत के समान ही पुरुष-वचन भेद प्रकट करते हैं। ग्रीक में सकारयुक्त भविष्य-वाचक रूप मिलते हैं। इसी प्रकार राजस्थान की कुछ बोलियों मे भविष्य के लिए सकारान्त रूपो का चलन है। "म्हारो बाप थानु द्रव्य देसी"—मेरा बाप तुम्हे धन देगा। "मुहर एक देस्यां"—एक मुहर दूगा।[1] जैसे लकार वाले रूप अतीत के अलावा भविष्य के लिए भी आते हैं, वैसे ही कुछ अन्य भाषाओं श्रोर बोलियों मे सकार वाले रूप वर्तमान श्रोर अतीत के लिए आते हैं। तुलसीदास मे—जो हसि सो हसि मुह मसि लाई; हसि, है के लिए। मारेसि मोहि कुठाव—मारेसि, मारा के लिए। इसी प्रकार भविष्य-वाचक हिन्दी 'गा' है। वाजपेयी जी के अनुसार "आज यह 'ग' एक कृदन्त प्रत्यय ही है—भविष्यत् प्रकट करने के लिए; वस्तुत: भविष्यत्-क्रिया की निष्पत्ति मे निश्चिति प्रकट करने के लिए।"[2] यह निश्चिति प्रकट करने का धर्म भविष्य मे ही नहीं, वर्तमान मे भी सम्पन्न होता है। लाला जी घर मे हैं ? हैंगे। श्रापके पास चार आने पैसे हैं ? हैंगे। श्री अमृतलाल नागर के उपन्यास "बूद श्रोर समुद्र" के कर्नल को इस निश्चयवाचक गा से विशेष प्रेम है, "वह तो मेरी आखो देखी बात हैगी सज्जन।" श्री राजेन्द्र यादव के उपन्यास "उखड़े हुए लोग" के कुछ पात्र 'था' के साथ भी 'ग' का प्रयोग करते हैं। "नहीं तब हमारी शादी नही हुई थी गी, सो मरा पढ़ावें लिखावें तो कुछ थागा नही, जब देखो तब अखबार पढ़ता दिखाई देता थागा।"[3] पता नही, वास्तव में था के साथ कही लोग गा का प्रयोग करते हैं या नहीं। श्री यादव का कहना है कि उन्होंने ऐसे प्रयोग सुने हैं। द्रविड भाषाश्रो के विशेषज्ञ काल्डवेल का मत है कि इन भाषाओं के प्राचीन रूपो में भविष्य के लिए 'ग' प्रत्यय का ही उपयोग होता

१. अगरचन्द नाहटा : एक-एक मोहर की चार आतो, प्रेरणा, नवबर १९५४।
२. हिन्दी शब्दानुशासन, पृष्ठ ४२६।
३. राजेन्द्र यादव, उखड़े हुए लोग; राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ २१६।

ना। तेलुगु — मैं बरूगा। "The sign of the future is g." ("भविष्यवाचक चिन्ह है ग।")[1] काल्डवेल की यह बात सही हो तो 'गा' की प्राचीनता मान्य होगी, साथ ही उत्तर-दक्षिण की भाषाओं के सम्पर्क का एक महत्वपूर्ण उदाहरण मिलेगा। इस सन्दर्भ में काल्डवेल ने भोजपुरी-बंगला आदि के ब को भी स्मरण किया है और द्रविड़ भाषाओं के भविष्यवाचक प्रत्यय व से उसकी तुलना की है: "द्रविड़ भाषाओं में बहुप्रचलित और उनका विशेष भविष्यवाचक चिन्ह स्पष्ट ही तमिल, कन्नड़ और तुलू का व है। यह बात मार्के की है कि बंगला और उड़िया में, तथा भोजपुरी-हिन्दी में भी भविष्यकाल का चिन्ह व है जो ब बोला जाता है — यथा बंगला राखिब, उड़िया राखिबी, भोजपुरी राखब — और मैक्समुलर ने इसे लैटिन के ब या बो से सम्बद्ध किया जो उस भाषा का खास भविष्यवाचक चिन्ह है जिसे किसी पुरानी पूर्ण क्रिया का अवशेष माना जाता है।" यह स्थापना असम्भव नहीं है, यद्यपि सभाव्य कम है — यह कहते हुए काल्डवेल ने फिनलैंड और हंगरी की भाषाओं में भविष्यवाचक 'व' का उल्लेख किया है। इस चर्चा से इतना अवश्य सिद्ध हो जाता है कि करब जैसा रूप कर्तव्य से नहीं बना और ब, गा आदि प्रत्यय प्राचीनता और कुलीनता में किसी से घटकर नहीं हैं।

मैंने उसे मारा — इसका अर्थ यह नहीं है, मेरे द्वारा उसके सम्बध में मारने का काम किया गया। 'उसे' का अर्थ 'उसके सम्बंध में' नहीं है। मैंने का अर्थ मेरे द्वारा नहीं है। सस्कृत में पुल्लिंग सज्ञाओं के तृतीया एकवचन में 'न' का चिन्ह देखकर ग्रियर्सन आदि ने मैंने का अर्थ मेरे द्वारा किया। वाजपेयी जी ने हिन्दी 'ने' को बालकेन के इन से सिद्ध किया। यह सब कल्पना एकदम अयथार्थ नहीं है। सस्कृत तथा उसकी समकक्ष भाषाओं में न, ने, नु आदि का विभिन्न कारक-चिन्हो के रूप में प्रयोग होता था। हिन्दी में वह करण-कारक का चिन्ह नहीं है। वाजपेयी जी ने बिल्कुल ठीक लिखा है, "लोगो ने 'ने' को करण-कारक की विभक्ति गलती से समझ लिया है। 'ने' का 'करण'-कारक से कोई सम्बध नहीं!"[2] वास्तव में वह हिन्दी में कर्ता-कारक का चिन्ह है। उसे सस्कृत के करण-कारक-चिन्ह का अवशेष न मानकर स्वतंत्र रूप से प्रयुक्त, उससे मिलता-जुलता ध्वनि-चिन्ह मानना चाहिए। राजस्थान की कुछ बोलियों में ने या नै का चिन्ह कर्म-कारक के लिए आता है — भगा नाई नै बुलायो, भगा नाई को बुलाया; दरोगा नै हुकम हुयो, दरोगा को हुकम हुआ।[3]

---

१. रॉबर्ट काल्डवेल, ए कम्पैरेटिव ग्रामर ऑव दि द्रॅवीडियन ऑर साउथ इंडियन फैमिली ऑव लैंग्वेजेज; सशोधित सस्करण, १६१३; पृष्ठ ५१३।

२. हिन्दी शब्दानुशासन, पृष्ठ १४५।

३. नया राजस्थान, २७ जनवरी १६५७।

सी तरह गुजराती में 'मगन ने मार्यो' में 'ने' कर्मकारक के लिए प्रयुक्त हुआ है; गोविन्द ने पाप — सम्प्रदान के लिए प्रयुक्त। उसी से मिलता-जुलता ना संबंध कारक के लिए — धोहाना पग।[1] पंजाब की बोलियों में कर्ता के लिए ने का प्रयोग — दिल ने गुनी लई दिलें दी कहानी; कर्म के लिए नूं का प्रयोग — गोरी नूं भावे न दिनें दा झुगासा (उजाला)।[2] पंजाबी में जिन्हें के लिए जिना के साथ ने जोड़कर 'जिनाने' जैसा प्रयोग होता है। वारिस शाह ने हीर-रांझा की कथा में लिखा है :

सईया वड हरनालियाँ हालियाँ ने
सोयाँ मुइयाँ तो जिना ने लानियाँ नो।

"हल चलाने वालो ने हल निकाल लिये हैं; जिन्हें नये सिरे से धरती चीरनी है।"[3] पंजाबी में ही 'ने' का प्रयोग कर्ता के अलावा अन्य कारको मे होता है। हिन्दी में यह कर्ता के लिए करण-कारक से उसका अटूट सम्बध नहीं है। "मैंने उसे मारा" में मैं कर्ता-कारक ही है; यह भ्रमवश प्रयुक्त नही होता। "मैंने उसे मारा" से भिन्न है। मैंने उसे पीटा, वह मुझसे वाक्य "वह मेरे द्वारा मारा गया" से भिन्न है। मैंने मारा, मैं मारा पिटा — हिन्दी मे दोनों तरह की वाक्य-रचना होती है। पहले वाक्य मे 'मारा' तिङन्त गया — इन दोनो वाक्यो मे मारा सामान्य है। पहले वाक्य मे 'मारा' का एक ही अर्थ नहीं है। रूप है, दूसरे मे कृदन्त। दोनो वाक्य के 'मारा' का एक ही अर्थ नहीं है। अंग्रेजी से एक मिसाल लें — दे किल्ड हिम — उन्होंने उसे मारा (या मार डाला), ही वाज किल्ड बाई देम — वह उनके द्वारा मारा गया। 'मारा' की तरह 'किल्ड' भी दोनो वाक्यो मे समान है लेकिन 'दे किल्ड हिम' के कर्तृवाच्य होने में किसी को सशय नही होता। मारा जैसे रूप का 'ने' से कोई विशेष सम्बंध नही है, यह अवधी से सिद्ध है : हम बहिका मारा (हमने उसे मारा) वह हमसे मारा गा (वह हमसे मारा गया)। 'ने' करण-कारक का आवश्य चिन्ह होता और उसी के कारण मैंने मारा जैसा रूप बनता, तो अवधी में 'हम मारा' जैसा रूप सभव न होता। हिन्दी की एक विशेषता यह है कि वर्तमान काल मे क्रिया कर्ता का लिगानुसरण करती है, वह आता है, वह पढ़ता है। क्रिया चाहे अकर्मक हो चाहे सकर्मक, पढने की पुस्तक वेद हो चाहे रामायण, पढ़ता है, पढ़ती है रूप कर्ता का अनुसरण करेंगे। इसी प्रकार भविष्य काल मे — आयेगा, वह

1. एन्. बी. दिवाटिया, गुजराती लैंग्वेज एंड लिटरेचर, बम्बई, १९१२, खंड २, पृष्ठ ८१।
2. घनश्याम सेठी, लम्बे दिए धारे; अजन्ता, सितम्बर १९५४।
3. घनश्याम सेठी, पंजाबी भाषा का जनकवि : वारिस शाह; सम्मेलन पत्रिका प्रयाग, चैत्र २०११।

वेद पढेगा, वह रामायण पढ़ेगा। वर्तमान काल में कार्य सम्पन्न नहीं हुआ, भविष्य मे भी कर्म अदृश्य है, मानो इसीलिए बोलनेवाले का ध्यान कर्म की अपेक्षा कर्ता पर केन्द्रित रहता है। भूत काल मे कार्य सम्पन्न हो चुकता है, इसलिए 'उसने वेद पढा,' 'उसने रामायण पढ़ी' मे कर्म वेद और रामायण के अनुसार क्रिया का लिंग परिवर्तन होता है। 'वह आया' जैसे अकर्मक क्रिया वाले प्रयोगो मे कर्म का प्रश्न नही है, इसलिए क्रिया वर्तमान और भविष्य के समान कर्ता का ही लिंगानुसरण करती है।

हिन्दी कारक-चिन्ह संस्कृत से ही उत्पन्न हुए होंगे, इस धारणा के कारण कल्पना की गयी कि घोडा का बहुवचन घोडे संस्कृत की तृतीया विभक्ति के एभिः के ए से बना है ("करण बहु प्राभाप्रा—घोटकेभि.=हिन्दी कर्ता बहु घोडहि> घोडे")।[1] संस्कृत के करण-कारक से हिन्दी को विशेष प्रेम मालूम होता है। वहीं से उसने 'ने' प्राप्त किया, वहीं से घोडे का ए। और ने और ए दोनों ही चिन्ह कर्ताकारक के लिए ही ग्रहण किये। गनीमत यह है कि किसी ने यह नही कहा कि हिन्दी मे घोडा का कर्तारूप में बहुवचन होता ही नही है और 'घोडे' का अर्थ 'घोडो द्वारा' है। वैसे संस्कृत मे 'क.' का बहुवचन 'के,' 'अयम्' का बहुवचन 'इमे,' स का बहुवचन 'ते' होता है, उसमें एकारान्त कर्ता बहुवचनों का अभाव नही है। ग्रीक मे बहुत से संज्ञा-शब्द बहुवचन मे हलन्त सकार-सहित एकारान्त रूप ग्रहण करते हैं खेइर, खेर (कर, हाथ) बहुवचन मे खेइरेस्; कुम्रोन, कुन (श्वान), बहुवचन — कूनेस्, हीरो (वीर), बहुवचन—हीरोएस्। हीरो शब्द पुल्लिग है, कुम्रोन उभयलिंग, खेर स्त्रीलिंग। जर्मन मे पुल्लिग स्टाइन (पत्थर) का बहुवचन स्टाइने, जोन (सूनु, पुत्र) का बहुवचन जायूने होता है। ऐसी भाषाएं, जिन पर संस्कृत भाषा-परिवार का असर पड़ा है, कर्ताकारक के बहुवचन मे ए चिन्ह ग्रहण करने की प्रवृत्ति दिखलाती हैं। इसलिए घोडा का बहुवचन घोडे आश्चर्यजनक नहीं है, उसके लिए एभिः को स्रोत मानना आवश्यक नही है। हिन्दी ए ग्रीक-लैटिन-जर्मन आदि के कर्ता बहुवचन चिन्ह 'ए' का सहधर्मी है।

इसी प्रकार बहुवचन घोडो को घोटकानाम् से सिद्ध किया है, यद्यपि संस्कृत रूप सम्बध कारक है और घोडो रूप 'ने, से, पर, के' आदि के साथ विभिन्न कारको मे प्रयुक्त होता है। कार्तें रूप कैसे बना? कार्तानि से। यदि कार्ता स्त्रीलिंग हो तो? तो कोई बात नही, "स्त्रीलिंग मे भी नपुंसक आनि प्रत्यय का ही प्रयोग करते हुए" यह रूप बना लिया। और कार्तो? कार्तानाम् से! संस्कृत 'कार्य' से बंगला को एर और र प्राप्त हुए सम्बध चिन्ह के रूप में;

---

1. भारतीय आर्य-भाषा और हिन्दी, पृष्ठ १२६।

[illegible] में विभक्ति को सम्बन्ध चिह्न के लिए ही था, जो बाद [illegible] हुए। धातुओं का सम्बन्ध-चिह्न न 'रा' न [illegible] है। यह रूप [illegible] [illegible] गया है जिसने कारकत्व धारण कर लिया। यह व्युत्पत्ति अब तो "इस प्रकार भी सम्भव है—[illegible] [illegible] पाँतवा" हिन्दी 'ने' 'करो' में, 'को' 'कहाँ' में, 'का' 'हा' में—कहीं से कुछ नी [illegible] देना—इसका मूल संस्कृत का यह दि[illegible] सिद्ध हो सकता है। [illegible] को [illegible]=[illegible]।" यहाँ इस से 'को' [illegible] गया है: "[illegible]" सिद्ध कर दिया गया है।

बंगला के आकार, [illegible] आदि का बहुवचन-सूचक 'रा' है। हमार आदि का 'र' माना गया है। जर्मन में पेंडर (पीतर, मैदान) (कर्ता और सम्बन्ध-कारकों में) बहुवचन फेडेर बनता है। हिन्दी [illegible] (षष्ठी आदि का 'का' या 'क') से मिलता-जुलता कर्मी 'क' है। "कन्दा भी [illegible] के मान्टन्" —जब हम मन्टन्-को-पहुँचे। इसका यह अर्थ नहीं है कि हिन्दी बंगला के कारक-चिह्न कहीं और जर्मन भाषाओं की देन हैं। यहाँ केवल अनुसंधान की एक अन्य पद्धति की ओर ध्यान आकर्षित करना ही उद्देश्य है। जैसे हम पिता-माता से मिलते-जुलते शब्द ग्रीक-लैटिन, जर्मन, रूसी आदि भाषाओं में ढूँढ़ निकालते हैं, वैसे ही बहुत से कारक-चिह्न भी हमारी और इन भाषाओं में मिलते हैं। ये सभी चिह्न संस्कृत से नहीं निकले यद्यपि संस्कृत के साथ-साथ बोली जाने वाली अन्य भाषाओं — जिनका प्रभाव यूरोप पर भी पड़ा है — में उनके अस्तित्व का अनुमान किया जा सकता है। कुल, कार्य और कर्ण से कारक-चिह्नों की उत्पत्ति सिद्ध करने के प्रयास स्वर्गीय चंद्रधर शर्मा गुलेरी के इस कथन की याद दिलाते हैं. "वे विद्वान् जो भा धातु से डियो, डुलुक, डोलाना प्रत्यय बनाकर मिया, मुलुक, मोलाना सिद्ध कर लेते हैं या हमारे आचार्य-देशीय गुणहीतनामा सर्वतंत्र स्वतंत्र सतीर्थ्य जो 'ज्यो जयचौलो ऊरू यस्याः सा ज्योरू=जोरू (स्त्री)' बनाते हैं" इत्यादि।[1]

डॉ. चाटुर्ज्या और ग्रियर्सन आदि से पहले हिन्दी के पूर्व रूपों की खोज का काम हार्नले ने किया था। यदि उनके कार्य में खामियाँ हैं, तो भी उन्नीसवीं सदी में भाषा-विज्ञान की स्थिति को देखते हुए वे क्षम्य हैं। बीसवीं सदी के मध्य में वही बातें दोहरायी जायें तो यह कार्य बहुत प्रशंसनीय न माना जायगा। १८८० में एशियाटिक सोसायटी ऑव बेंगाल की पत्रिका (खंड ४६, भाग १) में हार्नले ने हिन्दी धातुओं पर एक लेख[2] प्रकाशित किया था। इसमें उन्होंने

---

1. चंद्रधर शर्मा गुलेरी, पुरानी हिन्दी, पृष्ठ २६-२७।
2. ए कलेक्शन ऑव हिन्दी रूट्स विद रिमार्क्स ऑन देयर डेरीवेशन एण्ड क्लासीफिकेशन।

सम्बन्ध में कुनब और कुन्बि का सिद्ध किये थे। उसीका अनुसरण करते हुए डॉ चाटुर्ज्या ने कनंग्ड से करब बनाया, इनका अनुसरण करते हुए डॉ उदय-नारायण तिवारी ने लिखा, "आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं की धातुओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में डॉ. चटर्जी, ग्रियर्सन तथा अन्य विद्वानों ने अपने प्रामाणिक ग्रंथों में पूर्ण रूप से विचार किया है। और वे जिन निष्कर्ष पर पहुंचे हैं, उसमें कुछ भी घटाना-बढ़ाना अनावश्यक है।"[1] इस पद्धति से भाषा-विज्ञान की प्रगति सम्भव नहीं है।

हार्नले ने बहुत सी धातुओं का सही उद्गम बताया है; वे यदि संस्कृत की उन्हीं धातुओं से नहीं बनी तो उन्हीं की समरूप धातुओं से बनी हैं जैसे उन्होंने दृश्यति से देखने का सम्बध जोड़ा है। लेकिन उनके और बहुत से अनुमान सही नहीं मालूम होते। कुछ मिसालें यहां देते हैं — उद्+ज्वल = उबल; उद् + भृ=उभार; क्षिप्—फो, अट्ट + कृ — अटक, उच्च + कृ = उचक, छिस + कृ — छिटक, छूट; क्षिप् या क्षप् + कृ — झोक; तक्ष + कृ = ठसक, प्रकृष्ट — पकड़, स्फूत्कार—पुकार।

उस समय भी अनेक विद्वानों को इस तरह की व्युत्पत्ति आपत्तिजनक मालूम होती थी। उदाहरण के लिए, कृत से को या कृते में के सिद्ध करने के प्रयास को १८६४ में एक विद्वान् ने "आल टुगेदर ए फोर्स्ड वन" कहा था।[2] विद्वानों ने अक्ष + वाट से अखाड़ा सिद्ध किया है।[3] इस तरह की सिद्धियों की लम्बी सूची बनायी जा सकती है। जिस समय अक्षवाट से अखाड़ा और कर्ण से 'ने' जैसे रूप आधुनिक भाषाओं में प्रतिष्ठित हो रहे थे, उसी समय — कहा जाता है — इन नयी भाषाओं में संस्कृत के ढेर के ढेर तत्सम रूप लिये जाने लगे। णअण — नयन, णअर — नगर, कइ — कपि, राया — राजा, णई — नदी, सफलउ — सफल, विवइ — विपद्, आदि। प्राकृत-तत्सम रूपों में जब हिन्दी आदि भाषाएं राजा, नगर, नयन आदि तत्सम रूपों को अपना रही थीं, तभी किसी कारणवश कारक-चिन्हों में उन्होंने एक भी तत्सम रूप न स्वीकार किया, उनके बदले उनके ऐसे रूप अपनाये जो प्राकृत में भी न मिलें! और एक भाषा ने नहीं, उत्तर भारत की सभी भाषाओं ने मानो षडयंत्र करके यह नीति अपनायी। मथुरा, काशी, द्वारका जैसे प्राचीन भागों में एक बार ध्वनि परिवर्तन हुआ होगा, उसके बाद सर्वत्र तत्सम रूपों का चलन हो गया होगा! सिद्धान्त यह स्थिर किया गया है कि "नव्य-भारतीय आर्य-भाषाओं का जन्म

---

१. भोजपुरी भाषा और साहित्य, पृष्ठ २४३।

२. जर्नल ऑव एशियाटिक सोसायटी ऑव बेंगाल, १८६४, खंड ३३, पृष्ठ ४१७।

३. ऑरिजिन एण्ड डिवेलेपमेंट ऑव बेंगाली लैंग्वेज, खंड २, पृष्ठ ६८८।

अन्य भाषाओं की प्राचीनता की बात भी है। श्री नामवर सिंह ने जान-बूझ कर देशी बात को तोड़ा-मरोड़ा नहीं है। सारे उत्तर भारत में एक काल में एक ही भाषा बोली जाती थी, इस धारणा का बहुत समय से प्रचार होता रहा है। यह केवल नये युग की विशेषता मानी जाती रही है कि अनेक भाषाएं एकबारगी प्रकट हो गयीं, वर्ना पहले एक मात्र भाषा संस्कृत, दूसरी मंजिल में उसी का परिवर्तित रूप प्राकृत जिसके शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि रूपों में बहुत थोड़ा भेद था, उसीका परिवर्तित रूप अपभ्रंश और अपभ्रंश से उत्पन्न अनेक आधुनिक भाषाएं। इस तरह की स्थापना डॉ. चाटुर्ज्या में हम देख चुके हैं। उनसे पहले हार्नले ने लिखा था कि एक समय उत्तर भारत की एक-मात्र "आर्यन वर्नाक्युलर" मागधी थी।[1] श्री नामवर सिंह ने इसी "एक भाषा" के प्रसार की मान्यता के आधार पर लिखा है, "तुलसीदास की भाषा वाल्मीकि की भाषा से बहुत भिन्न है; शब्दकोश में थोड़ा-बहुत साम्य भले ही मिल जाय; लेकिन दोनों के वाक्य-गठन में महान अन्तर है, दोनों के व्याकरण दो हैं। एक हिन्दी है दूसरी संस्कृत। इस अन्तर को न देखना अथवा देखने से इनकार करना भाषा-सम्बन्धी विवेक को पीठ देना है।"[2] इस तर्क में मान्यता यह है कि वाल्मीकि की भाषा का प्रसार सारे उत्तर भारत में था। इसलिए उस समय हिन्दी के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। मान्यता को प्रस्तुत करने का ढंग ऐसा है मानो कोई हिन्दी-संस्कृत का भेद अस्वीकार कर रहा हो, और तुलसीदास और वाल्मीकि की भाषा को एक कह रहा हो! इसी प्रकार विद्वान् अनुसंधानकर्ता ने अपभ्रंश का प्रसार सारे उत्तर भारत में माना है। अपभ्रंश पहले "पश्चिमोत्तर भारत की बोली" थी, फिर "उन मूल प्रान्तों से सरक कर दूसरे क्षेत्रों में" प्रतिष्ठित हुई। जब बहुत ज्यादा सरकी और बहुत बड़े इलाके में पसर गयी तब स्थानीय भेद उत्पन्न हो गये। "जब अपभ्रंश सिंध में मुल्तान से लेकर बंगाल के समुद्र तट तक और कन्नौज से लेकर मान्यखेट तक फैल गयी, तो उसमें स्थानीय विशेषताओं का उभार आवश्यक था।" मूल भाषा एक थी; स्थानीय भेद प्रसार के कारण उत्पन्न हुए। "यह देश-भेद धीरे-धीरे इतना बढ़ा कि तेरहवीं शताब्दी तक जाते-जाते अपभ्रंश के सहारे ही पूर्व और पश्चिम के देशों ने अपनी-अपनी बोलियों का रूप प्रकट कर दिया।" देश-भेद उत्पन्न होने से पहले यह अप-भ्रंश किस तरह की भाषा थी? "उसकी पूर्ववर्ती प्राकृत ही देशी भाषाओं के योग से अपभ्रंश की अवस्था में विकसित हो गयी।" अर्थात् देशी भाषाओं का

---

१. ए. एफ. रुडोल्फ हार्नले, ए ग्रामर ऑव दि ईस्टर्न हिन्दी, १८८०, भूमिका।
२. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृष्ठ १५।

योग होने से पहले अपभ्रंश प्राकृत से भिन्न नहीं थी। ये देशी भाषाएं कौन थीं, कब से थीं, किन क्षेत्रों मे थीं, ये कहां से उत्पन्न हुईं—ये सब प्रश्न अप्रासंगिक समझे गये। और प्राकृत किस तरह की भाषा है? "यदि नाटकों मे प्रयुक्त प्राकृत को लें, तो साफ मालूम हो जाता है कि वह संस्कृत वाक्यों का ही यत्किंचित् ध्वनि-परिवर्तन किया हुआ रूप है।" संस्कृत-प्राकृत और अपभ्रंश का यह सम्बंध देख कर हमें इस स्थापना पर बिल्कुल आश्चर्य नहीं होता: "वास्तविकता यह है कि अपभ्रंश काल मे पंजाब, राजस्थान, गुजरात, शूरसेन तथा उत्तरी महाराष्ट्र की भाषा मे कोई मौलिक व्याकरण-भेद न था। थोड़े से उच्चारणगत ध्वनिपरक भेदों तथा कतिपय व्याकरणिक विशेषताओं को छोड़कर भाषा का ढांचा सर्वत्र बहुत कुछ एक ही सा था।"[1] इसे कलियुग का प्रभाव कहना चाहिए कि अपभ्रंश द्वारा स्थापित इस राष्ट्रीय एकता को आधुनिक भाषाओं ने अपने मौलिक व्याकरण भेदों द्वारा ध्वस्त कर दिया। उसी के फलस्वरूप कोई हिन्दी से 'ने' उड़ाने की व्यवस्था देता है, तो कोई उससे लिंगभेद समाप्त करने की राय देता है। यदि कलकत्ते की बाजारू हिन्दुस्तानी राष्ट्रभाषा मान ली जाय, तो उसका सारा व्याकरण एक पोस्टकार्ड पर लिखा जा सके। लेकिन यह तो नौ मन तेल के जुटने पर राधा के नाचने की बात हुई। आश्चर्य की बात है कि वैदिक भाषा मे तो विभिन्न बोलियों के प्रभाव के कारण अनेक व्याकरण-भेद दिखाई देते हैं, किन्तु अपभ्रंश काल मे पंजाब से लेकर महाराष्ट्र तक की भाषा मे कोई मौलिक व्याकरण भेद ही न था! ये सब भेद आधुनिक भाषाओं के अभ्युदय-काल मे अचानक प्रकट हो गये!

हमारी धारणा के अनुसार इस तरह के अधिकांश व्याकरण-भेद पहले भी थे। महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी आदि प्राकृतों का नामकरण उन प्रदेशों मे प्रयुक्त भाषाओं के आधार पर किया गया है। किन्तु ये प्राकृतें "संस्कृत वाक्यों का ही यत्किंचित् ध्वनि-परिवर्तन किया हुआ रूप" नहीं हैं। व्याकरण के अनेक रूप—जैसे द्विवचन का प्रयोग—प्राकृतों मे नहीं हैं। इस तरह की विशेषताएं संस्कृत और प्राकृत मे मौलिक व्याकरण भेद प्रकट नहीं करतीं, किन्तु वे आधुनिक भाषाओं की प्रकृति का आभास देती हैं। इससे भी महत्वपूर्ण तथ्य डॉ. चाटुर्ज्या के शब्दों मे यह है कि कारक-विभक्तियों के कई ऐसे रूप जो वैदिक या लौकिक संस्कृत मे नहीं हैं, "परन्तु आभाषा की विभिन्न प्रादेशिक बोलियों मे पाये जाते थे," वे मभाषा अर्थात् प्राकृतों मे सुरक्षित रहे। डॉ. चाटुर्ज्या की इस स्थापना का महत्व यह है कि वैदिक संस्कृत के समानान्तर

1. उप., पृष्ठ ३१।

उनमे मिलती-जुलती बोलियो की स्थिति स्वीकार की गयी है, उनमे ऐसे व्याकरणगत भेद स्वीकार किये गये है जो संस्कृत मे प्राप्त नहीं हैं। इसलिए अपभ्रंश काल मे देश की वास्तविक भाषाओं मे व्याकरणगत भेदो का अभाव महान् आश्चर्य की बात होगी। शब्द-भंडार की दृष्टि से भी प्राकृतो मे—नाटको की प्राकृत मे ही — अनेक ऐसे शब्द मिलते हैं जो संस्कृत के नहीं हैं किन्तु आधुनिक भाषाओं मे मिलते हैं। उदाहरण के लिए हिन्दी क्रिया मागना संस्कृत मे नही है। मृच्छकटिक मे रदनिका कहती है "तदो उण त मग्गन्तस्स" इत्यादि। इसका संस्कृत रूपान्तर दिया गया है, "ततः पुनस्तां याचमानस्य।" याचमानस्य से मग्गन्तस्स के बनने की सम्भावना नही है। हिन्दी क्रिया को प्राकृत की ध्वनि और व्याकरण के नियमो के अनुकूल बनाकर 'मग्गन्तस्स' रूप मे प्रस्तुत किया गया है। मुख्य बात यह है कि मग्ग धातु संस्कृत की नही है, प्राकृत मे प्रयुक्त हुई है और हिन्दी की एक प्रचलित क्रिया है। इसी प्रकार हिन्दी (ब्रज, आदि) का 'दीन' रूप। वही रदनिका इसका 'दिण्णा' रूप बोलती है। इसका संस्कृत रूप 'दत्ता' दिया गया है। द का दि कैसे हुआ ? त्ता की जगह ण्णा ने कैसे ली ? चारदत्त तो चारुदत्तो ही बना, अप्रमत्ता: अप्पमत्ता बना; तब दत्ता से दिण्णा कैसे हो जायगा ? स्पष्ट ही यह दीन की नकल है या उससे मिलता-जुलता कोई — संस्कृत दत्त से भिन्न — रूप है। इसी प्रकार युष्माक से तुम्हाण नही बन सकता। यहा तुम, तुम्हारा जैसे रूपो के आधार पर प्राकृत-व्याकरण के अनुकूल तुम्हाण रूप गढा गया है। यत्र से जत्त, जत भले बन जाय, 'जहि' नही बन सकता; मृच्छकटिक मे 'जहि' हिन्दी जहा, जहं आदि का सगोती है। इसी प्रकार उत्तररामचरित मे 'परुण्णो' का मूल 'प्ररुदितो' नही हो सकता। उसका सम्बध रोना या इससे मिलती-जुलती — किन्तु दकारहीन — धातु से है। प्राचीन वैयाकरण प्राकृत मे तद्भव रूपो के अलावा सकृतेतर 'देश्य' रूपो का अस्तित्व मानते थे। "भारतीय वय्याकरणो तथा आचार्यों द्वारा प्राकृत शब्द-समूह को तीन भागो मे विभाजित किया गया है—१. संस्कृत-तत्सम अथवा तत्सम, २ संस्कृत-भाव अथवा तद्भव, ३. देश्य अथवा देशी।"[१] देशी शब्दो की व्याख्या इस प्रकार है, "देशी वे शब्द हैं जो संस्कृत व्याकरण अथवा प्राकृत भाषा के नियमित रूपो के अनुसार सिद्ध नही किये जा सकते। उनमे प्रकृति और प्रत्यय का भेद नही किया जा सकता अथवा वे शब्द जो विकास के प्रारम्भिक काल से ही संस्कृत से असम्बद्ध रूप मे प्रयुक्त होते आये हैं।"[२] यह ध्यान देने की बात है कि विकास के प्रारम्भिक काल से

१. डॉ. सरयूप्रसाद अग्रवाल, प्राकृत विमर्श, लखनऊ, पृष्ठ ६४।
२. उप., पृष्ठ ६६।

हो कुछ शब्द — संस्कृत से असम्बद्ध रूपों में — प्रयुक्त होते आये हैं। इस प्रकार हिन्दी आदि भाषाओं के शब्द भंडार की प्राचीनता और स्वतन्त्र सत्ता प्रामाणिक रूप में स्वीकृत हुई।

जो शब्द संस्कृत और प्राकृत से सिद्ध न हों, उन्हें 'देशी' नाम देने से ऐसा बोध होता है कि स्वयं संस्कृत के शब्द परदेशी हैं। प्राचीन वैयाकरणों का यह आशय न था। देशी शब्द शिष्ट-जनों से भिन्न साधारण-जनों की भाषा के लिए प्रयुक्त होता था। लेकिन वे तमाम शब्द जो संस्कृत में गृहीत हैं, 'देशी' भाषाओं में प्राचीन काल से ही न बोले जाते थे, इसका क्या प्रमाण है? उत्तर भारत की भाषाओं में जो संस्कृत के शब्द मिलते हैं, उन्हें हम संस्कृत से उधार ली हुई सम्पत्ति मानते हैं। यहां हम उन्नीसवीं सदी में या उससे पहले और बाद को भक्ति, दर्शन आदि की चर्चा के लिए संस्कृत से उधार लिए हुए शब्दों का विवेचन नहीं करते। हमारा आशय मूल शब्द-भंडार से है। जैसे संस्कृत में दुह् धातु है। हिन्दी-भाषी क्षेत्र की बात करें। यहां के लोग वैदिक, प्राकृत और अपभ्रंश काल में गायें दुहते थे। वे प्रत्येक काल में दुह् धातु का प्रयोग ही करते थे या उन्होंने दुहने जैसी क्रिया के लिए अपनी देशी धातु — वह जो भी रही हो — को छोड़कर तत्सम दुह को अपना लिया? इसी प्रकार चल् क्रिया; गाने के लिए गा, उत्पन्न करने के लिए जन् आदि। धातुओं के अलावा जल, नीर, पाताल, पवन, नदी, सागर, समुद्र, पर्वत, वन, जंगल, जन, धन, अन्तर, परन्तु, अंग, तन, काया, कथा, अधिक, देव, अमर, नरक, मन्त्र, पूजा, जीव, हल, हेतु, चर्चा, चतुर, चित्त, चोर, छटा, छाया, छवि, जय, तट, तार, लाल, तान, तिलक, तिल, दया, दान, दानव, धाम, धान, घोर, वीर, नगर, नाथ, नाम, नर, नारी, निकट, नील, नीच, नीति, राजा, प्रजा, सेना, पट, पति, पद, पार, पिंड, पुर, प्रभु, भगवान, फल, फेन, बल, बालक, बीज, बुद्धि, मन, मंदिर, महा, मुकुट, मूल, रंग, रथ, रस, राग, रुचि, रूप, रोग, लाभ, संकट, संगति, संग, सजन, संचय, समान, साहस, हानि, होली आदि सैकडों शब्द ऐसे हैं जो उत्तर प्रदेश की अनेक भाषाओं में — विशेषकर हिन्दी-भाषी क्षेत्र की भाषाओं या बोलियों में — बराबर बोले जाते रहे हैं। आधुनिक भाषाओं ने इन शब्दों को उधार नहीं लिया; वे उनके मूल शब्द-भंडार का अंश हैं। संस्कृत से उधार लेने का प्रश्न नहीं था; संस्कृत स्वयं विभिन्न जनपदीय भाषाओं के शब्दों से समृद्ध बनी थी। जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं, इस कारण उसमें दिन-अहन्, निशा-रात्रि, अद्-खाद्, धरा-भूमि, उदक-जल — एक ही अर्थ के वाचक अनेक शब्द मिलते हैं। यहां जलद, नीरद जैसे विशेषण रूप में गढ़े हुए शब्दों की चर्चा नहीं है। साथ ही वे सभी शब्द जिन्हें हम तद्भव कहते हैं, संस्कृत से हिन्दी आदि भाषाओं में नहीं आये। अनेक हिन्दी

...[illegible] हिन्दी की अपनी प्रकृत
... उनके पूर्व का संस्कृत के शब्द बोली [illegible] कमजोर भाषाओं
...न थे। यह सब बातें [illegible] हो चुकी है। यहां उनको और संकेत करना
आवश्यक है।

हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं की इस प्रगति को अस्वीकार करके
भाषाशास्त्री इन भाषाओं को [illegible] घोषित करते हैं। उनका दावा
...इन भाषाओं में जो कुछ महत्त्वपूर्ण है, वह संस्कृत की देन है और भविष्य
...इन्हें महत्त्व बनाने का एक ही ढंग है कि उन्हें अधिकाधिक संस्कृत-
...त किया जाय। नभाषा की प्रारम्भिक अवस्था कैसी थी? "(प्राभाषा
...ल उपादानों पर ही आश्रित) वास्तविक नभाषा तो बिलकुल क्षीणभाषा
...थी अपने-आप स्वतन्त्र रूप से जीवित भी नहीं रह सकती।" महाबलवती
...त माता ने ऐसी निर्बल पुत्रियां उत्पन्न की। अब वे माता के भरोसे ही
...वत रह सकती थीं। "परन्तु माता पुत्री को शक्ति प्रदान करने के लिए
...सदा कटिबद्ध थी, और नभाषा ने संस्कृत के सुसमृद्ध कोष से ही अपना
...भंडार भरना आरम्भ कर दिया। इसके सिवा और कोई चारा ही न
...।" जिस भाषा में जितने ही संस्कृत के शब्द हों, उसका सांस्कृतिक धरातल
...उतना ही ऊंचा माना जायगा। "किसी भाषा के अन्तर्गत संस्कृत शब्दों का
...माण उसकी संस्कृति के अनुरूप ही रहा।" यदि किसी भाषा में संस्कृत
...दों की बेहद हमसटाम की जायगी तो उस भाषा का अस्तित्व ही खतरे में
...जायगा। "परन्तु केवल अपने इतिहास के लिए ही एक भाषा का अस्तित्व
...होता; उपर्युक्त क्रमागत संस्कृतीकरण को लेकर ही विभिन्न नभाषा
...षाओं का सांस्कृतिक एकीकरण इतना होता रहा, एवं उनके आर्यत्व की
...य की सुरक्षा हुई।" भारत की सांस्कृतिक एकता का अर्थ हुआ आर्यत्व
...सुरक्षा! भारत की दो भाषाएं जिनमें संस्कृत शब्दावली का बाहुल्य है,
...त के पूर्वी और दक्षिणी छोरों पर बोली जाती हैं—एक पूर्वी और
...चमी बंगाल में, दूसरी केरल में। ये भाषाएं संस्कृत से इतनी दूर हैं कि
...में लिंगभेद नहीं है। मानो इस दूरी को उन्होंने संस्कृत शब्दों की बहुलता
...पूरा कर लिया है। "हिन्दुओं के लिए 'उच्च' या 'साधु' या 'नागरी'
...दी में सबसे बड़ा आकर्षण" क्या है? सबसे बड़ा आकर्षण है देवनागरी
...पि और संस्कृत शब्दावली। इन दोनों से हिन्दी "देवभाषा संस्कृत का ही
...धुनिक प्रचलित रूप सिद्ध हो जाती है।" इस देवभाषा के आधुनिक
...करण को क्यों स्वीकार करना चाहिए? "हिन्दू नेतागण इस बात को
...च्छी तरह समझते हैं कि भारतीय देशज नागरी लिपि के स्वीकार हो जाने
...बाद संस्कृत शब्दावली तथा हिन्दू या भारतीय वातावरण का आना सहज

ा।" कुछ लोगों को हिन्दी का इस प्रकार संस्कृतगा...
। इनके प्रयत्नों को क्या कहा जाय ? "हिन्दी के संस्कृत उपादान
म करने की प्रवृत्ति भारतीय परम्परा एवं भारतीय संस्कृति पर
त-सा है।" यदि हिन्दी से इन संस्कृत-उपादानों को कम करने
किया गया तो "कम-से-कम हिन्दुओं के लिए तो प्रॉफेसर के
वल्यू. टॉमस के सुझाव का अनुसरण करना ही श्रेयस्कर होगा।
: जब कि संस्कृत भाषा लगातार तीस शताब्दियों से भारतीय संस्कृति
करती आ रही है, और अब भारत की सर्वाधिक मूल्यवान रिक्थ
तो क्यों न संस्कृत को ही भारत की 'सांस्कृतिक भाषा', 'आदान-
मेल-मिलाप) की भाषा' एवं 'वास्तविक राष्ट्रभाषा' बना लिया
" यह ठीक है कि भारत की आधुनिक भाषाओं में थोड़ा-बहुत साहित्य
या है लेकिन "संस्कृत भारतीय संस्कृति की एकमात्र प्रतीक है।"
ारत से बाहर इस आर्य संस्कृति की उपासना पर दृष्टिपात कीजिए:
ी (Nazi) लोग अपने नार्डिक जात्यभिमान में भी अपनी विशिष्टता
तीक को संस्कृत शब्द 'स्वस्तिक' से ही पुकारते हैं—एक शब्द जो
ाग्रा काल से पीढ़ियों से हमारा है और जिसका नभाषा रूप 'साथिया'
'साथियो' क्रमशः राजस्थानी और गुजराती में अब भी प्रचलित है। इसके
आगे, वे अपने को 'आर्य' कहलाने में अभिमान अनुभव करते हैं, तथा
ूदियों को अनार्य कहकर घृणा की दृष्टि से देखते हैं। परन्तु स्वयं भारत में
ाधुनिक भारतीय बुद्धिजीवियों में इस महान् रिक्थ के प्रति उपेक्षा का एक
ड्यन्त्र-सा खड़ा हो रहा है।" भारत के सर्वश्रेष्ठ भाषाशास्त्री की इन स्थाप-
ाओं की यहां आलोचना करना आवश्यक नहीं है। ये उद्धरण केवल इसलिए
दिये गये हैं कि मेरे अनेक मित्र जो कुछ नामों से बहुत ज्यादा प्रभावित है,
इस बात को समझ लें कि विचारक का सामाजिक दृष्टिकोण हर विज्ञान के
तरह भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में भी उसके विवेचन को प्रभावित करता है
संस्कृत किसी आर्य नाम की नस्ल की भाषा नहीं है। उसके निर्माण में ...
भाषा-परिवारों का योग रहा है। उसमें अध्यात्मवाद से लेकर भौतिकवाद
विभिन्न दृष्टिकोण रखनेवाले विचारकों ने साहित्य रचा है। भारत के ...
युग की मूल्यवान विरासत संस्कृत में सुरक्षित है। किन्तु संस्कृत भा...
एकमात्र भाषा कभी नहीं रही। नवीन जातियों के अभ्युत्थान के साथ
बोलियां साहित्य की भाषाएं बनीं। इन भाषाओं की अपनी समृद्ध ...
भारतीय संस्कृति संस्कृत, और संस्कृत से भिन्न दोष सभी भारतीय
से प्राप्त उपकरणों से रची गयी है। भाषा के सिलसिले में धर्म और
दुहाई देना समाज की चरम प्रतिक्रियावादी शक्तियों का काम रहा है

सस्कृत-परिवार की आधुनिक भाषाओं का निर्माण सबसे पहले उन तत्वों से हुआ है जो सस्कृत के समानान्तर बोली जाने वाली भाषाओ मे प्राप्त थे। इन तत्वो मे कुछ सस्कृत मे सामान्य रूप से विद्यमान थे—यथा तकारान्त वर्तमान क्रिया रूप, शब्द भडार मे जन, वन, मन जैसे शब्द; कुछ तत्व भिन्न होते हुए भी मिलते-जुलते थे—यथा दा-दे, स्वप्-सो, खाद्-खा; कुछ तत्व जनपदीय भाषाओ मे सस्कृत से स्वतन्त्र थे, यथा लकारान्त भूतकालीन क्रिया-रूप; इसके साथ ही सस्कृत के परिनिष्ठित भाषा बन जाने के बाद समय-समय पर साहित्यक भाषाओ मे तत्सम रूप ग्रहण किये जाते रहे हैं जिनका अर्थ हर भारतीय भाषा मे सदा एक सा नही रहा। जिन्हे हम तद्भव रूप कहते हैं, उनमे दो स्रोतो से आये हुए शब्द होने चाहिएं—एक तो सस्कृत से, दूसरे सस्कृत के साथ की जनपदीय बोलियो से। जिस तरह बोलचाल मे व्यवहृत मन, जन, वन जैसे तत्सम रूपों को हम सदा सस्कृत से आया हुआ नही मान सकते, उन्हे सस्कृत के साथ की अन्य जनपदीय भाषाओ की सामान्य सम्पत्ति मानना ज्यादा उचित होगा, उसी प्रकार तद्भव रूप भी इस सामान्य सम्पत्ति से बने होगे, यह अनुमान तर्क-सगत है। इन तद्भव रूपो मे विशेष रूप से ऐसे शब्द, जिनका किसान जीवन से सम्बध है या जो अशिक्षित जन-साधारण के व्यवहार मे बराबर आते रहे हैं, उसी सामान्य सम्पत्ति के अन्तर्गत माने जायेंगे। मराठी-बगला-हिन्दी-पजाबी-कश्मीरी आदि मे मूल शब्द-भडार के अन्तर्गत शब्दो की बहुत बडी समानता है। इस समानता का कारण यह नही है कि मुट्ठी भर सस्कृतज्ञ पडितो द्वारा ये शब्द जन-साधारण मे बंगाल से कश्मीर और कश्मीर से महाराष्ट्र तक फैला दिये गये। इसका कारण सस्कृत के परिनिष्ठित भाषा बनने से पहले ही उन प्रदेशो मे उनका चलन होना चाहिए (या उन प्रदेशो मे आकर बसने वाली जातियो मे उनका चलन होना चाहिए)। आधुनिक भाषाओ मे अक्सर एक ही शब्द तद्भव और तत्सम रूपों मे मिलता है। ऐसे भिन्न रूप पहले भी प्रचलित रहे होगे। इसका कारण समाज मे वर्गभेद, शिक्षा मे भिन्नता, पडितों और जन-साधारण मे उच्चारण-भेद है। यह भेद सामन्ती युग मे बराबर रहा, इसलिए एक ही शब्द के दो-दो रूप भाषा मे स्वीकृत हो गये। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि प्राकृत या अपभ्रंश का तद्भवी उच्चारण कभी पूरे समाज मे प्रचलित न रहा होगा; तद्भव रूपो के साथ शिक्षित जन तत्सम रूपों का भी प्रयोग करते रहे होगे।

यहां परिनिष्ठित सस्कृत के बारे मे एक बात याद रखनी चाहिए। संस्कृत को परिनिष्ठित भाषा बनाया गया था उसकी समानान्तर जनपदीय भाषाओं के बीच मे, न कि प्राकृतो से भिन्नता दिखाने के लिए उसके संस्कार किये गये थे। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के अनुसार "वेद या छान्दस की भाषा का जितना प्रवाह

पुरानी प्राकृत से है उतना संस्कृत से नहीं। संस्कृत में आना हुआ पानी हो लिया गया है।" गुलेरी जी संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश की मंजिलों के बदले मूल-भाषा छान्दस् (वेद) की भाषा-प्राकृत-अपभ्रंश—ये मंजिलें मानते हैं। संस्कृत नाटकों की प्राकृत को वे शुद्ध प्राकृत का नमूना नहीं मानते। नाटकों की प्राकृत को उन्होंने शुद्ध मागधी कहा है। पुरानी अपभ्रंश को संस्कृत और प्राकृत से मिलता-जुलता बताया है और पिछली अपभ्रंश को हिन्दी से। उनकी इन स्थापनाओं में महत्वपूर्ण है वैदिक और लौकिक संस्कृत से सम्बन्धित स्थापना। वे वैदिक भाषा को अकृत्रिम—बोलचाल की—भाषा मानते हैं; संस्कृत को उसका परिष्कृत रूप। जिन्हें हम प्राकृत कहते हैं, वे जितना संस्कृत से दूर हैं, उससे कहीं ज्यादा वैदिक भाषा से दूर हैं। कारण यह कि प्राकृतों का निर्माण लौकिक संस्कृत के आधार पर किया गया है वैदिक भाषा के आधार पर स्वतः नहीं हुआ।

संस्कृत-परिवार की भाषाओं में शब्द-भंडार और व्याकरण की अनेक ऐसी समानताएं हैं जो स्वयं संस्कृत में नहीं हैं। ये समानताएं या तो संस्कृत की समकक्ष जनपदीय बोलियों में थीं या किसी अन्य भाषा परिवार से थीं जिनसे उन जनपदीय बोलियों का मिश्रण हुआ। इस बात की आवश्यकता है कि भारतीय भाषाओं की इस संस्कृतेतर समानता का भी अध्ययन किया जाय। साथ ही इन भाषाओं की अपनी भाषागत विशेषताएं हैं, उनकी एक-एक बोली की व्याकरण और मूल शब्द-भंडार सम्बन्धी कुछ विशेषताएं हैं जो यहां एक-दो नहीं सैकड़ों बोलियों, भाषाओं और भाषाकुलों के मिश्रण की ओर संकेत करती हैं। उदाहरण के लिए, मराठी की चकार ध्वनि, हिन्दी में ड, ढ की ध्वनियां, भोजपुरी-बंगला में अ का न्यूनाधिक गोलाकार उच्चारण, एक ही काल के सूचक क्रिया-रूपों में बकारान्त, सकारान्त, हकारान्त, गकारान्त आदि भेद, शब्द भंडार में (बंगला-हिन्दी) चापी-किसान, दोहना-खड़े होना, घुमानो-सोना, खोका-बच्चा, बोका-मूर्ख, (मराठी-हिन्दी) कोल्हा-सियार, माकड़-बंदर, आई-माता, मुलगा-लड़का, निजणें-सोना, बघणें-देखना, इकडे-इधर, तिकडे-उधर, वर-पर, पुढें-आगे, इत्यादि भेद इन भाषाओं में भिन्न ध्वनि-प्रकृति, भिन्न भाव-प्रकृति और भिन्न शब्द-भंडार वाली भाषाओं के मिश्रण की सूचना देते हैं। अरबी, फारसी, तुर्की, पुर्तगाली, अंग्रेजी आदि से जो बाद को शब्द लिये गये हैं या ध्वनि आदि पर इन भाषाओं का जो प्रभाव पड़ा है, उस सबकी यहां चर्चा नहीं है।

ग्रियर्सन आदि विद्वानों ने कश्मीरी को संस्कृत भाषा परिवार के बाहर माना था। उन्हीं का अनुसरण करते हुए डॉ. चाटुर्ज्या ने लिखा है, "कश्मीरी ठीक-ठीक रूप से संस्कृत एवं भारतीय-आर्य समूह की भाषा नहीं, वरन् एक

दरदी भाषा है।" जिस समय देश के अन्य भागों में प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा अन्य और मध्य अवस्थाएँ पार कर रही थी, उस समय "इस पश्चिमोत्तरीय विभाग में केवल दरदी भाषाएँ प्रचलित रहीं।" लगता है पश्चिमोत्तरीय विभाग-अभिजनों में भिन्न परिवार की द्रविड़ भाषाएँ तो हिस्सा नहीं रहीं, कश्मीरी तो उनसे वंचित रही। फिर कश्मीरी को अन्य दरदी भाषाओं से अलग करके कहा गया है, "केवल कश्मीरी एक ऐसी भाषा है जिसका सम्बन्ध हिन्दू एवं बौद्ध धर्म के कारण हिंदू भारत तथा उसकी संस्कृत भाषा से सम्बद्ध रहा, इसके अतिरिक्त अन्य दरदी भाषाओं का भारत से सम्पर्क रहा प्रतीत नहीं होता और न उन पर भारतीय आर्य या मध्य-देशीय भारतीय (अर्थात् मिश्रित आर्य-अनार्य) प्रभाव ही पड़ा जान पड़ता है।"

जिस समय कश्मीर में बौद्ध और हिन्दू धर्मों का प्रभाव फैला था, उन्हीं दिनों उसकी भाषा को पैशाची — पिशाचों की भाषा — नाम दिया गया था। कहा जाता है कि गुणाढ्य की बृहत्कथा पैशाची में लिखी गयी थी। कश्मीर के क्षेमेन्द्र और सोमदेव ने उसके संस्कृत-अनुवाद किये। "कश्मीर का उत्तरी प्रान्त पिशाच (पिश् — कच्चा मांस, अश् — खाना) या पिशाच कहलाता था और कश्मीर ही में बृहत्कथा का अनुवाद मिलने से पैशाची वहां की भाषा मानी जाती थी।"[1] इस पिशाचवादी परम्परा को ग्रियर्सन आदि ने निबाहा। कश्मीरी से संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओं का सम्बंध दिलचस्प है। उसमें संस्कृत के वही उपकरण नहीं मिलते जो सांस्कृतिक कारणों से मलयालम जैसी भिन्न परिवार की भाषाओं में पहुंच गये हैं। कश्मीरी और संस्कृत में क्रियाएं और मूल शब्द-भंडार के बहुत से तत्व सामान्य हैं। यही नहीं, उसमें कुछ शब्दों के ऐसे अर्थ प्रचलित हैं जो संस्कृत में सुलभ नहीं हैं। वे उन शब्दों के मूल अर्थ मालूम होते हैं।

वैदिक भाषा में एक शब्द आता है — समन। इसके बारे में मैकडनल और कीथ ने "वैदिक इंडेक्स" में लिखा है कि "ऋग्वेद में इसका अर्थ कुछ संदिग्ध है।" उन्होंने रोथ का मत उद्धृत किया है जिसके अनुसार समन का अर्थ युद्ध है, पिशेल के अनुसार उसका अर्थ उत्सव-समारोह है, जिसमें युवतियां भाग लेती थीं और पति-निर्वाचन करती थीं। यह शब्द अभी तक संज्ञा-क्रिया दोनों रूपों में कश्मीरी में प्रयुक्त होता है। कश्मीरी कवि रहमान राही की एक रचना में :

"वल यार समो [समउ] दिलदार समो,
यमि यावन यिमि लकुचार समो।"

---

१. चन्द्रधर शर्मा, पुरानी हिन्दी, काशी, स. २००४, पृष्ठ ६।

गृहस्थ, कृषक; गीथ — गीत (उद्गीथ), गुठ — गोष्ठ, हांकल — शृंखला, हमुन — शमनम्, ह्रंग — शृंग, हापुथ — श्वापद (भालू), हरुद — शरद्, खीनि — क्षेत्र (खेत), मशुद् — श्रोषधि, कति — कुतः, मुदा — मोद, मुहुलु — मुसल, म्यथ्र् — मित्र, आदि संस्कृत-कश्मीरी शब्द-भंडार की निकटता सूचित करते हैं। कश्मीरी की ध्वनि-प्रकृति के अनुकूल संस्कृत के सैकड़ों शब्द उस भाषा में मिलते हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि यह संस्कृत परिवार की ही भाषा है। कश्मीरी के 'प्राकृत' और 'अपभ्रंश' रूप नहीं मिलते; उसे अखिल भारतीय आर्यभाषा विकासक्रम के बाहर रखा गया है। इसीलिए आधुनिक कश्मीरी के अध्ययन से यह परिणाम निकालना आसान है कि वह संस्कृत-परिवार की किसी प्राचीन भाषा का आधुनिक रूप है। कश्मीरी के अध्ययन से संस्कृत और स्लाव भाषा-परिवारों की अनेक गुत्थियां सुलझ सकती हैं।

भारतीय भाषाओं की अनेक समानताएं संस्कृत से भिन्न स्तर की भी हैं। कश्मीरी के अनेक शब्द हिन्दी और उसकी बोलियों में भी मिलते हैं। यहां हम उर्दू के प्रभाव से कश्मीर में बोले जानेवाले सामान्य शब्दों की बात नहीं कर रहे; यहां आशय है भाषा के ठेठ शब्दों से। दिवाली में अवध के किसान सन के सूखे पौधों (सेल्हों) के छोटे-छोटे पूलों का एक सिरा जलाकर गांव के बाहर सर के ऊपर घुमाते हैं और "अलैया-बलैया अमुक स्थान के बाड़े" कहते हैं, अर्थात् अलाय-बलाय गांव के बाहर हो। अलाय्-बलाय् कश्मीरी में भी है। ग्रियर्सन द्वारा सम्पादित कश्मीरी शब्दकोष में इसका अर्थ दिया है — स्त्रियों द्वारा थाली में जलते दीप घुमाकर अशुभ प्रभाव से बच्चों आदि को मुक्त करना। बलाय का सम्बंध बला से है; अलाय-बलाय का सम्बंध आलिंगी-विलंगी से जोड़ा गया है। हमें यहां अलाय पर ध्यान देना है। कश्मीरी-अवधी दोनों में अलाय के साथ जलती आग का सम्बंध है। हिन्दी क्षेत्र की अनेक बोलियों में प्रचलित अलाव शब्द लीजिए। इसका भी अर्थ वही है और इसी अर्थ में यह कश्मीरी में भी प्रयुक्त होता है। अलाव का अल निश्चित रूप से अग्निवाचक शब्द है। वही अलाय में है। संस्कृत अल् धातु — रोकने, दूर करने के अर्थ में — कश्मीरी आलवुन् से मिलती है। आलवुन्, आलविथ् का अर्थ सिर के ऊपर हाथ हिलाकर प्रेत-बाधा दूर करना है। अल, आलवुन् आदि का यह अर्थ उनमें मूल अग्निवाचक अल् के समर्ग से उत्पन्न हुआ है।

कश्मीरी 'अखहार' का अर्थ है अखाड़ा। यह 'हार' हर से सम्बंधित जान पड़ता है जिसका अर्थ है लड़ना, झगड़ा करना। हरिवाद — झगड़ालू, हरबोलु — झगड़ा कराता हुआ; इनसे तुलना करनी चाहिए हिन्दी शब्द 'हड़बोंग' की। सम्भव है अखाड़ा इस हर शब्द से बना हो। हिन्दी अधेला कश्मीरी में 'अदि-हुत्रु' है, हुत्रु का अर्थ है सौ कौड़िया, सौ की आधी — पचास कौड़िया

— हुई घटं-एम्, घोना। डूबने के लिए अवधी बूड़ब के समान कश्मीरी क्रिया है ब्युडुन। कम उम्र की या अपनी उम्र की लड़की से पुरुष कहेगा विश्, या बिजू जो बुंदेलखंडी बिन्नू से बहुत मिलता है। हिन्दी शब्दों में जहां प्रतिम वर्ण 'न' होगा वहां कश्मीरी में अक्सर 'ज' होगा, यथा अरनिकाठ — अरणि-काष्ठम्। अवधी में कंडों के ढेर को बठिया कहते हैं; इसी अर्थ में कश्मीरी बठु का प्रयोग होता है। हिन्दी शब्द गड्डुवा का समरूप कश्मीरी गड्डुव है। अवधी में पशुओं को बांधने की जगह को ग्वांडा कहते हैं। कश्मीरी में खण्ड गांव को कहते हैं। कश्मीरी में घोड़े के लिए गुरु शब्द है। घोटक के बदले यह सीधे तेलुगु गुर्रमु से सम्बंधित है। हिन्दी हथौड़े का समरूप कश्मीरी हथोर है। खलिहान का पर्यायवाची कश्मीरी खल् हिन्दी शब्द की व्युत्पत्ति सूचित करता है। हिन्दी महाऊ कश्मीरी में खात्र है। गेहूं के लिए एक शब्द है कनुक; हिन्दी नाम कनखल इस प्रकार सार्थक होता है। पेड़ के तने या शाखा को लंग कहते हैं। बंगला 'लांगल' (हल) और संस्कृत 'लिंग' को आस्त्रिक परिवार के लंग शब्द से जोड़ा गया है।[1] लंग आस्त्रिक परिवार का हो चाहे न हो, वह कश्मीर और बंगाल जैसे सुदूर प्रदेशों में प्राप्त है। लंग और लिंग का सम्बंध दिलचस्प है। हल का काम वृक्ष की डाली से लिया गया और यह हल प्रजनन क्रिया का प्रतीक बनकर लिंगवाचक हो गया। इसी पद्धति से कश्मीरी लड़ शब्द शाखा, बाहें या पैर के लिए प्रयुक्त होता है। उसीसे उसके समरूप लिंगवाचक हिन्दी शब्द की उत्पत्ति मानी जा सकती है।

हिन्दी और कश्मीरी के और बहुत से साधारण शब्द सामान्य हैं। छान कश्मीरी में बढ़ई के लिए है; हमारे यहां उसका सम्बंध छाने से है। लकड़ी काटने के लिए बढ़ई आरा, आरी काम में लाते हैं। कश्मीरी में लट्ठे चीरने-वाला अरकश् कहलाता है। बखान करने के अर्थ में वखनुन्, लुनने (काटने) के लिए लोनवल्, बछेड़ा-बछेड़ी के लिए बछेर-बछीरि, भात खाना कश्मीरी में बतख्यव् (अवधी भतखवा), छथ् (छत), छपर्, ढेकली (पानी भरने का यंत्र, अवधी ढेकली), कुर्कट्ठ (कर्कट, कूड़ा), ल्वहु-लगर (लोहा-लंगर), इस तरह के बहुत से शब्द कश्मीरी-हिन्दी में सामान्य हैं।

कश्मीरी की वाक्य-रचना संस्कृत-परिवार की भाषाओं से कुछ बातों में भिन्न है। कशीर छु स्वन्दर देश — कश्मीर सुन्दर प्रदेश है, हिन्दी में है (छु) क्रिया वाक्य के अन्त में आयी; कश्मीरी में कर्ता के बाद ही, सुन्दर देश से पहले। ब्य छु न ब्रछ — मैं हूं नहीं भूखा; यह वाक्य-रचना अंग्रेजी से मिलती है, आई

---

१. सिल्वे लेवी, प्रजिलुस्की और ब्लाक : प्रिआर्यन ऐंड प्रि-ड्रैविडियन, कलकत्ता, १९२९।

लिया गया, वे अपभ्रंश से पहले के हैं या बाद के? श्री नामवर सिंह के शब्दों में "अपभ्रंश का ध्वनि-विचार प्राकृत से प्रभावित था किन्तु उसका व्याकरण प्राकृत-प्रभाव से मुक्त होकर लोक-बोलियों के सहारे भारतीय आर्य-भाषा के विकास की नूतन संभावनाएं प्रकट कर रहा था।" लोक-बोलियों के 'सहारे' जिस भाषा का व्याकरण प्राकृत-प्रभाव से मुक्त हो रहा था, वह भाषा उन लोक-बोलियों की जननी कैसे हो गयी? स्पष्ट ही लोक-बोलियां पहले थीं, अपभ्रंश ने उनका सहारा लेना बाद को शुरू किया। आगे भी लिखा है, "परिनिष्ठित अपभ्रंश में आधुनिक देशी बोलियों के मिश्रण का आभास हेमचन्द्र के प्राकृत-व्याकरण के रचना-काल से ही मिलने लगता है।" अपभ्रंश 'में' देशी बोलियों का मिश्रण हुआ; अपभ्रंश 'से' देशी बोलियों का जन्म नहीं हुआ।

अपभ्रंश से आधुनिक भाषाओं के जन्म के इस विवेचन में सबसे रोचक तथ्य यह है कि आधुनिक हिन्दी के व्याकरण-रूपों का पता अपभ्रंश में कहीं नहीं लगा! अपभ्रंश है तो उत्तर-पश्चिम की भाषा लेकिन उसमें व्याकरण रूप हैं पूर्व के! पहली स्थापना अपभ्रंश के मूलाधार के बारे में यह है— "इस परिनिष्ठित अपभ्रंश का मूल आधार पश्चिमी प्रदेशों की बोली थी।" अब देखिए इस पश्चिमी बोली में वर्तमान पश्चिमी भाषाओं के रूप कैसे नहीं मिलते। दूसरी स्थापना है हिन्दी क्रिया 'है' के बारे में। अस् धातु से इसके अस्ति, असति, अछइ, अहइ, अहे, है—इन अवस्थाओं की कल्पना की गयी है। "इनमें से अपभ्रंश में है, अहे और अहइ में से कोई भी रूप प्राप्त नहीं होता।" पश्चिमी प्रदेशों—खड़ी बोली क्षेत्र—की विशेष क्रिया 'है' का अपभ्रंश में पता नहीं है। तीसरी स्थापना 'था' के बारे में—"था वाले रूप अपभ्रंश से लेकर ब्रजभाषा तक कहीं नहीं मिलते।" था भी नदारद! चौथी स्थापना भविष्यवाचक—'गा' के सम्बंध में—"अपभ्रंश में भविष्यत् काल बनाने वाली सहायक क्रिया 'होगा' अथवा उसकी तरह का कोई रूप नहीं मिलता।" वर्तमान, भूत, भविष्य के है, था, गा में एक भी अपभ्रंश में प्राप्त नहीं हुआ! इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया गया है कि "अवधी के ग्रंथों में भी इसका (गा का) प्रयोग नहीं हुआ है।" अवधी में 'गा' का प्रयोग आज तक नहीं होता। अवधी के ग्रंथों में वह नहीं मिलता, तो आश्चर्य का कोई कारण नहीं। इस बात पर अवश्य आश्चर्य प्रकट करना चाहिए कि पश्चिमोत्तर प्रदेश की संस्कृत में जिस कर्तव्य वाले तव्यत् प्रत्यय का इतना चलन था, उसने पूरबी बोलियों को ही करब, देखब, पढब जैसे रूप दिये, खड़ी बोली में अपनी छाया भी न छोड़ी। पांचवीं स्थापना हिन्दी के "करता है, जाता है" जैसे रूपों से सम्बन्धित है— "अपभ्रंश में सामान्यतः सामान्य वर्तमान काल के रूप निम्नलिखित प्रकार के होते हैं:

	एक वचन	बहुवचन
प्र. पु.	करइ	करहिं
म. पु.	करहि	करहु
उ. पु.	करउं	करहुं ।"

हिन्दी के वर्तमान काल वाले—करता है, जाता है—रूप यहां भी नहीं हैं। छठी स्थापना पूर्वकालिक कृदन्त के बारे मे—"इ प्रत्यय का ही विशेष चलन दिखाई पड़ता है, जैसे कर+इ=करि।" हिन्दी में होगा 'कर'। यह रूप भी अपभ्रंश मे नहीं है।

अन्य स्थापनाएं। अपभ्रंश में हिन्दी सर्वनाम 'मैं' का प्रायः अभाव है। "हउं और हौं—उत्तम पुरुष, एकवचन, कर्ताकारक मे अपभ्रंश मे अधिकांशतः इसी का प्रयोग मिलता है। आगे चलकर अवधी और व्रजभाषा मे भी इसका प्रचलन रहा; परन्तु खड़ी बोली मे इसका प्रयोग बंद हो गया।" बंद हो गया! मानो यह स्वतः सिद्ध सत्य हो कि खड़ी बोली मे पहले मैं की जगह लोग हौं ही बोलते थे। अपभ्रंश मे जहां मइं का प्रयोग मिलता है, वहां 'ने' का अभाव है। "अपभ्रंश के मइं के साथ कोई परसर्ग नहीं लगता था, लेकिन खड़ी बोली मे भूतकालिक सकर्मक क्रिया के सभी कर्ताओं की भांति मैं मे भी ने परसर्ग लगने लगा।" मानो 'ने' लगाने का अचानक इलहाम हुआ हो! गुजराती, पंजाबी, राजस्थानी, खड़ी बोली के इस लोकप्रिय 'ने' को पश्चिमोत्तर प्रदेश की मूलभाषा मे स्थान ही न मिला। इसी प्रकार 'मैं' का हाल है। "आगे चलकर व्रजभाषा और खड़ी बोली मे मंह का 'ह' लुप्त हो गया।" और उससे बना मे। लेकिन महं और मांह के भी दर्शन अपभ्रंश मे कम होते हैं—"मांह, महं—अपभ्रंश और परवर्ती अपभ्रंश मे इनके प्रयोग प्रायः नहीं मिलते।"

हिन्दी के मुख्य क्रियारूप, 'परसर्ग', सर्वनाम आदि अपभ्रंश मे नहीं—या प्रायः नहीं—मिलते। भले ही अपभ्रंश पछांह की बोली रही हो, उसमे जो रूप मिलते हैं, वे अधिकतर पूरब के हैं। खड़ी बोली की व्याकरण-व्यवस्था अपभ्रंश से उत्पन्न हुई, यह किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता। इस बात को अनेक पंडित पहले भी मान चुके थे। फिर भी उत्साही अनुसंधानकर्ता 'हिन्दी' के विकास मे अपभ्रंश का योग सिद्ध ही कर देते हैं। जैसे 'हिन्दी' शब्द काफी लचीला है, वैसे ही कुछ व्याकरण रूप भी काफी लचीले जान पड़ते हैं। कर्म और सम्प्रदान कारकों के उदाहरणों मे तुलसी की यह पंक्ति उद्धृत है—करौं भरोसो का को; का को मानौं किसका। सम्भव है 'देहि' मे 'को' की उत्पत्ति दिखाने का। सम्बन्धकारक 'को' कर्म और सम्प्रदानकारकों का चिन्ह मान लिया गया है! सामान्य वर्तमान काल के उदाहरणों मे "बसौं

ब्रज गोकुल गांव के ग्वालन," "जो जग और कियो हो पाऊं" आदि पंक्तियों
अद्भुत की गयी है। मैं बनूं, यदि मैं पाऊं, आदि का अर्थ बनता हूं, पाता हूं नहीं
है। ब्रजभाषा और खड़ी बोली के साहित्यिक विकास को आपसगत विरोध
समझ लिया गया है। ब्रजभाषा में साहित्य पहले रचा गया, इसलिए मान
लिया गया कि यह भाषा भी खड़ी बोली से पहले रची गयी! करता है, करते
हैं, कर अपभ्रंश में मिलते नहीं हैं, इसलिए ब्रजभाषा का हवाला देकर लिखा
है, "यह प्रवृत्ति ब्रजभाषा में ही जोर पकड़ गयी थी।" इसी तरह लिखा था,
किये गये रूप—"खड़ी बोली के ये रूप ब्रजभाषा काल से ही चले आ रहे
हैं।" ब्रजभाषा का प्रमाण काल है; खड़ी बोली के आपसगत विकास का
काल उसके बाद का है। ब्रजभाषा से प्रमाण रूप जो उदाहरण दिये गये हैं—
गई हुती, हो आयो—ये खड़ी बोली के ही रूप किस प्रकार हैं, यह प्रश्न
अलग है।

अपभ्रंश साहित्य १४वीं शताब्दी तक रचा जाता रहा है। श्री अगरचन्द नाहटा ने इधर परवर्ती अपभ्रंश साहित्य की कई गद्य-रचनाएं खोज निकाली हैं। १४वीं शताब्दी ईस्वी की एक ऐसी ही रचना षडावश्यक बालावबोध" की चर्चा की गयी है। तेरहवीं सदी के कवि नामदेव की रचनाओं में "फेरा पावेगा," "जन्म सीझगा" आदि 'गा' वाले रूप देख लीजिए।[1] १४वीं सदी के अन्त में दक्खिनी हिंदी के लेखक बन्दानवाज़ 'पछानेगा', 'बोलते हैं', 'समजत है' आदि रूपों का प्रयोग करते हैं। उत्तर से जाकर जो लोग दक्खिन में बसे थे, उन्होंने वहां अचानक नई भाषा को ईजाद न कर लिया होगा। चौदहवीं सदी में उन्होंने जिस भाषा को साहित्य के लिए इस्तेमाल किया, उसे उनके पुरखे—हिन्दू या मुसलमान—कुछ सदियों पहले तो बोलते ही रहे होंगे। जिसे अपभ्रंश काल कहा जाता है, उसमें 'दक्खिनी' हिन्दी खूब बोली जाती थी। वास्तव में तब वह उत्तरी हिन्दी थी, अर्थात् खड़ी बोली थी जिस पर राजस्थानी आदि अन्य बोलियों का असर भी था। चौदहवीं सदी के दक्खिनी लेखक बन्दानवाज़ के यहां खड़ी बोली के जो रूप मिलते हैं, वे उसी समय के उत्तरी अपभ्रंश लेखकों के यहां क्यों नहीं मिलते? उन्हें दो-चार सौ वर्ष पहले के अपभ्रंश लेखकों में भी कहीं न कहीं मिलना चाहिए। उत्तर के मुसलमान 'बोलते हैं', 'पछानेगा', 'समजता है' कहते हुए उत्तर से दक्खिन तक चले गये, लेकिन अपभ्रंश-लेखकों को इसकी खबर ही न हुई, न उनके पुरखों ने उन रूपों को सुना! अपभ्रंश में 'होगा' रूप न मिला, तो ऐसा प्रतीत होना चाहिए कि "यह पश्चिमी हिन्दी में सोलहवीं सदी के आसपास

---

१. श्रीराम शर्मा, दक्खिनी का पद्य और गद्य, हैदराबाद।

विकसित और प्रचलित हुआ।" ये सब भ्रान्तियां इसलिए हैं कि लेखक ने अपने मन मे पहले ही ते कर लिया है कि खड़ी बोली के व्याकरण-रूप अपभ्रंश से ही निकले हैं। यदि अपभ्रंश मे न मिलें तो यह मान लो कि वे बाद मे किसी प्रकार प्रकट हुए। जिस समय अपभ्रंश मे साहित्य रचा जा रहा था, उस समय की खड़ी बोली की रचनाएं मिलती हैं, उनमे अपभ्रंश मे अप्राप्त खड़ी बोली के व्याकरण रूप भी मिलते हैं, किन्तु यह सब सामग्री सामने रहते हुए भी लेखक अपभ्रंश के बारे मे सही निष्कर्ष नही निकाल पाता। इसका कारण उसका पूर्वाग्रह-दूषित दृष्टिकोण है।

खड़ी बोली पछाह की बोली है। अपभ्रंश से उसी का उद्भव सिद्ध नही किया जा सका, अन्य भारतीय भाषाओ का उद्भव उससे सिद्ध करना और भी कठिन है। मराठी भाषा पर अपने ग्रंथ मे ज्युल ब्लॉख आद्य, मध्य और नव्य वाला क्रम मान कर चले हैं, किन्तु उन्होने प्राकृतो के बारे मे लिखा है, "लौकिक संस्कृत के युग में भारत के विभिन्न प्रदेशो में कौन सी भाषाएं बोली जाती थी, इसके प्रत्यक्ष उदाहरण प्राकृतों मे ढूंढना व्यर्थ होगा। जबसे साहित्यकारो ने प्राकृतो मे लिखना शुरू किया, वे एक साहित्यिक और व्याकरणिक परम्परा मे कैद हो गये। नौ या दस शताब्दियों की अवधि मे प्राकृत ने कोई भी ऐसा परिवर्तन न दिखाया जिसे महत्वपूर्ण कहा जा सके।"[1] परम्परा के बंदी बनने की बात अपभ्रंशो पर भी लागू होती है। भाषा-विज्ञान का कोई भी पूर्वाग्रह-मुक्त विद्यार्थी प्राकृतो और अपभ्रंशो से आधुनिक भाषाओ का उद्भव सिद्ध करने मे कठिनाई का अनुभव करेगा। अपभ्रंश में अवधी आदि पूरबी बोलियो के भी सभी रूप नही मिलते, यह याद रखना चाहिए। प्राकृत के विपरीत वैदिक भाषा को बोलचाल की भाषा मानना चाहिए। जिस भाषा मे भी साहित्य रचा जाय, वह कृत्रिम होगी—यह तर्क असंगत है। वैदिक और लौकिक संस्कृत से हिंदी आदि आधुनिक भाषाओं का गहरा सम्बंध है। संस्कृत या उसके साथ की अन्य जनपदीय भाषाओ की अनेक धातुएं, मूल शब्द-भंडार के बहुत से शब्द, अनेक व्याकरण-रूप इन भाषाओ मे मिलते है। साथ ही आधुनिक भाषाओं की अपनी विशेषताएं हैं जो प्राचीन काल मे यहां बहुत सी भिन्न प्रकृति वाली भाषाओं और भाषा परिवारो के अस्तित्व की सूचना देती है। हिंदी के क्रिया-रूप संस्कृत से मिलते-जुलते हैं यद्यपि वे उनकी नकल नही है। कर्तव्य से करब, कृत से कल और किया, कर्ण से ने, कक्ष से को आदि रूप सिद्ध करने का प्रयत्न अवैज्ञानिक है। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान से हिंदी और उसके साथ की बोलियो के अनेक

---

१. ज्युल ब्लॉख, ला फॉर्मासियों द ला लांग मराट, पॅरिस, १९२०, पृष्ठ १५।

रूप काफी प्राचीन सिद्ध होते हैं। संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश की कड़ियों को
आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास की सही कड़ियाँ मानने के कारण
भाषाविद् शब्दों को तोड़-मरोड़ कर पेश करते हैं और उनसे व्यर्थ निष्कर्ष
निकालते हैं। यही कारण है कि अपभ्रंश को पश्चिमी बोली मानते हुए भी
वे वर्तमान पश्चिमी बोलियों के रूप उसमें नहीं दिखा पाते। खड़ीबोली
जैसी भाषा प्राकृत-परिवार की है। उसका विकास इस परिवार की अन्य
भाषाओं के समान ही हुआ है। प्राकृत के अलावा अन्य भारतीय भाषाओं से
भी उसका घनिष्ठ संबंध है। संस्कृत और आधुनिक भाषाओं की समानताओं
का काफी अध्ययन किया गया है जो उचित है। इसके साथ उनकी [illegible]
समानताओं का अध्ययन भी आवश्यक है। आधुनिक भाषाओं का जन्म
तब हुआ जब उनमें साहित्य रचा जाने लगा, इस धारणा को त्याग देना
चाहिए। प्राकृत-अपभ्रंश व आधुनिक भाषाओं के जो ग्रंथ हैं छन्द, व्याकरण
कोश आदि पाये गये हैं, उनसे लाभ उठाते हुए मुख्य रूप से प्राकृत-अपभ्रंश की
कड़ियों को अनिवार्य माने बिना ही आधुनिक भाषाओं का अध्ययन करना
चाहिए।

नवां अध्याय

परिनिष्ठित संस्कृत और आधुनिक भाषाएं

जब हम आधुनिक भाषाओं की प्राचीनता की बात करते हैं, तब उसका अर्थ यह न लेना चाहिए कि वे आज के ही रूप में किसी विशाल प्रदेश में बोली जाती थीं। हमारा तात्पर्य केवल इतना है कि उनके शब्द-भंडार, व्याकरण और ध्वनि के मूल-तत्व उस समय भी उपलब्ध थे। दस या बारह कोस पर बोली बदलने का सिद्धांत उतना ही पुराना समझना चाहिए जितना कि बोलियों को। प्राचीन काल में बोलियों की बहुलता अब से ज्यादा भले रही हो, कम नहीं थी। बीते युगों की परिनिष्ठित भाषाओं में इन बोलियों के चिह्न मिलते हैं। इनके निर्माण में एक से अधिक भाषा-परिवारों का योग रहा है। बोलियां लहरों की तरह हैं। प्रत्येक लहर का दायरा दस-बारह कोस का हुआ। इनमें जब कोई एक बोली भाषा बन कर बारह कोस की जगह बारह सौ कोस का दायरा घेर लेती है, तब वे बोलियां समाप्त नहीं हो जातीं। भाषा के साथ उनका शान्ति-(या अशान्ति) पूर्ण सह-अस्तित्व बना रहता है। बोली के सीमित क्षेत्र से बाहर भाषा सामान्य सांस्कृतिक और सामाजिक व्यवहार में काम आती है; बोली अपने सीमित क्षेत्र में दैनिक जीवन के नित्य व्यवहार में प्रयुक्त होती है। हम जिन जनपदीय भाषाओं से आधुनिक भाषाओं का उद्भव और विकास मानते हैं, वे अधिकतर परिनिष्ठित भाषाएं न होकर बोलियों का समूह थीं। इन बोलियों की स्थिर और निश्चित सीमाएं न थीं; सीमाएं—लहरों की तरह—बनती और बिगड़ती रहती थीं। खड़ी बोली का शिष्ट रूप अब स्थिर हो गया है (या प्राय: स्थिर हो गया है)। उससे पुरानी (या वर्तमान) दकनी की तुलना करने से लगता है, यह दकनी अजीब खिचड़ी बोली है। "उसमें अवधी, ब्रज-भाषा और खड़ी बोली तथा राजस्थानी, पंजाबी आदि दूसरी अनेक बोलियों का मिश्रण है।"[1] और यह राजस्थानी, पंजाबी, अवधी आदि क्या हैं? ये भी अनेक बोलियों के समूह

---

१. हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृष्ठ ६६।

है। बोलियों की बहुलता न समझने के कारण किसी भाषा-परिवार की
भाषा की कल्पना की जाती है। द्वंद्व के बिना गति असंभव है। यदि
भाषा अद्वैत ब्रह्म के समान अखंड इकाई हो, तो वह ब्रह्म के समान
सनातन, अपरिवर्तनशील बनी रहे। वह आदि भाषा माया द्वारा
भाषाओं के रूप धारण नहीं करती — अपनी लीला दिखाने के लिए वह
पंजाबी, ब्रजभाषा और हिंदी नहीं बनती, न इसी भांति संस्कृत ने अनु
लोक भाषाओं का रूप लिया है। जैसे आदि मानव की उत्पत्ति के लिए
दो व्यक्तियों की जरूरत थी — एक जनक, दूसरा जननी, उसी प्रकार भा
के विकास के लिए प्रारंभ में ही एक से अधिक मानव-समूहों की कल्प
करनी होगी जिनके परस्पर अन्तर्विरोध से भाषाओं में परिवर्तन संभव हुआ
एक भाषा में भी अन्तर्विरोध हो सकते हैं जिनसे उसकी प्रगति संभव हो
इनकी चर्चा हम आगे करेंगे। एक अन्तर्विरोध जो काफी पहले दिखाई दे
है, वह बोली और भाषा से सम्बधित है। अनेक बोलियों के रूप में ही कि
एक भाषा का अस्तित्व दिखाई देता है। इन्हीं में से कोई एक बोली परि
निश्चित भाषा का रूप धारण करती है।

प्राचीन कबीलों के बारे में हम सोचते हैं कि किसी एक कबीले की भाष
ध्वनि, व्याकरण, शब्द-भंडार आदि में बिल्कुल एक सी होगी। पूरा कबील
एक ही गाव में बसा हो, तब तो उसके नित्यप्रति सम्पर्क के कारण ऐसी
समानता हो सकती है। किन्तु कबीले एक से अधिक गांवों में बसे होते हैं या
एक से अधिक टुकड़ियों में घुमन्तू जीवन बिताते हैं। उनकी बोलियों में थोड़ा
बहुत भेद होना स्वाभाविक है। इन अनेक भेदों के ऊपर जब एक या अनेक
कबीले भाषा-सम्बधी अभेद कायम करते हैं, जब वे किसी ऐसी बोली को
अपनाते हैं जो अन्य सभी बोली बोलने वालों के लिए मान्य हो, तब इसके
महत्वपूर्ण सामाजिक कारण होते हैं। यदि कोई कबीला बहुत शक्तिशाली
है, वह दूसरे कबीलों को दबा कर अपने अधीन रखता है, तो उसकी बोली
को दूसरे कबीले सामान्य भाषा के रूप में अपनायेंगे। यदि अनेक कबीलों ने
अपना कोई सघ बनाया है, तो वे आत्मरक्षा, आक्रमण आदि के लिए अपने मे
से किसी एक की भाषा को सामान्य व्यवहार के लिए चुनेंगे। व्यापार और
विनिमय की आवश्यकताओं के लिए भी इसी प्रकार किसी एक कबीले की
भाषा अपनायी जा सकती है। पहले हम देख चुके हैं कि एथेंस की भाषा यूनानी
जनों के परस्पर आदान-प्रदान की भाषा बनी। इसी प्रकार भरत या कुरुजन
की बोली के आधार पर संस्कृत का विकास हुआ और वह विभिन्न जनपदों के
व्यवहार की भाषा बनी।

बोलियों के बीच में भाषा का उत्थान, छोटे-छोटे दायरों में बोली जाने-

राजन्य वर्ग का निर्माण होता है। कुल से अलग व्यक्ति का अस्तित्व नहीं होता; इसलिए 'व्यक्तिगत सम्पत्ति' पहले 'कुलगत सम्पत्ति' ही होती है। एंगेल्स ने होमर की गाथाओं में वर्णित वीरों को बर्बर अवस्था की अंतिम मंजिल का बताया है। उस वर्णन से स्पष्ट है कि उनके पास सम्पत्ति की कमी नहीं थी और जीवनयापन के लिए वे सामूहिक श्रम करने के लिए विवश न थे। इस अवस्था को हम आदिम साम्यवाद कहें या न कहें, इस विवाद को यहां न बढ़ाकर हम इतना ही कहेंगे कि जब तक मनुष्य अपने श्रम द्वारा प्रकृति पर यत्किंचित् विजय नहीं पाता, खाद्य के लिए टोलियां बनाकर घूमने वाले प्राणी का जीवन समाप्त नहीं करता, तब तक उसे अनेक बोलियों में किसी एक को भाषा बनाने की आवश्यकता का अनुभव नहीं होता। बिखरी हुई छोटी-छोटी बोलियों में भिन्न एक व्यापक सामान्य 'भाषा' का अभ्युदय कुलगत सम्पत्ति, कबीलों के परस्पर विनिमय, विनिमय के लिए आवश्यक सम्पत्ति के उत्पादन आदि के साथ जुड़ा हुआ है। पशु-पालन या खेती या दोनों के द्वारा सम्पत्ति अर्जित करने पर ही चरागाहों, खेतों को हथियाने या उन्हें हड़पने की आवश्यकता अनुभव होती है। तभी कबीले आत्मरक्षा, आक्रमण या व्यापार के लिए किसी एक बोली को भाषा रूप में अपनाते हैं।

निष्कर्ष यह कि आदिम साम्यवाद की पहली मंजिल में 'भाषा' का व्यवहार नहीं होता; बोलियों से ही अपने-अपने सीमित क्षेत्र में काम चलता है। आदिम साम्यवाद की दूसरी मंजिल में, जब सामूहिक सम्पत्ति के साथ कुलगत सम्पत्ति का अभ्युदय हो चुकता है, तभी सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ऐसी भाषाओं का व्यवहार होता है जिनका क्षेत्र दस-बारह कोस के बदले एक या उससे अधिक कबीलों की भूमि होती है। लैटिन, ग्रीक, संस्कृत आदि प्राचीन भाषाएं ऐसी ही परिनिष्ठित भाषा के अभ्युदय का प्रमाण है।

ग्रीक, लैटिन और संस्कृत—ये तीनों ही 'चर्च' की भाषाएं भी रही हैं। संघबद्ध धर्म का अभ्युदय सामन्तवाद की विशेषता है। धर्म-विशेष के प्रसार के साथ किसी भाषा का क्षेत्र बहुत बढ़ जाता है। वह उन जनपदों की ही शिष्ट भाषा नहीं रहती, जिनकी बोलियां उससे मिलती-जुलती हैं; वह उन प्रदेशों में भी जा पहुंचती है जहां की भाषाएं उससे भिन्न हैं और वह उन्हें प्रभावित करना शुरू करती है। कोई भाषा इस तरह फैलती है या नहीं, यह किसी देश में सामन्तवाद के विकास और वहां धर्म के संघबद्ध होने पर निर्भर है। लेकिन सामन्तवाद से पहले समाज-व्यवस्था का दास प्रथा पर आधारित एक रूप और माना जाता है। भाषा के प्रसार या गठन पर इसका क्या असर पड़ता है?

एंगेल्स की बतायी हुई बर्बर अवस्था के बाद सामन्तवाद की ओर बढ़ने के लिए दास-प्रथा पर आधारित कोई व्यवस्था अनिवार्य नहीं है। एंगेल्स के अनुसार अमरीकी आदिवासी कबीलों में संगठित थे, लेकिन कई जगह उन्होंने अपने स्थायी संघ बना लिये थे, और इस तरह जातियों (नेशन्स) के निर्माण की ओर उन्होंने पहला कदम उठाया था। जाति-निर्माण की तरफ पहला कदम उठा लेने पर भी उनमें दास-प्रथा का चलन न था। एंगेल्स के अनुसार जर्मन कबीलों में भी दास-प्रथा का अभाव था और जब उन्होंने रोमन साम्राज्य ध्वस्त कर दिया, तब वहां दास-प्रथा को भी समाप्त कर दिया। उन्होंने अपने प्रदेशों जैसी सामन्ती प्रथा वहां भी चलायी। वास्तव में यूनान और इटली में प्रचलित दास-प्रथा के आधार पर सामाजिक विकास की एक ऐसी मंजिल की कल्पना की गयी है जिसका आधार ही दास-प्रथा हो। इस कल्पना के प्रभाव से कुछ विद्वानों ने उन देशों में भी दास-प्रथा पर आधारित समाज-व्यवस्था का अनुसंधान कर डाला है जहां दास समाज के उत्पादक वर्ग का एक प्रतिशत भी न थे। यूनान और रोम के प्राचीन समाज में भी मुख्य वर्ग-विरोध दास और उनके स्वामियों में न था, वरन् धनी भू-स्वामियों और स्वाधीन किन्तु निर्धन किसानों या बेकार नागरिकों में था। एथेंस में क्या हुआ? एंगेल्स के शब्दों में—"उद्योग और व्यापार की प्रगति में कुछ लोगों के हाथों में सम्पत्ति सिमट कर केन्द्रित हो गयी, आज़ाद नागरिक-जन-समूह मुफलिस हो गया। उसे दो रास्तों में से एक चुनना था—या तो वह दस्तकार बने और दासों से होड़ करे जिसे नीच और घृणित काम समझा जाता था, इसके अलावा उसमें सफलता की गुंजाइश भी कम थी—या वह एकदम मुफलिस हो जाय। वहां की हालत में जो बात हुई वह दूसरी थी। बहुसंख्यक (मैजॉरिटी) होने के कारण वे समूचे एथेंस राज्य को अपने साथ खड्ड में घसीट ले गये।" एथेंस के पतन का कारण दास-प्रथा थी—अप्रत्यक्ष रूप से। उसने धनी-निर्धन एथेंसवासियों का संघर्ष तीव्र कर दिया और एथेंस की राज्यसत्ता इस संघर्ष में चकनाचूर हो गयी। रोम के बारे में मार्क्स ने ८ मार्च १८५५ के अपने एक पत्र में लिखा था, "कुछ समय पहले मैंने रोम के (प्राचीन) इतिहास को आगस्टस-काल तक फिर पढ़ा। वहां के आन्तरिक इतिहास का सीधा अर्थ है बड़ी भू-सम्पत्ति से छोटी भू-सम्पत्ति वालों का संघर्ष जो अवश्य ही, एक विशेष दिशा में, दास-प्रथा से किंचित् परिवर्तित हुआ हो।"[१] दूसरे शब्दों में रोमन समाज-व्यवस्था मूलतः सामंती थी। यूनान में जिस उत्पादन-व्यवस्था को

१. मार्क्स और एंगेल्स, सेलेक्टेड कॉरेस्पॉडेंस, लॉरेन्स एंड विशार्ट, १९४३, पृष्ठ १२७।

दास-प्रथा पर आधारित समझा जाता है, वह भी आदिम साम्यवाद (या बर्बर अवस्था) के तुरंत बाद की मंजिल नहीं है। तुरंत बाद की मंजिल सामन्तवाद ही है; उत्पादन के लिए बड़े पैमाने पर दासों का उपयोग बाद में होता है और इस उपयोग से सामंती-प्रथा में मूलतः परिवर्तन नहीं होता। ईसापूर्व छठी शताब्दी में सामन्तों और किसानों का संघर्ष तीव्र हो गया था। गरीब किसानों को उपज का छठा हिस्सा ही रखने की अनुमति दी गयी थी। कुछ भिखारी बन गये या दास बन कर बिके, कुछ मुफलिस बन कर इधर-उधर मारे-मारे फिरने लगे। इसी संघर्ष को दूर करने के लिए सोलन ने अपने नये कानून बनाये थे।

दास-प्रथा पर आधारित कोई विशेष उत्पादन-व्यवस्था नहीं होती, इसलिए भाषा के विकास पर उसके प्रभाव का सवाल नहीं उठता। सामंती ढांचे में एक वर्ग और उत्पन्न होता है, सौदागरों का, जो पहले सामंती बंधनों को मान कर, उसी ढांचे के अन्दर मुनाफा कमाता है। लेकिन क्रमशः वह शक्तिशाली होता जाता है और जब-तब-राज्यसत्ता को अपने हाथ में लेने के लिए सामंत-वर्ग से टक्कर भी लेता है। टॉमसन के अनुसार प्राचीन यूनान में जो जनवादी क्रान्ति हुई, उससे राज्यसत्ता भू-स्वामी वर्ग के हाथ से सौदागरों के हाथ में आयी।[1] लेकिन इस क्रान्ति का प्रसार सारे यूनान में न हो सका। एथेंस ने व्यापार के आधार पर जो पूंजीवादी सम्बंध कायम किये थे, वे आगे चलकर सामन्ती सागर में डूब गये। लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि एथेंस के अभिजात्य का कारण व्यापार था और अपनी इस प्रमुख भूमिका के कारण एथेंस अपनी भाषा को भी यूनान की अन्य सभी बोलियों में सर्वोपरि स्थान दिला सका।

प्राचीन रोम में सौदागरों और भूस्वामियों के एकदम भिन्न वर्ग न थे। उनकी स्थिति इंगलैंड में औद्योगिक क्रान्ति से पहले के सौदागरों और जमींदारों की सी थी। इंगलैंड में जिस सौदागर के पास अपनी भू-सम्पत्ति न होती थी, वह इज्जतदार न समझा जाता था। इसलिए व्यापार से पैसा कमा कर ही वह सन्तुष्ट न हो सकता था; उसे इज्जत के लिए जमींदार भी बनना होता था। साथ ही पुराने जमींदार आमदनी के पुराने तरीकों से असन्तुष्ट होकर व्यापार से भी धन कमाने की सोचते थे। इतिहासकार मॉमसेन के अनुसार प्राचीन रोम में "बड़े सौदागर और बड़े उद्योगपति बड़े जमींदारों से एकदम भिन्न वर्ग के रूप में दिखाई न पड़ते थे। एक ओर बड़े जमींदार पुराने जमाने से ही व्यापारी और पूंजीपति होते आये थे;

1. जार्ज टामसन, दि फर्स्ट फिलोसफर्स, लॉरेन्स एंड विशार्ट, १९५५, पृष्ठ २०८-९।

और अपने हाथ में लेन-देन का कारबार, बड़े पैमाने का व्यापार और राज्य के काम समेटे रहते थे।" दूसरी ओर भूस्वामित्व का नैतिक महत्व था; इसके बिना व्यापारी को राजनीतिक अधिकार न मिल सकते थे। व्यापार में मुनाफा कमाने वाला आम तौर में अपनी पूंजी जमीन में लगाता था। रोमन राजनीतिज्ञ इस बारे में सतर्क रहते थे कि "भूमिहीन धनवानों का खतरनाक वर्ग" बढ़ने न पाये।[1] रोमन समाज में व्यापारियों और सामन्तों का सहयोग भी था और आपसी संघर्ष भी। सामन्तों का पलड़ा भारी था। आपसी संघर्ष को दूर करने के लिए उनका तरीका यह था कि वे व्यापारियों को शुद्ध व्यापारी न रहने देते थे। तरह-तरह के दबाव डालकर वे उन्हें अपने वर्ग का ही एक अंग बना लेते थे। इसके सिवा वे स्वयं भी सौदागरी के जरिए अपनी आमदनी बढ़ाते थे। इन सौदागरों को इटली के एकीकरण में सामन्तों से अधिक दिलचस्पी थी। लैटिन भाषा के प्रसार से उन्हें व्यापार में सुविधा होती थी। इटली में लैटिन का प्रसार केवल सामन्तों का काम नहीं था; उसमें सौदागरों का हाथ था। इसी प्रकार यूरोप में साम्राज्य-विस्तार से उन्हें लाभ था। ईसा की प्रथम शताब्दी में रोमन व्यापारी सुदूर ब्रिटेन तक पहुंचते थे। वर्तमान योर्कशायर के पूर्वी भाग में पैरीसी जन रहते थे। इन्होंने रोमन सौदागरों का स्वागत किया था। इन्हीं की भूमि से रोमन सेना ने ब्रिगान्तेस नामक दूसरे जन पर धावा बोला था। "इस अभियान का स्वागत नहीं किया गया, तो कम-से-कम उसे शांतिपूर्ण ढंग से ग्रहण किया गया। इसका प्रमाण यह है कि इस कबीले की भूमि पर स्थायी रोमन छावनी बनाने से उसे मुक्त किया गया।"[2] रोमन व्यापारी अपने व्यापार से मतलब रखते थे; उन्हें ब्रिटेन के निवासियों को जबर्दस्ती रोमन सभ्यता में दीक्षित करने से दिलचस्पी नहीं थी। इस प्रकार ब्रिटेन जैसे सुदूर टापू को रोमन साम्राज्य में मिलाने से व्यापारियों का वर्ग-स्वार्थ जुड़ा हुआ था। ब्रिटिश कबीलों के सरदार अपनी परम्परा के अनुसार देहात में अपना जीवन बिताते थे। "बड़े-बड़े इतालवी जमींदार शहरों की उपज थे और वही उनके मुख्य केन्द्र थे। गांवों की सम्पत्ति के अलावा उनका शहरी मकान अक्सर दूकान या कारखाने से बहुत निकट रूप में सम्बंधित होता था। इस दूकान या कारखाने में दासों या आजाद किये हुए आदमियों की देखरेख में व्यापार फलता-फूलता था।"[3] जिन जर्मन जातियों ने रोमन साम्राज्य को छिन्न-भिन्न किया, उनमें सामंती सम्बंधों का चलन था।

---

१. थेओडोर मॉमसेन, दि हिस्ट्री ऑव रोम, १८६८, खंड १, पृष्ठ ४८६-९०।
२. आई. ए. रिचमॉड, रोमन ब्रिटेन, १९५५, पृष्ठ ७९-८०।
३. उप., पृष्ठ ८५।

उनमें दास प्रथा के बदले अर्ध-दास (सर्फ़) प्रथा का चलन था, लेकिन वे जर्मन भाषा का प्रसार उसी तरह न कर पाये जिस तरह रोमनों ने लैटिन का किया था। स्वयं जर्मनी का एकीकरण बहुत बाद में हुआ। जर्मनी और इटली — जर्मन और लैटिन भाषाओं—के इतिहास की इस भिन्नता का यही आधार है। आगे चलकर लैटिन ईसाई चर्च की भाषा ही न बनी, बल्कि समय तक वह अन्तरराष्ट्रीय राजकाज की भाषा थी। यूनानी व्यापारियों और यूनानी उपनिवेशों के प्रभाव से भूमध्य सागर के तटवर्ती प्रदेशों में रोमन साम्राज्य और उसके बाद तक ग्रीक भाषा को यही अन्तर्जातीय महत्व प्राप्त रहा। व्यापार और सांस्कृतिक आदान-प्रदान की इन आवश्यकताओं के कारण जर्मन के विपरीत ग्रीक और लैटिन भाषाओं का परिनिष्ठित रूप स्थिर हुआ। बोलचाल की लैटिन के अनेक रूप थे अथवा लैटिन परिवार की अनेक बोलियां इटली, फ्रांस आदि में बोली जाती थीं। लैटिन जिस जाति की भाषा थी, वह जाति नये जातीय संगठनों में तिरोहित हो गयी। बृहत्तर इटली ने एक नयी जनपदीय भाषा को अपनाकर उसे अपनी जातीय भाषा बनाया। लैटिन-भाषी जाति का अस्तित्व न रहने पर भी लैटिन यूरोप के विभिन्न अन्तर्जातीय कार्यों में व्यवहृत होती रही। लैटिन का स्थान इतालवी (या अन्य भाषाओं) ने ले लिया, इसका कारण यह न था कि वैयाकरणों ने लैटिन को कठोर नियमों से जकड़ दिया था। बोलचाल की भाषा न रहने पर भी लैटिन तब तक शिक्षित जनों के काम में आती रही, जब तक यूरोप में नयी जातियों के अभ्युदय के साथ उनकी भाषाएं भी आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में प्रयुक्त न होने लगीं। इन जातियों और उनकी भाषाओं के अभ्युदय के बाद भी सैकड़ों वर्षों तक लैटिन अपने पद पर—धर्म से भिन्न क्षेत्र में भी—आसीन रही। ईसाई धर्मग्रंथों में ग्रीक भाषा का प्रयोग हुआ था। लैटिन के समान वह भी ईसाई धर्म से सम्बद्ध हुई। उस समय उसके बोलचाल के रूपों और परिनिष्ठित ग्रीक में बहुत अन्तर हो गया था। फिर भी व्यापार के कारण उसी पुरानी परिनिष्ठित ग्रीक का बहुत दिनों तक चलन रहा।

वैदिक संस्कृत अनेक जनपदीय बोलियों में से एक थी। वह मुख्यतः भरत या कुरुजन की बोली थी। उसी के आधार पर संस्कार की हुई भाषा—संस्कृत—का विकास और प्रसार हुआ। प्राकृतों का संस्कार करके यह भाषा न बनी थी। भारत की प्राचीनतम बोलचाल की भाषा का रूप ऋग्वेद में मिलता है। वह रूप जितना लौकिक संस्कृत के निकट है, उतना प्राकृतों के नहीं। कुछ अपवादों को छोड़कर उसके अधिकांश भाषा-तत्व प्राकृतों से बहुत दूर हैं। शक्तिशाली भरत-जन की भाषा अन्तर्जनपदीय व्यवहार के लिए स्वीकृत हुई। ये जन और जनपद स्थिर इकाइयां न थे। उनका

[illegible]

महाभाष्यों के भौगोलिक उल्लेखों के आधार पर डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने गांधार से काठियावाड़ तक और सौराष्ट्र से मगध तक संस्कृत भाषा का प्रसार माना है। यह भी लिखा है, 'सम्भव है इस विशाल प्रदेश में स्थानीय बोलियाँ भी रही हों, किन्तु एकछत्र साम्राज्य का पट्टबन्ध संस्कृत के ही माथे था।'[2] इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि इस विस्तार प्रदेश में बहुत सी बोलियाँ थीं जिनमें अनेक संस्कृत से भिन्न परिवार की भी थीं। यद्यपि पण्डित वर्ग ने संस्कृत को देववाणी कहा किन्तु उसमें विविध मानवीय तत्त्वों का सम्मिश्रण हुआ। वैदिक भाषा के शब्द-भण्डार से लौकिक संस्कृत के शब्द-भण्डार की तुलना करने से दोनों का अन्तर, लौकिक संस्कृत की शब्द-शक्ति, उसमें द्रविड़ आदि अन्य परिवारों के शब्दों का आगमन स्पष्ट हो जायगा। वैसे यह क्रिया वैदिक युग में ही आरम्भ हो गयी थी और ऋग्वेद के पहले ही मंत्र में 'अग्निमीळे' के ळ को विद्वान् द्रविड़-परिवार को दिया मानते हैं।

पाणिनि के समय में कुरुक्षेत्र का पुराना नाम भरत प्रचलित था।[3] संस्कृत के प्रसार के साथ यह नाम भी सारे देश में फैल गया और देश को भारतवर्ष की संज्ञा मिली। चीनी यात्री ह्वेनसांग युवाङ् के अनुसार "समय की महत्ता और अवस्था को देखकर पाणिनि ने साहित्य और बोलचाल की भाषा के

1. डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, पाणिनि-कालीन भारतवर्ष, बनारस, पृष्ठ २०।
2. उप., पृष्ठ ५।
3. उप., पृष्ठ १४।

अनिश्चित और अशुद्ध प्रयोगों एवं नियमो में सुधार करना चाहा। उनकी
थी कि नियम निश्चित करें और अशुद्ध प्रयोगो को ठीक करें।"[1] प्रत्येक
के परिनिष्ठित रूप ग्रहण करने के समय यह शुद्ध-अशुद्ध प्रयोगो की
उसके सामने आती है। पाणिनि के व्याकरण की रचना एक सामाजिक
श्यकता की पूर्ति के लिए हुई थी। यह आवश्यकता उत्तर भारत के जनपद
सांस्कृतिक और आर्थिक आदान-प्रदान थी। डॉ. अग्रवाल के शब्दो में "भ
वर्ष के दूरस्थित भाग व्यापार, राज्य और विद्या के सम्बध के द्वारा महा
युग मे (दशमी शती विक्रम पूर्व से पांचवी शती विक्रम पूर्व तक) एक-
के साथ घनिष्ठ सम्बध मे बंध चुके थे।"[2] यह घनिष्ठ सम्बध ही वह साम
आवश्यकता थी, जिससे व्यवस्थित व्याकरण द्वारा भाषा को 'संस्कृत' क
अनिवार्य हो गया।

डॉ. अग्रवाल ने पाणिनि-कालीन व्यापार-व्यवस्था के बारे मे महत्व
शोध किया है। उससे मालूम होता है कि व्यापार का काम किसी जाति
हाथ मे सीमित न था। "किसी भी जाति का व्यापारी हो, वह वाणिज
लाता था।" थोक व्यापारी, पूजी लगाने वाले महाजन, कामकाज देखने
निर्देशक आदि के लिए अलग-अलग नामो से व्यापार का प्रसार और म
प्रकट होता है। वस्तु विशेष का व्यापार करने से व्यापारी का नाम उसी
के अनुसार गोवाणिज, अश्ववाणिज आदि पड जाता था। देश-विदेश से व्या
करनेवालो का नाम उसी देश पर हो जाता था—मद्रवाणिज, गान्ध
वाणिज। डॉ. अग्रवाल ने इससे उचित निष्कर्ष निकाला है, "इन उदाहर
से प्राचीन काल के अन्तर-प्रान्तीय व्यापार का सकेत मिलता है।" उ
जातको से भी इसी तरह के अन्तर्जनपदीय व्यापार के उदाहरण दिये हैं।
अग्रवाल के मत से पाणिनि के समय मे मगध साम्राज्य की स्थापना न हुई थ
मगध, कोसल, अवन्ति, कुरु, पंचाल आदि जनपद 'स्वाधीन रूप में पनप रहे थे
यदि यह मत सही हो तो विभिन्न जनपदो को एक-दूसरे के निकट लाने मे व्याप
का महत्व और भी स्पष्ट हो जायगा। व्यापार की बढ़ती का एक और प्रमा
यह है कि "वस्तुओ का मूल्य दूकानदार और ग्राहको के बीच मे सिक्कों में
चुकाया जाता था।" एक हजार कार्षापण मूल्य की सामग्री साहस्र कहलाती
जिससे ऊंचे पैमाने के व्यापार की सूचना मिलती है। लेकिन "बाजार में सोने
निष्क से लेकर तांबे के माम तक बीसियो प्रकार के सिक्के चलते थे।" नाप-तो
आदि के लिए जिन अनेक शब्दों का उल्लेख हुआ है, उनमे पता चलता है कि

---

१. उप., पृष्ठ १६–१७।
२. उप., पृष्ठ ३७।

पाणिनिकालीन नगर विनिमय के महत्वपूर्ण केन्द्र थे। इसी नागरिक सभ्यता का वाहन संस्कृत बनी। डॉ. मोतीचन्द्र ने 'सार्थवाह' में इन नगरों के व्यापारिक महत्व का उल्लेख किया है। बनारस "एक प्रधान व्यापारिक नगर" था जिसका सम्बंध गान्धार और तक्षशिला से था। श्रावस्ती नगरी एक दूसरा व्यापार-केन्द्र थी और बुद्ध के शिष्य अनाथ पिंडिक यहीं के थे जिनके बारे में कहा जाता था कि उन्होंने जेतवन की भूमि को स्वर्ण मुद्राओं से ढककर उसे अपने गुरु के लिए खरीदा था। वैशाली, मथुरा, चम्पा आदि नगर इसी प्रकार व्यापार के लिए प्रसिद्ध थे। ताम्रलिप्ति, भरुकच्छ, कावेरी पट्टनम् आदि प्रसिद्ध बन्दरगाहों से समुद्री मार्ग द्वारा विदेश से व्यापार होता था। व्यापार को सुव्यवस्थित रखने के लिए जो नियम बनाये गये थे, उनसे भी प्रकट होता है कि व्यापार राज्य के लिए आय का एक प्रमुख स्रोत था। "जैसे जैसे ईसा की प्रारम्भिक सदियों में व्यापार बढ़ता गया, वैसे-वैसे व्यापार के ठीक से चलने के लिए नियमों की आवश्यकता हुई। इसीके आधार पर साझेदारी, वादा पूरा न करने तथा माल न देने और श्रेणि-सम्बधी नियमों की व्याख्या की गयी। जिस तरह कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में तत्कालीन व्यापार सम्बधी बहुत से नियम दिये हैं, उसी तरह नारद-स्मृति में भी बहुत से व्यापार सम्बधी नियमों का उल्लेख है।"[1] गुप्त युग में व्यापार की और भी उन्नति हुई। भारत के पूर्वी और पश्चिमी तट के बन्दरगाह लंका से सम्बद्ध थे।

डॉ. मोतीचंद्र का मत है कि बौद्ध धर्म में जातिवाद और खानपान की कड़ाई न होने से उसके अनुयाइयों के लिए समुद्र यात्रा सहज थी। उन्होंने ब्राह्मणों के सकुचित दृष्टिकोण से उदार बौद्ध दृष्टिकोण की तुलना करते हुए लिखा है, "बौद्ध व्यापारियों और नाविकों का यह अन्तरराष्ट्रीय भ्रातृभाव ब्राह्मणों के उस अन्तरदेशीय भाव से—जिसके अनुसार दुनिया की सीमा उत्तर में हिमालय, दक्षिण में समुद्र, पश्चिम में सिन्धु और पूर्व में ब्रह्मपुत्र है—बिलकुल भिन्न था। ब्राह्मणों के लिए तो आर्यावर्त ही सब कुछ था, उसके बाहर रहनेवाले घृणित अनार्य और म्लेच्छ थे। खाने-पीने तथा विवाह इत्यादि में जातिवाद की कठोरता ब्राह्मण-समाज का नियम था और इसीलिए धर्मच्युत के डर से समुद्र यात्रा वर्जित थी, गोकि प्राचीन भारत में इस नियम का कितने लोग पालन करते थे, इसका तो केवल अटकल ही लगाया जा सकता है। बौद्धों को इस जातिवाद के प्रपंच से विशेष मतलब नहीं था और इसीलिए हम प्राचीन बौद्ध साहित्य में समुद्र यात्रा के अनेक विवरण पाते हैं जिनका ब्राह्मण-

१. डॉ. मोतीचन्द्र, सार्थवाह, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, पृष्ठ १५३।

साहित्य में पता नहीं चलता।"[1] इस ब्राह्मण-बौद्ध विवाद का उल्लेख करना यहाँ आवश्यक न होता यदि इससे व्यापार और संस्कृत का सम्बन्ध न होता। दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्राचीन भारतीय उपनिवेशों में पचीसों संस्कृत अभिलेख मिले हैं। डॉ. चाटुर्ज्या के अनुसार "भारतीय प्रभाव तथा संस्कृत भाषा दक्षिण श्याम (द्वारावती), कम्बोडिया (कम्बुज) तथा अनाम (चम्पा) में ख्रिष्टाब्द पूर्व से ही प्रविष्ट होते रहे थे। धीरे-धीरे इंडोचीन के इस क्षेत्र में संस्कृत उसी स्थान पर प्रतिष्ठित हो गयी, जो उसे भारतीय जनता के जीवन में प्राप्त था। ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी के बीसों संस्कृत शिलालेख संस्कृत के इस महत्त्व के प्रमाण हैं।" इतिहासकार श्री आर. सी. मजुमदार ने "दि क्लैसिकल एज" नामक ग्रंथ में दक्षिण-पूर्वी एशिया के भारतीय उपनिवेशों के बारे में कुछ रोचक तथ्य दिये हैं। चौथी शताब्दी ईस्वी के अन्त में कौण्डिन्य नामक ब्राह्मण कम्बुज का राजा निर्वाचित हुआ था। उसके एक उत्तराधिकारी जयवर्मन ने चीनी बन्दरगाह कैन्टन को व्यापार के लिए कुछ सौदागर भेजे थे। इसी परिवार के गुणवर्मन और रुद्रवर्मन संस्कृत अभिलेख छोड़ गये हैं। चम्पा, ब्रह्मदेश, थाइदेश, सुमात्रा, जव आदि देशों और द्वीपों में भारतीय उपनिवेश बन गये थे। ये उपनिवेश हमें भूमध्यसागर के तट पर विभिन्न देशों में ग्रीक उपनिवेशों की याद दिलाते हैं। सुमात्रा में श्रीविजय नामक नगर बौद्ध धर्म का केन्द्र था और वहाँ से विभिन्न देशों से व्यापार भी होता था। पश्चिमी जावा में पूर्ववर्मन के चार संस्कृत अभिलेख मिले हैं। जिस स्थान पर ये लेख मिले हैं, वह श्री मजुमदार के अनुसार प्राचीन काल में, बड़ा बन्दरगाह था। इन विभिन्न प्रदेशों में प्राप्त अभिलेखों की भाषा के बारे में श्री मजुमदार ने लिखा है, "ये अभिलेख सुन्दर और शुद्ध संस्कृत में है जिससे मालूम होता है कि यह भाषा खूब सीखी जाती थी और शिष्ट समाज तथा राजसभाओं में व्यवहृत होती थी।"[2] उपनिवेशों के द्वारावती, चम्पा, अमरावती आदि जो नाम भारतीय जनों ने रखे थे, वे पालि या अन्य प्राकृतों की ध्वनि-प्रकृति का अनुसरण न करके संस्कृत-पद्धति के अनुकूल थे। दक्षिण-पूर्वी एशिया के भारतीय उपनिवेशों, वहाँ के संस्कृत अभिलेखों और प्राचीन व्यापार केन्द्रों से डॉ. मोतीचन्द्र की स्थापना का खंडन हो जाता है। किसी प्रबल सामाजिक आवश्यकता के बिना संस्कृत का ऐसा दृढ़ परिनिष्ठित रूप और विशाल देश में तथा सुदूर मलय और सुवर्ण द्वीप तक उसका प्रसार असंभव था। व्यापार द्वारा अर्थोपार्जन—यह एकमात्र नहीं किंतु प्रमुख सामाजिक आवश्यकता थी।

---

१. उप., पृष्ठ ४६।

२. दि क्लैसिकल एज, भारतीय विद्याभवन, पृष्ठ ६४३।

दूसरी सामाजिक आवश्यकता थी सामंतवाद के प्रसार और साम्राज्यों की स्थापना की। गणराज्यों को अपने में समेट कर या उनका नाश करके ये साम्राज्य स्थापित हुए थे। जहां तक व्यापार का सम्बंध है, वह विच्छिन्न गण-राज्यों की तुलना में सुदृढ साम्राज्यों में ही ज्यादा फलता-फूलता था। डॉ० मोतीचंद्र ने एक जैनग्रंथ से यह नियम उद्धृत किया है, "साधु को अराजक देश, गणराज्य, यौवराज्यों और विराज्यों में होकर यात्रा करने की भी अनुमति नहीं थी।"[1] इसका कारण यह है कि गणराज्यों में यात्रा करना वैसे निरापद नहीं था; व्यापारियों के लिए तो और भी नहीं था। गुप्त युग में व्यापार की जो उन्नति हुई और उसके साथ साहित्य और ललित कलाओं ने जो प्रगति की, उससे देश के एकीकरण, यातायात के साधनों की रक्षा, एक विशाल प्रदेश में एक ही मुद्रा का चलन, और इस सबके लिए— उस युग की दृष्टि से—आवश्यक साम्राज्य का महत्त्व प्रकट होता है। चक्रवर्ती सम्राटों को अपनी सत्ता जमाये रखने के लिए संघबद्ध धर्म और उस धर्म के लिए एक भाषा की आवश्यकता थी। संस्कृत के प्रसार का कारण सामन्ती व्यवस्था और धर्म विशेष का प्रसार भी था। भारतीय सामंतवाद पूरे देश को राजनीतिक रूप से कभी भी एकछत्र शासन में नहीं बांध सका। संस्कृत के माध्यम से धर्म, साहित्य और दर्शन का प्रभाव सामन्ती सीमाओं को पार करके भिन्न प्रदेशों में पहुंचा। यूरोप में भी ईसाई धर्म फैला; वहां भी भारत की तरह साम्राज्य स्थापित हुए। भाषा की दृष्टि से जर्मन, लैटिन, ग्रीक और स्लाव परिवार एक-दूसरे से उतने दूर नहीं थे जितने यहां के संस्कृत और द्रविड़ परिवार। फिर भी यूरोप में यह भावना कभी उत्पन्न नहीं हुई कि वहां के निवासी एक देश के हैं। हमारे इतिहास की यह विशेषता है कि भिन्न भाषाओं और जातियों के स्वतंत्र अस्तित्व की चेतना रहते हुए भी यहां अखिल देशगत राष्ट्रीय चेतना का विकास हुआ। इसका कारण धर्म विशेष न होकर हमारी संस्कृति है जिसमें बौद्ध, जैन आदि भिन्न मतावलंबियों की देन शामिल है। यदि इन धर्मों के मानने वाले हमें आज हिन्दू धर्म के बहुत निकट लगते हैं तो प्राचीन काल में इनके तीव्र भेदभाव को न भूल जाना चाहिए। भारतीय राष्ट्रीयता की भावना एक अत्यन्त मूल्यवान उपलब्धि है और इस भावना को उत्पन्न करने में उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम—और मध्य देश—के व्यापारियों की बहुत बड़ी भूमिका रही है।

प्राचीन व्यापार की सीमाएं भी समझ लेना चाहिए। यह व्यापार सामंतवाद से बराबर दबता था। व्यापारियों से स्थान-स्थान पर शुल्क लिया जाता

---

१. सार्थवाह, पृष्ठ १६३।

था; विभिन्न करों के अलावा अर्थ की आवश्यकता पड़ने पर राजा उनका गला दबाता था। नगर-सेठों की इज्जत जरूर होती थी, लेकिन उनके हाथ में राज्यसत्ता कभी नहीं रही। वे देश को राजनीतिक रूप से एक करने में असमर्थ रहे। उन्होंने सारे भारत में जो बाजार कायम किया था, उसके सूत्र कुछ बड़े-बड़े नगरों को जोड़ते थे; शेष ग्रामीण भारत इस अर्थव्यवस्था से प्रायः अछूता था। यदि यह ग्रामीण भारत इस व्यवस्था में सिमट आता, तो जनता संस्कृत से भिन्न जातीय भाषाओं को अपने कारबार का माध्यम बनाती, भले ही अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार के लिए संस्कृत या अन्य कोई भाषा चुनी जाती। इस प्राचीन व्यापार की पण्य वस्तुएं मुख्यतः उच्च वर्गों के लिए थीं। कपड़े, मसाले, सुगंधित द्रव्य व्यापार की मुख्य वस्तुएं थीं। डॉ मोतीचन्द्र ने "महावस्तु" में दी हुई तालिका के आधार पर काशी के दुकूल, बंगाल के रेशमी वस्त्र, [illegible] की तरह मलमल और चमड़ा, बट कर बनायी हुई चटाइयों के व्यापार का उल्लेख किया है।[1] व्यापार की एक अन्य वस्तु थी—स्वयं मनुष्य। "भारतीय दास रोमन साम्राज्य की स्थापना के पहले भी रोम पहुंचते थे।"[2] हीरे जवाहरात, हाथी दांत, रेशम, चंदन, कपूर, घोड़े आदि गुप्त युग में व्यापार की मुख्य वस्तुएं थे।[3]

व्यापार से किसी धर्म विशेष का सम्बंध जोड़ना गलत है। दक्षिण में व्यापारी वर्ग ने वैष्णव धर्म को वैसे ही अपनाया जैसे भिन्न समय और भिन्न प्रदेशों में उसने बौद्ध और जैन धर्मों को अपनाया था। जैन और बौद्ध धर्म दक्षिण भी पहुंचे और वैष्णव धर्म उत्तर के व्यापारियों में भी फैला। लेकिन प्रत्येक धर्म के साथ यहां एक भाषा विशेष का सम्बंध जुड़ गया। बौद्ध धर्म का साहित्य मुख्यतः पालि में है, जैन धर्म का प्राकृत में और हिन्दू धर्म का संस्कृत में। पालि साहित्य के एक इतिहास लेखक के अनुसार "विषय की दृष्टि से पालि साहित्य उतना विस्तृत और पूर्ण नहीं है, जितने संस्कृतादि अन्य साहित्य। अनेक प्रकार की ज्ञान-शाखाओं पर उसमें साहित्य नहीं मिलता। ठीक तो यह है कि बौद्ध धर्म—स्थविरवादी बौद्ध धर्म—के अलावा उसमें आलम्ब ही कम है।"[4] यदि पालि बोलचाल की भाषा थी, तो यह आश्चर्य की बात है कि उसमें संस्कृत के समान काव्य, नाटक आदि न रचे गये। बौद्ध कवि अश्वघोष

---

1. उप., पृष्ठ १४३।
2. उप., पृष्ठ १२५।
3. दि क्लैसिकल एज, पृष्ठ ५९०।
4. भरतसिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पृष्ठ ९०-९१।

[illegible]

कहा जाता है कि जैन और बौद्ध धर्मों के प्रवर्तकों ने अपने अपने धर्म का प्रचार जन भाषा में किया। [illegible] के लिए यह जिस [illegible] का प्रयोग हो, [illegible] धर्म का प्रचार जो उनकी भाषा के बिना असंभव है; [illegible] धर्म का प्रचार भी जब हुआ होगा, तो लोक-भाषाओं द्वारा ही हुआ होगा। जैन और बौद्ध धर्म के प्रवर्तकों की भाषा क्या थी? "यह स्पष्ट है, यद्यपि इस रूप में प्रमाणित नहीं किया जा सकता, कि गौतम बुद्ध और महावीर दोनों ने अपने धर्मों का प्रचार प्राचीन अर्ध-मागधी बोली में किया था लेकिन उनके धर्मों के जो धर्मग्रंथ मौजूद हैं, वे जिस भाषा में हैं वह उससे बहुत भिन्न है। प्राचीन जैन धर्म-ग्रंथ लुप्त हो गये हैं, लेकिन जो अर्वाचीन ग्रंथ, अर्थात् [illegible] के बाद, सुरक्षित रहे और जो पांचवी शताब्दी के मध्य के हैं, वे महाराष्ट्री प्राकृत का गहरा प्रभाव प्रदर्शित करते हैं। जहां तक बौद्ध धर्म-ग्रंथों का संबंध है, सर्वाधिक सुरक्षित धर्म-ग्रंथ हीनयान संप्रदाय के हैं और ये लंका, बर्मा और स्याम में व्यवहृत होते हैं। लेकिन पालि का उद्गम क्या था, वह किस किस विशेष प्राकृत बोली से निकली थी, इस पर विद्वानों में मतभेद है और वे अभी किसी सर्वमान्य निष्कर्ष पर नहीं पहुंचे हैं। कुछ लोग उसे मगध में प्रचलित बोली से उत्पन्न मानते हैं, अन्य लोग उसका कोशल की या अवन्ति अर्थात् मध्यदेश की बोली से घनिष्ठ संबंध मानते हैं।"[1] एक कठिनाई और है। बुद्ध की भाषा पालि हो सकती है लेकिन "पालि मागधी प्राकृत से बिलकुल नहीं मिलती। इसके बदले वह शौरसेनी या मध्यदेशीय बोली से अधिक मिलती है, विशेषकर उस प्राचीन शौरसेनी से जो अश्वघोष की रचनाओं में मिलती है।"[2] इससे निष्कर्ष यह निकला कि बुद्ध और महावीर के उपदेश उनकी अपनी भाषा में नहीं मिलते। जिस भाषा में मिलते हैं, वह पूर्व की न होकर पश्चिम की प्राकृत है। लेकिन प्राकृत चाहे पूर्व की हो चाहे पश्चिम की, उसका शब्द-भंडार और व्याकरण मूलतः संस्कृत के हैं। कुछ विद्वानों ने प्राकृत व्याकरणों को इस बात के लिए दोषी ठहराया है कि उनके प्रभाव से प्राकृत भी कृत्रिम हो गयी। लेकिन प्राकृतों का व्याकरण तो संस्कृत का ही अनुसरण करता है।

---

१. दि एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, भारतीय विद्याभवन, पृष्ठ २५८।
२. उप., पृष्ठ २८३।

प्रचार न हुआ होता, तो सामन्त-युग की विशाल सांस्कृतिक सामग्री इसी प्रकार दुर्बोध और दुष्प्राप्य होती। दुर्बोधता का कारण यह नही है कि प्राकृतें लोक-भाषाएं थीं; कारण इसके बिल्कुल उल्टा था, वे लोक-भाषाओं से संस्कृत की तुलना मे भी दूर थी। कोई आश्चर्य नहीं कि अनेक जैन और बौद्ध विद्वानों ने अपनी रचनाएं संस्कृत मे ही की। गुप्त युग और उसके बाद "हम जैन विद्वानों मे एक सामान्य प्रवृत्ति पाते हैं कि वे अधिकाधिक प्राकृत की तुलना मे संस्कृत अपनाते हैं। वे इस भाषा के प्रयोग को अधिक सम्मानप्रद और अन्य मत-वादियो से विवाद के लिए अधिक उपयोगी मानते थे। बहुत जल्दी संस्कृत टीकाओं ने प्राकृत मे लिखी टिप्पणियो का स्थान ले लिया। इस युग की लगभग समाप्ति के समय हम प्रसिद्ध जैन विद्वान हरिभद्र को अपनी रचनाएं और टीकाएं संस्कृत मे करते देखते हैं।"[1] कल्पना कीजिए, प्राकृत मूल की टीकाएं संस्कृत मे लिखना आवश्यक हो गया! संस्कृत के इस नवीन उत्थान का कारण मुसलमानो का आक्रमण न था। इसका कारण देश के सामाजिक जीवन की आन्तरिक आवश्यकताएं थी। संस्कृत द्वारा देश का एकीकरण व्यापारियो और बड़े सामन्तों के लिए आवश्यक था। संस्कृत द्वारा देश का जो सांस्कृतिक एकीकरण हुआ, वह पालि और अन्य प्राकृतों द्वारा नहीं हुआ, न शायद हो सकता था। संस्कृत के माध्यम से इस देशव्यापी अभ्युत्थान मे विभिन्न प्रदेशो और मतों के लोगो ने भाग लिया। एक नहीं सब प्राकृतें मिला कर भी संस्कृति का ऐसा व्यापक माध्यम नही बन पायी। उसके बाद के युग में जब आधुनिक भाषाएं साहित्य का माध्यम बनी, तब उनके लिए प्राकृतों की तुलना मे संस्कृत से लाभ उठाना स्वाभाविक था। मुसलमानो के आक्रमण की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हिन्दू धर्म का जागरण हुआ और तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ गया, यह धारणा भ्रान्त सिद्ध होती है।

संस्कृत मे रचनाएं करनेवालों को प्राकृतो से परहेज न था। संस्कृत नाटको मे उन्हे स्थान मिला ही था। प्राकृतो मे रचना किन्ही रूढ़ियो के अनुसार होती थी। एक रूढ़ि यह थी कि महाराष्ट्री प्राकृत मे—जिसका महाराष्ट्र की वर्तमान भाषा से कोई विशेष सम्बध न था—गीत ही लिखे जायेंगे। जैन विद्वानो ने उसमे गद्य भी लिखा। धार्मिक भेदभाव के कारण संस्कृत का सम्बध ब्राह्मणों से, पालि का बौद्धो से, प्राकृत का जैनो से समझा जाने लगा। इसी परम्परा के कारण "अनुपालि या अनुपिटक साहित्य के विकास का इतिहास प्रथम शताब्दी ई. पू. से लेकर वर्तमान काल तक चला आ रहा है।"[2] इसी

---

१. दि क्लैसिकल एज, पृष्ठ ४१२।
२. पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६१।

यदि वे संस्कृत से पहले—बोलचाल की भाषाएं—होतीं तो उनमें व्याकरण-गत भेद बहुत ज्यादा होता। पुरानी [illegible] धारणा यह रही है कि संस्कृत ही विकृत कर प्राकृत बनी। यह धारणा [illegible] है। प्राकृतों और संस्कृत का मूल भेद ध्वनि-तत्त्व है; ध्वनि-भेद से ही उनके व्याकरणीय भेद किये गये हैं। यदि इनमें व्याकरणगत और शब्द-भंडार सम्बन्धी व्यापक भेद होते, तो आधुनिक भाषाओं के उद्भव और विकास की समस्या बहुत आसान हो जाती।

अशोक के समय में और उसके बाद कई शताब्दियों तक शिलालेखों का माध्यम प्राकृत रही। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वे प्राकृतें—जिनमें परस्पर बहुत कम भेद है—सर्वत्र बोली जाती थीं। पल्लव राजा सिंहवर्मन का एक प्राकृत अभिलेख गुंटूर जिले में मिला है।[1] इसका यह अर्थ नहीं कि आंध्र प्रदेश में प्राकृत बोली जाती थी। कुछ समय बाद ही पल्लव राजाओं ने अपने दानपत्र संस्कृत में जारी किये।[2] इसी प्रदेश में कांची के राजा सिंहवर्मन के समय में जैन विद्वान सर्वनन्दि ने लोकविभाग नामक ग्रंथ प्राकृत में रचा। इसका रचना-काल ४५८ ई. है।[3] दक्षिण में दिगम्बर सम्प्रदाय के जैनियों ने महाराष्ट्री और शौरसेनी प्राकृतों में अपनी रचनाएं कीं।[4] इसका कारण यह नहीं था कि दक्षिण में महाराष्ट्री या शौरसेनी प्राकृत को सब लोग समझ लेते थे, वरन् यह कि प्राकृत से जैन धर्म का एक रूढ़िगत सम्बन्ध हो गया था।

आधुनिक भाषाएं जानने वालों के लिए प्राकृतें समझ लेना आसान होना चाहिए, कारण यह कि प्रचलित धारणा के अनुसार अपभ्रंशों के मार्ग से विकसित होती हुई प्राकृतें ही आधुनिक भाषाएं बनी हैं। लेकिन होता इसका उल्टा है। आधुनिक भाषा जानने वाला संस्कृत छाया की तलाश करता है जिससे यह समझ में आ जाय कि संस्कृत के किन शब्दों का विकृत रूप उसके सामने है। भारतीय संस्कृति के इतिहासकार जैन ग्रंथों से पूरा लाभ नहीं उठा पाये, इसका मुख्य कारण डॉ. मोतीचन्द्र के मत से "जैन ग्रंथों की दुष्प्राप्यता और दुर्बोधता" है। जो काम के ग्रंथ छपे हैं, उनके बारे में लिखा है, "भाषा सम्बंधी टिप्पणियों का इनमें सदा अभाव होता है जिससे पाठ-समझने में बड़ी कठिनाई होती है।"[5] यदि एक परिनिष्ठित भाषा के रूप में संस्कृत का

---

१. दि क्लैसिकल एज, पृष्ठ २७६।
२. उप., पृष्ठ २७७।
३. उप., पृष्ठ ४०८।
४. उप., पृष्ठ ३२५।
५. सार्थवाह, पृष्ठ १६२।

प्रचार न हुआ होता, तो सामन्त-युग की विशाल सांस्कृतिक सामग्री इसी प्रकार दुर्बोध और दुष्प्राप्य होती। दुर्बोधता का कारण यह नही है कि प्राकृतें लोक-भाषाएं थीं; कारण इससे बिल्कुल उल्टा था, वे लोक-भाषाओं से संस्कृत की तुलना मे भी दूर थी। कोई आश्चर्य नही कि अनेक जैन और बौद्ध विद्वानो ने अपनी रचनाए संस्कृत मे ही की। गुप्त युग और उसके बाद "हम जैन विद्वानो मे एक सामान्य प्रवृत्ति पाते हैं कि वे अधिकाधिक प्राकृत की तुलना मे संस्कृत अपनाते हैं। वे इस भाषा के प्रयोग को अधिक सम्मानप्रद और अन्य मत-वादियो से विवाद के लिए अधिक उपयोगी मानते थे। बहुत जल्दी संस्कृत टीकाओं ने प्राकृत मे लिखी टिप्पणियो का स्थान ले लिया। इस युग की लगभग समाप्ति के समय हम प्रसिद्ध जैन विद्वान हरिभद्र को अपनी रचनाएं और टीकाएं संस्कृत मे करते देखते हैं।"[1] कल्पना कीजिए, प्राकृत मूल की टीकाएं संस्कृत मे लिखना आवश्यक हो गया। संस्कृत के इस नवीन उत्थान का कारण मुसलमानो का आक्रमण न था। इसका कारण देश के सामाजिक जीवन की आन्तरिक आवश्यकताएं थी। संस्कृत द्वारा देश का एकीकरण व्यापारियों और बड़े सामन्तों के लिए आवश्यक था। संस्कृत द्वारा देश का जो सांस्कृतिक एकीकरण हुआ, वह पालि और अन्य प्राकृतो द्वारा नही हुआ, न शायद हो सकता था। संस्कृत के माध्यम से इस देशव्यापी अभ्युत्थान मे विभिन्न प्रदेशो और मतो के लोगो ने भाग लिया। एक नहीं सब प्राकृतें मिला कर भी संस्कृति का ऐसा व्यापक माध्यम नही बन पायी। उसके बाद के युग मे जब आधुनिक भाषाएं साहित्य का माध्यम बनी, तब उनके लिए प्राकृतो की तुलना मे संस्कृत से लाभ उठाना स्वाभाविक था। मुसलमानो के आक्रमण की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हिन्दू धर्म का जागरण हुआ और तत्सम शब्दो का प्रयोग बढ़ गया, यह धारणा भ्रान्त सिद्ध होती है।

संस्कृत मे रचनाएं करनेवालो को प्राकृतो से परहेज न था। संस्कृत नाटको मे उन्हे स्थान मिला ही था। प्राकृतो मे रचना किन्ही रूढ़ियो के अनुसार होती थी। एक रूढ़ि यह थी कि महाराष्ट्री प्राकृत मे—जिसका महाराष्ट्र की वर्तमान भाषा से कोई विशेष सम्बंध न था—गीत ही लिखे जायेंगे। जैन विद्वानो ने उसमे गद्य भी लिखा। धार्मिक भेदभाव के कारण संस्कृत का सम्बंध ब्राह्मणो से, पालि का बौद्धो से, प्राकृत का जैनो से समझा जाने लगा। इसी परम्परा के कारण "अनुपालि या अनुपिटक साहित्य के विकास का इतिहास प्रथम शताब्दी ई. पू. से लेकर वर्तमान काल तक चला आ रहा है।"[2] इसी

---

१. दि क्लैसिकल एज, पृष्ठ ४१२।

२. पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६१।

[illegible] जैन विद्वानों ने पालि भाषा में अपने ग्रंथ लिखना
आवश्यक न समझा। अपभ्रंश में भी उनका कुछ ऐसा ही लगाव था।
"अपभ्रंश के वाल्मीकि"[1] स्वयंभू जैन थे। दसवीं सदी के पुष्पदन्त "शुरू में शै-
व थे लेकिन बाद में जैन हो गये।" अपभ्रंश में अन्य धर्मावलम्बियों ने भी रच-
नाएं की हैं किन्तु जैन कवियों से उसका विशेष सम्बन्ध रहा है। इसलिए
साहित्य में 'जैन-काव्य' की भी चर्चा होने लगी है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी
ने लिखा है, "जैन-काव्य के विषय में हिन्दी विद्वानों के मन में अभी उतना
आकर्षण नहीं हुआ है जितना होना चाहिए।"[2] इस 'जैन काव्य' से मुक्त पर
पर ही भारतीय भाषाएं अपने वास्तविक रूप में उभर सकीं।

इसका यह अर्थ नहीं है कि किसी धर्म विशेष के कवि जातीय भाषाओं
के उत्थान का विरोध कर रहे थे। आशय केवल इतना है कि अनेक प्रदेशों में
प्राकृत से जैन धर्म का विशेष सम्बन्ध मानने के कारण जैन साहित्यकार और
धर्माचार्य प्राकृत या अपभ्रंश में रचनाएं करते रहे। जो प्राचीनपंथी हि
पण्डित वर्ग था, वह संस्कृत को अपनाये रहा। यहां सिद्धों की यथार्थ
प्रगतिशील भूमिका के बारे में यह याद रखना चाहिए कि उनकी भाषा
कवियों की अपभ्रंश से भिन्न न थी। तमिलनाड में एक समृद्ध साहित्यिक
परम्परा होने के कारण संस्कृत-प्राकृत-रचना-पद्धति का वहां वैसा प्रभाव न
पड़ सका जैसा अन्य प्रदेशों में। भारत की आधुनिक भाषाओं में तमिल की
ही सर्वाधिक गौरवमय प्राचीनतम साहित्यिक परम्परा है। यह इतनी बलवती
थी कि जैन और बौद्ध कवियों ने भी पालि प्राकृत के बदले तमिल में ही अपने
काव्य रचे। दूसरी सदी ईस्वी में तमिल महाकाव्य 'सिलप्पदि कारम्' के रचना-
कार इलंगो जैन मुनि थे। उनके जैन होने के बारे में कुछ लोगों को संशय है।
किन्तु पांच लघु काव्य—जिनमें नीलकेशि, उदयण् कदै प्रकाशित हो चुके हैं—
जैन कवियों की ही रचनाएं हैं। 'सिलप्पदि कारम्' का समकक्ष और प्राय
समसामयिक काव्य 'मणिमेकलै' बौद्ध व्यापारी सीत्तलै सात्तनार की रचना है।
जो बात तमिल-भाषी प्रदेश में हुई, वह अन्यत्र भी संभव थी, अर्थात् प्राकृ
अपभ्रंश की मंजिलें पार किये बिना ही 'आधुनिक' भाषाओं की सुदीर्घ सा
हित्यिक परम्परा वहां भी कायम हो सकती थी। ये मंजिलें किसी तरह
अनिवार्य सिद्ध नहीं होतीं। अवश्य ही प्राचीन तमिल और आधुनिक त
में भेद है किन्तु यह भेद प्राकृत और आधुनिक उत्तर भारतीय भाषा

1. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृष्ठ १८५।
2. डॉ शिवप्रसाद सिंह, सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, हिन्दी
पुस्तकालय, वाराणसी; भूमिका।

ओर की कमी को 'ण' की भरमार से पूरा किया गया ! तीन भी लोप है और निरंजन बने तद्भव अवतार में णिरंजन ! पण्डित ज्ञानी—क्यों न लिखें पण्डित णाणी; ज्ञान, ज्ञानी शब्द गांवों में प्रचलित हैं ('ग्यान'—इस तद्भव उच्चारण रूप में)। अपभ्रंश का कवि ज्ञान को 'णाण' लिखता है।[1] और भरत पतंग—पतंग हो गये पयंग। 'रूप' हुआ 'रुवि'; 'शब्द' सद्द न होकर सद्दि हो गया ! मृग भी मय, और ज्ञानमय तो णाणमय है ही। (कहीं मृगमय लिखना पड़े तो मयमय की नौबत आ जाय !) सुरत संग चलकर सुरउ हुआ सुरउ ! अपर-अहर, लोचन-लोयण, विकाल-वियाल, बल-बलुल, कान-कन्नडद, कुल-उल—इस तरह के तद्भवों से अपभ्रंश भरी पड़ी है। तद्भव हिन्दी के तद्भवों से बिल्कुल भिन्न कोटि के हैं ! ये तद्भव से अधिक (अपभ्रंश नाम सार्थक करने वाले) भ्रष्ट रूप हैं।

यह बात नहीं है कि अपभ्रंश कवियों को संस्कृत शब्दों से—और भी कठिन शब्दों से—कोई परहेज हो। उनके यहां दुर्निद्रा, गगनागन, वलयालंकृत, विपण्ण, रत्नाकर, भामंडल, ध्यानाग्नि, निरीक्षण, परिग्रह, निर्लेप, विप्रिय जैसे अनेक शब्द या पद मिल जायेंगे। अंतर इतना है कि तत्सम रूपों में वे पहचान में आ जाते हैं, अपभ्रष्ट रूपों में एक पहेली बन जाते हैं—दुण्णिद्द, गयणगण, वलयालंकिय, विसण्णु, रयणायरु, भाहुडल, झाणग्गिय, णिरिक्खण, परिग्गह, णिरलिल, विप्पिय। संस्कृत का कोई भी शब्द मनचाहे ढंग से तोड़-मरोड़ कर 'तद्भव' नहीं बनाया जा सकता, न भाषा में उसका प्रयोग अनिवार्य है।

जायसी आदि कवियों की रचनाओं में अवश्य "तद्भव शब्दों का ज़ोर" है लेकिन इसका कारण यह नहीं है कि उनके संस्कार अपभ्रंश के थे। स्वयंभू की छिप्पइ, लिप्पइ, थक्कइ, धुज्जइ, विसत्थउ, समत्थउ वाली भाषा से पृथ्वीराज रासो में वीररस का यह वर्णन पढ़िये तो पता चलेगा कि अपभ्रंश संस्कारों का कहां किस रीति से प्रयोग किया गया है :

नरद्द नाद रिभझयं। चुसट्ठ ताल दिज्जयं।
तुरंग पन्ति चल्लयं। मनो जलद्द वल्लयं।

अथवा

परे चट्ट पट्टी। मनो मद्द जट्टी।
उनं तेग कड्ढी। जनों बज्ज टट्टी।
जम दड्ढ वट्टी। मनों नोन घट्टी।
उघट्टे उघट्टी। घनं घट्ट घट्टी।

---

1. उप., पृष्ठ ३२७।

वीर रस के वर्णन में ही शृंगार रस की एक कोमल सरल पंक्ति आती है :

मुखनाम नैन फूले कमल, कंबु कंठ कोकिल कलक।

उसके बाद ही अपभ्रंश के संस्कार जागे :

कुल्लह मुखित कंदन मनहु, कंदु मधि रहिलय अलक।

रासो में एरन्तारिय भी है—"श्रवननि सहज कटाच्छ, चित्त कर्षण एर-न्तारिय"—कान और नैन इस एरन्तारी परम्परा में बन गये हैं। जायसी "एहि बिधि चीन्हहु करहु गियान"—गियान लिखते हैं, ग्याण नहीं। जायसी ने लिखा था :

राघव पूज जाखिनी, दुइज देखाएसि साँझ।
बेदपंथ जे नहिं चलहिं, ते भूलहिं बन माँझ।

राघव को उन्होंने राहव नहीं लिखा; वेद वेय नहीं हो गये। जायसी के यहाँ रसना, रस, भोग, कंठ, मयूर, कर-पल्लो (पल्लव), भूमिपति, गगन, पुरुष, जग, कवि, समुद्र, मलयगिरि, अस्वपति, पंडित, नाना, इंद्र (जनु कैलाश इंद्र कर वासा—यहा इन्दर पढ़ा जाय तो छंद भंग हो जाय), विद्या (ठग विद्या), अधिक, कंचन, व्याघ, दिवस, तिथि, कुंद, प्रीति, संसार, चरित्र, ध्यान, कनक, सुरा, पतंग, कुलवती, स्रवन आदि सैकड़ों शब्द यह प्रकट करते हैं कि जिन बहुत से शब्दों को हम संस्कृत का समझते हैं, वे पुरातन काल से जनसाधारण की बोलियों का अंग रहे हैं। अपभ्रंश में इनके भी भ्रष्ट रूप मिलते हैं, हिन्दी में वे ज्यों के त्यों या सहज ध्वनि-परिवर्तन के साथ (श्रवण-स्रवन) प्रचलित हैं।

संस्कृत शब्दों का प्रयोग उन कवियों की रचनाओं में और भी मिलता है जो संस्कृत काव्य परम्परा से परिचित थे। जैन लेखकों ने संस्कृत के इस व्यापक प्रभाव के कारण किसी समय प्राकृत के बदले उसे अपनाया था। दूसरी सदी के आसपास के तमिल काव्यों के नाम देखिए। तमिल काव्य "जीवक चिन्तामणि" के लेखक तिरुत्तक्कदेवर के बारे में कहा जाता है कि वे काव्य में संस्कृत की रचना-शैली को अपनाने वाले प्रथम तमिल कवि थे। तेरवीं सदी के तेलुगु कवि तिक्कन्ना इस प्रकार की भाषा लिखते थे :

सकल वर्ण धर्म संकर रक्षयु
संधि विग्रहादि षड्गुणमुलु
नलय करयुदयुनु नर्थ सम्यगुपार्ज
नमुनु नृपति येपुडु नडुप वलयु।

(समस्त वर्णाश्रम धर्मों की रक्षा करना, संधि, विग्रह आदि षड्गुणों के पालन का ध्यान रखते हुए समुचित धन का उपार्जन कर के राजा को राज्य चलाना

:हिए ।)[1] वर्ण, धर्म, नृपति आदि शब्दों के रूप संस्कृत से ज्यों के त्यों लिये हैं; तेरहवीं सदी के इस महाकवि पर कहीं प्राकृत परम्परा का प्रभाव नहीं खाई देता। इनसे भी पहले ग्यारहवीं सदी में तेलुगु के आदि महाकवि ाय्य भट्ट इस प्रकार की भाषा लिखते थे :

"शारद रात्रुलुज्ज्वल लसत्तर तारक हारपङ्क्तुलन् जारु तरंबुलय्ये विक-नव कैरव गन्ध बुन्धरोदार समीर सौरभमु दाल्चि सुधांशु विकीर्णमाण :रपराग पांडुरचिपूरमुलम्बर पूरितम्मुलै।"[2] इस तरह की शैली पर प्राकृत प्रभाव हो सकता है, लेकिन उसका हिन्दू पुनरुत्थानवाद से कोई सम्बन्ध : है।

ये कवि तो पुराने थे। संस्कृत के पंडित थे। एक बंगला लोक-गीत में लमान कवि अल्ला से कहता है :

"आल्ला तोमार नामटि कादेर गनि, एकमात्र उपास्य तुमि।
अन्तर्जामी मानुष तुमि, आबार तुमि आछो जगत् जुड़े।
आल्ला तुमि पाप तुमि पुन्य, तुमि हे जगत् मान्य।
आबार धर्म्मरूपे आछो तुमि, ए मर जगते।"[3]

तरह के लोक-गीतों में संस्कृत का प्रभाव स्पष्ट है, अपभ्रंश का नहीं है। ार है। हिन्दू पुनरुत्थान से इस अल्ला की वंदना का कोई प्रकट सम्बन्ध दिखाई देता। जो तद्भव-रूप आये हैं, उनकी प्रकृति अपभ्रंश से भिन्न है।

यह कहना ज्यादा सही है कि प्राकृत और अपभ्रंश में हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं के कुछ तत्व आ गये हैं; यह कहना गलत है कि प्राकृत से अपभ्रंश और अपभ्रंश से आधुनिक भाषाओं की उत्पत्ति हुई है। प्राकृत और अपभ्रंश को लोक-भाषा मानने की भ्रान्ति के कारण कुछ विद्वान संस्कृत और आधुनिक भाषाओं का सम्बन्ध ठीक-ठीक नहीं देख पाते। उन्हें जहां तत्सम रूप मिलते हैं, वे समझ बैठते हैं कि यह अपभ्रंश की प्रगतिशील परम्परा का अना-दर है और इन तत्सम रूपों का कारण ब्राह्मणवाद का पुनरुत्थान है। वे इस बात को भूल जाते हैं कि अपभ्रंश साहित्य में बहुत जगह संस्कृत के शब्दों को ऐसा तोड़ा-मरोड़ा गया है कि वे न तत्सम रह गये हैं, न तद्भव। अपभ्रंश में ऐसे तद्भव रूप कम हैं जिनकी प्रकृति आधुनिक भाषाओं या बोलियों में व्यवहृत तद्भवों से मिलती हो। अपभ्रंश के अधिकांश तद्भव

---

१. बालशौरि रेड्डी, पंचामृत, हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद, पृष्ठ १२-१३।
२. हनुमच्छास्त्री, तेलुगु और उसका साहित्य, राजकमल, पृष्ठ २०।
३. मुहम्मद मनसूर उद्दीन द्वारा सम्पादित लोकगीत संग्रह 'हारामनि'; कलकत्ता विश्वविद्यालय।

कृत्रिम है। यही कारण है कि हिन्दी ही नहीं बंगला, तेलुगु आदि भाषाएं भी अपभ्रंश की तुलना में संस्कृत रूपों को अपनाती हैं। उनमें जो तद्भव शब्द हैं, उनकी प्रकृति अपभ्रंश से भिन्न है। भरे-पूरे व्यंजनों का लोप (लोग-लोअ, वेद-वेअ), एकार को बहुलता (रार-रारी, गिरंजएलीए), द्वित्व भाव के व्यंजनों की भरमार (स्वयंभू में आवड्डएए, गुड्डुएए, छिप्पइ, लिप्पइ) आदि विशेषताएं अपभ्रंश की कृत्रिमता सूचित करती हैं। इस बात को न समझ कर अपभ्रंश-विशारद आधुनिक भाषाओं के अभ्युदय-काल के साहित्यकारों को दोषी ठहराते हैं कि उन्होंने पुनरुत्थानवाद के कारण अपनी भाषा में तत्सम रूप भर लिये।

हिन्दी आदि भाषाओं और संस्कृत में जितने तत्व सामान्य हैं, उतने प्राकृत, अपभ्रंश और इन भाषाओं में नहीं हैं। एक ओर जहां इन सामान्य तत्वों पर ध्यान न देना भ्रामक है, वहां दूसरी ओर यह समझना कि आधुनिक भाषाएं अपने अभ्युदय काल में दुर्बल थीं और वे संस्कृत का सहारा लिये बिना आगे बढ़ ही न सकती थीं, भी भ्रामक है। इन भाषाओं में व्याकरण-व्यवस्था और शब्द-भंडार की संस्कृतेतर विशेषताएं भी थीं। संस्कृत ने उसमें योग दिया लेकिन वह इन भाषाओं का मूलाधार नहीं बनी। उदाहरण के लिए हिन्दी की प्रकृति को लें। हिन्दी को संयुक्ताक्षर कम पसन्द हैं; वह स्मरण को सुमिरन, विस्मरण को बिसरना (मराठी विसरणें) कहना ज्यादा पसन्द करेगी। उसकी यह प्रकृति बहुत पुरानी है। इसी के प्रभाव में संस्कृत में चरित और चरित्र जैसे दो रूप मिलते हैं। चरित्र की अपेक्षा चरित हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल है। श, ष, स वर्णों का ह, छ, ख आदि ध्वनियों में परिवर्तन भी बहुत पुराना है। इसका उल्लेख पहले हो चुका है। श की तुलना में स, व की तुलना में ब, ण की तुलना में न हिन्दी को अधिक प्रिय हैं। इसी प्रकार अन्य भाषाओं की ध्वनि सम्बंधी विशेषताएं हैं। हिन्दी में लिंगभेद अधिकांश क्रियारूपों में मिलता है। हिन्दी में उठ बैठा, आ गया, चल पड़ा, जैसी संयुक्त क्रियाओं का खूब प्रयोग होता है। हिन्दी में मुहावरों की भरमार है (आंख चुराना, आंख फेरना, आंखें बिछाना, आंखों में समाना इत्यादि)। संस्कृत में लोकोक्तियां हैं; इस तरह के मुहावरे कम हैं। यदि यह मान लिया जाय कि हिन्दी का प्रसिद्ध शब्द 'बाप' संस्कृत 'वाप' से बना है—जिसका अर्थ शब्दसागर में बीज बोने वाला लिखा है—तो भी यह मानना होगा कि हिन्दी बाप के अर्थ में संस्कृत वाप का प्रयोग न होता था। "का बापुरो पिनाक पुराना"—यह बापुरा किस बीज बोने वाले का पर्याय है? इसका सम्बंध 'बर्बर' से जोड़ा गया है! और बाबा, बाबुल (ठुमरियों का परिचित—बाबुल मोरा नैहरवा छूटो जाय)? यह तुर्की भाषा से आया है! जो भी हो, बूढ़ी स्त्री

को रूसी में भी पादुका, बाबुश्का कहते हैं (बाब—ग्राम्य स्त्री)। सवेरे के लिए एक शब्द है विहान, इसे विभात का तद्भव सिद्ध किया गया है। तिरा की बहन जुदा—यह शब्द 'देशज' है। अन्दर का पर्यायवाची भीतर—इसके आगे लगा है प्रश्नवाचक चिह्न (?)। इस प्रकार आधुनिक भाषाओं को संस्कृतेतर विभाषाओं को अस्वीकार करने की प्रवृत्ति भी काम करती रही है।

सारांश यह कि भारत में संस्कृत-परिवार की भाषाएं जहां अनेक रूपों में उससे सम्बद्ध हैं, वहां बहुत सी बातों में उससे भिन्न भी हैं। इन भाषाओं में बहुत से नये तत्वों का मिश्रण और विकास हुआ है किन्तु भिन्नता का मुख्य कारण यह है कि उनका मूलाधार प्राचीन जनपदीय भाषाएं बहुत सी बातों में संस्कृत से भिन्न थीं। जब हम इन प्राचीन जनपदीय भाषाओं की बात करते हैं, तब यह स्पष्ट होना चाहिए कि उनमें से प्रत्येक भाषा बोलियों का समूह थी; परिनिष्ठित भाषा के रूप में केवल संस्कृत विकसित हुई। मानव-समाज जब तक उत्पादन और वितरण में बहुत पिछड़ा रहता है, तब तक बोलियों के बीच व्यापक भाषा के अभ्युदय की आवश्यकता नहीं होती। यह आवश्यकता कबीलों में कुलगत सम्पत्ति के साथ उत्पन्न होती है। इस अवस्था के बाद दास-प्रथा पर आधारित कोई सामाजिक व्यवस्था नहीं आती। एंगेल्स ने जिसे बर्बर अवस्था की अन्तिम मंजिल कहा है, उसके बाद संक्रमण सामंतवाद की ओर होता है। चक्रवर्ती सम्राटों के साम्राज्य और संघबद्ध धर्म स्थापित होने से बड़े पैमाने पर लैटिन, ग्रीक या संस्कृत जैसी परिनिष्ठित भाषाओं का व्यवहार हुआ। लेकिन इन भाषाओं के प्रसार का प्रबलतम कारण व्यापार रहा है। यूरोप में जर्मन विजेता उसी तरह अपनी भाषा का प्रसार न कर सके जिस तरह रोमन व्यापारी लैटिन का। कालान्तर में लैटिन की यही स्थिति न रही; यूरोप में नई जातियों के साथ उनकी नई भाषाएं सामने आयीं। लैटिन के इस प्रकार पदच्युत होने का कारण यह न था कि उसे व्याकरण की कठिन शृंखला में जकड़ दिया गया था। भारत में भी व्यापार-सम्बंधी आवश्यकताओं के कारण भाषा का संस्कार करके उसे 'संस्कृत' रूप दिया गया। इसका यह अर्थ नहीं है कि भाषा गढ़ी गयी; अर्थ यह है कि भाषा के कुछ रूप सही माने गये, कुछ अन्य रूपों को मान्यता न दी गयी। पाणिनि ने अपना व्याकरण रच कर अखिल भारतीय सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति में योग दिया। जिस समय उन्होंने अपना व्याकरण रचा, उस समय अशोक और समुद्रगुप्त के से साम्राज्य न थे। अन्तरजनपदीय व्यापार की प्रगति से यह आवश्यकता उत्पन्न हुई कि व्याकरण द्वारा एक सामान्य व्यवहार की भाषा के रूप स्थिर किये जायं। पाणिनि के व्याकरण में व्यापार-सम्बंधी

अन्य प्रमाण भी है। इस व्यापार का माध्यम संस्कृत बनी और सुवर्णद्वीप जैसे सुदूर उपनिवेशो मे भी पहुची।

प्राचीन व्यापार का सम्बन्ध मुख्यतः उच्च वर्गों से था। कुल मिला कर सामंत वर्ग व्यापारियो पर हावी रहा और उनके हाथ मे राज्यसत्ता कभी न आयी। सामन्ती सम्बन्धों के प्रभाव से यहा संस्कृत ब्राह्मणो की, पालि बौद्धो और प्राकृत जैनो की धार्मिक भाषा समझी जाने लगी। जैन और बौद्ध धर्म के सम्प्रदायो ने अपने धर्मों का प्रचार लोक-भाषाओ मे अवश्य किया होगा, लेकिन ये लोक-भाषाए प्राकृत और पालि से भिन्न थी। यहा किसी समय शिलालेखो मे प्राकृत के प्रयोग का चलन था। इससे यह न समझना चाहिए कि जहा-जहा ऐसे-ऐसे शिलालेख मिलते है, वहा की भाषा प्राकृत थी। प्राकृतें संस्कृत की तुलना मे बोलचाल की भाषाओ से दूर थी। यही कारण है कि अनेक जैन और बौद्ध विद्वानो ने संस्कृत मे भी ग्रथ लिखे। सामन्ती युग के ह्रासकाल मे जब आधुनिक भाषाओ मे साहित्य रचा जाने लगा, तब स्वभावत. साहित्यकारों ने प्राकृत या अपभ्रंश की तुलना मे संस्कृत का ही अधिक सहारा लिया। इसका कारण इस्लाम की प्रतिक्रिया या हिन्दू नव-जागरण न था; कारण था संस्कृत का साहित्यिक महत्व और बोलचाल की भाषाओ से उसका सम्बध। इन भाषाओ ने जहा तद्भव रूपो को अपनाया है, वहा अधिकतर अपभ्रंश के तद्भव निर्माण का मार्ग छोडकर। संस्कृत से आधुनिक भाषाओ के निकट सम्बध पर पूरा बल देते हुए संस्कृत से उनकी भिन्नता को न भूलना चाहिए। संस्कृत से अनेक तत्वो के सामान्य होते हुए भी उनकी अपनी जातीय विशेषताए है।

दसवां अध्याय

जातीय निर्माण के उपकरण

अन्तरजनपदीय व्यवहार के लिए संस्कृत अपने परिनिष्ठित रूप में विकसित हुई। इससे पहले भी वैदिक काल मे यहां विभिन्न जन अपने-अपने जनपदों में निवास करते थे। आज भी हम व्रज, बुंदेलखंड आदि को जनपद कहते हैं; इनकी भाषा और संस्कृति तथा राजनीतिक पुनर्गठन के लिए छोटे-मोटे जनपदीय आंदोलन भी चले हैं। इन विभिन्न युगों मे नाम एक ही रहा है जनपद; किन्तु उसका अर्थ एक सा नही रहा। रूप (शब्द) के स्थिर रहते पर भी उसकी विषयवस्तु (अर्थ) बदलती रही है। वैदिक और उत्तर वैदिक काल के जनपद उन जनो के निवास थे जो रक्त-सम्बंध के आधार पर सम्बद्ध थे। प्रत्येक जन (कबीले, ट्राइब) के सदस्य वही लोग होते थे जो परस्पर एक-दूसरे के सम्बंधी होते थे। जन के अन्दर एक गोत्र के लोग आपस मे विवाह न करते थे, परन्तु उसी जन के विभिन्न गोत्र आपस में इस तरह का सम्बंध स्थापित करते थे। उस समय राज्यसत्ता किसी वर्ग के हाथ मे न होकर पूरे जन के हाथ में होती थी। शस्त्र-धारण करने का अधिकार किसी वर्ण विशेष को न था; प्रत्येक नागरिक अपने जनपद का रक्षक भी होता था। इन जनो मे व्यक्तिगत सम्पत्ति का उद्भव हुआ। सम्पत्ति कुछ कुलो मे सिमट कर केन्द्रित होने लगी। वर्णों का उद्भव हुआ। चातुर्वर्ण्य व्यवस्था संसार मे प्रत्येक सामंती समाज की विशेषता है। इसमें सम्पत्ति का स्वामी भूस्वामी वर्ग होता है। संस्कृति और शिक्षा का काम पुरोहित वर्ग के हाथ में रहता है। सामन्तो के साथ उनके अधीन रह कर या उनका सहयोगी बनकर व्यापारी वर्ग काम करता है। समाज के शेष सदस्य खेती, कारीगरी आदि के द्वारा इन 'द्विजो' की 'सेवा' करते हैं।

चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का उद्भव पुराने रक्त-सम्बंधो के विघटन की सूचना देता है। एक ही जन के सदस्य एक-दूसरे का बराबरी का दावा न करके ऊंच-नीच बन जाते हैं, पहले विवाह-सम्बंध केवल गोत्र-भेद का ध्यान रख कर किये जाता था; अब वर्ण-भेद का ध्यान रखना सबसे अधिक आवश्यक हो जाता

है। एक जन का क्षत्रिय दूसरे जन के क्षत्रिय के यहां विवाह-सम्बंध करे तो उचित है, एक ही जन के ब्राह्मण-क्षत्रिय परिवार इस तरह का सम्बंध करें तो यह अनुचित है। सामूहिक प्रभुत्व का स्थान व्यक्तिगत या कुलगत प्रभुत्व ले लेता है। कौरव और पांडव एक ही जन के 'भाई' होते हुए आपस में युद्ध करते हैं। अर्जुन की समस्या प्राचीन रक्त-सम्बंधों पर आधारित संस्कारों के छिन्न होने की समस्या है। अपने ही जन के सदस्य का वध उन संस्कारों के अनुसार सबसे बड़ा पाप है। इस पाप-भावना को लेकर यूनान में अनेक दुखान्त नाटक लिखे गये थे। कृष्ण ने इन प्राचीन रूढ़िगत रक्त-सम्बंधी संस्कारों को तोड़ने का मंत्र दिया।

समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण से महाभारत सामन्ती युग के अभ्युदय और प्राचीन जनों के छिन्न होने की गाथा है। सामाजिक विकास के लिए यह विघटन आवश्यक और अनिवार्य था।

भारत जैसे विशाल देश में समस्त प्राचीन जनों का एक साथ विघटन—सर्वत्र एक साथ सामन्तवाद का अभ्युदय—संभव न था। इस विघटन के अनेक केन्द्र थे। इनमें एक था धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र। दूसरा था मगध जो कुछ पंडितों के विचार से ऐसा अधर्म-क्षेत्र था कि वहां मरने से मुक्ति ही न मिलती थी। (कहते हैं, इसीलिए कबीर ने मगध में मरने का निश्चय किया था—जो काशी तन तजै कबीरा, रामहि कौन निहोरा।) यह विघटन आज भी पूरा नहीं हुआ। अनेक जन अर्ध-सभ्य अवस्था में भारत के अनेक प्रदेशों में बिखरे पड़े हैं। वे अभी तक सामंती व्यवस्था में समेटे नहीं जा सके। उत्तर भारत के प्रमुख जनों और उनके संघों का विघटन चन्द्रगुप्त मौर्य से लेकर समुद्र गुप्त तक के साम्राज्यों के स्थापना काल में लगभग पूरा हो गया था। डॉ. जायसवाल के अनुसार 'मौर्य साम्राज्यवाद' और हिन्द-यूनानी क्षत्रपों ने अधिकांश प्राचीन गणराज्यों का विनाश किया।[1] इसके बाद गुप्त युग में "पांचवीं शताब्दी के अन्त तक हिन्दू भारत से गणराज्यों का लोप हो जाता है।"[2] ये गणराज्य मुख्यतः किन्हीं बाह्य कारणों से लुप्त नहीं हो गये, उन्हें विघटित करने वाली शक्ति मुख्यतः उन्हीं के अन्दर थी। यह शक्ति थी उत्पादन और वितरण का विकास, कृषि के प्रसार से भूमि का सम्पत्ति-रूप में महत्व, श्रम का नया विभाजन और उसके अनुरूप वर्ण-व्यवस्था का अभ्युदय और प्रसार। प्राचीन गणराज्यों में—उनके ह्रास काल में—सामाजिक समानता न थी। सम्पत्ति कुछ कुलों में केन्द्रित थी। राज्यसत्ता भी इन्हीं के हाथों में थी। शासक चुनने का काम सारा

---

१. के. पी. जायसवाल, हिन्दू पॉलिटी, बंगलोर, १६४३, पृष्ठ १४८।
२. उप, पृष्ठ १६४।

जन न करता था; उसके कुछ विशेषाधिकार-भोगी परिवारों तक यह अधिकार सीमित था। दासों और परदेसियों को राज्यसत्ता में अधिकार न था। वर्ण-व्यवस्था ने इस दादापंथी रक्त-सम्बंध के बदले नये सम्बंध स्थापित किये जिनका मुख्य आधार था सम्पत्ति। रक्त-सम्बंध की परम्परा उन बिरादरियों में कायम हुई जो वर्णों के अन्तर्गत थीं। नयी बिरादरियां बनीं जिनका आधार कोई पेशा था। पुराने जनों के नाम वर्ण-व्यवस्था के अधीन रहने वाली जातियों (कास्ट) के साथ जुड़ गये। आभीर जन की स्मृति शेष रही अहीरों में। जोहिया राजपूत यौधेय गण के चिह्न रूप में रहे। डॉ. जायसवाल के अनुसार प्राचीन भोजक जन कच्छ और काठियावाड़ की एक जाति विशेष बने; प्राचीन राठिक जन से मारवाड़ी वैश्यों में प्राप्त राठी जाति सम्बंधित है; इसी प्रकार कम्बोह जाति का सम्बंध प्राचीन कम्बोज जन से है। हिन्दुस्तान में जितने पेशे हैं, उनसे बहुत ज्यादा संख्या में जातियां हैं। इसका कारण यह है कि जातियों के साथ उनके प्राचीन जन-नाम जुड़े हुए हैं। किसी जन का विघटन होने पर उसके सभी सदस्य एक ही जाति (कास्ट) में शामिल न हो सकते थे। साधारणतः वे अनेक वर्णों और जातियों में बंट जाते थे। यही कारण है कि अग्रजन से सम्बंधित अग्रवाल वैश्य वर्ण के अलावा अन्य वर्णों या जातियों में भी पाये जाते हैं।

सामन्त युग के जनपद प्राचीन जनपदों से बिलकुल भिन्न हैं। इनका आधार वर्ण-व्यवस्था है, प्राचीन व्यवस्था का वर्णेतर रक्त-सम्बंध खत्म हो गया है। इन जनपदों में वर्ग-भेद है, राज्यसत्ता है, ऊंच-नीच का भेदभाव है, शासक-शासित हैं, न्यायालय, दंड-विधान, कोश, सेना, स्मृति ग्रंथ हैं। मगध, कोसल, केरल, आन्ध्र आदि प्राचीन जनों के नाम पर अनेक प्रदेशों के नाम रखे गये जो आज तक चले आ रहे हैं। इन प्रदेशों की न तो प्राचीन सीमाएं आज की सी थीं, न प्राचीन काल की तरह उनमें आज रक्त-सम्बंध पर आधारित जन रहते हैं। इसलिए इतिहास में ईसा की नवीं शताब्दी में कुरुजन का उल्लेख मिले तो उसे प्राचीन कुरु-जन का पर्यायवाची समझना जरूरी नहीं।

समाजशास्त्र का एक पेचीदा प्रश्न है—सामन्ती युग में जाति (नेशनेलटी) का गठन होता है या नहीं और होता है तो उसका आधार क्या है। पूंजीवाद के अभ्युदय काल में नये सिरे से जातियों का गठन होता है। इस गठन का आधार नये पूंजीवादी बाजार का निर्माण माना जाता है। किन्तु इस पूंजीवादी विकास से पहले, और पुराने कबीलों के विघटन के बाद, बीच की मंजिल में सामाजिक गठन का कोई जातीय रूप होता है या नहीं? पंडानिक समाजशास्त्र में सामन्ती विघटन की चर्चा प्रखर रही है। यह विघटन पूंजीवादी एकीकरण की तुलना में ही विघटन है। पुराने कबीलों की रक्त

हुए सामन्ती समाज अपनी जातीय सीमा-रेखाओं में अधिक बिखरा होता है।
सोवियत इतिहासकार कोसिमन्स्की ने अंग्रेजी जाति के निर्माण पर अपने निबन्ध में इस समस्या की ओर संकेत किया है। उन्होंने लिखा है, "इतिहासकार के लिए, विशेषकर मध्यकाल विशेषज्ञ के लिए सबसे महत्वपूर्ण समस्या यह है कि वह इस बात की व्याख्या करे कि पूंजीवाद से पहले के युग में जाति (नेशन) के विभिन्न तत्व कैसे धीरे-धीरे विकसित हुए। मध्यकाल के विशेषज्ञ को उन जन-समाजों (कम्युनिटी ऑव पीपुल) में खास दिलचस्पी है जो जाति (नेशन) के निर्माण से पहले था और जिन्हें लघुजाति (नेशनैलिटी, नरोद्नोस्त) कहना चाहिए। लेकिन यह पेचीदा सवाल है जिसकी विशेष छानबीन आवश्यक है; उस पर हम इस समय विचार न करेंगे।"[1] कोसिमन्स्की ने लघुजाति की व्याख्या नहीं की किन्तु पूंजीवाद से पहले अर्थात् सामन्ती युग में उसका अस्तित्व माना है। स्तालिन की रचनाओं में लघुजाति (नेशनैलिटी) और महाजाति (नेशन) का भेद किया गया है। आस्ट्रिया, हंगरी और रूस के राज्यों के निर्माण की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा था कि इन देशों में राज्य-निर्माण की विशेष प्रक्रिया का कारण यह था कि सामन्तवाद का पूरी तरह खात्मा न हुआ था, पूंजीवादी विकास कमजोर था और "जो लघुजातियां पीछे ढेल दी गयी थीं, वे आर्थिक रूप में सुसम्बद्ध महाजातियों के रूप में अपने को सुगठित न कर सकी थीं।"[2] अन्यत्र उन्होंने पूर्वी यूरोप के बारे में लिखा था कि वहां सुकेन्द्रित राज्य पहले बने थे और उनमें से "प्रत्येक में अनेक लघुजातियां थीं जो अभी महाजातियों के रूप में निर्मित न हुई थीं लेकिन जो एक सामान्य राज्य में संबद्ध हो गयी थीं।"[3] मार्क्सवाद और भाषा-विज्ञान के सम्बंध में प्रश्नों का उत्तर देते हुए स्तालिन ने लघुजातियों की भाषा से महाजातियों की भाषा के विकास की बात की थी। सिकन्दर और सीजर के साम्राज्यों को उन्होंने कबीलों और लघुजातियों का जमघट बताया था। स्पष्ट ही कबीलों के समाज के बाद और पूंजीवाद के अभ्युदय से पहले वह मानव-समाज को लघुजातियों के रूप में गठा हुआ मानते थे। किन्तु इन लघुजातियों की निर्माण-प्रक्रिया, उनके आर्थिक आधार आदि की व्याख्या उनकी रचनाओं में नहीं है। लेनिन और स्तालिन ने यह स्पष्ट कर दिया था कि सामन्ती समाज का आधार

---

1. ई. ए. कोसिमन्स्की, दि फोर्मेशन ऑव दि इंग्लिश नेशन, ऐंग्लो-सोवियत जर्नल, ग्रीष्म, १६५२।
2. स्तालिन, मार्क्सिज्म एण्ड दि नेशनल एण्ड कोलोनियल क्वेश्चन, लॉरेन्स एण्ड विशार्ट, पृष्ठ १२।
3. उप., पृष्ठ १००।

कबीलों वाला रक्त-सम्बंध नहीं है। रूस के लोकवादी (नरोदनिक) विचारक मिखायलोव्स्की का मत था कि उन रक्त-सम्बंधों के आधार पर ही आधुनिक जातियों का निर्माण होता है। लेनिन ने इस मत का खंडन किया था। "जनता के मित्र कौन हैं और वे सोशल डेमोक्रेटों से कैसे लड़ते हैं"—इस पुस्तिका में उन्होंने लिखा था कि मध्यकाल में, मॉस्को के ज़ार-शासन में, ये रक्त-सम्बंध बिल्कुल नहीं थे और "राज्य का आधार प्रादेशिक संघ थे, न कि रक्त-सम्बंधों पर आधारित संघ। जमींदार और मठ विभिन्न स्थानों से अपने किसान इकट्ठे कर लेते थे और इस तरह जो ग्राम-समाज बने थे, वे विशुद्ध प्रादेशिक इकाइयां थे।" लेनिन ने जिन्हें प्रादेशिक इकाइयां कहा है, उन्हें संस्कृत-हिन्दी में हम जनपद कहते हैं। हिन्दी में बुंदेलखंड, ब्रज, अवध, आदि प्रदेशों को हम आज भी 'जनपद' कहते हैं; इन्हीं से मिलकर समूचा हिन्दी-भाषी प्रदेश बना है। लेनिन के अनुसार लगभग सत्रहवीं सदी के प्रारम्भ में रूसी सौदागरों ने छोटे स्थानीय बाज़ारों को मिला कर एक विशाल अखिल-रूसी बाज़ार कायम किया और इससे रूसी जाति का निर्माण हुआ। लेनिन की इस स्थापना से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सामन्ती युग के जनपदों का आधार छोटे स्थानीय बाज़ार हैं। लेकिन ये स्थानीय बाज़ार काफी छोटे होते हैं और जनपद अक्सर उनसे बड़े होते हैं। महाजातियों (नेशन) के निर्माण में भी इस बाज़ार-निर्माण का महत्व सीमित ही होता है। बंगाल और पंजाब विभाजित हैं, उनका सामान्य बाज़ार नहीं है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि पूर्वी बंगाल के लोग पश्चिमी बंगाल वालों से भिन्न जाति के हैं। यूरोप में उक्रैनी जाति विभाजित रही है; दूसरे महायुद्ध के बाद उसका एकीकरण पूरा हुआ है। उक्रैनी-उक्रैनी एक हैं, इस बात को वे विभाजित दशा में भी जानते थे।

रोमन साम्राज्य के बाद यूरोप के मध्य युग के बारे में एंगेल्स ने "परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और राजसत्ता की उत्पत्ति" नामक ग्रंथ में लिखा था कि यद्यपि ये चार सौ वर्ष अनुत्पादक थे, फिर भी भूस्वामियों के लिए एक नये युग का सूत्रपात था और आधुनिक इतिहास के लिए इन ४०० वर्षों ने एक महान् वस्तु तैयार कर दी थी और वह थी आधुनिक जातियां (नेशनिटी)। इससे मालूम होता है कि एंगेल्स सामन्ती युग में लघुजातियों का उदय और अस्तित्व स्वीकार करते थे। इस सम्बंध में उन्होंने उपर्युक्त ग्रंथ में अन्यत्र भी कुछ कहा है, उससे लघुजातियों की निर्माण-प्रक्रिया पर प्रकाश पड़ता है। अमरीका की आदिवासी जातियों के बारे में उन्होंने लिखा था कि कुछ कबीलों ने स्थायी संघ बनाये थे और इस प्रकार "जातियों (नेशन) के निर्माण की ओर उन्होंने पहला कदम उठाया था।" एंगेल्स के मत से कबीलों का स्थायी संघ बनाना जाति-निर्माण के लिए आवश्यक है

इस तरह का संघ बनना अनिवार्य समझते थे। उन्होंने आगे लिखा है, "जनसंख्या का घनत्व बढ़ने से यह आवश्यकता उत्पन्न हुई कि आन्तरिक रूप से और बाहरी दुनिया के विरुद्ध संघबद्ध हुआ जाय। हर जगह सम्बधित जातियों का संघ आवश्यक हुआ और शीघ्र ही उनका परस्पर घुलमिल कर एक होना भी आवश्यक हो गया। तब कबीलों के विभिन्न प्रदेश (जनपद) जनता के एक ही विशाल प्रदेश (महा जनपद) में घुलमिल कर एक हो गये।" सामन्ती-व्यवस्था में लघुजातियों के निर्माण की यह सुन्दर व्याख्या है। उत्पादन और वितरण में विकास, सम्पत्ति का अर्जन और केन्द्रीकरण यह आवश्यकता उत्पन्न करता है। प्राचीन जनों का बिखराव परस्पर विनिमय, व्यापार आदि के विकास में बाधक होता है। भूस्वामियों के हाथ में सम्पत्ति का मुख्य स्रोत केन्द्रित होने पर समाज नये श्रम-विभाजन के आधार पर चार वर्णों में विभाजित हो जाता है। सामन्ती समाज की विशेषता है छोटे पैमाने का उत्पादन। इस उत्पादन से लाभ उठाते हैं पुरोहित, भूस्वामी और व्यापारी; जनता का अधिकांश भाग जो शारीरिक श्रम करके खाने-पहनने से लेकर भोग-विलास तक की सामग्री जुटाता है, अधिकारच्युत होकर सेवक मात्र रह जाता है। सम्पत्तिशाली वर्गों के समर्थक शास्त्रकार इस व्यवस्था को सनातन और ईश्वरकृत बतलाते हैं। उनके लिए वर्ण-धर्म मुख्य हो जाता है, जन का रक्त-सम्बंध गौण हो जाता है। पूरे जन के गरीब-अमीर सदस्यों को एक से अधिकार देनेवाला रक्त-सम्बंध उनके किसी काम का नहीं रहता। सम्पत्ति और श्रम-विभाजन के आधार पर कुलीनता के नये मानदंड कायम होते हैं। प्राचीन जनों का जनतंत्र केवल सेवकों में अवशिष्ट रहता है।

प्राचीन जनों का एकीकरण समानता और भाईचारे के आधार पर सदा जनतांत्रिक ढंग से नहीं होता। शक्तिशाली जन दूसरों पर विजय प्राप्त करके भी यह एकीकरण की प्रक्रिया सम्पन्न करते हैं। 'सेवकों' का काम करने के लिए निर्बल विजित जनों के सदस्य उपयोगी सिद्ध होते हैं। साथ ही एक ही जन या सम्बधित जनों के सदस्य सामन्ती व्यवस्था में नये सिरे से गठित लघुजातियों में मिल जाते हैं और बहुत दिनों तक अपनी प्राचीन विशिष्टता भी बनाये रहते हैं। उत्तरी भारत के जाट और गूजर इस प्रक्रिया के उदाहरण हैं। जाट और गूजर—सुनार, लुहार की तरह—किसी पेशे वाली जाति का नाम नहीं है। वे प्राचीन जनों के अवशेष हैं जो भारत के विभिन्न जनपदों (लघुजातियों के प्रदेशों) में बट गये हैं। वे जिस जनपद में रहते हैं, वहीं की—ब्रज, पंजाबी, खड़ी बोली आदि—भाषा बोलते हैं। किसी भाषा को बोलने वालों की इकाई पहले जन थी; उसका स्थान अब लघु जाति ने लेती है। जनसंख्या में लघु जाति जन से बड़ी होती है; उसका प्रदेश प्राचीन जनपद

से बड़ा होता है। इस लघु जाति की भाषा का निर्माण किसी प्रमुख भाषा के आधार पर ही होगा, किन्तु अनेक जनों के मिश्रण से इस ... की भाषा में अन्य तत्वों का समावेश भी होगा। इसी कारण आज ... जिन भाषाओं से हम परिचित होते हैं, उनके मूलतत्व प्राचीन जनों की ... मे मिलने चाहिए, किन्तु उन भाषाओं का वही रूप लघु जातियों के ... से पहले के जनो की भाषाओं में मिले, यह आवश्यक नहीं है।

आधुनिक भाषाएं किन्हीं आधुनिक जातियो की भाषाएं हैं—बंगला ... जाति की, तमिल तमिल जाति की, कश्मीरी कश्मीरी जाति की। ... भाषाओं का विकास समझने के लिए उन्हे बोलनेवाली आधुनिक जाति ... विकास समझना आवश्यक है। इन आधुनिक जातियों का विकास ... व्यवस्था की लघु जातियों के विकास से सम्बद्ध है और इन लघु जातियों ... विकास प्राचीन जनों के विघटन और एकीकरण से सम्बद्ध है। ... बहुत सी ऐसी लघु जातिया हैं जिन्होने अपने प्राचीन जनकाल की स्मृतियों ... सुरक्षित रखा है। इस सिलसिले में हम ब्रज का उदाहरण ले सकते हैं। ... तत्वज्ञ श्री कृष्णदत्त वाजपेयी ने अपने ग्रंथ "ब्रज का इतिहास" में ... दिये हैं जिनसे प्राचीन जनों और सामन्ती व्यवस्था के जनपदों का ... समझा जा सकता है। प्राचीन काल मे मथुरा और उसके आसपास का ... शूरसेन जनपद कहलाता था। यही किसी समय अधकवृष्णि संघ बना ... "श्रीकृष्ण के अन्त का इतिहास वास्तव में यादव गणतंत्र के अन्त का इति... है।"[1] इस अंत को ब्रजवासी जाति के निर्माण का आरम्भ भी कहा ... सकता है। शूरसेन जनपद का अन्त नही हुआ। उसका महत्व इसी ... सिद्ध है कि एक प्राकृत को उसी के आधार पर शौरसेनी नाम दिया गया। यादव गणतंत्र कैसे भग हुआ? "पूर्व निश्चय के अनुसार उग्रसेन, ... बलराम आदि के नेतृत्व में यादवों ने बहुत बड़ी संख्या मे मथुरा से ... किया और सौराष्ट्र की नगरी द्वारावती में जाकर बस गये।"[1] (यदि ... घटना सत्य हो तो ब्रज और गुजराती भाषाओ के सामीप्य का ऐतिहासिक ... कारण मिल जाता है।) गणतंत्र भग हो गया लेकिन सामन्ती व्यवस्था के ... आधार पर वह जनपद बना रहा।

बुद्ध के समय मे भारत के सोलह महा जनपदो मे शूरसेन जनपद ... । लेकिन "ये सोलह महा जनपद बहुत काल तक यथापूर्व स्थिति में न रह सके। इनमें से कुछ ने दूसरों को हड़प कर अपना विस्तार बढ़ाने ...

---

१. कृष्णदत्त वाजपेयी, ब्रज का इतिहास, प्रथम खंड, मथुरा, पृष्ठ ५५।
२. उप०, पृ० ४२।

भावना बढ़ी, विशेष कर पूर्वी जनपदो में। काशी, कोसल, मगध, अंग, वत्स आदि राज्यो में हम यह बात स्पष्ट रूप से पाते हैं। इसका फल यह हुआ कि विभिन्न जनपदों के बीच संधि-विग्रह की घटनाएं द्रुतगति से बढ़ने लगीं। महात्मा बुद्ध के समय तक आते-आते मगध, कोसल, वत्स और अवन्ति—ये भारत के चार प्रधान राज्य बन गये और इनके सामने प्रायः सभी अन्य जनपदों की स्थिति गौण हो गयी।"[1] बुद्ध का समय प्राचीन जनो के विघटन और सामन्ती व्यवस्था के अभ्युदय का युग है। प्राचीन जनपदो का एकीकरण संघ बना कर ही नही होता, उनमे दूसरो को हड़प कर अपना विस्तार बढ़ाने की भावना भी उत्पन्न होती है, यह बात ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है।

शूरसेन जनपद पर मगधवासी मौर्य शासको का अधिकार होता है। आधुनिक हिन्द प्रदेश के दो छोर—ओर-छोर के भिन्न भाषाएं बोलने वाले जन—एक-दूसरे के निकट आते हैं। निकट आने की यह प्रक्रिया युद्ध, हिंसा और राज्य-विस्तार की सामन्ती पद्धति से सम्पन्न होती है। लेकिन इस सामन्ती एकीकरण का एक सबल पक्ष था। मौर्य शासकों ने पेशावर से पाटलिपुत्र तक १८५० मील लम्बी सड़क बनायी। "यह सड़क राजगृह, काशी, प्रयाग, साकेत, कौशाम्बी, कन्नौज, मथुरा, हस्तिनापुर, शाकल, तक्षशिला और पुष्कलावती होती हुई पेशावर जाती थी।"[2] इस प्रकार शूरसेन जनपद का अलगाव दूर हुआ; मथुरा नगर व्यापार का प्रमुख केन्द्र बना और विभिन्न जनपदों को निकट लाने में उसकी भूमिका महत्वपूर्ण सिद्ध हुई। मगधवासी समुद्रगुप्त ने फिर इस जनपद को एक विशाल साम्राज्य का अंग बनाया। मथुरा पर नागों, शकों, यूनानियो, हूणो, तुर्कों आदि के आक्रमण हुए किन्तु इनसे जनपद का अस्तित्व खत्म न हुआ। वहां रक्त-सम्बंध पर आधारित कोई कबीला न रहता था; वह शूरसेन जाति का निवास था। उसकी अपनी भाषा और संस्कृति थी। अनेक बाह्य तत्व उसमे आकर मिलते रहे और वे ब्रज में बस कर ब्रज के हो गये। यही कारण है कि जब आक्रमणों के बादल निकल जाते हैं, जनपद की धरती फिर हरी हो जाती है। ब्रज को यह स्थायित्व देने वाली शक्ति वह लघुजातीय संगठन था जिसमे वहां के निवासी बंधे हुए थे। सामन्ती व्यवस्था में प्राचीन जनपद की सीमाएं बहुत विस्तृत हो गयीं। अब मथुरा नगरी और उसके आसपास का प्रदेश ही ब्रज-मंडल न था; इस मंडल में दूर-दूर के प्रदेश शामिल हुए। "ई० सातवीं सदी में जब चीनी यात्री हुएन सांग यहां आया तब उसने लिखा कि मथुरा राज्य का विस्तार ५००० ली (लगभग

---

१. उप, पृष्ठ ६४।
२. उप, पृष्ठ ७०।

... से पता चलता है कि सातवीं शती में ... राज्य के अन्तर्गत वर्तमान मथुरा-आगरा जिलों के अतिरिक्त आधुनिक भरतपुर तथा धौलपुर जिले और उपरले मध्यभारत का उत्तरी लगभग आधा भाग रहा होगा।"[1] यह कल्पना भ्रान्त भी हो सकती है, किन्तु इतना निश्चित है कि सातवीं सदी में शूरसेन जनपद की सीमाएं बुद्धपूर्व के जनपद से बहुत बड़ी थीं। इस प्रकार प्राचीन जनपद सामन्ती व्यवस्था मे निर्मित होने वाली लघु जाति का विस्तृत प्रदेश बना।

इसी प्रकार प्राचीन मगध जन के नाम पर उस जनपद का नाम पड़ा और वह नाम आज तक सुरक्षित है। श्री विमलाचरन लॉ के अनुसार बुद्ध के समय में मगध प्रदेश के अन्तर्गत वर्तमान पटना जिला और गया जिला के उत्तरी अर्द्धांश की भूमि आती थी। कभी प्राचीन जनपदों के नाम सुरक्षित रहते हैं, कभी उनके बदले दूसरा नाम प्रचलित हो जाता है। मगध का नाम अब तक चला आया लेकिन शूरसेन जनपद का नाम ब्रज पड़ गया। इसी प्रकार वर्तमान अवध प्रदेश का निर्माण प्राचीन कोसल जन की भूमि को केन्द्र बना कर हुआ; नाम बदल गया। महत्व नाम का नहीं है; महत्व इस बात का है कि जहां प्राचीन जनपद थे, वहीं सामंती युग में लघु जातियों के प्रदेश बने जो अब प्रमुख बोलियों के क्षेत्र हैं। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार "गंगा-यमुना के बीच मे लगभग मेरठ कमिश्नरी का इलाका असली कुरु राष्ट्र था।"[2] इसे खड़ी बोली का मूल क्षेत्र समझना चाहिए। "यमुना और चंबल के काठे मे प्राचीन कुंति राष्ट्र (वर्तमान ग्वालियर राज्य) था जो अब भी कोतवार कहलाता है।...अभी तक चंबल से टोंस तक का प्रदेश बुंदेलखंड की भौगोलिक इकाई के रूप में प्रसिद्ध रहा है।"[3] इस प्रकार बुंदेलखंड जनपद का निर्माण प्राचीन कुंति जनपद को केन्द्र बनाकर हुआ। काशी जनपद की राजधानी वाराणसी थी। यह पश्चिमी भोजपुरी का केन्द्र बना।

डॉ. धीरेन्द्र वर्मा ने प्राचीन जनपदों से हिन्दी की आधुनिक बोलियों का सम्बंध ठीक जोड़ा है। "कुरु-जनपद आजकल अम्बाला, दिल्ली, मेरठ तथा बिजनौर के आसपास का खड़ी बोली का प्रदेश है।"[4] पाञ्चाल जनपद "आजकल के रोहिलखंड का अधिकांश भाग तथा कन्नौज के निकट का प्रदेश कहा जा सकता है। बोली की दृष्टि से इसे आजकल की कनौजी या पूर्वी ब्रज के

---

१. उप, पृष्ठ २।
२. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ७०।
३. उप, पृष्ठ ७५।
४. मध्यदेश, पृष्ठ १६।

गण नहीं तो जन के बाद गण, गण से लघुजाति और लघुजाति से महाजाति —विकास का यह क्रम निश्चित होता है। लघु जाति की तुलना में प्राचीन जन एक सीमित और सम्बद्ध इकाई था। लघु जाति के क्षेत्र में बोलियों की विविधता दिखाई देती है। काशी और छपरा की भोजपुरी में अन्तर है, इसी प्रकार लखनऊ और प्रयाग की अवधी में अन्तर है। इससे यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि हर बारह कोस के क्षेत्र का एक प्रान्त बना देना चाहिए।

श्री कृष्णदत्त वाजपेयी ने "व्रज का इतिहास" में मथुरा जिले की जातियों की भाषागत विशेषताओं का अध्ययन किया है। अहीरों की भाषा में उकार बहुला है। नाज, काम, रास को ये नाजु, कामु, रामु कहेंगे। वाजपेयी जी ने इस उकार बहुलता को भरत द्वारा निर्दिष्ट आभीरोक्ति (अपभ्रंश) से सम्बद्ध किया है। यह उकार बहुलता अवधी की भी विशेषता है जिससे मालूम होता है कि उसका आभीरादि किसी जाति विशेष से ही सम्बन्ध है। लेकिन यदि मथुरा में कुछ लोग नाज, काम, रास कहते हों, अन्य लोग नाजु, कामु, रामु कहते हों तो यह एक रोचक तथ्य होगा। यह एक ही जनपद में विभिन्न बोलियों के प्रभाव का सूचक है। वाजपेयी जी के अनुसार गूजर लोग राम-राम साब को रौम रौम साब कहते हैं, आदि के आ का गोलाकार उच्चारण करते हैं। चमार 'ल' की जगह 'न'—चल्लु चन्नु, मिल्तु-मिन्तु 'व' की जगह 'भ'—महाब्रन-मामन—का प्रयोग करने की प्रवृत्ति दिखलाते हैं। जाट 'इ' का लोप करके जाइगो, खाइगो को जागो, खागो कहते हैं; जइयो, अइयो के ओकार को और भी विस्तार देकर वे जइयौ, अइयौ कहते हैं। चौबे लोग मैं के लिए हौं का प्रयोग करते हैं; "व्रज की ग्रामीण बोली में 'हूं' का प्रयोग तो मिलता है, पर 'हौं' का प्रयोग मथुरा जिले में नहीं मिलता।"[1] इसी प्रकार "व्रज की ग्रामीण बोली में 'सूं' मिलता है।" चौबे लोग सौं बोलते हैं। जांतूं, आम्तूं की जगह वे जाऔं, आऔं का प्रयोग करेंगे।

वाजपेयी जी पुरातत्त्वज्ञ हैं। मथुरा में क्यूरेटर के रूप में रहते हुए उन्होंने इन बोलियों की विशेषताओं पर ध्यान दिया होगा। जो तथ्य भाषा-शास्त्रियों की दृष्टि से ओझल हो जाते हैं, उन्हें उनकी पूर्वाग्रह-दोष-रहित निर्मल दृष्टि ने भाँप लिया है। उनके दिये हुए तथ्यों से दो निष्कर्ष निकलते हैं। भारत की अनेक जातियां (कास्ट) प्राचीन जनों के आधार पर बनी हैं। इनमें जाटों और गूजरों का उदाहरण हम पहले दे चुके हैं। व्रज जनपद की लघुजाति अनेक जनों के विघटन और मिश्रण से बनी है। इसलिए व्रजभाषा सर्वत्र

---

१. व्रज का इतिहास, द्वितीय खंड, पृष्ठ ११६।

विशेषता यह बतलायी है कि उनमें प्रत्येक का एक सामान्य प्रदेश होता और यद्यपि इनकी सीमाएं स्पष्ट रूप से निर्धारित न होती थीं, फिर भी ये जन उस सामान्य प्रदेश को मान्यता देते थे और उसके निवासी आक्रमकों उसकी रक्षा करते थे। एंगेल्स ने अमरीकी आदिवासी जनों की अन्य विशेषताओं के बारे में कहा है कि प्रत्येक जन की अपनी बोली होती थी; प्रत्येक के सामान्य धार्मिक विचार, धार्मिक गाथाएं और कर्मकाण्ड की पद्धति होती थी। सामूहिक सम्पत्ति का चलन होने से जन आर्थिक इकाई भी होता था। इस प्रकार, यदि आधुनिक जातियों के लिए सामान्य प्रदेश, भाषा, आर्थिक जीवन और संस्कृति आवश्यक तत्व हैं, तो वे प्राचीन जनों में भी उपलब्ध थे। जहां तक स्थायित्व का प्रश्न है, प्राचीन काल में मानव-इतिहास की गति ज्यादा धीमी थी। यदि संयुक्त राष्ट्र अमरीका के नीग्रो और गौरांग ब्रिटिश, जर्मन, इतालवी आदि अपने को अमरीकी जाति (नेशन) में गिन सकते हैं तो अभी कल की बनी इस जाति के मुकाबले में मगध, कोसल, शूरसेन आदि जन बहुत ज्यादा स्थायी थे। जिन तत्वों से जन का निर्माण होता है, उन सामन्तयुगीन लघु जाति का और पूंजीवादी महाजाति का निर्माण होता किन्तु इन तत्वों के गुण और परिमाण में अन्तर होता है। इसीलिए लघुजाति और महाजाति में भी गुणात्मक अन्तर है। जन के आर्थिक जीवन का आधार सामूहिक या कुलगत उत्पादन और सम्पत्ति है। लघुजाति का आर्थिक जीवन नये श्रम-विभाजन के आधार पर बनता है जिसका चिन्ह है वर्ण-व्यवस्था। महाजाति का आर्थिक जीवन वितरण और उत्पादन के नये पूंजीवादी सम्बंधों पर निर्भर होता है और उसमें वर्ण-व्यवस्था विघटित होकर नये वर्गों को स्थान देती है। जन से महाजाति तक के परिवर्तन की धुरी आर्थिक जीवन है। इसीसे जन संगठित होकर संघ बनाते हैं, विभिन्न जनपद सिमट कर लघुजाति का विस्तृत प्रदेश बनते हैं; भिन्न बोलियां बोलने वाले एक-दूसरे के निकट आते हैं; बोलियों के बीच व्यापक व्यवहार के लिए 'भाषाओं' का अभ्युदय होता है। सभी परिस्थितियों में आर्थिक जीवन की नियामक भूमिका रहे, यह आवश्यक नहीं है। पूर्वी और पश्चिमी बंगाल का आर्थिक जीवन एक नहीं है। फिर भी भाषा और संस्कृति विभाजित प्रदेश के दोनों भागों की जनता को एक ही जातीय चेतना में बांधे हुए है। भोजपुरी बोलने वाले लोग बिहार और उत्तर प्रदेश के दो राज्यों में विभाजित हैं। देश के अन्य भागों में भाषावार राज्य बन गये हैं; यहां हिन्दी-भाषियों का एक राज्य बनाने की कौन कहे, एक बोली के बोलने वाले भी दो राज्यों में विभाजित हैं! भोजपुरियों का प्रदेश भोजपुर नहीं कहलाता, प्रदेश से अधिक बोली का नाम प्रसिद्ध है। ब्रज, अवध और मिथिला की तुलना में भोजपुरी प्रदेश

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] हैं। [illegible]
[illegible] है किन्तु [illegible]
[illegible] नहीं [illegible]। बुन्देलखण्डी [illegible]
निवासी (ब्रजवासी) [illegible], [illegible] ब्रज भी मूक है
[illegible], उनका नाम [illegible] लिया होगा [illegible]
[illegible] के लिया है क्या? आपको
अपने नाम [illegible] वृन्दावन लाल, ऐसा है
हमारा ब्रज! "बड़े भाई" वर्मा जी और छोटे भाई शर्मा जी का यह विवाद
होता है यहाँ बातों में! जातीय भाषा ने लघुजातीय बोलियों (बुंदेलखंडी और
ब्रज) को आत्मसात कर लिया है, लेकिन लघुजातीय प्रदेश के प्रति वफादारी
अपनी-अपनी जगह बरकरार है। (वैसे वर्मा जी ने अपने उपन्यासों में बुंदेल-
खंड के अलावा ब्रज के जीवन का भी चित्रण किया है यथा 'टूटे काँटे' में।)

प्राचीन जन जैसी आर्थिक और राजनीतिक इकाई होते हैं, वैसी इकाइयाँ लघुजातियाँ नहीं होतीं। प्रत्येक सामन्त अपना राज्य विस्तार करते हुए दूसरी लघुजातियों का प्रदेश हड़प लेता है। सामन्ती राज्यों का प्रसार अक्सर किसी लघुजातीय प्रदेश की सीमाओं का अतिक्रमण हो सकता है। किन्तु जो सामन्त राज्य विस्तार करता है, वह भी किसी लघुजाति का सदस्य होता है। उसके समर्थक मुख्यतः या तो उसके प्रदेश के लोग होंगे या उसकी बिरादरी के होंगे। सामन्तकाल की बात छोड़िए। पूंजीवादी युग में उत्तर प्रदेश के किसी विश्व-विद्यालय में यदि 'क' बिरादरी का प्रवेश हो गया तो उसका प्रयत्न यह होता है कि 'ख' को घुसने न दिया जाय। यदि 'ख' को एक पैर जमाने का अवसर मिल गया तो वह फिर 'क' को धकियाने और अपने दोनों पैर जमाने से बाज न आयेगी। यह तो हुई बिरादरी की बात। कुछ मंत्री यदि किसी पवित्र प्राचीन जनपद से सम्बन्धित हुए तो वे चाहते हैं कि अन्य अधिकारी भी वहीं के हों—सेक्रेटरी से लेकर सूचना विभाग के अधिकारी तक! यह पूंजीवादी व्यवस्था में सामन्ती परम्परा का पोषण है। इसलिए उन सामन्तों को क्यों दोष दिया जाय जो बिरादरी और प्रदेश के नाम पर अपने अनुयाइयों को उत्साहित करके दूसरों का प्रदेश हड़प लेते थे? हाँ, यह अनिवार्य नहीं है कि प्रत्येक लघुजाति विशृंखल रहे, वह कभी एक ही सामन्त के शासन में आये ही नहीं। सामन्त के राज्य की सीमाएं और लघुजाति के प्रदेश की सीमाएं बहुत कुछ एक भी हो सकती हैं। उदाहरण के लिए बुंदेलखंड में हम छत्रसाल का

के शासन-काल में भी "आगरा के सूबे मे ब्रज का प्रधान भाग आगरा, कोइल और सहार की सरकारों मे पड़ता था।"[1] आजकल ब्रज प्रदेश का एक भाग राजस्थान मे है, तो दूसरा उत्तर प्रदेश में और तीसरा दिल्ली में। छत्रसाल की तरह जाट सामन्त भी राजकाज के लिए जनपदीय भाषा काम मे लाते थे। उदाहरण के लिए अठारहवीं सदी मे लिखा हुआ रानी किशोरी का एक परवाना है। जाट शासन मे ब्रजभाषा का उपयोग राजभाषा के रूप में होता था, इसके प्रमाणस्वरूप यहां वह परवाना उद्धृत किया जाता है :

"॥ श्री राम जी ॥

श्री हरदेव जी
सहाय मे माजी
श्री कीशोरी जी

सही

श्री माजी साहब जी श्री श्री श्री श्री श्री कीसोरी जी वचनात दीघ के सकल पच चौधरी कोठारी पौराने सहर वा जवाहरगज के दर्से मत्र ठाकुर मोहन जी कामरआरे की मदर की चुगी हर जीनस की दरतो बहती सुदा मदतें पावते आये है सो पुन भरष दीघे जाओ हीलहुजत मत कीज्यो हुः माजी साहब फः रोवक मी। जेठ सुदी ३ सवत १८४४, मुकाम दीघ।"[2]

प्राचीन जनपदों मे लघुजातियों का विकास—यह एक ऐतिहासिक नियम है। इस नियम का उल्लंघन तभी होता है जब बाह्य कारणों से जन का अस्तित्व ही न रहे। उत्तर भारत की तरह ग्रेट ब्रिटेन मे भी लघुजातियों का निर्माण हुआ था। ब्रिटिश महाजाति के अन्तर्गत इन लघुजातियों का अस्तित्व और चेतना अभी भी समाप्त नहीं हुई। स्काटलैंड क्या है ? यह किसी लघुजाति (नेशनैलिटी) का प्रदेश है या इग्लैंड से स्वतन्त्र महाजाति (नेशन) का देश है ? स्काटलैंड मे वे केल्टिक जन बसे थे जिन्हें यूरोप से आने वाले जर्मन-भाषी जन जीत न सके थे। इन जनों से मिल कर स्काट नामक लघु जाति का निर्माण हुआ। उनकी भाषा अंग्रेजी से भिन्न गेलिक है (या गेलिक बोलियों का समूह है)। चौदहवी सदी के आरम्भ में विलियम वैलेस और रोबर्ट ब्रूस के नेतृत्व मे स्कॉट जाति ने अंग्रेजी दासता का जुआ उतार फेंका। ये स्कॉट जाति के निर्माता कहे जाते हैं। अपने राजाओं के शासन मे स्काट

---

1. ब्रज का इतिहास, पृष्ठ १३१ (यह अश डॉ रघुवीर सिंह का लिखा हुआ है)।
2. यह परवाना भरतपुर के सम्पादक श्री गुलजार सोनटो के सौजन्य से प. मदनलाल के कागज-पत्रों मे देखने को मिला।

जाति ने अंग्रेजी से भिन्न अपनी भाषा का विकास किया, उसे सांस्कृतिक और राजकीय कार्यों का माध्यम बनाया। अंग्रेजी भाषा के एक इतिहास लेखक के अनुसार स्कॉट भाषा "अंग्रेजी से इतनी भिन्न है कि उसे दूसरी ही भाषा मानना चाहिए। जिन बोलियों से साहित्यिक और शिष्ट अंग्रेजी विकसित हुई, उन्हें छोड़ कर और किन्हीं भी बोलियों को यह प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं हुई जो स्कॉट को प्राप्त है: शताब्दियों तक यह राजाओं और विद्वानों, कवियों और इतिहासकारों की भाषा रही; यह राज-दरबार और शासन, धर्म और साहित्य की भाषा एक साथ ही रही।"[1] स्कॉट भाषा में ही अठारहवीं सदी के कवि बर्न्स ने अपनी अधिकांश भावपूर्ण कविताएं रचीं; स्कॉट लघुजाति की ऐतिहासिक परम्परा को लेकर ही वाल्टर स्कॉट ने अपने अधिकांश उपन्यास लिखे। इन उपन्यासों की भाषा अंग्रेजी है लेकिन वाल्टर स्कॉट ने किसानों आदि साधारण वर्ग के पात्रों से स्कॉट ही बोलवायी है। चार्ल्स लैम्ब ने स्कॉट और अंग्रेजों के परस्पर भेदभाव की चर्चा करते हुए उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में लिखा था, "जिन्दगी भर यह कोशिश करता रहा हूं कि स्कॉट मुझे अच्छे लगें, लेकिन निराश होकर अब मैंने यह प्रयोग बंद कर दिया है। मैं उन्हें अच्छा नहीं लगता और सच तो यह है कि मुझे उस जाति (नेशन) का कोई भी सदस्य अब तक नहीं मिला जिसने यह कोशिश की हो कि मैं उसे अच्छा लगूं।"[2] उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में अंग्रेज और स्कॉट के बीच इतना फासला था कि लैम्ब ने स्कॉट जाति के लिए "नेशन" शब्द का प्रयोग किया था। "ब्रिटिश नेशन" की चेतना अब तक भी एकदम पुख्ता न हुई थी। अठारह सौ सत्तावन में भारतीय स्वाधीनता संग्राम का दमन करने के लिए जो पल्टनें ब्रिटेन से यहां आयी थीं, उनमें बहुत सी स्कॉट थीं। (वास्तव में स्कॉट और आयरिश सैनिकों के कंधों पर बंदूकें रख कर 'अंग्रेजों' ने उत्तर भारत पर फिर से अपना प्रभुत्व कायम किया था।) ब्रिटिश सेनापति कौलिन कैम्बेल स्कॉट था और वह अपने प्रदेशवासियों के प्रति पक्षपात करता था। पत्रकार रसेल ने लिखा था कि "हाईलैण्डर्स को सर कौलिन पर बहुत गर्व है और उसे उन पर गर्व है। वे समझते हैं कि वह उनकी वैसी ही निजी सम्पत्ति हो जैसे कि उनके बैगपाइप।"[3] फौजी अफसर रोबर्ट्स ने लिखा था कि "सारी फौज के मन

---

१. हेनरी सिसिल वाइल्ड, दि हिस्टॉरिकल स्टडी ऑव दि मदरटंग, लंदन, १६०६, पृष्ठ २०८।

२. "इम्परफेक्ट सिम्पथीज" नामक निबंध।

३. डब्ल्यू. एच्. रसेल, माई इंडियन म्युटिनी डायरी, एडवर्ड्स द्वारा संपादित, १६५७, पृष्ठ ६३१।

मे यह भावना थी कि सर कौलिन का रवैया हाईलैण्डरो के साथ अनुचित पक्षपात करने का है।"[1] भारतीय सैनिक भी इस भेद से परिचित थे। कानपुर मे हैवलोक के स्कॉट सैनिको को चिढ़ाने के लिए उन्होने बैण्ड पर एक प्रसिद्ध स्कॉट गीत — श्राउल्ड लैंग साइन — की धुन बजायी थी। स्कॉटलैण्ड का अलग जातीय निर्माण हो, उसकी राज्यसत्ता अलग हो, इस तरह के छिटफुट आंदोलन बीसवी सदी मे भी चलते रहे हैं।

स्कॉटलैंड की तरह वेल्स मे भी केल्टिक जन रहते थे। वेल्स मे वेल्श भाषा अभी तक दैनिक जीवन मे काम आती है। राजकाज के लिए अंग्रेजी का व्यवहार होता है। वेल्श भाषा उससे बिलकुल भिन्न है और अभी भी जीवित है। इतिहासकार डेविस के अनुसार वेल्श सामन्त लेवेलिन ने छोटे-छोटे राज्यों को मिलाकर "वेल्श को एक नेशन" बनाने का प्रयत्न किया।[2] "उनमे एक प्रकार की देशभक्ति (अर्थात् वेल्स-प्रदेश के प्रति भक्ति) हमेशा से थी।" वेल्श सामंतो ने अपनी एक समिति बनायी और इस प्रकार सामंती व्यवस्था मे अपनी लघु जाति का गठन किया। वेल्श जन अपने काव्यों और भावुक प्रकृति के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। १२५६ मे उन्होंने इंग्लैंड के विरुद्ध "मुक्ति-संग्राम" छेड़ा था। जिन ट्यूडर राजाओ के शासनकाल मे इंग्लैंड का नया जातीय गठन हुआ, वे वेल्श जाति के थे। ब्रिटेन का कॉर्नवाल प्रदेश केल्टिक जनो का निवास था और बहुत दिनों तक वहा कौर्निश भाषा का चलन रहा। केन्ट प्रदेश मे जूट नाम के जर्मन जन आकर बसे थे। इनकी बोली ऐंगल और सैक्सन जनो से भिन्न थी। स्कीट ने ब्रिटेन की बोलियो पर अपनी पुस्तक मे लिखा है कि केन्ट की वर्तमान बोली की कुछ विशेषताए प्राचीन काल से चली आ रही हैं। केन्ट प्रदेश के इतिहास से पता चलता है कि किस प्रकार एक जनपद जन के बदले लघुजाति का निवास बनता है और फिर वह महाजाति के प्रदेश का अंग बन कर अपनी स्वतंत्र सत्ता खो देता है। उसकी भाषा बोली मात्र रह जाती है।

भारत के प्राचीन जनपदों की तरह नवी सदी मे वर्तमान रूस, उक्रेन आदि मे स्लाव जनपद थे। नवगरोद नगर को केन्द्र बना कर इल्मेन स्लावो का जनपद बसा था। किएव नगर को केन्द्र बना कर पोल्याने जन बसा हुआ था। दसवीं सदी मे नवगरोद के सरदार ओलेग ने क्रिविचो, देवल्याने, सेवेर्यान, रदीमची आदि जनो को जीत कर एक गणसंघ बनाया जिसका नाम हुआ

---

१. अर्ल रोबर्ट्स, फॉर्टीवन यीयर्स इन इंडिया, १८९१, पृष्ठ २११।

२. एच्. डब्ल्यू. सी. डेविस, इंग्लैंड अंडर दि नोर्मन्स एण्ड एञ्जविन्स, १९२४, पृष्ठ ४४६।

रूप। जिस तरह मगध सम्राटों ने उत्तर भारत को एक किया था, उसी तरह "कियेव रूस" की राज्यसत्ता के अन्तर्गत विभिन्न स्लाव जनों का एकीकरण हुआ। यह सामंती राज्यसत्ता थी, लेकिन रूसी जाति के गठन, उसकी भाषा और संस्कृति के विकास में उसका अन्यतम महत्व स्वीकार किया जाता है। इस राज्यसत्ता के अन्तर्गत एक साहित्यिक भाषा का प्रयोग हुआ जिसे जनता समझती थी।[1] यह राज्यसत्ता कुछ दिन बाद छिन्न-भिन्न हो गयी। इसका कारण यही नहीं है कि छोटे-छोटे राज्यों में एक विशाल राज्य बंट गया; इसका कारण लघु जातियों का निर्माण भी है। ध्यान देने की बात है कि प्राचीन जनपदों के प्रमुख नगरों को केन्द्र बना कर ही सामंतों ने अपने नये राज्य कायम किये। इस तरह का एक केन्द्र नवगरोद था जहां के सामन्तों ने उत्तर में उराल पर्वतमाला तक अपना राज्य-विस्तार किया। एक दूसरा केन्द्र था रोस्तोव नगर जहां व्यातिची नामक स्लाव जन रहता था। उसमें स्मोलेंस्क से क्रिविची जन आ मिला। कुछ स्लाव नवगरोद से आये। इस प्रकार बारहवीं सदी में वोल्गा और ओका नदियों के बीच रोस्तोव-सुज्दाल राज्य कायम हुआ। वोल्गा और ओका के बीच रहने वाले स्लाव ही रूसी जाति का निर्माण केन्द्र बने। चौदहवीं सदी में मॉस्को राज्य के शासक इवान तृतीय ने नवगरोद, त्वेर, रियाजान आदि को मिला कर रूसी राज्य कायम किया। इस समय तक व्यापार ने बहुत उन्नति न की थी। लेनिन के अनुसार रूसी जाति का निर्माण लगभग सत्रहवीं सदी के आरम्भ में हुआ। इस जातीय निर्माण में सामंती राज्यसत्ता ने भी सहायता दी। वे लघु जातियों के प्रदेश, जिनसे रूसी जाति बनने वाली थी, सिमट कर एक राज्य में शामिल हुए। इवान तृतीय ने दूसरों के प्रदेशों को जीता; इससे सामंती अलगाव को प्रोत्साहन न मिला। इसके विपरीत सामंती राज्यसत्ता महाजाति के निर्माण में सहायक हुई। ब्रिटेन के राजाओं ने वेल्श और स्कॉटलैंड को युद्ध और हिंसा द्वारा जीता और इस अत्याचार के विरुद्ध वेल्श और स्कॉट लोगों ने विद्रोह किया। लेकिन अंत में वेल्श और स्कॉटलैंड को इंग्लैंड में मिलाने वाली सामंती राज्यसत्ताएं ब्रिटिश जाति के निर्माण में सहायक हुईं। रूस और ब्रिटेन के इतिहास का अन्तर यह है कि अंग्रेजों की भाषा से वेल्श और स्कॉट जनों की भाषाएं भिन्न थीं। उन्हें सचमुच मार-मार कर ब्रिटिश जाति का अंग बनाया गया। वैसे सच्चे ब्रिटिश तो वेल्श और स्कॉट ही हैं, अंग्रेजों का सम्बंध जर्मन कुल की बोलियां बोलने वाले ऐंगल और सैक्सन जनों से है, न कि केल्टिक कुल

---

१. प. य. चेर्निख, इस्तोरिचेस्काया ग्रामातीका रूस्कोवो याज़ीका, मॉस्को, १९५२, पृष्ठ ४३।

की भाषाएं बोलने वाले ब्रेटन जनो से। जाति का नाम हुआ ब्रिटिश, लेकिन स्काट और वेल्श से भिन्नता के कारण भाषा का नाम रहा इंगलिश। भारत मे मगध या कन्नौज को केन्द्र बना कर जिन सामन्तों ने राज्य-विस्तार किया, उन्होंने मुख्यतः वर्तमान हिन्दी-भाषी प्रदेश के जनो और लघु जातियो को अपने राज्यों की धुरी बनाया। ये जन और जातिया मिलती-जुलती भाषाएं बोलती थी। रूसी या भारतीय सामतो ने अपने-अपने भाषा परिवारों से भिन्न कुलों की भाषाएं बोलने वालो के प्रदेश जीते न हो, यह बात नही है किन्तु मध्य-काल मे उत्तर भारत तथा रूस मे जो साम्राज्य बने, उनका मूलाधार वे प्रदेश थे यहा बसने वाले जनो और जातियों से वर्तमान हिन्दी और रूसी महा-जातियों का निर्माण हुआ है।

यह कहा जा सकता है कि ये सामती राज्य जातीय राज्य (नेशनल स्टेट) न थे। उनकी सीमाएं जातीय प्रदेश की सीमाओं का अतिक्रमण करती थीं; इन राज्यो मे अन्य भाषाएं बोलने वाली जातियों के प्रदेश भी शामिल थे। यह आपत्ति सही है। सामंती व्यवस्था मे लघुजातियो का निर्माण होता है, महाजाति का नही। जब महाजाति का निर्माण ही नही हुआ तब उसके जातीय प्रदेश और जातीय राज्यसत्ता का सवाल नहीं उठता। किन्तु महा-जातियों का महाप्रदेश (जैसे महागुजरात, विशाल आन्ध्र) किन्हीं लघुजातियों के लघु-प्रदेशो से मिलकर ही तो बनेगा; यदि कोई चक्रवर्ती सम्राट् इन छोटे प्रदेशो को मिला कर उन्हे एकच्छत्र शासन मे ले आये, तो क्या वह महाजाति के निर्माण मे—अप्रत्यक्ष रूप से—सहायता नही करता? सोवियत संघ के इति-हासकारों ने लिखा है कि चौदहवी सदी मे इवान तृतीय के राज्य मे उत्तर-पूर्वी रूस के स्वतंत्र राज्यो के स्थान मे एक ही "जातीय रूसी राज्य" कायम हुआ और इस जातीय राज्य ने रूसी जनता को मिला कर एक किया।[1] सकुचित अर्थ मे इस स्थापना को लें तो वह अक्षरशः सही नहीं है। उस समय रूसी जाति का अस्तित्व नही था; तब जातीय राज्य कैसे कायम हो सकता था? लेकिन व्यापक दृष्टिकोण से देखें तो बात सही है। इस राज्य मे वे सब जनपद विद्यमान थे जिनमे उस देश और वहा के निवासियों को मिला कर रूसी जाति का निर्माण हुआ। इसलिए यह रूसी जाति का राज्य न हुआ तो उस जाति को बनाने वाले उपकरणो का राज्य तो हुआ ही।

जहां तक पूंजीवाद के अभ्युदय का सवाल है, यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक पूंजीवादी राज्य जातीय राज्य नही होता। अक्सर वह बहुजातीय

---

1. पंक्रातोवा द्वारा सम्पादित, ए हिस्ट्री आव द यू एस एस. आर, मास्को, १९४७, खंड १, पृष्ठ १४०।

राज्य होता है अर्थात् एक जाति के शासक दूसरी जातियों के प्रदेशों को अपने राज्य का अंग बना लेते हैं। यह स्थिति बड़े-बड़े इजारेदार पूंजीपतियों के प्रभुत्व काल में —अर्थात् में साम्राज्यवाद के समय —ही नहीं होती। पूंजीवाद के अभ्युदय काल में भी यह दशा देखी जा सकती है। यूरोप में जब पूंजीवादी उत्पादन-पद्धति का जन्म हो रहा था, आधुनिक उद्योग-धंधों का विकास न हुआ था, जब पूंजीवादी सम्बंधों के प्रसार का मुख्य साधन व्यापार ही था, तभी स्पेन, ब्रिटेन, हालैंड, पुर्तगाल आदि यूरोपीय देशों के जमींदारों और व्यापारियों ने एसिया, उत्तरी-दक्खिनी अमरीका आदि महाद्वीपों में अपने उपनिवेश बनाने शुरू कर दिये थे। पूंजीवाद के प्रमुख यूरोपीय केन्द्र ब्रिटेन ने आयर्लैंड पर प्रभुत्व कायम कर रखा था। आज भी आयर्लैंड का एक भाग ब्रिटिश राज्यसत्ता के अधीन है। जैसे जर्मन जमीदारों ने प्रशिया के स्लाव प्रदेश का जर्मनीकरण सम्पन्न किया था, वैसे ही ब्रिटिश जमीदारों ने आयर्लैंड की भाषा और संस्कृति का दमन करके उसे ब्रिटिश बनाने में कुछ उठा नहीं रखा था। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति से सामती राज्य-सत्ता खत्म हुई; वहां पूंजीवादी प्रभुसत्ता कायम हुई। इस प्रभुसत्ता के रक्षक और प्रसारक नैपोलियन ने इटली और स्पेन पर अधिकार करके मॉस्को तक धावा मारा। जनतंत्र और स्वाधीनता के जिन हामियों ने नैपोलियन को परास्त करके यूरोप में नयी व्यवस्था कायम की, उन्होंने जातियों के आत्मनिर्णय के अधिकार की जरा भी चिन्ता न की। इतिहासकार फिशर ने लिखा है कि यूरोप में प्रथम महायुद्ध के बाद जो अशान्ति फैली थी, उससे भी ज्यादा अशान्ति यूरोप में नैपोलियन की पराजय के बाद फैली थी। "आस्ट्रिया के जुए के नीचे इतालवी और चेक, डच जुए के नीचे बेल्जियन, रूसी और जर्मन जुए के नीचे पोल, तथा तुर्क जुए के नीचे सर्ब और ग्रीक पीड़ित थे।"[1] इसका अर्थ यह है कि नैपोलियन के बाद यूरोप में सर्वत्र जातीय उत्पीड़न का बोलबाला था। ऐसा लगता है कि यूरोप में जब तक सामंत-युगीन लघुजातियां थीं, तब तक जातीय उत्पीड़न भी लघु था। पूंजीवाद के अभ्युदय-काल में जब महाजातियों का गठन हुआ, तब यह जातीय उत्पीडन भी लघु से महा बन गया। एसिया और अफ्रीका में यूरोपीय उपनिवेशवादी अपनी गौरांग सभ्यता के प्रसार का डंका पीटते थे। लेकिन यूरोप में ही अपने गौरांग भाइयों को मौका लगते ही गुलाम बनाने से वे कभी बाज नहीं आये। वास्तव में उन्होंने गोरी जातियों को गुलाम पहले बनाया था, काली-पीली जातियों को बाद में। युद्ध, हिंसा और जातीय उत्पीड़न—पूंजीवाद की ये विशेषताएं उसके जन्मकाल से ही उसके

---

1. एच. ए. एल. फिशर, ए हिस्ट्री ऑव यूरोप, लंदन, १९४५, पृष्ठ ८७६।

गया है। यदि किसी देश के पूजीपतियो ने इसका किसी समय सहारा नही लिया, तो इसका कारण होनेवाले की कमी न थी, कारण यह था कि उस समय बेचारों के पास साधन न थे। उदाहरण के लिए बेल्जियम पर पहले डच शासन था, बेल्जियन पूजीपति दूसरी जातियों को गुलाम क्या बनाते, खुद ही गुलाम बने हुए थे। आज देखिए, कांगो को आजादी बख्शने के बाद फिर वहा फौजें भेज रहे हैं। इटली आस्ट्रिया के अधीन था, वहा के पूजीपतियो ने मौका पाते ही अबीसीनिया पर कब्जा जमाया था। समाजवादी शक्तियो और उपनिवेशो के स्वाधीनता-आन्दोलनो के सम्मिलित प्रयत्नो से यह जातीय-उत्पीडन खतम हो रहा है, इसका श्रेय पूजीवाद को नही है। पूजीवाद ने हर स्थिति मे—१७वीं-१८वी सदी मे जब सौदागरो का जोर था, १९वी मे जब उद्योगपतियो का जोर रहा और बीसवी मे जब इजारेदार पूजीपतियो का जोर है—दूसरी जातियो को गुलाम बनाने की कोशिश की। उसे हर स्थिति मे इस गुलामी से मुनाफा कमाने मे मदद मिलती थी। इस कारण पूजीवादी राज्यसत्ता प्रारम्भ से ही बहुजातीय राज्यसत्ता रही है। यह उसका साधारण नियम है। एक-जातीय राज्यसत्ता अपवाद रूप मे रही है। न केवल जारशाही रूस वरन् प्रत्येक पूजीवादी राज्य न्यूनाधिक मात्रा मे जातियो का कारागार रहा है।

इसलिए सामन्ती राज्यो की सीमाए यदि किन्ही जातीय प्रदेशो की सीमाओ से नही मिलती रही, तो इससे सामन्ती राज्यसत्ता के सीमित महत्व को न भूल जाना चाहिए। भाषा के गठन और विकास मे सामन्ती राज्यसत्ता की वही भूमिका नही है जो पूजीवादी राज्यसत्ता की होती है। किन्तु किसी महाजाति के गठन और उसकी भाषा के विकास मे सामन्ती राज्यसत्ता का भी योग हो सकता है, यह मानना चाहिए। विभिन्न प्रदेशो को एक राजनीतिक प्रभुत्व मे लाने से व्यापार के विकास मे सुविधा होती है। जाति के गठन मे व्यापारियों द्वारा पूजीवादी सम्बधो के प्रसार की नियामक भूमिका है, इस भूमिका को पूरी करने मे एक सुव्यवस्थित सामन्ती राज्य व्यापारी वर्ग की सहायता कर सकता है। हम इस स्थापना के प्रमाण-रूप रूस की सामन्ती राज्यसत्ता को ले सकते हैं। चौदहवी सदी मे मॉस्को राज्य के सामन्त इवान कलीता (कलीता का वास्तविक रूप है खलीता, खलीते मे धन भरने की प्रसिद्धि से खलीता नाम पडा) ने तातारो की सहायता से त्वेर राज्य को जीत लिया। तातार सम्राट ने उसे समस्त रूस से कर इकट्ठा करने का अधिकार दे दिया। इस सुविधा से लाभ उठा कर उसने अपना प्रभुत्व बढाया। पन्द्रहवी सदी में रियाज़ान भी मॉस्को सम्राटो के राज्य मे मिला लिया गया। सामन्ती सत्ता के सुकेन्द्रित होने से तातार आक्रातास्रो से लडने मे सुविधा हुई। इस समय

मॉस्को के सौदागरों ने तुर्की, ईरान आदि देशों से व्यापार करना शुरू किया। भारत की यात्रा करने वाला अफ़नासी निकितिन त्वेर का एक सौदागर ही था। चर्च भी इस राज्यसत्ता का समर्थन करता था; उसका प्रचार यह था कि सम्राट् को प्रभुत्व-शक्ति ईश्वर से प्राप्त हुई है। यह राज्यसत्ता मुख्यतः सामन्त वर्ग का हितसाधन करती थी लेकिन "उससे सौदागरों का हित भी होता था, क्योंकि सामन्ती अलगाव से देश के विभिन्न प्रदेशों में व्यापार के विकास में बाधा पड़ती थी। इसलिए सौदागर ज़ार के प्रयत्नों का जोरों से समर्थन करते थे जिनसे देश की एकता दृढ़ हो। इसके सिवा शक्तिशाली राज्य कायम होने से पूरब और पश्चिम के बाजारों को हथियाने में सुविधा होती थी।"[1] इस तरह रूस में सामन्ती राज्यसत्ता ने व्यापार की उन्नति में, व्यापार द्वारा पूंजीवादी सम्बंधों के प्रसार में, पूंजीवादी सम्बंधों के प्रसार द्वारा एक अखिल-रूसी बाजार कायम करने में, अखिल-रूसी बाजार द्वारा रूसी जाति के गठन में और रूसी जाति के गठन द्वारा रूसी भाषा के विकास और प्रसार में अप्रत्यक्ष रूप से सहायता की।

लीविस मम्फोर्ड नामक लेखक ने "नगरों की सभ्यता" नामक ग्रंथ में इस बात की ओर ध्यान दिलाया है कि प्रदेशों की एकता और आन्तरिक शांति पूंजीवादी विकास के लिए आवश्यक थी। इंग्लैंड और फ्रांस में जो केन्द्रबद्ध राज्यशक्ति विकसित हुई, उसमें व्यापारियों को लाभ था। सम्राट् के संरक्षण में लूटमार से बच कर राजमार्गों पर यात्रा करना सम्भव हुआ। बारहवीं सदी के बाद यूरोप में सौदागरों के लिए यात्रा की परिस्थितियां बिगड़ रही थीं। राइन नदी के किनारे पहले उन्नीस जगह चुंगी लगती थी; तेरहवीं-चौदहवीं सदियों में क्रमशः पच्चीस और बीस चुंगी के अतिरिक्त अड्डे कायम हो गये। छ-छ मील पर चुंगी देकर चलने से व्यापारियों को बड़ी असुविधा होती थी। सुकेन्द्रित राज्यसत्ता न होने से सामान्य मुद्रा का चलन भी न था। इससे वस्तुओं के क्रय-विक्रय में बड़ी कठिनाई होती थी। छोटे-छोटे नगर, जहां व्यापारियों का प्राधान्य था, एक-दूसरे से जलते थे और संबद्ध न हो पाते थे। "जहां सहकारिता का सिद्धान्त लागू न किया गया था या ठोंक-पीट कर लागू किया गया था और असफल रहा था, वहां राज्यसत्ता ने सैन्य-शक्ति द्वारा सबको एक सूत्र में बांधा।"[1] इस प्रकार जहां व्यापारी स्वयं अपने वर्गहित में एक न हो पाते थे, वहां सामन्ती राज्यसत्ता ने उन्हें एक होने के लिए बाध्य किया। इसमें सबसे पहले सामन्त वर्ग को लाभ था, लेकिन अन्त में व्यापारी

---

१. ए हिस्ट्री ऑव दि यू. एस. एस. आर., खंड १, पृष्ठ १६४।

वर्ग अपनी शक्ति और संगठन को सुदृढ़ करके सामन्ती सत्ता को चुनौती देने में समर्थ हुआ।

यूरोप की तरह भारत में भी सामन्ती राज्यसत्ता ने व्यापार की उन्नति में सहायता की। मुगल शासन में उत्तर भारत का अधिकांश भाग एक राज्य-सत्ता के अन्तर्गत आया। इसमें इलाहाबाद, आगरा, अवध, बिहार, दिल्ली आदि के सूबे शामिल थे। इस साम्राज्य का मेरुदंड हिन्दीभाषी प्रदेश था। तुर्कों के समय में ही राज्य काफी केन्द्रबद्ध हो गया था। तुगलक शासकों ने भूमिकर उगाहने के लिए अमले नियुक्त किये थे।[1] १३७५ में पच्चीस चुंगी-कर हटा दिये गये; "इनसे सौदागर और व्यापारी बहुत परेशान रहते थे।"[2] इस समय जमुना से डेढ़ सौ मील लम्बी नहर निकाली गयी जिसके किनारे हिसार नगर बसाया गया। जौनपुर, हिसार, फतहाबाद, फिरूजाबाद (दिल्ली के पास) आदि नये शहरों का आबाद होना व्यापारिक उन्नति का सूचक है। शेरशाह ने गाँव के मुखियों से यह अधिकार ले लिया कि वे किसानों के लिए भूमिकर निश्चित करें। उसने काश्तकारों से सीधा सम्बन्ध स्थापित किया। शेरशाह के समय में टोडरमल ने जो भूमि-व्यवस्था कायम की थी, उसे अकबर बनाये रहा। अकबर ने न केवल राजनीतिक रूप से उत्तर भारत को एक किया, बल्कि जागीरदारों को भी अपनी निरंकुश राज्यसत्ता के अधीन रखा। राजपूत सामन्तों की बुनियादी कमजोरी यह थी कि वे न तो राजस्थान को एक सुकेन्द्रित शासन व्यवस्था में ला सके, न समूचे उत्तर भारत (या हिन्दीभाषी प्रदेश) का एक राज्य कायम कर सके। राजस्थान या हिन्दीभाषी प्रदेश न वे एक संयुक्त जातीय राज्य कायम न कर सके। फलतः वे इतिहास की आवश्यकता की पूर्ति न कर सके। अकबर की निरंकुश सत्ता वैसी ही थी, जैसी इंग्लैंड या यूरोप के शासकों की। जागीरदारों और सामन्तों के स्वतन्त्र राज्यों का अलगाव खत्म किये बिना व्यापार की उन्नति और उसका प्रसार सम्भव नहीं था। डॉ. पी. शरन ने मुगल जागीरों के बारे में लिखा है, "ये जागीरें मध्यकालीन यूरोप के सामन्तों की रियासतों की तरह नहीं थीं। उन रियासतों में सामन्तों की प्रबल प्रभुसत्ता होती थी। यहाँ किसी को जागीर देने का यह अर्थ न होता था कि उस भूमि पर कोई राजनीतिक परिवर्तन हुआ। कभी-कभी उच्च अधिकारियों को पूरे के पूरे सूबे जागीर के रूप में दे दिये जाते थे। इससे उन्हें यह अधिकार न मिल जाता था कि वे दीवान, काजी, शहर काजी या फौजदार की नियुक्ति करें। जागीरदार मालगुजारी की दर या उसे वसूल

---

1. दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इंडिया, खंड ३, १६२८, पृष्ठ १२८।
2. वही, पृष्ठ १७५।

करने की पद्धति भी न बदल सकता था।"[1] जागीरदारों की नियुक्ति प्रायः उनकी जागीरों से दूर की जाती थी। अकबर के साम्राज्य में एक-सी मुद्रा-व्यवस्था का चलन हुआ। डॉ. पी. शरन के अनुसार तेरहवीं सदी के बाद से अठारहवीं सदी तक राजपूतों के सिक्के नहीं मिलते।

इतिहासकार विन्सेंट स्मिथ ने लिखा है कि "अकबर स्वयं एक व्यापारी था और व्यापार से मुनाफा कमाने को घटिया काम न समझता था।"[2] उसने गुजरात, आगरा और कश्मीर के कुछ उद्योगों पर अपना इजारा कायम कर लिया था; उसकी या उसके कर्मचारियों की जानकारी के बिना राज्य में कोई चीज न बेची जा सकती थी।[3] व्यापार में मुगल शासकों की इस दिलचस्पी के कारण डॉ. पी. शरन ने लिखा है कि उन दिनों सबसे बड़ा सौदागर बादशाह ही था।[4] शाहजहां के पास नील के व्यापार का इजारा था। सरकारी खजाने से रुपया उधार लेकर मनोहर दास नाम का सौदागर नील का व्यापार करता था और शाहजहां मुनाफे में हिस्सा बटाता था।[5] शोरे के कारबार पर भी उसका इजारा था। उससे पहले नूरजहां ने भी नील और जरी के कपड़ों

बड़े हॉल देखे जाते हैं जहां कारीगर काम करते हैं। इन्हें कारखाना कहा जाता है। एक हॉल में जरी का काम करने वाले अपने निर्देशक की देखरेख में व्यस्त रहते हैं। दूसरे हॉल में सुनार दिखाई देते हैं, तीसरे में चित्रकार, चौथे में लकड़ी पर वार्निश करने वाले रंगसाज़, पांचवें में बढ़ई, दर्जी, चमार आदि, छठे में रेशम, जरी के कपड़े और बढ़िया मलमल के कारीगर बैठते हैं जिनसे पगड़ियां, सुनहले फूलों वाले कमरबंद, स्त्रियों के खूबसूरत काम वाले वस्त्र बनते हैं।" डॉ. राधाकमल मुकर्जी के अनुसार एक ही वस्तु के उत्पादन में विभिन्न धंधों के कारीगर काम करने लगे थे।[1] प्रारंभिक पूंजीवादी उत्पादन की यह विशेषता है। एक ही कारीगर आदि से अन्त तक किसी वस्तु को बनाता है तो उसमें समय ज्यादा लगता है। उत्पादन की विभिन्न मंज़िलों में यदि विभिन्न धंधों के अनेक कारीगर उस एक वस्तु के निर्माण में भाग लें तो काम जल्दी होता है। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इन कारखानों में उत्पादन का यह समाजीकरण हुआ था या नहीं, किन्तु बहुत से कारीगरों का एक जगह इकट्ठा होना ही एक महत्वपूर्ण बात थी। यह भी सच नहीं है कि इन कारखानों में व्यापार के लिए उत्पादन होता था या केवल शाही घराने के लोगों की जरूरत की चीज़ें तैयार की जाती थीं। बर्नियर ने अपने यात्रा-वृत्तान्त में इस बात का उल्लेख किया है कि इस तरह के कारखाने दिल्ली में नहीं थे।[2] दिल्ली राजधानी थी। यदि ये कारखाने शाही खानदान की जरूरतें पूरी करने के लिए ही थे तो उन्हें सबसे पहले दिल्ली में होना चाहिए था। लाहौर और कश्मीर में कारखाने कायम करने में क्या तुक थी?

एक बात स्पष्ट है, मुगल शासन केन्द्रबद्ध शासन था। इस शासन के प्रमुख केन्द्र दिल्ली और आगरा थे। ये केन्द्र हिन्दीभाषी प्रदेश के व्यापारिक और सांस्कृतिक केन्द्र थे। केन्द्रित राज्य व्यवस्था होने के कारण सारे हिन्दीभाषी प्रदेश में और उसके बाहर एक ही मुद्रा-व्यवस्था का चलन हुआ। राजसत्ता की देख-रेख में बाज़ार में नाप-तोल, क्रय-विक्रय भाव आदि के नियमन से, यातायात की सुविधा से, जागीरदारों और अन्य सामंतों की निरंकुशता कम होने से व्यापार ने अभूतपूर्व उन्नति की। भारत का माल खरीद कर अपने देशों में बेचने के लिए दूर-दूर से—विशेष कर इंग्लैंड से—यहां व्यापारी आने लगे। व्यापार की इस प्रगति में सामंती राजसत्ता ने भी सहायता की। इस प्रकार हिन्दीभाषी जाति के निर्माण में मुगल राज्यसत्ता की एक महत्वपूर्ण भूमिका है।

---

[1] राधाकमल मुकर्जी; दि इकॉनामिक हिस्ट्री ऑव इंडिया, पृष्ठ ८१।
[2] बर्नियर का यात्रा वृत्तान्त, पृष्ठ २५४।

उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह है कि प्राक्सामंतीय जनों और सामंत-युगीन लघुजातियों के विघटन और एकीकरण से ही महाजातियो का निर्माण होता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति के उद्भव और केन्द्रीकरण से प्राचीन जनों का विघटन होता है। वर्ण-व्यवस्था और नये श्रम-विभाजन के आधार पर नयी लघुजातियो का गठन होता है। किसी एक या दो शक्तिशाली जनों को केन्द्र बनाकर जो गण-संघ बनते हैं, अक्सर वही लघुजाति का रूप धारण करते हैं या उसके मूलाधार होते हैं। वे अपने प्राचीन जन या उसके प्रदेश की स्मृति सुरक्षित रखते हैं। किन्तु प्राचीन जनपद से लघुजाति के प्रदेश में काफी अन्तर होता है। उत्तर भारत में प्राचीन जनपदों और वर्तमान हिन्दी की बोलियों के क्षेत्रों को मिलाने से पता चलता है कि जनकाल की भाषागत परम्परा अभी तक किसी न किसी रूप में चली आयी है। ब्रज जैसे जनपद की वर्तमान बोलियों की भिन्नता का कारण अनेक जनों या उनके अंशों द्वारा लघुजाति का निर्माण है। महाजाति का निर्माण होने पर लघुजातीय संस्कार खत्म नहीं हो जाते। कहीं बोली, कहीं प्रदेश, कहीं इतिहास, कहीं उस बोली के साहित्य के प्रति उत्कट अनुराग पूंजीवादी युग में भी कायम रहता है। महाजाति का निर्माण एक सुदीर्घ प्रक्रिया है। पश्चिम के उन देशों में भी—जहां पूंजीवाद का विकास सबसे अधिक हुआ है—यह प्रक्रिया पूरी तरह अभी भी समाप्त नहीं हुई। महाजातियों के निर्माण में लघुजातियों का विघटन और एकीकरण होता है। इस प्रक्रिया में सामंती राजसत्ता भी सहायता करती है। सामंतवाद को हर स्थिति में विघटन का पर्यायवाची न मान लेना चाहिए। विशेष रूप से व्यापार के प्रसार में एक सुकेन्द्रित और निरंकुश सामंती राजसत्ता सहायक होती है। व्यापार के प्रसार से महाजाति के गठन और फलतः जातीय भाषा के गठन और प्रसार में सहायता मिलती है।

ग्यारहवां अध्याय

जातीय भाषा का गठन और प्रसार

पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था की विशेषता यह है कि उसके अभ्युदय के साथ आधुनिक जातियों (नेशन) का निर्माण जुड़ा हुआ है। इन महाजातियों के निर्माण के पहले हम उनकी जातीय भाषाओं की कल्पना भी नहीं कर सकते। जातीय भाषाएं किसी आर्थिक व्यवस्था का सांस्कृतिक प्रतिबिंब नहीं हैं। उनके भाषा-तत्वों का निर्माण आर्थिक आधार पर नहीं होता। बोलियों या किन्हीं लघुजातियों की भाषाओं के रूप में उनका अस्तित्व पहले भी रहता है किन्तु महाजातियों की भाषा के रूप में उनका अस्तित्व पहले नहीं होता। उदाहरण के लिए दिल्ली या आगरे की जो बोली हिन्दी-उर्दू के रूप में विकसित हुई, वह पहले एक छोटे से क्षेत्र में सीमित थी। जब वह अवध, बुंदेलखंड, भोजपुरी प्रदेशों की सम्मिलित भाषा बनी, तब उसका क्षेत्र व्यापक हो गया, वह हमारी जातीय भाषा बनी। इस प्रकार की जातीय भाषा का विकास पूंजीवादी सम्बंधों के कायम हुए बिना संभव नहीं होता। जहां पूंजीवाद से पहले की किसी आर्थिक व्यवस्था से लोग सीधे समाजवादी व्यवस्था में पहुंच गये हैं, वहां की चर्चा यहां पर नहीं की जा रही। पूंजीवादी व्यवस्था में जातीय भाषाओं के गठन और प्रसार से दो भाषा-सम्बंधी निष्कर्ष निकलते हैं: पहला यह कि जो भाषाएं या बोलियां जातीय भाषाओं के रूप में विकसित होकर सामने आती हैं, वे पूंजीवाद के अभ्युदय से पहले की होती हैं, आर्थिक व्यवस्था बदलने से एकदम नयी भाषाओं का जन्म नहीं होता, इसलिए स्तालिन की यह स्थापना सही है कि भाषाएं आर्थिक व्यवस्था का सांस्कृतिक प्रतिबिम्ब नहीं हैं। दूसरा यह कि आर्थिक व्यवस्था बदलने से भाषा में कोई परिवर्तन नहीं होता, यह समझना भी गलत है; पूंजीवाद से पहले जातीय भाषा के रूप में किसी भाषा का अस्तित्व न होना और पूंजीवादी विकास के साथ जातीय भाषाओं का सुगठित होना—यह एक साधारण परिवर्तन नहीं है। हम आगे देखेंगे कि जातीय भाषा की आवश्यकताएं पूरी करने के लिए जब कोई बोली परिनिष्ठित भाषा के रूप में विकसित होती है, तो उसके रूप में काफी परिवर्तन होता है।

जातीय भाषाओं के प्रसार और गठन की समस्या का अध्ययन करने से पहले हमें पूंजीवाद के अभ्युदय से जातियों के निर्माण का सम्बंध समझ लेना चाहिए। इस सिलसिले में सबसे पहले प्रश्न यह उठता है कि पूंजीवाद है क्या। प्रचलित धारणा के अनुसार पूंजीवाद उत्पादन की एक नयी व्यवस्था का नाम है जिसमें उत्पादन के साधन पूंजीपतियों के हाथ में होते हैं, मजदूर अपनी श्रमशक्ति इन पूंजीपतियों के हाथ बेचते हैं और मजदूरों द्वारा निर्मित अतिरिक्त मूल्य को हड़प कर पूंजीपति उनका शोषण करते हैं। पूंजीवादी व्यवस्था के अभ्युदय के लिए एक ओर तो उद्योग-धंधों में पूंजी लगाने के लिए तत्पर पूंजीपति चाहिए, दूसरी ओर उसके हाथ अपनी श्रमशक्ति बेचने के लिए मजबूर एक सर्वहारा-समुदाय चाहिए जिसके पास जीविकोपार्जन के और कोई साधन न रहे हों।

पूंजीवाद की यह व्याख्या एकांगी है और उसके आधार पर जातियों के निर्माण की व्याख्या हो ही नहीं सकती। इस व्याख्या का आधार सामाजिक विकास के प्रति एक गलत धारणा है कि उत्पादन में परिवर्तन होने से ही समाज एक मंजिल से दूसरी मंजिल की ओर बढ़ता है। उत्पादन के अलावा सामाजिक व्यवस्था का नियमन करने वाली एक शक्ति और है, वह है वितरण। एंगेल्स ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ "ऐण्टी-ड्यूरिंग" के दूसरे भाग के आरम्भ में ही अर्थशास्त्र की चर्चा शुरू करते हुए इस बात को स्पष्ट कर दिया था। अर्थशास्त्र की व्याख्या यह है कि वह मानव समाज में जीवन-यापन के भौतिक साधनों के उत्पादन और विनिमय का विज्ञान है। एंगेल्स के अनुसार उत्पादन और विनिमय दो भिन्न कोटि के कार्य हैं, दोनों के अपने-अपने नियम हैं लेकिन "वे बराबर एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं और एक-दूसरे का नियमन करते हैं"। विनिमय की इस महत्वपूर्ण भूमिका को याद रखने से ही हम रूसी जाति के निर्माण के सम्बंध में लेनिन की स्थापना का अर्थ समझ सकते हैं। उनके अनुसार छोटे-छोटे बाजारों को मिला कर एक अखिल-रूसी बाजार कायम किया गया था; इस बाजार को कायम करने वाले पूंजीपति सौदागर थे। रूस की प्राचीन आर्थिक व्यवस्था पन्द्रहवीं सदी में टूटने लगी थी। मुद्रा के चलन से वस्तुओं का क्रय-विक्रय बढ़ने लगा था। विभिन्न प्रदेशों और नगरों के बीच व्यापार-सम्बंध कायम होने लगे थे। इस समय मास्को व्यापार का एक महान् केन्द्र बना। सोलहवीं सदी में रूस के विभिन्न बाजारों में परस्पर सम्बंध कायम होने लगे थे और इस तरह एक अखिल-रूसी बाजार के निर्माण की प्रक्रिया आरम्भ हो गयी थी। इस समय रूसी सौदागरों ने ईरान, अजरबैजान और बोखारा से अपना व्यापार बढ़ाया। ब्रिटेन और हालैंड से इसी समय व्यापारिक सम्बंध कायम हुए और रूस अन्तरराष्ट्रीय ...ापार में

निव पाया। पूर्व और पश्चिम के देशो मे व्यापार की उन्नति का प्रभाव स्वयं रूस के घरेलू बाजार पर पड़ा। इस समय उत्पादन की पद्धति मे कोई अन्तर न पड़ा। माल बनाने वाले शहरो और गावो के दस्तकार होते थे। इस तैयार माल को सौदागर खरीद लेते थे और उसे बाजार में बेचते थे। सत्रहवी सदी मे कुछ फैक्टरियो की स्थापना हुई। इनमे एक से अधिक कारीगर मिल कर काम करते थे। किन्तु इस तरह के कारखाने बहुत थोड़े थे और सौदागरो को पुराने ढग के बिखरे हुए स्वतन्त्र कारीगरो से ही माल खरीद कर व्यापार करना होता था। कारखानों का उत्पादन देश के समग्र उत्पादन का बहुत छोटा भाग था। "पूजी" के तृतीय खड मे मार्क्स ने अग्रेजी व्यापार से रूसी व्यापार की तुलना करते हुए लिखा था कि रूसी व्यापार ने "एशियाई उत्पादन पद्धति की आर्थिक नीव को ज्यो का त्यो बना रहने दिया था।"[1] इगलैंड मे व्यापार की उन्नति का यह परिणाम हुआ कि बाजार मे क्रय-वस्तुओ की मांग पूरी करने के लिए उत्पादन मे परिवर्तन करना जरूरी हुआ, रूस मे पुरानी पद्धति का उत्पादन बहुत दिनो तक चलता रहा। मार्क्स की स्थापना पर एगेल्स ने टिप्पणी की है कि अब यह स्थिति बदलने लगी है। रूस मे पूंजीवादी उत्पादन-पद्धति उन्नीसवी सदी मे चालू हुई; इसका यह अर्थ नही कि उन्नीसवी सदी तक रूसी जाति का निर्माण न हुआ था। यदि पूजीवाद के अभ्युदय का यह अर्थ लगाया जाय कि पूजीवादी उत्पादन-पद्धति का चलन हुआ, तो रूसी जाति का अस्तित्व उन्नीसवी सदी से पहले अस्वीकार करना पड़ेगा।

मार्क्स की स्थापना मे यह तथ्य भी ध्यान देने लायक है कि इग्लैंड के व्यापार ने उत्पादन-पद्धति पर प्रभाव डाला। "पूजी" के तृतीय खड मे मार्क्स ने सौदागरी पूजी के विवेचन मे जो कुछ कहा है, उससे निष्कर्ष यही निकलता है कि पूजीवादी उत्पादन के चलन के लिए शर्त यह है कि व्यापार द्वारा एक बाजार कायम हो चुका हो जहा नयी उत्पादन-पद्धति से तैयार किये हुए माल की खपत हो सके। जिस बाजार के आधार पर जाति का निर्माण सभव होता है, वह बाजार सौदागरी पूजी द्वारा पहले कायम होता है, उसमे वस्तुओ की बढती हुई खपत को पूरा करने के लिए उत्पादन की पद्धति मे तबदीली बाद को होती है। इसलिए हर देश के आर्थिक इतिहास मे हम देखते है कि सौदागरी पूजी का अभ्युदय पहले होता है और पूजीवादी उत्पादन-पद्धति का बाद में। इस सौदागरी पूजी का अभ्युदय किसी भी उत्पादन-पद्धति मे हो सकता है। प्राचीन जनो मे जहा सामूहिक सम्पत्ति का चलन हो, वहा मुद्रा के आधार

---

१ मार्क्स, कैपिटल, तृतीय खड, मास्को, १९५९, पृष्ठ ३२६।

के लिए माल विशेष रूप से तैयार किया जाय। बचे हुए फालतू माल से काम नहीं चलता। कारीगर जो माल तैयार करता है, उसका उपयोग-मूल्य कम हो जाता है, विनिमय-मूल्य बढ़ जाता है। कुछ विशेष प्रदेशों और नगरों में खास चीजों का उत्पादन बढ़ जाता है; अन्य प्रदेश और नगर अपने यहां वे चीजें तैयार न करके उन प्रसिद्ध केन्द्रों से वे चीजें मंगाते हैं। मुख्यतः उपयोगी मूल्य की वस्तुएं ही तैयार करनेवाली सामन्ती उत्पादन-पद्धति के ह्रास का यह लक्षण होता है। मार्क्स के अनुसार "सौदागरी पूंजी के समस्त विकास का असर यह होता है कि उत्पादन अब अधिकाधिक विनिमय-मूल्य के लिए होता है और उत्पादित वस्तु अधिकाधिक क्रय-वस्तु का रूप ले लेती है।"[1] इस प्रकार व्यापार के कारण वस्तुएं क्रय-वस्तुएं बनती हैं; पहले से क्रय-वस्तु उत्पादित होकर व्यापार को जन्म नहीं देती। मार्क्स ने पूंजीवादी उत्पादन-पद्धति में और उससे पहले की अवस्था में व्यापार की दो तरह की भूमिका बतायी है। पूंजीवादी उत्पादन-पद्धति से पहले व्यापार उद्योग-धंधों पर शासन करता है; पूंजीवादी उत्पादन-पद्धति में वह उद्योग-धंधों द्वारा शासित होता है। इस प्रकार उत्पादन की प्रत्येक व्यवस्था में व्यापार उसे प्रभावित करता है, उसे पुरानी पद्धति बदल कर नयी पद्धति के लिए बढ़ने की प्रेरणा देता है। सामन्ती व्यवस्था में व्यापार का विकास स्वभावतः पूंजीवादी उत्पादन-पद्धति के लिए जमीन तैयार करता है। सामाजिक विकास में यह वितरण और विनिमय की भूमिका हुई।

इंग्लैंड पूंजीवादी उत्पादन-पद्धति का आदर्श देश माना जाता है। वहां अठारहवीं सदी से पहले पूंजीवादी उत्पादन का क्या हाल था? इंग्लैंड का आर्थिक इतिहास लिखने वाले कहते हैं कि "बहुत से मजदूरों का एक कारखाने में इकट्ठा होना विरल घटना थी जिसका सम्भवित कारण यह था कि उस समय उत्पादन-कौशल की जैसी दशा थी, उसे देखते हुए कारखानों में मजदूरों के इकट्ठा होकर काम करने से कोई लाभ न था। . भाप से चलने वाली मशीनों का युग शुरू होने पर ही आर्थिक दृष्टि से यह उचित हुआ कि नये कौशल के लिए आवश्यक बड़ी-बड़ी इमारतों पर पैसा खर्च किया जाय जहां बहुत से मजदूर मिल कर काम कर सकें।"[2] १५५५ में एक कानून पास किया गया था जिससे एक घर में दो करघों से ज्यादा रखना जुर्म करार दिया गया था। अठारहवीं सदी की औद्योगिक क्रान्ति से पहले इंग्लैंड की उत्पादन-पद्धति

---

१. मार्क्स, कैपिटल, तृतीय खंड, पृष्ठ ३२२।
२. एम्. डब्ल्यू. टॉमस द्वारा सम्पादित, ए सर्वे ऑफ इंग्लिश इकॉनामिक हिस्ट्री, लंदन, १९५७, पृष्ठ १२६।

पर व्यापार के विकास के बदले वस्तुओं का सीधा विनिमय (बार्टर) ही अधिक होता है। इन जनों में कुछ कुलों के हाथों सम्पत्ति का केन्द्रीकरण होने से व्यापार के प्रसार की संभावना उत्पन्न होती है। इन प्राक्-सामंती जनों में व्यापार के प्रसार का फल यह होगा कि पुराना, रक्त-सम्बंध पर आधारित, समाज टूटेगा। व्यापारियों का एक वर्ग विशेष ही बन जायगा; चार वर्णों के बीच में यह तीसरा वैश्य वर्ण हर सामंती व्यवस्था में दिखाई देता है। व्यापार के लिए माल तैयार करना हर किसान का काम नहीं होता; सुनार, लुहार, बढ़ई आदि के नये-नये पेशे बन जाते हैं जो समाज में खपत के लिए तथा बाहर बेचने के लिए भी माल तैयार करते हैं। यह कारीगरों का वर्ग सामूहिक सम्पत्ति वाले जनों में नहीं होता, समाज की आवश्यकताएं पूरी करने के अलावा यह वर्ग व्यापार की आवश्यकताएं पूरी करने के लिए भी उत्पन्न होता है। "पूंजी" के प्रथम खंड में मार्क्स ने प्राचीन यूनान के लेखक ज़ेनोफोन से एक उद्धरण दिया है जिससे पता चलता है कि सामंती उत्पादन-पद्धति पर, सामंती समाज में पेशेवर जातियों के निर्माण पर, बाजार और व्यापार का क्या असर पड़ता है। ज़ेनोफोन के अनुसार छोटे नगरों में एक ही आदमी चारपाई, दरवाजे, हल और मेज़ बनाता था लेकिन बड़े शहरों में "जहां हर आदमी को बहुत से खरीदार मिल सकते हैं, कारीगर एक ही धंधा करे तो उसका गुज़र हो जाता है।"[1] मिस्र में इसी प्रक्रिया से पेशेवर जातियां बन चुकी थीं और प्लैटो ने अपने आदर्श गणतंत्र (रिपब्लिक) में—मार्क्स के अनुसार—इसी मिस्री जाति-प्रथा (कास्ट सिस्टम) को अपनी राज्यसत्ता का आधार बनाया था। इस प्रकार प्राचीन जनों में व्यापार की उन्नति उनमें सामंती श्रम-विभाजन, पेशेवर जातियां आदि उत्पन्न करती है। हम यह पहले ही कह चुके हैं कि गुलामी के आधार पर चलने वाली कोई विशेष आर्थिक व्यवस्था नहीं होती। यूनान में गुलामी की प्रथा का चलन सामंती व्यवस्था के अन्तर्गत था; इसीलिए प्लैटो मिस्र की सामंती जाति प्रथा को अपने गणतंत्र के लिए आदर्श मानता है।

सामन्तवाद में जब व्यापार का प्रसार होता है तब वह पूंजीवादी उत्पादन-पद्धति के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। पूंजीवादी उत्पादन-पद्धति की विशेषता यह है कि उसमें वस्तुओं का उत्पादन खाने-खरचने के लिए नहीं होता, उत्पादन होता है क्रय-विक्रय के योग्य माल तैयार करने के लिए। सामंती व्यवस्था में खाने-खरचने से जो माल बचता है, वह बेच लिया जाता है। किन्तु व्यापार के प्रसार के साथ यह आवश्यकता उत्पन्न होती है कि खरीद-फरोख्त

1. मार्क्स, कैपिटल, न्यूयॉर्क, पृष्ठ ४०२।

के लिए माल विशेष रूप से तैयार किया जाय। बने हुए फालतू माल से काम नहीं चलता। कारीगर जो माल तैयार करता है, उसका उपयोग-मूल्य कम हो जाता है, विनिमय-मूल्य बढ़ जाता है। कुछ विशेष प्रदेशों और नगरों में खास चीजों का उत्पादन बढ़ जाता है; अन्य प्रदेश और नगर अपने यहां वे चीजें तैयार न करके उन प्रसिद्ध केन्द्रों से वे चीजें मंगाते हैं। मूलत उपयोगी मूल्य की वस्तुएं ही तैयार करनेवाली सामन्ती उत्पादन-पद्धति के ह्रास का यह लक्षण होता है। मार्क्स के अनुसार "सौदागरी पूंजी के समस्त विकास का असर यह होता है कि उत्पादन अब अधिकाधिक विनिमय-मूल्य के लिए होता है और उत्पादित वस्तु अधिकाधिक क्रय-वस्तु का रूप ले लेती है।"[1] इस प्रकार व्यापार के कारण वस्तुएं क्रय-वस्तुएं बनती हैं; पहले से क्रय-वस्तु उत्पादित होकर व्यापार को जन्म नहीं देती। मार्क्स ने पूंजीवादी उत्पादन-पद्धति में और उससे पहले की अवस्था में व्यापार की दो तरह की भूमिका बतायी है। पूंजीवादी उत्पादन-पद्धति से पहले व्यापार उद्योग-धंधों पर शासन करता है; पूंजीवादी उत्पादन-पद्धति में वह उद्योग-धंधों द्वारा शासित होता है। इस प्रकार उत्पादन की प्रत्येक व्यवस्था में व्यापार उसे प्रभावित करता है, उसे पुरानी पद्धति बदल कर नयी पद्धति के लिए बढ़ने की प्रेरणा देता है। सामन्ती व्यवस्था में व्यापार का विकास स्वभावत' पूंजीवादी उत्पादन-पद्धति के लिए जमीन तैयार करता है। सामाजिक विकास में यह वितरण और विनिमय की भूमिका हुई।

इंग्लैंड पूंजीवादी उत्पादन-पद्धति का आदर्श देश माना जाता है। वहां अठारहवीं सदी से पहले पूंजीवादी उत्पादन का क्या हाल था? इंग्लैंड का आर्थिक इतिहास लिखने वाले कहते हैं कि "बहुत से मजदूरों का एक कारखाने में इकट्ठा होना विरल घटना थी जिसका समुचित कारण यह था कि उस समय उत्पादन-कौशल की जैसी दशा थी, उसे देखते हुए कारखानों में मजदूरों के इकट्ठा होकर काम करने से कोई लाभ न था।... भाप से चलने वाली मशीनों का युग शुरू होने पर ही आर्थिक दृष्टि से यह उचित हुआ कि नये कौशल के लिए आवश्यक बड़ी-बड़ी इमारतों पर पैसा खर्च किया जाय जहां बहुत से मजदूर मिल कर काम कर सकें।"[2] १५५५ में एक कानून पास किया गया था जिससे एक घर में दो करघों से ज्यादा रखना जुर्म करार दिया गया था। अठारहवीं सदी की औद्योगिक क्रांति से पहले इंग्लैंड की उत्पादन-पद्धति

---

१. मार्क्स, कैपिटल, तृतीय खंड, पृष्ठ ३२२।

२. एम्. डब्ल्यू. टॉमस द्वारा सम्पादित, ए सर्वे ऑव इंगलिश इकोनामिक हिस्ट्री, लंदन, १९५७, पृष्ठ १२९।

पर व्यापार के विकास के बदले वस्तुओं का सीधा विनिमय (बार्टर) ही अधिक होता है। इन जनों में कुछ कुलों के हाथों सम्पत्ति का केन्द्रीकरण होने से व्यापार के प्रसार की संभावना उत्पन्न होती है। इन प्राक्-सामंती जनों में व्यापार के प्रसार का फल यह होगा कि पुराना, रक्त-सम्बन्ध पर आधारित, समाज टूटेगा। व्यापारियों का एक वर्ग विशेष ही बन जायगा; चार वर्णों के बीच में यह तीसरा वैश्य वर्ण हर सामंती व्यवस्था में दिखाई देता है। व्यापार के लिए माल तैयार करना हर किसान का काम नहीं होता; सुनार, लुहार, बढ़ई आदि के नये-नये पेशे बन जाते हैं जो समाज में खपत के लिए तथा बाहर बेचने के लिए भी माल तैयार करते हैं। यह कारीगरों का वर्ग सामूहिक सम्पत्ति वाले जनों में नहीं होता; समाज की आवश्यकताएं पूरी करने के अलावा यह वर्ग व्यापार की आवश्यकताएं पूरी करने के लिए भी उत्पन्न होता है। "पूंजी" के प्रथम खंड में मार्क्स ने प्राचीन यूनान के लेखक क्सेनोफोन से एक उद्धरण दिया है जिससे पता चलता है कि सामंती उत्पादन-पद्धति पर, सामंती समाज में पेशेवर जातियों के निर्माण पर, बाजार और व्यापार का क्या असर पड़ता है। क्सेनोफोन के अनुसार छोटे नगरों में एक ही आदमी चारपाई, दरवाजे, हल और मेज बनाता था लेकिन बड़े शहरों में "जहां हर आदमी को बहुत से खरीदार मिल सकते हैं, कारीगर एक ही धंधा करे तो उसका गुजर हो जाता है।"[1] मिस्र में इसी *प्रक्रिया* से पेशेवर *जातियां बन* चुकी थीं और प्लैटो ने अपने आदर्श गणतंत्र (रिपब्लिक) में—मार्क्स के अनुसार—इसी मिस्री जाति-प्रथा (कास्ट सिस्टम) को अपनी राज्यसत्ता का आधार बनाया था। इस प्रकार प्राचीन जनों में व्यापार की उन्नति उनमें सामंती श्रम-विभाजन, पेशेवर जातियां आदि उत्पन्न करती है। हम यह पहले ही कह चुके हैं कि गुलामी के आधार पर चलने वाली कोई विशेष आर्थिक व्यवस्था नहीं होती। यूनान में गुलामी की प्रथा का चलन सामंती व्यवस्था के अन्तर्गत था; इसीलिए प्लैटो मिस्र की सामंती जाति प्रथा को अपने गणतंत्र के लिए आदर्श मानता है।

सामन्तवाद में जब व्यापार का प्रसार होता है तब वह पूंजीवादी उत्पादन-पद्धति के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। पूंजीवादी उत्पादन-पद्धति की विशेषता यह है कि उसमें वस्तुओं का उत्पादन खाने-खरचने के लिए नहीं होता, उत्पादन होता है क्रय-विक्रय के योग्य माल तैयार करने के लिए। सामंती व्यवस्था में खाने-खरचने से जो माल बचता है, वह बेच लिया जाता है। किन्तु व्यापार के प्रसार के साथ यह आवश्यकता उत्पन्न होती है कि खरीद-फरोख्त

---

1. मार्क्स, कैपिटल, न्यूयॉर्क, पृष्ठ ४०२।

इस सत्य का एक प्रमाण यह है कि इन देशों के महावणिज एसियाई देशों का सौदा खरीद कर अपने यहां बेचते थे; अभी उनके माल की खपत के लिए एसियाई बाजारों में गुंजाइश न थी। यह गुंजाइश तब पैदा हुई जब उन्होंने यहां के सामन्तों को एक-दूसरे से लड़ाकर अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित कर लिया और इस प्रभुत्व के बल पर यहां के उद्योग-धंधों का नाश कर दिया। विलायती माल से खुली होड़ में भारतीय धंधे नष्ट नहीं हुए, खुली होड़ से खतरा पैदा हुआ था विलायती धंधों को ही। मार्क्स की एक स्थापना यह थी कि विलायती माल की आमद से भारत की प्राचीन उत्पादन-व्यवस्था खत्म हुई। इस व्यवस्था की विशेषता यह मानी गयी है कि उसमें खेती और उद्योग-धंधों का मिश्रण था। जो आदमी खेती करता था, वही फुर्सत में कपड़े बुनता था। किन्तु हम देख चुके हैं कि औद्योगिक क्रांति से पहले इंग्लैंड में ही अधिकांश बुनकर खेती भी करते थे। इसलिए "पूंजी" के प्रथम खंड में मार्क्स ने लिखा था कि मशीनों का चलन होने से ही खेती और घरेलू उद्योग-धंधों का अलगाव पूरा होता है। इससे पहले गांव वालों का एक ऐसा वर्ग बराबर उत्पन्न हुआ करता है "जो सहायक धंधे के रूप में खेती करता है और मुख्य धंधे के रूप में औद्योगिक श्रम करता है। इस औद्योगिक श्रम से वह जो माल तैयार करता है, उसे या तो उद्योगपतियों (मैनूफैक्चरर) के हाथ सीधे बेच देता है या सौदागरों के माध्यम से बेचता है।"[1] इससे सिद्ध है कि खेती और उद्योग-धंधों का पूरी तरह अलगाव — और इस तरह किसी देश में पूंजीवादी सम्बंधों का पूरी तरह प्रसार — मशीनों के चलन के बाद ही संभव है। "पूंजी" के तृतीय खंड में मार्क्स ने वेनिस, जिनोआ, हालैंड आदि के सौदागरों की चर्चा की है जिन्हें अपने देश का माल बेचने में मुनाफा न होता था, मुनाफा कमाते थे वे दूसरे देशों का माल बेच कर। उस समय सभ्य जातियां कहां की थीं? क्या यूरोपवासी उन देशों को सभ्यता सिखाने जाते थे जिनके यहां का माल बेच कर वे मुनाफा कमाते थे? मार्क्स ने प्रसिद्ध अर्थशास्त्री ऐडम स्मिथ के कुछ वाक्य उद्धृत किये हैं जिनसे यूरोप और एशिया की जातियों की सभ्यता के प्रति उस समय के लोगों की धारणाएं मालूम होती हैं। ऐडम स्मिथ ने लिखा था, "यूरोप के अधिकांश भाग का व्यापार उस समय यों होता था कि अपने मोटे-मोटे सामान तथा कच्चे माल से एशिया के तैयार माल का विनिमय किया जाता था।" जो यूरोप के जितना निकट था, वह व्यापार में उतनी ही प्रगति कर सकता था। किसी समय इटली ने व्यापार में — और उसके साथ ललित कलाओं में भी — बड़ी उन्नति की थी। इसका कारण यह

१. मार्क्स, कैपिटल, पृष्ठ ८२० ।

को उचित ही "घरेलू व्यवस्था" (डोमेस्टिक सिस्टम) कहा जाता है। एंगेल्स ने "इंग्लैंड के मजदूर वर्ग की अवस्था" नामक ग्रंथ के प्रारम्भ में ठीक लिखा था कि इंग्लैंड में सर्वहारा वर्ग का इतिहास अठारहवी सदी के उत्तरार्ध मे नयी मशीनो के चलन से आरंभ होता है। इससे पहले बेटा-बेटी सूत कातते थे और बाप बुनाई करता था। खाली समय में वह खेती करता था; इसलिए उसे सर्वहारा नही कहा जा सकता था। वेस्ट राइडिंग में कपड़ा बनाने वाले छोटे-छोटे बुनकरों का प्राधान्य था। "उनका कारबार अक्सर उनके घर मे सीमित होता था; कभी-कभी वे एक-दो आदमियों को मदद के लिए लगा लेते थे। ये लोग स्वयं धंधे में मेहनत करते थे, वे ऊन के व्यापारियो पर ऊन पाने के लिए निर्भर होते थे और उन सौदागरो पर निर्भर होते थे जो उनका माल स्थानीय बाजारों मे खरीदते थे।"[1] ये लोग खेती भी करते थे; इसलिए इन्हे "क्लोदियर" (बुनकर) के साथ "योमैन" (किसान) भी कहा जाता था। इस स्थिति के बाद की मंजिल यह है कि सौदागर स्वयं ही कारीगर को कच्चा माल देता है, और उससे तैयार माल ले जाता है। पूंजीवादी उत्पादन-पद्धति का यह श्रीगणेश है। सौदागर से कच्चा माल या रुपया उधार लेने के कारण कारीगर जो माल तैयार करता है, उसका मालिक वह स्वयं नही होता; सौदागर के प्रभुत्व के कारण उसका माल तैयार होने से पहले ही बिक चुका होता है। यह स्थिति अंग्रेजो के आने से पहले हिन्दुस्तान मे भी थी। मुगल काल के बारे मे मोरलैंड ने लिखा है, "इस समय के व्यापारिक पत्र-व्यवहार मे बुनकारो की स्थिति साफ दिखाई देती है। एक तरह से तो हरेक बुनकर केवल अपने लिए काम करता था; दूसरे अर्थ मे वह उस पूंजीपति के हाथ मे था जो उसे कच्चा माल खरीदने और काम करने की अवधि मे परिवार का पेट पालने के लिए रुपया उधार देता था। सौदागरो द्वारा इस तरह पेशगी रुपया देने की क्रिया से सभी लोग परिचित हैं; इसलिए उस पर विस्तार से लिखने की आवश्यकता नही है। डच और अंग्रेज खरीदारों ने इस व्यवस्था को यहां दृढ़ रूप से कायम पाया और इसलिए आवश्यक माल पाने के लिए उन्हें भी उसी का अनुकरण करना पड़ा।"[2] इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति से पहले भारत और वहां की उत्पादन-पद्धति मे बुनियादी भेद न था। जहां तक व्यापार का संबंध है, भारत और एशिया के अन्य देश इंग्लैंड से आगे बढ़े हुए थे।

इंग्लैंड, हॉलैंड, पुर्तगाल आदि में औद्योगिक क्रांति से पहले व्यापार की जो उन्नति हुई, उसका उत्पादन-पद्धति के परिवर्तन में कोई सम्बन्ध नही था।

---

1. उप, पृष्ठ १२७।
2. मोरलैंड, फ्रॉम अकबर टु औरंगजेब, पृष्ठ १६२।

था : "यूरप की उन्नतर सभ्यताओं के अधिक निकट और अनुकूल रूप में अवस्थित होने के कारण इटली भौतिक और आध्यात्मिक, दोनों तरह के पुनर्जागरण का नेता था।"[1]

इंग्लैंड में जब औद्योगिक क्रान्ति हुई, तब मशीनें चलाने के लिए जिस चीज से सबसे पहले काम लिया गया, वह पानी था। इंग्लैंड के उत्तरी प्रदेशों—लंकाशायर, चेशायर और योर्कशायर—में पानी की इफरात थी। इसलिए लंदन के आसपास नहीं, वरन् उससे दूर उत्तर में सूती उद्योग-धंधों का विकास हुआ। पानी की जगह भाप से मशीनें चलने पर लोहे और कोयले की खपत बढ़ी। लंकाशायर और योर्कशायर में लोहे और कोयले की खानें भी थीं। इसलिए इन प्रदेशों में नये औद्योगिक केन्द्र बने। एंगेल्स ने "इंग्लैंड के मजदूर वर्ग की अवस्था" नामक पुस्तक की भूमिका में लिखा था कि १८०१ में बर्मिघम की आबादी ७३,००० थी तो १८४४ में उसकी आबादी बढ़कर दो लाख हो गयी। इसी तरह और शहरों की आबादी भी बढ़ी। लेकिन इस औद्योगिक क्रांति के कारण लंकाशायर की बोली सारे देश की जातीय भाषा न बनी; जातीय भाषा बनी लंदन की बोली। इससे सिद्ध हुआ कि जातीय भाषा के प्रसार का श्रेय सबसे पहले व्यापार को है। औद्योगिक क्रांति से देश के विभिन्न भागों का अलगाव और भी कम होता है। जातीय बाजार का गठन और भी सुदृढ होता है। जातीय भाषा का और भी प्रसार तथा उसका रूप परिनिष्ठित होता है। किन्तु यह जातीय भाषा बन चुकी होती है किसी बोली के आधार पर पहले ही—व्यापार के कारण।

अकदमिक कोस्मिन्स्की ने "इंगलिश नेशन" की निर्माण-प्रक्रिया की चर्चा में लंदन के महत्व का उल्लेख किया है। उनके अनुसार इंग्लैंड का जातीय बाजार सोलहवीं सदी में बन चुका था। लंदन की बोली के आधार पर बोलचाल और साहित्य की अंग्रेजी भाषा का विकास हुआ। लंदन इंग्लैंड का प्रमुख व्यापारिक और औद्योगिक केन्द्र था। "वह इंग्लैंड का सबसे बड़ा अथवा एकमात्र बड़ा शहर था।" सत्रहवीं सदी में अन्य नगरों पर लंदन का प्रभुत्व और भी बढ़ गया। लंदन जातीय बाजार का केन्द्र बना। "यह बिल्कुल स्पष्ट है कि लंदन के सारे देश से और सारे देश के लंदन से आधिक सम्बंधों के कारण लंदन की बोली जातीय भाषा बन सकी। लंदन राजनीतिक, राज-दरबार और सांस्कृतिक जीवन तथा धार्मिक आन्दोलनों का तथा पार्लामेंट का केन्द्र बना, इससे भी उस काम में सहायता मिली।"

कोस्मिन्स्की ने अपने विवेचन में यह स्पष्ट नहीं किया कि जातीय बाजार

1. लीविस मम्फोर्ड, दि कल्चर ऑव दि सिटीज, पृष्ठ २३।

कारण नही था। उन्नीसवी सदी मे भी स्कॉटलैंड की जनता अपनी भाषा की रक्षा के लिए प्रयत्नशील थी। "इगलैंड के मजदूर वर्ग की अवस्था" मे एगेल्स ने लिखा था कि १८०३ मे स्कॉटलैंड मे ९०० मील की कुल लम्बाई वाली सड़कें बनी और इस तरह वहा का पार्वतीय प्रदेश सभ्यता की परिधि मे आ गया। "और अब यद्यपि गेलिक भाषा की रक्षा के लिए गेलिक स्कूल कायम किये गये थे, फिर भी अंग्रेजी सभ्यता के अभियान के सामने गेलिक-केल्टिक रीति-रिवाज और भाषा तेजी से लुप्त हो रहे हैं।" एगेल्स के मत से यह प्रक्रिया आयर्लैंड मे भी सम्पन्न हो रही थी। "यह बात आयर्लैंड मे देखी जाती है। कॉर्क, लिमेरिक और केरी के बीच का प्रदेश बिलकुल जगली था और उसमे सडकें न थी और इस प्रकार दुर्गम होने के कारण वह सभी तरह के अपराधियो का शरणस्थल और दक्खिनी आयर्लैंड मे केल्टिक-आयरिश जातीयता का मुख्य सरक्षण-स्थल था। अब उसमे सडकें बन गयी हैं और इस जगली प्रदेश मे भी सभ्यता की पहुच हो गयी है।" पाठक यहा उत्तर भारत मे मौर्यकाल से अकबर के समय तक पूरब से उत्तर को बाधने वाली सडको का स्मरण करें। अंग्रेज जमीदार आयर्लैंड का शोषण करते थे लेकिन उसके विकास की उन्हें जरा भी चिन्ता न थी। औद्योगिक क्रान्ति से जब उन्हें कच्चा माल देने वाले उपनिवेशो और तैयार माल की खपत के लिए बाजारो की आवश्यकता हुई, तब उन्होने आयर्लैंड मे सडकें बनाना शुरू किया। यातायात का एक और साधन होता है नहरें। एगेल्स के अनुसार १७५५ तक इगलैंड मे नहरें प्राय थी ही नही। इससे भारत मे नहर निर्माण की तुलना की जा सकती है। ब्रिटेन के शासको की अपेक्षा उत्तर भारत के तुर्क, पठान और मुगल शासक इस दिशा मे कही अधिक प्रगतिशील थे। उसका एक परिणाम यह हुआ कि उत्तर भारत मे लघुजातीय जनपदो का अलगाव जल्दी दूर हुआ।

दक्खिनी आयर्लैंड मे अंग्रेजी सभ्यता की पहुच तो हो गयी लेकिन आयरिश जातीयता ने हथियार नही डाले। यातायात के साधनो से हर प्रदेश की जातीयता को खत्म करके वहा के लोगो को ब्रिटिश जाति का अग बना लेना सम्भव न था। आयरिश जातीयता और भाषा की रक्षा का श्रेय सबसे पहले आयरिश जनता को है। यद्यपि गोल्डस्मिथ और बर्नार्ड शा जैसे अनेक आयरिश इगलैंड मे आकर बसे और अंग्रेजी साहित्य को समृद्ध करते रहे, किन्तु इससे आयरिश भाषा और संस्कृति समाप्त न हो सकी। इसी प्रकार वेल्स और स्कॉटलैंड भी अपनी भाषा और संस्कृति की रक्षा कर सके थे। किन्तु ये प्रदेश इगलैंड के बहुत पास थे, बीच मे समुद्र न था, व्यापार ने भी इन्हें इगलैंड से जोड़ रखा था। यदि अंग्रेजो ने आयर्लैंड मे अपने पैर अच्छी तरह जमा लिये थे, फिर भी

देवकीनदन खत्री की रचनाएं हर खास और आम
महत्वपूर्ण स्थान है। लोकप्रिय थी। यही हाल कैक्सटन के अनुवादित रोमांसो का था। रोमांस खूब पढ़े जाते थे। उनमें मध्यकालीन जीवन का अलंकृत और रस-रंजित वर्णन होता था। कैक्सटन चतुर व्यापारी की तरह इस मध्यकालीन धरोहर से मुनाफा कमा रहा था; वह स्वयं रोमांस की दुनिया से कोसों दूर था। दूसरी तरह की पुस्तकें धार्मिक थी। मध्यकाल के अन्त में जनता धर्मप्राण तो थी ही। ये किताबें भी खूब पढ़ी जाती थीं। इस प्रकार लंदन के व्यापारियों की बोली को साहित्यिक गद्य का माध्यम बना कर कैक्सटन ने उसे इंग्लैंड के हर शिक्षित जन तक पहुंचा दिया। कंधे पर झोला डाल कर जो फेरी लगाने वाले व्यापारी देहात पहुंचते थे, वे अन्य सामान के साथ कैक्सटन की पुस्तकें भी बेचा करते थे।

जर्मन भाषाविद् डिबेलियस (इसके मत का उल्लेख वाइल्ड ने किया है) ने इस बात की ओर संकेत किया था कि लंदन की बोली तुरंत जातीय भाषा के रूप में सर्वत्र स्वीकृत नहीं हो गयी। लंदन के अलावा ऑक्सफर्ड की अंग्रेजी को भी बहुत जगह लोग आदर्श भाषा मानते थे ऑक्सफर्ड धर्माधीशों का गढ़ था। किन्तु यह अन्तर चला नहीं। व्यापारिक केन्द्र लंदन की अंग्रेजी की ही विजय हुई। यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि जातीय भाषा जितनी लिखित रूप में परिनिष्ठित दिखाई देती है, उतनी उच्चारण में नहीं होती। यहां हम बोलियों की बात नहीं करते, व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध अंग्रेजी बोलने वाले भी उच्चारण में घोर विषमता प्रकट करते हैं। शिक्षा के प्रसार, पुस्तकों के मुद्रण और वितरण से जातीय भाषा के गठन और प्रसार का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी कारण यह गठन और प्रसार की प्रक्रिया लम्बी होती है। अंग्रेजी के माध्यम से जो जाति गठित हुई, वह सिर्फ इंग्लैंड की अंग्रेजी जाति न थी बरन् वेल्श और स्कॉटलैंड के निवासियों को मिलाकर बनी हुई ब्रिटिश जाति थी। इंग्लैंड का एकीकरण आसान था, लेकिन वेल्श और स्कॉटलैंड में दूसरे कुल की भाषाएं बोली जाती थीं। इन प्रदेशों के लोग इंग्लैंड की सत्ता के विरुद्ध अनेक बार लड़ भी चुके थे। इसलिए स्कॉट और वेल्श जनता के स्वतंत्र जातीय विकास की पूर्ण संभावना थी। ऐतिहासिक रूप से यह बिलकुल अनिवार्य न था कि स्कॉट और वेल्श भाषाएं अंग्रेजी के सामने आत्मसमर्पण कर दें। अंग्रेजों ने वेल्श और स्कॉट मूल के राजाओं को लंदन में गद्दी पर बिठा कर वेल्श और स्कॉटलैंड के लोगों के जातीय गर्व का समर्थन किया किन्तु इतने से स्कॉट और वेल्श जन अपनी भाषा न छोड़ देते। स्कॉटलैंड और इंग्लैंड का राजनीतिक "यूनियन" भी ब्रिटिश जाति के निर्माण का निर्णायक

कारण नही था। उन्नीसवी सदी मे भी स्कॉटलैंड की जनता अपनी भाषा की रक्षा के लिए प्रयत्नशील थी। "इग्लैंड के मजदूर वर्ग की अवस्था" मे एगेल्स ने लिखा था कि १८०३ मे स्कॉटलैंड मे ६०० मील की कुल लम्बाई वाली सड़कें बनी और इस तरह वहा का पार्वतीय प्रदेश सभ्यता की परिधि मे आ गया।" और अब यद्यपि गेलिक भाषा की रक्षा के लिए गेलिक स्कूल कायम किये गये थे, फिर भी अग्रेजी सभ्यता के अभियान के सामने गेलिक-कैल्टिक रीति-रिवाज और भाषा तेजी से लुप्त हो रहे हैं।" एगेल्स के मत से यह प्रक्रिया आयर्लैंड मे भी सम्पन्न हो रही थी। "यह बात आयर्लैंड मे देखी जाती है। कॉर्क, लिमेरिक और केरी के बीच का प्रदेश बिलकुल जगली था और उसमे सडकें न थीं और इस प्रकार दुर्गम होने के कारण वह सभी तरह के अपराधियो का शरणस्थल और दक्खिनी आयर्लैंड मे कैल्टिक-आयरिश जातीयता का मुख्य सरक्षण-स्थल था। अब उसमे सडके बन गयी हैं और इस जगली प्रदेश मे भी सभ्यता की पहुच हो गयी है।" पाठक यहा उत्तर भारत मे मौर्यकाल से अकबर के समय तक पूरब से उत्तर को बाधने वाली सडको का स्मरण करें। अग्रेज जमीदार आयर्लैंड का शोषण करते थे लेकिन उसके विकास की उन्हे जरा भी चिन्ता न थी। औद्योगिक क्रान्ति से जब उन्हे कच्चा माल देने वाले उपनिवेशो और तैयार माल की खपत के लिए बाजारो की आवश्यकता हुई, तब उन्होने आयर्लैंड मे सडके बनाना शुरू किया। यातायात का एक और साधन होता है नहरें। एगेल्स के अनुसार १७५५ तक इग्लैंड मे नहरें प्राय थी ही नही। इससे भारत मे नहर निर्माण की तुलना की जा सकती है। ब्रिटेन के शासको की अपेक्षा उत्तर भारत के तुर्क, पठान और मुगल शासक इस दिशा मे कही अधिक प्रगतिशील थे। उसका एक परिणाम यह हुआ कि उत्तर भारत मे लघुजातीय जनपदो का अलगाव जल्दी दूर हुआ।

दक्खिनी आयर्लैंड मे अग्रेजी सभ्यता की पहुच तो हो गयी, लेकिन आयरिश जातीयता ने हथियार नही डाले। यातायात के साधनो से हर प्रदेश की जातीयता को खत्म करके वहा के लोगो को ब्रिटिश जाति का अग बना लेना सम्भव न था। आयरिश जातीयता और भाषा की रक्षा का श्रेय सबसे पहले आयरिश जनता को है। यद्यपि गोल्डस्मिथ और बर्नार्ड शा जैसे अनेक आयरिश इग्लैंड मे आकर बसे और अग्रेजी साहित्य को समृद्ध करते रहे, किन्तु इससे आयरिश भाषा और सस्कृति समाप्त न हो गयी। इसी प्रकार वेल्स और स्कॉटलैंड भी अपनी भाषा और सस्कृति की रक्षा कर सके थे। किन्तु ये प्रदेश इग्लैंड के बहुत पास थे, बीच मे समुद्र न था, आकार मे भी आयर्लैंड से छोटे थे। यद्यपि अग्रेजो ने आयर्लैंड मे अपने पैर अच्छी तरह जमा लिये थे, फिर भी

महत्त्वपूर्ण स्थान है। देवकीनंदन खत्री की रचनाएं हर खास और आम...
लोकप्रिय थी। यही हाल कैक्सटन के अनुवादित रोमांसों का था। रोमांस खूब
पढ़े जाते थे। उनमें मध्यकालीन जीवन का अलकृत और रस-रंजित वर्णन
होता था। कैक्सटन चतुर व्यापारी की तरह इस मध्यकालीन धरोहर से
मुनाफा कमा रहा था; वह स्वयं रोमांस की दुनिया से कोसों दूर था। दूसरी
तरह की पुस्तकें धार्मिक थीं। मध्यकाल के अन्त में जनता धर्मप्राण तो थी
ही। ये किताबें भी खूब पढ़ी जाती थीं। इस प्रकार लंदन के व्यापारियों की
बोली को साहित्यिक गद्य का माध्यम बना कर कैक्सटन ने उसे इंग्लैंड के
शिक्षित जन तक पहुंचा दिया। कंधे पर झोला डाल कर जो फेरी लगाने वाले
व्यापारी देहात पहुंचते थे, वे अन्य सामान के साथ कैक्सटन की पुस्तकें
बेचा करते थे।

जर्मन भाषाविद् डिबेलियस (इसके मत का उल्लेख वाइल्ड ने किया
है) ने इस बात की ओर संकेत किया था कि लंदन की बोली तुरत जातीय भाषा
के रूप में सर्वत्र स्वीकृत नहीं हो गयी। लंदन के अलावा ऑक्सफर्ड की बोली
को भी बहुत जगह लोग आदर्श भाषा मानते थे। ऑक्सफर्ड धर्माधीशों का
था। किन्तु यह अन्तर चला नहीं। व्यापारिक केन्द्र लंदन की अंग्रेजी की
विजय हुई। यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि जातीय भाषा जितनी ....
रूप में परिनिष्ठित दिखाई देती है, उतनी उच्चारण में नहीं होती। यहां हम
बोलियों की बात नहीं करते, व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध अंग्रेजी बोलने वाले
भी उच्चारण में घोर विषमता प्रकट करते हैं। शिक्षा के प्रसार, पुस्तकों के
मुद्रण और वितरण से जातीय भाषा के गठन और प्रसार का घनिष्ठ सम्बंध
है। इसी कारण यह गठन और प्रसार की प्रक्रिया लम्बी होती है। अंग्रेजी के
माध्यम से जो जाति गठित हुई, वह सिर्फ इंग्लैंड की अंग्रेजी जाति न थी वरन्
वेल्स और स्कॉटलैंड के निवासियों को मिलाकर बनी हुई ब्रिटिश जाति थी।
इंग्लैंड का एकीकरण आसान था, लेकिन वेल्स और स्कॉटलैंड में दूसरे कुल
की भाषाएं बोली जाती थीं। इन प्रदेशों के लोग इंग्लैंड की सत्ता के विरुद्ध
अनेक बार लड़ भी चुके थे। इसलिए स्कॉट और वेल्स जनता के स्वतंत्र
जातीय विकास की पूर्ण संभावना थी। ऐतिहासिक रूप से यह बिलकुल
अनिवार्य न था कि स्कॉट और वेल्स भाषाएं अंग्रेजी के सामने अपदस्थ हो
जायें, अपने प्रदेशों की जातीय भाषाएं स्वयं न बन कर अंग्रेजी को इस रूप
में स्वीकार करें। अंग्रेजों ने वेल्स और स्कॉट खून के राजाओं को लंदन में गद्दी
पर बिठा कर वेल्स और स्कॉटलैंड के लोगों के जातीय गर्व का गवर्मन किया
किन्तु इतने से स्कॉट और वेल्स जन अपनी भाषा न छोड़ देते। स्कॉटलैंड और
इंग्लैंड का राजनीतिक "यूनियन" भी ब्रिटिश जाति के निर्माण का नियामक

शासन नहीं था। उन्नीसवीं सदी में भी स्कॉटलैंड की जनता अपनी भाषा की रक्षा के लिए प्रयत्नशील थी। "इंग्लैंड के मजदूर वर्ग की अवस्था" में एंगेल्स ने लिखा था कि १८०३ में स्कॉटलैंड में ९०० मील की कुल लम्बाई वाली सड़कें बनी और इस तरह वहा का पार्वतीय प्रदेश सभ्यता की परिधि में आ गया। "और अब यद्यपि गैलिक भाषा की रक्षा के लिए गैलिक स्कूल कायम किये गये थे, फिर भी अंग्रेजी सभ्यता के अभियान के सामने गैलिक-केल्टिक रीति-रिवाज और भाषा तेजी से लुप्त हो रहे हैं।" एंगेल्स के मत से यह प्रक्रिया आयर्लैंड में भी सम्पन्न हो रही थी। "यह बात आयर्लैंड में देखी जाती है। कार्क, लिमेरिक और केरी के बीच का प्रदेश बिलकुल जगली था और उसमें सड़कें न थीं और इस प्रकार दुर्गम होने के कारण वह सभी तरह के अपराधियों का शरणस्थल और दक्खिनी आयर्लैंड में केल्टिक-आयरिश जातीयता का मुख्य सरक्षण-स्थल था। अब उसमें सड़कें बन गयी हैं और इस जगली प्रदेश में भी सभ्यता की पहुच हो गयी है।" पाठक यहा उत्तर भारत में मौर्यकाल से अकबर के समय तक पूरब से उत्तर को बाधने वाली सड़को का स्मरण करें। अंग्रेज जमींदार आयर्लैंड का शोषण करते थे लेकिन उसके विकास की उन्हें जरा भी चिन्ता न थी। औद्योगिक क्रान्ति से जब उन्हें कच्चा माल देने वाले उपनिवेशो और तैयार माल की खपत के लिए बाजारो की आवश्यकता हुई, तब उन्होंने आयर्लैंड में सड़कें बनाना शुरू किया। यातायात का एक और साधन होता है नहरें। एंगेल्स के अनुसार १७५५ तक इंग्लैंड में नहरें प्राय थी ही नही। इससे भारत में नहर निर्माण की तुलना की जा सकती है। ब्रिटेन के शासकों की अपेक्षा उत्तर भारत के तुर्क, पठान और मुगल शासक इस दिशा में कही अधिक प्रगतिशील थे। उसका एक परिणाम यह हुआ कि उत्तर भारत में लघुजातीय जनपदो का अलगाव जल्दी दूर हुआ।

दक्खिनी आयर्लैंड में अंग्रेजी सभ्यता की पहुच तो हो गयी, लेकिन आयरिश जातीयता ने हथियार नहीं डाले। यातायात के साधनो से हर प्रदेश की जातीयता को खतम करके वहा के लोगों को ब्रिटिश जाति का अंग बना लेना सम्भव न था। आयरिश जातीयता और भाषा की रक्षा का श्रेय सबसे पहले आयरिश जनता को है। यद्यपि गोल्डस्मिथ और बर्नार्ड शॉ जैसे अनेक आयरिश इंगलैंड में आकर बसे और अंग्रेजी साहित्य को समृद्ध करते रहे, किन्तु इससे आयरिश भाषा और संस्कृति समाप्त न हो गयी। इसी प्रकार वेल्स और स्कॉटलैंड भी अपनी भाषा और संस्कृति की रक्षा कर सकते थे। किन्तु ये प्रदेश इंग्लैंड के बहुत पास थे, बीच में समुद्र न था, आकार में भी आयर्लैंड से छोटे थे। यद्यपि अंग्रेजों ने आयर्लैंड में अपने पैर अच्छी तरह जमा लिये थे, फिर भी

इन भौगोलिक कारणों से और समर्थ आयरिश प्रतिरोध के कारण अंग्रेज आक्रमक आयरिश जातीयता का नाश न कर सके।

राजनीतिक और आर्थिक एकीकरण के अन्तर्गत जिस प्रदेश के भी लोग आ जायें, वे किसी महाजाति का अंग बन जायेंगे, यह आवश्यक नही है। चाहे व्यापार द्वारा पूंजीवादी सम्बंध फैलें, चाहे औद्योगिक क्रान्ति बाजार का सुदृढ़ एकीकरण करे, चाहे राज्यसत्ता निरकुश शासन द्वारा किसी जाति की भाषा को शिक्षा और सस्कृति के क्षेत्र से निकाल दे, किन्तु उस जाति के लोग यदि अपनी भाषा और सस्कृति की रक्षा करने पर तुल जाये और इसके लिए निरंतर सघर्ष करें तो वे अवश्य अपनी जातीयता की रक्षा कर सकते हैं। जातीय निर्माण के कोई अखड, अविच्छेद्य भौतिक शास्त्र के से नियम नही है। इस बात को किसी अखड नियम से सिद्ध नही किया जा सकता कि अंग्रेजी से भिन्न कुल वाली वेल्श और स्कॉट भाषाएं बोलनेवाले जनों का ब्रिटिश जाति मे विलयन तो अनिवार्य था, लेकिन एक ही कुल की उक्रैनी भाषा बोलनेवाले जनो का रूसी जाति मे विलयन अनिवार्य नही था। सत्रहवी सदी मे उक्रैन पर पोल सामतो का राज्य था। उक्रैनी जनता उनसे लडकर अकेले विजय न पा सकी थी। १६५२ मे उक्रैन रूसी राज्य के अन्तर्गत हो गया और पोलैंड का आधिपत्य समाप्त हुआ। किन्तु अठारहवी सदी मे रूसी राज्यसत्ता ने उक्रैनी भाषा और संस्कृति का दमन करना आरम्भ किया। उक्रैनियों को अपनी भाषा मे पुस्तकें छापने का अधिकार न था। उन्नीसवी सदी मे उक्रैन अखिल-रूसी बाजार का अंग बन गया। रूस के लिए यहा से अनाज जाता था। किएव मे नाज की बिक्री, दस्तकारी के सामान के सौदे तै होते थे। रूस का तैयार माल उक्रैन मे बिकता था। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ मे रूसी वस्त्र-उद्योग की एक-तिहाई उपज उक्रैन मे खप जाती थी। काले सागर के तट पर ओदेसा, निकोलायेव और खेरसोन के उक्रैनी बन्दरगाह पूरब-पश्चिम के देशों मे रूसी व्यापार के केन्द्र बने थे।[1] इन तथ्यो से इस बारे मे कोई सन्देह न होना चाहिए कि उक्रैन अखिल रूसी बाजार का अग था। राज्यसत्ता ने उक्रैनियो की जातीयता खत्म करने के लिए कुछ उठा न रखा। १८६३ मे जार सरकार ने एक आज्ञापत्र निकाला था कि उक्रैनी मे पाठ्य-पुस्तकें न छापी जायें। इस आज्ञापत्र में घोषित किया गया था कि "मालोरूसी (उक्रैनी) भाषा न पहले थी, न अब है, न आगे कभी होगी।"[2] किन्तु यह सब व्यर्थ हुआ। वेल्स और स्कॉटलैंड की तरह उक्रैन की जातीय विशिष्टता खत्म न की जा सकी। वेल्श और स्कॉट

---

१. ए हिस्ट्री ऑव दि यू. एस. एस. आर., खड २, पृष्ठ १२-१३।
२. उप., पृष्ठ २१२।

इन भौगोलिक कारणों से और समर्थ आयरिश प्रतिरोध के कारण अंग्रेज आक्रमक आयरिश जातीयता का नाश न कर सके।

राजनीतिक और आर्थिक एकीकरण के अन्तर्गत जिस प्रदेश के भी लोग आ जायें, वे किसी महाजाति का अंग बन जायेंगे, यह आवश्यक नहीं है। चाहे व्यापार द्वारा पूंजीवादी सम्बंध फैलें, चाहे औद्योगिक क्रान्ति बाजार का सुदृढ एकीकरण करे, चाहे राज्यसत्ता निरंकुश शासन द्वारा किसी जाति की भाषा को शिक्षा और संस्कृति के क्षेत्र से निकाल दे, किन्तु उस जाति के लोग यदि अपनी भाषा और संस्कृति की रक्षा करने पर तुल जायें और इसके लिए निरंतर संघर्ष करें तो वे अवश्य अपनी जातीयता की रक्षा कर सकते हैं। जातीय निर्माण के कोई अखंड, अविच्छेद्य भौतिक शास्त्र के से नियम नहीं हैं। इस बात को किसी अखंड नियम से सिद्ध नहीं किया जा सकता कि अंग्रेजी से भिन्न कुल यानी वेल्श और स्कॉट भाषाएं बोलनेवाले जनों का ब्रिटिश जाति में विलयन तो अनिवार्य था, लेकिन एक ही कुल की उक्रैनी भाषा बोलनेवाले जनों का रूसी जाति में विलयन अनिवार्य नहीं था। सत्रहवीं सदी में उक्रैन पर पोल सामंतों का राज्य था। उक्रैनी जनता उनसे लडकर अकेले विजय न पा सकी थी। १६५२ में उक्रैन रूसी राज्य के अन्तर्गत हो गया और पोलैंड का आधिपत्य समाप्त हुआ। किन्तु अठारहवीं सदी में रूसी राज्यसत्ता ने उक्रैनी भाषा और संस्कृति का दमन करना आरम्भ किया। उक्रैनियों को अपनी भाषा में पुस्तकें छापने का अधिकार न था। उन्नीसवीं सदी में उक्रैन अखिल-रूसी बाजार का अंग बन गया। रूस के लिए यहां से अनाज जाता था। किएव में नाज की बिक्री, दस्तकारी के सामान के सौदे तै होते थे। रूस का तैयार माल उक्रैन में बिकता था। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में रूसी वस्त्र-उद्योग की एक-तिहाई उपज उक्रैन में खप जाती थी। काले सागर के तट पर ओदेसा, निकोलायेव और खेरसोन के उक्रैनी बन्दरगाह पूरब-पच्छिम के देशों में रूसी व्यापार के केन्द्र बने थे।[1] इन तथ्यों से इस बारे में कोई सन्देह न होना चाहिए कि उक्रैन अखिल रूसी बाजार का अंग था। राज्यसत्ता ने उक्रैनियों की जातीयता खत्म करने के लिए कुछ उठा न रखा। १८६३ में जार सरकार ने एक आज्ञापत्र निकाला था कि उक्रैनी में पाठ्य-पुस्तकें न छापी जायें। इस आज्ञापत्र में घोषित किया गया था कि "मालोरूसी (उक्रैनी) भाषा न पहले थी, न अब है, न आगे कभी होगी।"[2] किन्तु यह सब व्यर्थ हुआ। वेल्स और स्कॉटलैंड की तरह उक्रैन की जातीय विशिष्टता खत्म न की जा सकी। वेल्श और स्कॉट

१. ए हिस्ट्री ऑव दि यू. एस. एस. आर., खंड २, पृष्ठ ३२-३३।
२. उप., पृष्ठ २६२।

लाभ उठा कर ८०० ईस्वी वाली अपनी राजनीतिक स्थिति फिर प्राप्त कर लें। एक हजार साल के इतिहास से उन्हें यह मालूम हो जाना चाहिए था कि इस तरह का प्रतिगमन संभव नहीं है। यदि एल्बे और जाले के पूरब का सारा प्रदेश किसी समय परस्पर सम्बधित स्लावों के अधिकार में था, तो इससे जर्मन जाति की ऐतिहासिक प्रवृत्ति और साथ ही उसकी भौतिक और बौद्धिक शक्ति का पता चलता है जिससे वह अपने प्राचीन, पूर्वी पड़ोसियों को पराजित करती और अपने में मिला लेती थी। इस तरह अपने में मिलाने की यह जर्मन प्रवृत्ति पश्चिमी यूरोप की सभ्यता को महाद्वीप के पूरब में फैलाने का प्रबलतम साधन रही है और अब भी है। यह प्रवृत्ति तभी रुक सकती थी जब जर्मनीकरण की यह धारा उन जातियों की सीमाओं तक पहुंच जाय जहां बड़ी और सम्बद्ध जातियां हों, जो भीतर से टूटी हुई न हों, जो स्वतंत्र जातीय जीवन बिताने में समर्थ हों जैसे कि हंगेरियन और एक हद तक पोल। इसलिए इन मरती हुई जातियों का सहज और अनिवार्य अन्त यही है कि ये बिखरें और अपने सबल-तर पड़ोसियों में घुलमिल जायं। स्लाव महाजातीयता का स्वप्न देखने वालों ने बोहेमियन और दक्षिणी स्लाव जनों के एक हिस्से को आंदोलित कर लिया था; उनके लिए विलयन की यह संभावना प्रसन्नता का कारण न होगी। लेकिन क्या वे आशा करते हैं कि इतिहास उन थोड़े से आदमियों को खुश करने के लिए एक हजार साल पीछे लौट जायगा जो शरीर से अशक्त हैं, जो हर प्रदेश में जर्मनों के बीच में हैं या उनसे घिरे हुए हैं, जिनके पास अति-प्राचीन काल से सभ्यता के सभी कामों के लिए जर्मन के अलावा और कोई भाषा नहीं रही और जिनके पास जातीय जीवन की प्राथमिक आवश्यकताएं — संख्या और सम्बद्ध प्रदेश — नहीं हैं? इस प्रकार जर्मन और हंगेरियन स्लाव प्रदेशों में हर जगह स्लाव महाजातीयता के पक्ष में विद्रोह इस बात के लिए [illegible] [illegible] कि [illegible] छुटपुट जातियों का [illegible] [illegible] हो जाय। उन्होंने यूरोप के क्रांतिकारी आंदोलन से हर जगह टक्कर ली। यद्यपि स्लाव और हर कहीं आजादी के लिए लड़ने का बहाना करते थे, किन्तु (पोलों के एक जनवादी दल को छोड़ कर) वे हमेशा निरंकुशता और प्रतिक्रिया के पक्ष में [illegible]। यही हाल था जर्मनी में, यही हाल था [illegible] में और यही हाल था [illegible] [illegible]

सोवियत क्रान्ति के बाद भी कुछ लोगों को बेलोरूसी और उक्रैनी जातियों के भिन्न अस्तित्व में सन्देह था। १६२१ में इन्हें उत्तर देते हुए स्तालिन ने रूसी कम्युनिस्ट पार्टी की दसवी कांग्रेस में कहा था, "मेरे पास एक पुर्जा आया है जिसमे कहा गया है कि हम कम्युनिस्ट बेलोरूसी जाति का कृत्रिम पोषण कर रहे है। यह सही नही है, क्योंकि बेलो-रूसी जाति है, जिसकी भाषा रूसी से स्पष्टत. भिन्न है। इसलिए बेलोरूसी जनता का सांस्कृतिक धरातल उसकी मातृभाषा द्वारा ही ऊंचा किया जा सकता है। इस तरह की बातें करीब पांच साल पहले उक्रैन और उक्रैनी जाति के बारे मे सुनी जाती थी। अभी कुछ दिन पहले कहा गया था कि उक्रैनी प्रजातंत्र और उक्रैनी जाति जर्मनो का आविष्कार हैं। लेकिन यह स्पष्ट है कि उक्रैनी जाति का अस्तित्व है और उसकी संस्कृति को विकसित करना कम्युनिस्टो का फर्ज है। हमें इतिहास के प्रतिकूल न चलना चाहिए। यद्यपि उक्रैन के शहरो मे रूसी जनो की अब भी बहुलता है, लेकिन यह स्पष्ट है कि समय बीतने पर ये नगर लाजमी तौर से उक्रैनी हो जायेंगे। करीब चालीस साल पहले रीगा जर्मन नगर था, लेकिन चूंकि देहात से आदमियो के भरने से शहर बढ़ते हैं और देहात जातीयता के सरक्षक हैं, इसलिए रीगा अब बिलकुल लेत जाति का नगर हो गया है। करीब पचास साल पहले हगरी के सभी शहर जर्मन थे, अब उनका मग्यारीकरण हो गया है। यही हाल बेलोरूस का होगा जिसके शहरों में अभी भी ग़ैर-बेलोरूसी लोगों की बहुलता है।"

उक्रैन के शहरों मे रूसियो की बहुलता इस बात का प्रमाण है कि रूसी बाजार बड़े समर्थ हाथो से इस प्रदेश को अपनी ओर खींच रहा था। लैतविया, हगरी आदि के शहरों मे इसी तरह जर्मन प्रभुत्व था लेकिन उक्रैन की तरह इन्होंने भी अपनी रक्षा की। इससे सिद्ध हुआ कि जातीय निर्माण में आर्थिक सम्बंधों की सीमित भूमिका है। पूंजीवादी (या समाजवादी) आर्थिक सम्बंधों के बिना किसी जाति का गठन नहीं हो सकता, लेकिन इस गठन में — बाजार की सीमाओं मे — हर किसी को घसीट कर अपनी जाति का अंग बना लेना संभव नहीं है। भाषा, संस्कृति और इतिहास उन बिखरे हुए तत्वो को किसी महाजाति में मिलने से बचाते हैं जो अनुकूल परिस्थिति में स्वयं एक जाति बन सकते हैं। जातीयता के रक्षण मे भाषा की भिन्नता एक प्रमुख कारण होती है। लेकिन भाषा जातीय विशिष्टता का एक कारण है, एकमात्र कारण नहीं। वेल्स जाति की भाषा अंग्रेजी से अलग थी, लेकिन अंग्रेजों का प्रतिवान प्रबल रहा, वेल्स प्रतिरोध निर्बल रहा, इसलिए वेल्स जाति ब्रिटिश महाजाति का अंग बन गयी। आस्ट्रिया और जर्मनी की भाषा एक है, दोनों देशों की सीमाएं भी मिलती हैं। किन्तु आस्ट्रिया के इतिहास, राजनीतिक

यद्यपि यह सही है कि अखिल रूसी बाजार में उक्रैन शामिल था, फिर भी उक्रैनी लोग रूसी जाति का अंग न बने, किन्तु यह न भूलना चाहिए कि स्वयं रूसी जाति के निर्माण में और जातीय भाषा के रूप में रूसी के गठन और प्रसार में व्यापार की नियामक भूमिका थी। व्यापार-केंद्र मॉस्को की बोली ही रूसी भाषा बनी। इसी प्रकार अंग्रेजी भाषा के प्रसार में व्यापार-केन्द्र लंदन की नियामक भूमिका थी। फ्रांस में किसी समय प्रोवांस साहित्य और संस्कृति का केन्द्र था। ल्वार नदी के दक्षिण की भाषा लांगदोक कहलाती थी; ओक 'हां' के लिए प्रयुक्त होने वाला प्रोवांसाल शब्द था। उत्तर की भाषा लांगदइल कहलाती थी; अइल 'हां' के लिए उत्तरी शब्द था। पेरिस को धुरी बनाकर उत्तर में व्यापार का जो प्रसार हुआ, उससे यह उत्तरी लांगदइल ही फ्रांस की जातीय भाषा बनी। प्रोवांस की समृद्ध सांस्कृतिक परम्परा वाली भाषा को व्यापार के साथ फैलनेवाली इस नयी उत्तरी भाषा के मार्ग से हटना पड़ा। पेरिस राज्यसत्ता का भी केन्द्र बना, इससे उत्तरी भाषा के प्रसार में सहायता मिली। चीन में पेकिंग राज्यसत्ता का केन्द्र रहा है; वह चीन का प्रमुख सांस्कृतिक केन्द्र भी रहा है। जातीय भाषा के रूप में पेकिंग की चीनी का ही प्रसार हुआ और वह प्रसार-कार्य अभी समाप्त नहीं हुआ। जैसे मॉस्को की भाषा के माध्यम से विभिन्न जनपद एक-दूसरे के निकट आये, वैसे ही पेकिंग की बोली "विभिन्न बोलियों के क्षेत्रों में क्रमशः सामाजिक आदान-प्रदान का साधन बनी।"[1] पहले उत्तर चीन के विभिन्न जनपद एक-दूसरे के निकट आये होंगे, बाद को दूर के प्रदेशों में वह भाषा फैलती गयी। मॉडर्न चाइनीज रीडर के लेखकों के अनुसार जो लोग चीनी भाषा बोलते हैं, उनमें सत्तर फीसदी उत्तरी बोली का ही प्रयोग करते हैं। "अनेक ऐतिहासिक कारणों से चीनी भाषा का पूर्ण एकीकरण अभी तक नहीं हुआ। लेकिन चीनी भाषा के एकीकरण का आधार कायम हो गया है। पेकिंग की ध्वनियां परिनिष्ठित ध्वनियां मानी गयी हैं, उत्तरी बोली को आधारभूत बोली माना गया है, और बोलचाल की भाषा में जो आधुनिक क्लासिक रचनाएं हुई हैं, उन्हें व्याकरण का नमूना माना गया है। इस आधार पर एक लोक-प्रचलित भाषा का निर्माण होगा।"[2] इस कार्य में कितनी कठिनाइयां हैं, इसका अनुमान एक घटना से लगेगा। लम्बे अभियान में जब माओ त्से-तुंग और उनके साथी गैर-चीनी जातियों के इलाके में पहुंचे, तो चू-त्सेन-ची ने माओ से ई जाति के बारे में कहा, "अध्यक्ष, हालांकि ये हमारे

---

१. मॉडर्न चाइनीज रीडर, पेकिंग, १९५८, भाग १, पृष्ठ २०।
२. उप., पृष्ठ २०।

यद्यपि यह सही है कि प्राचीन रूसी बाजार में उनका शासन था, फिर भी उन्होंने सोच रूसी जाति का पथ न बने, किन्तु यह न भूलना चाहिए कि स्वतंत्र रूसी जाति के निर्माण में और जातीय भाषा के रूप में रूसी के प्रचार और प्रसार में व्यापार की निर्णायक भूमिका थी। व्यापार-केन्द्र मॉस्को की बोली ही रूसी भाषा बनी। इसी प्रकार अंग्रेजी भाषा के प्रसार में व्यापार-केन्द्र लन्दन की निर्णायक भूमिका थी। फ्रांस में किसी समय प्रोवांस साहित्य और संस्कृति का केन्द्र था। ल्वार नदी के दक्षिण की भाषा लांगदोक कहलाती थी; ओक 'हाँ' के लिए प्रयुक्त होने वाला प्रोवांसाल शब्द था। उत्तर की भाषा लांगदुइल कहलाती थी; ओइल 'हाँ' के लिए उत्तरी शब्द था। पेरिस को धुरी बनाकर उत्तर में व्यापार का जो प्रसार हुआ, उसमें यह उत्तरी लांगदुइल ही फ्रांस की जातीय भाषा बनी। प्रोवांस की समृद्ध सांस्कृतिक परम्परा वाली भाषा को व्यापार के साथ फैलनेवाली इस नयी उत्तरी भाषा के मार्ग से हटना पड़ा। पेरिस राजसत्ता का भी केन्द्र बना, इससे उत्तरी भाषा के प्रसार में सहायता मिली। चीन में पेकिंग राजसत्ता का केन्द्र रहा है; वह चीन का प्रमुख सांस्कृतिक केन्द्र भी रहा है। जातीय भाषा के रूप में पेकिंग की बोली का ही प्रसार हुआ और वह प्रसार-कार्य अभी समाप्त नहीं हुआ। जैसे मॉस्को की भाषा के माध्यम से विभिन्न जनपद एक-दूसरे के निकट आये, वैसे ही पेकिंग की बोली "विभिन्न बोलियों के क्षेत्रों में क्रमशः सामाजिक आदान-प्रदान का साधन बनी।"[1] पहले उत्तर चीन के विभिन्न जनपद एक-दूसरे के निकट आये होंगे, बाद को दूर के प्रदेशों में वह भाषा फैलती गयी। मॉडर्न चाइनीज रीडर के लेखकों के अनुसार जो लोग चीनी भाषा बोलते हैं, उनमें सत्तर फीसदी उत्तरी बोली का ही प्रयोग करते हैं। "अनेक ऐतिहासिक कारणों से चीनी भाषा का पूर्ण एकीकरण अभी तक नहीं हुआ। लेकिन चीनी भाषा के एकीकरण का आधार कायम हो गया है। पेकिंग की ध्वनियां परिनिष्ठित ध्वनियां मानी गयी हैं, उत्तरी बोली को आधारभूत बोली माना गया है, और बोलचाल की भाषा में जो आधुनिक क्लासिक रचनाएं हुई हैं, उन्हें व्याकरण का नमूना माना गया है। इस आधार पर एक लोक-प्रचलित भाषा का निर्माण होगा।"[2] इस कार्य में कितनी कठिनाइयां हैं, इसका अनुमान एक घटना से लगेगा। लम्बे अभियान में जब माओ त्से-तुंग और उनके साथी गैर-चीनी जातियों के इलाके में पहुंचे, तो चङ्‌ दयेन-ची ने माओ से ई जाति के बारे में कहा, "अध्यक्ष, हालाकि वे हमारे

---

1. मॉडर्न चाइनीज रीडर, पेकिंग, १९५८, भाग १, पृष्ठ २०।
2. उप., पृष्ठ २०।

[illegible]

है।" [illegible] और भोजपुरी क्षेत्रों में भी अनेक व्यापार-केन्द्र कायम हुए थे, किन्तु वे दिल्ली और आगरे के समान [illegible] न थे बल्कि उनके अधीन थे। [illegible] और मुगलों के शासनकाल में दिल्ली उत्तर भारत में [illegible] का बहुत बड़ा केन्द्र थी। इस कारण भोजपुरी या पूर्वी प्राचीन भाषा [illegible] विकसित न हुई, जातीय भाषा बनी दिल्ली केन्द्र वाली खड़ी बोली। [illegible] भारतेन्दु का अनुसरण करते हुए लिखा था कि मुगल साम्राज्य के ह्रास-काल में "दिल्ली के आसपास के प्रदेशों की हिन्दू व्यापारी जातियां (अगरवाल, खत्री आदि) जीविका के लिए लखनऊ, फैजाबाद, प्रयाग, काशी, पटना आदि पूरबी शहरों में फैलने लगीं।" इन व्यापारियों में हिन्दू-मुसलमान दोनों थे; पूर्व की ओर उनका यह अभियान मुगल शासन के ह्रासकाल से बहुत पहले आरम्भ हो चुका था।

भारत पर तुर्कों के आक्रमण से पहले ही यहां अनेक विनिमय-केन्द्रों का विकास हो चुका था। आक्रमणकारी शहरों को लूटने पर ज्यादा ध्यान देते थे क्योंकि व्यापार द्वारा यहां सम्पत्ति सिमट कर इकट्ठी हो रही थी। थानेसर, कन्नौज, दिल्ली, मेरठ, बयाना, आगरा, अयोध्या आदि ऐसे ही विनिमय-केन्द्र थे जिन्हें लूटा गया था। तुर्क शासन में शहरों की संख्या और भी बढ़ी। अलाउद्दीन खिलजी ने गावों के मुखियों के अधिकार सीमित कर दिये थे। तुगलकों के शासन में राज-कर्मचारी स्वयं जाकर भूमिकर निश्चित करते थे। मुबारकशाह ने जागीरदारों को उनकी जागीरों से दूर नियुक्त करने की प्रथा चलायी थी। घुड़सवारों या प्यादों के जरिए डाक-व्यवस्था शेरशाह से पहले ही की गयी थी। चुंगीकर की जो भरमार थी, उसे भी तुर्क शासकों ने कम किया था। तुगलकों के समय नहरें बनवाने की ओर विशेष ध्यान दिया गया था। शेरशाह के लिए कहा जाता है कि डाक-व्यवस्था के लिए तीन हजार घोड़े रखे गये थे। सौदागरों के लिए उसने सत्रह सौ सराये बनवायी थी। इतिहासकार

1. कवि वचन सुधा, २ अक्तूबर १८७२।

केन्द्र था और इस [illegible] का [illegible] था। [illegible] में घोड़ों का बहुत बड़ा
व्यापार होता था। [illegible] के अनुसार [illegible] हजार घर लोग [illegible]
में पैदा होता था। [illegible] में [illegible] बनती थी। इसके सिवा [illegible] के
व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र था। आगरे के आसपास के प्रदेश में घोड़े, ऊँट
और गाड़ी की [illegible] थी। [illegible] और [illegible] की खेती के लिए प्रसिद्ध
था। [illegible] श्री कृष्णदत्त वाजपेयी ने
"भारतीय व्यापार का इतिहास" में लिखा है, "आगरा, इलाहाबाद, कन्नौज,
लखनऊ और मुर्शिदाबाद उत्तर भारत के प्रधान केन्द्र थे। उत्तर भारत का
बहुत सा कपड़ा इन नगरों में तैयार होने के बाद आगरा होकर बाहर जाता
था।" आगरा एक ओर आसपास के प्रदेश को व्यापार-सूत्रों में बांधता था
तो दूसरी ओर वह उत्तर भारत के विदेशी व्यापार का केन्द्र था।

व्यापारियों की सामान्य भाषा खड़ी बोली थी। ग्रियर्सन के अनुसार "उन दिनों (सत्रहवीं सदी) के कुछ अंग्रेज सौदागर अवश्य ही धाराप्रवाह हिंदुस्तानी बोल लेते थे।"[1] टॉमस कोरियेट नामक अंग्रेज यात्री इतनी अच्छी तरह हिंदुस्तानी बोल लेता था कि १६१६ में जब उसकी धोबिन ने उसे गालियां देना शुरू किया, तो उसने भी धाराप्रवाह गाली-वर्षा से उसे शान्त कर दिया। व्यापार की उन्नति के लिए आवश्यक था कि एक भाषा और लिपि का प्रचलन हो। एडवर्ड टेरी ने १६५५ में प्रकाशित अपने यात्रा वृत्तान्त में लिखा था, "इन्दोस्तान देश की बोलचाल की भाषा अरबी-फारसी जबानों से बहुत साम्य रखती है लेकिन बोलने में ज्यादा सुन्दर और सरल है। इसमें काफी रवानी है और थोड़े शब्दों में बहुत कुछ कहा जा सकता है। लोग हमारी ही तरह यानी बायें से दायें को लिखते और पढ़ते हैं।"[2] इससे पता चलता है कि अरबी-फारसी शब्दों के प्रयोग का यह अनिवार्य परिणाम न था कि भाषा के लिए एक भिन्न लिपि का प्रयोग भी किया जाय। उर्दू लेखक श्री अली सरदार जाफरी ने इस स्थापना का खंडन किया है। उनके अनुसार चौदहवीं-पंद्रहवीं सदी में ही मुसलमान उर्दू लिपि का प्रयोग करने लगे थे। "यह स्वाभाविक है कि हिंदी के एक महान् कवि मलिक मुहम्मद जायसी के पद्मावत की सभी प्राचीन पांडुलिपियां उर्दू लिपि में हों और उन्हीं से देवनागरी के रूपान्तर हुए हैं। हिंदी-उर्दू के अनेक विद्वानों का मत है कि उन्होंने अपनी पुस्तक उर्दू लिपि में ही लिखी थी।"[3] यदि श्री जाफरी की यह बात

---

1. ग्रियर्सन, लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इंडिया, खंड १, पृष्ठ २।
2. ग्रियर्सन द्वारा उद्धृत, उप, पृष्ठ २।
3. इंडियन लिटरेचर, संख्या १, १९५३, बम्बई।

शब्द भाषा के लिए प्रयुक्त किया था। १६७३ में फायर ने लिखा था कि राजदरबार की भाषा फारसी है लेकिन बोलचाल की आम ज़बान "इन्दोस्तान" है। १७८२ में इवारस एवेल नामक सज्जन ने तमिल, तेलुगु, 'हिन्दुस्तानी' आदि भाषाओं का कोश तैयार किया था।[1] प्येत्रो देल्ला वाल्ले (१६२३) के अनुसार ब्राह्मण नागरी लिपि का प्रयोग करते थे। ह्राइनरिख रोथ (१६५३-१६६८) और जे. ऐफ़. फ़्रित्ज़ (१७४८) ने नागरी लिपि के व्यवहार का उल्लेख किया है। १७७१ में कासिम्रानो वेलीगात्ती ने नागरी वर्णमाला पर एक पुस्तक लिखी। नागरी लिपि के ये उल्लेख इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि जिन दिनों यहां फारसी राजभाषा थी, लोगों ने नागरी लिपि को भुला न दिया था वरन् उसका व्यवहार बना हुआ था जिससे उसकी ओर विदेशियों का ध्यान आकर्षित हुआ। १९वीं सदी के उत्तरार्ध में कुछ साम्प्रदायिक लोगों ने उर्दू लिपि का बहिष्कार करके नागरी लिपि का चलन न कर दिया था।

१७८६ में सर विलियम जोन्स ने हिन्दुस्तानी और ब्रजभाषा का भेद करते हुए लिखा था, "हम जानते हैं कि हिन्दुस्तान खास में मुसलमानों ने लोगों को एक विचित्र गठन की सजीव भाषा बोलते सुना जिसका शुद्ध रूप आगरे के आसपास और खास कर मथुरा की काव्यमय भूमि में प्रचलित था। इसे साधारणतः ब्रजभाषा कहा जाता है। सम्भवतः छह में पांच शब्द इस भाषा में संस्कृत से आये थे।...लेकिन हिन्दुस्तानी का आधार, खास कर क्रिया के रूप और विकार उन दोनों में उतने ही भिन्न थे जितनी अरबी फारसी से या जर्मन ग्रीक से भिन्न है।" जोन्स ने यहां "हिन्दुस्तान" को हिन्दीभाषी प्रदेश के सीमित अर्थ में प्रयुक्त किया है; "हिन्दुस्तानी" उनके लिए, ब्रज से भिन्न (और संस्कृत से भी भिन्न) खड़ी बोली है, यह उन्होंने स्पष्ट कर दिया है। १८१६ में विलियम केरी ने हिन्दी का व्यापक प्रसार देख कर लिखा था कि "हिन्दी का कोई अपना प्रदेश नहीं है जिसके लिए कहा जा सके कि हिन्दी वहीं की भाषा है।" केरी के अनुसार "हिन्दी" उन सभी शहरों में बोली जाती थी जो उसके समय में मुस्लिम शासकों के केन्द्र थे या पहले रह चुके थे।

१८५७ के स्वाधीनता-संग्राम में हर अंग्रेज को हिन्दुस्तानी जाति के अस्तित्व का पता चल गया था। ११ सितम्बर १८५७ को पंजाब सरकार की ओर से ब्रैंडरेथ ने कलकत्ता सरकार को लिखा था, "अब १८,६२० हिन्दुस्तानी सिपाहियों में से एक का भी विश्वास नहीं किया जा सकता। ये सब कमज़ोरी और खतरे की जड़ हैं। हर छावनी में गोरी और पंजाबी पल्टनें

---

1. ग्रियर्सन के 'लिंग्विस्टिक सर्वे' (प्रथम खंड) में यह सब विवरण दिया हुआ है।

भारत में बंगला भाषा बोलने वाले तथा बिहार या उत्तर प्रदेश के लोगों को 'हिन्दुस्तानी' अथवा 'पछँइयाँ' कहा जाता है। परन्तु 'पंजाबी' या राजस्थान के निवासी 'मारवाड़ी' इन हिन्दुस्तानियों (या हिन्दुस्थानियों) से भिन्न गिने जाते हैं।"[1] हिन्दुस्तान और हिन्दुस्तानी शब्दों को एक जाति विशेष के प्रदेश और उसकी भाषा के लिए प्रयुक्त करके स्वयं डॉ. चाटुर्ज्या ने यह मत प्रकट किया है, "हिन्दुस्तानी के सर्वांग न पा सकने का एक कारण यह था कि बंगाल, महाराष्ट्र, पंजाब आदि प्रान्तों की भांति हिन्दुस्तानी क्षेत्र (बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य भारत तथा अन्य प्रदेशों) की जनता राजनीतिक दृष्टि से जागरूक न हुई थी।"[2] इस प्रकार "हिन्दुस्तान" एक जाति विशेष का इतिहास-सम्मत प्रदेश है। इस जाति का गठन अंग्रेजों के आने से पहले हुआ। इसी कारण मुसलमान और अंग्रेज दोनों ही उसे आसानी से पहचान सके। यह धारणा भ्रान्त है कि भारत के अर्थतन्त्र में अंग्रेजों की भारत-विजय से पहले कोई परिवर्तन न हुआ था। जिस पद्धति से यूरोप में रूसी, फ्रान्सीसी, ब्रिटिश आदि जातियों का निर्माण हुआ था, मूलतः उसी पद्धति से, अर्थात् व्यापार द्वारा पूंजीवादी सम्बंधों के प्रसार से यहां हिन्दुस्तानी जाति का गठन हुआ। भारत में अकेले हिन्दुस्तानी जाति का गठन नहीं हुआ, यहां बंगला, मराठी, गुजराती आदि भाषाएं बोलने वाली जातियों का भी गठन हुआ। १९५३ में हिन्दुस्तानी जाति के निर्माण पर "इंडियन लिटरेचर" में निबंध छपा तो कुछ अहिन्दी भाषी मित्रों ने लिखा कि हिन्दी लेखकों ने जातीयता के उत्साह में एक जाति गढ़ डाली है और ब्रिटिश-पूर्व इतिहास में उसका प्रमाण भी खोज निकाला है। उनकी इस धारणा का खंडन करने के लिए ऊपर "हिन्दुस्तान" आदि से सम्बंधित उद्धरण दिये गये हैं। उपर्युक्त कोटि के मित्रों से आप पूछें कि अंग्रेजों के आने से पहले उनकी अपनी जाति का निर्माण हुआ था या नहीं तो वे कहेंगे, हां; लेकिन पूछिए कि हमारी जाति का निर्माण हुआ था या नहीं, तो कहेंगे नहीं! अंग्रेजों ने यहां की जातियों के विकास को हर तरह से रोका, साम्प्रदायिकता के आधार पर उन्हें विभाजित करने की नीति अपनायी; इसका यह अर्थ नहीं कि स्वाधीन भारत के विचारक भी जातियों का विकास रोकें और उनके अस्तित्व से ही इनकार कर दें।

हिन्दुस्तानी जाति की एकता की ओर शायद सबसे पहले ध्यान देने वाले एक बंगाली सज्जन थे श्यामाचरन गांगुली। वह उदारपंथी विचारों के थे और

---

1. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृष्ठ १५६।
2. उप., पृष्ठ १५८।

की स्थिति क्या होती है जो महाजाति का अंग बन जाती है ? ब्रज, अवधी, भोजपुरी स्वतंत्र भाषाएं हैं या हिन्दी की बोलियां हैं ? हिन्दी इन्हें साम्राज्य-वादी ढंग से कुचल तो नहीं रही ? क्या राजस्थानी पंजाबी आदि भी हिन्दी की बोलियां हैं ? ये दो तरह की समस्याएं हमारे सामने आती हैं। इन पर हम अगले अध्यायों में विचार करेंगे।

बारहवाँ अध्याय

जातीय भाषाओं का विकास और उर्दू

उर्दू के बारे में एक प्रचलित धारणा यह रही है कि यह भाषा हिन्दुओं-मुसलमानों के मेल-जोल से बनी है। इस बहस का सम्बन्ध केवल उर्दू से नहीं है, उससे एक बड़ा सैद्धान्तिक प्रश्न शामिल है: क्या दो या अनेक जातियों के लोगों के आपस में मिलने से नयी भाषा उत्पन्न हो सकती है?

पद्मसिंह शर्मा ने "हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी" में उन लेखकों की चर्चा की है जिन्होंने इस धारणा का प्रचार किया था कि हिन्दुओं और मुसलमानों के मेल-जोल से उर्दू भाषा बनी थी। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में मीर अम्मन ने इसका जन्म अकबर के समय माना था। "जब अकबर बादशाह तख्त पर बैठे तब चारों तरफ के मुल्कों से सब कौम कदरदानी और फैजरसानी इस खानदाने-जामानी की सुनकर हुजूर में आकर जमा हुए, लेकिन हर एक की गोयाई और बोली जुदी-जुदी थी। इकट्ठे होने से आपस में लेन-देन, सौदा-सुलफ, सवाल-जवाब करते एक जबान उर्दू की मुकर्रर हुई।" उन्नीसवीं सदी के मध्य में सर सैयद अहमद खाँ ने अकबर के कुछ बाद शाहजहाँ के समय उर्दू का जन्मकाल निश्चित किया। "जब कि शाहजहाँ बादशाह ने सन् १६४८ ई. में शहर शाहजहानाबाद आबाद किया और हर मुल्क के लोगों का मजमा हुआ, इस जमाने में फारसी जबान और हिन्दी भाषा बहुत मिल गयी, और बाजे फारसी लफ्जों और अक्सर भाषा के लफ्जों में बसबब कसरत इस्तेमाल के तगय्युर व तबदील हो गयी। गरज कि लश्कर बादशाही और उर्दू-ए मुअल्ला में इन दोनों जबान की तरकीब से नयी जबान पैदा हो गयी और इसी सबब से जबान का उर्दू नाम हुआ।"[1]

श्री सैयद एहतिशाम हुसैन ने "उर्दू साहित्य का इतिहास" में इस ... "जब लड़ाइयों, चढ़ाइयों,

आक्रमणों और संग्रामों से उत्पन्न होनेवाली घृणा की लहर उठी तो हिन्दु
और मुसलमानों के हृदय में मेल-मुहब्बत के सोते फूट पड़े, जिन्होंने कला अं
धर्म सबको लपेट में ले लिया और उनके भावों, विचारों और कल्पनाओं
एक-दूसरे के समीप कर दिया। भक्ति को एक लोकप्रिय और उस समय
समस्याओं को देखते हुए प्रगतिशील आन्दोलन बनाने में, हिन्दू और मुसलमा
दोनों भक्तों का हाथ है। जब आचार-विचार की सीमाएं इस प्रकार निकट
गयी हों, तब एक ऐसी भाषा के जन्म लेने की सम्भावना दूर नहीं रह जात
जो मिले-जुले सामाजिक जीवन का चिन्ह हो।"[1] श्री सैयद एहतिशाम हुसै
ने उर्दू की उत्पत्ति का सम्बंध सूफियों के धर्म-प्रचार से भी जोड़ा है। "ह
यह भी समझते हैं कि उस समय कोई ऐसी बनी-बनायी भाषा प्रचलित नह
रही होगी जिसमें वह धर्म और भक्ति के गहरे विचार सरलता से प्रकट क
सकें। इसलिए उनको मजबूरन बहुत से फारसी-अरबी के शब्द बोलचाल की
भाषा में मिलाने पड़े होंगे।"[2]

मुगल बढ़ते थे, लेकिन यह पुरानी जातीयता की यादगार भर थी। जातीयता का मुख्य चिन्ह भाषा उनसे बहुत जल्दी छूट जाती थी। कश्मीर, बंगाल, पंजाब, सिन्ध, गुजरात, 'हिन्दुस्तान'—सभी प्रदेशों में उन्होंने वहीं की भाषा अपनायी। दूसरी बुनियादी बात यह है कि यहां लगभग छह सौ वर्ष तक फारसी राजभाषा रही। दिल्ली सल्तनत की सीमाएं घटती-बढ़ती रहीं, भारत के उन प्रदेशों को अपनी भाषाएं पल्लवित करने का ज्यादा अवसर मिला जो दिल्ली से दूर थे; जहां तक हिन्दी क्षेत्र का सम्बन्ध है, यहां राजभाषा फारसी का शासन बना रहा। इसे मेल-जोल का चिन्ह नहीं कहा जा सकता। इसे स्पष्ट रूप से सामन्ती व्यवस्था के अन्तर्गत सांस्कृतिक उत्पीडन का चिन्ह मानना चाहिए।

जिन मुसलमानों ने आठवीं सदी में सिंध पर आक्रमण किया था, वे अरब थे। उनकी भाषा अरबी थी। सिन्ध में विद्रोह हुआ और अरब राज्यसत्ता का अन्त कर दिया गया। आठवीं सदी में अभी मेल-जोल से नयी भाषा बनने का सवाल न था। ग्यारहवीं सदी में महमूद गजनी ने भारत पर आक्रमण किया, वह तुर्क था। मुहम्मद गोरी ईरानी था, पठान नहीं था। खल्ज एक तुर्की कबीले का नाम था जिससे खिल्जी वंश चला। "इस समय (तेरहवीं सदी में) तुर्क एशिया के सबसे तेज-तर्रार और लड़ाकू लोग थे। गजनवी वंश की उत्पत्ति एक तुर्क गुलाम से हुई थी। गजनवी और गोरी खानदानों के शासक तुर्क गुलामों के काफिले से घिरे रहते थे और अवसर मुक्ति पाने से पहले भी ये गुलाम राज्य के ऊंचे-ऊंचे पदों पर नियुक्त किये जाते थे।"[1] बाबर की मातृ-भाषा तुर्की थी। उसने अपनी आत्मकथा फारसी नहीं तुर्की में लिखी थी। शेरशाह पठान था। भारत में आक्रमक बनकर जो मुसलमान आये, वे मुख्यत तुर्क थे। इसीलिए यहां की बोलियों में तुर्क शब्द मुसलमान का पर्याय बन गया। यदि भिन्न जातियों के मिलने से भाषा बनती, तो उर्दू में सबसे ज्यादा शब्द तुर्की के होते। लेकिन उर्दू या अन्य भारतीय भाषाओं पर तुर्की का असर बहुत ही कम है। पठानों की जबान पश्तो थी। पश्तो का असर भी उर्दू आदि भाषाओं पर नहीं के बराबर है। बाहर से जो मुसलमान आये, वे किसी एक जाति के न थे, उन सबकी भाषा एक न थी। उनका सांस्कृतिक स्तर भी एक सा न था। उनमें शरीफ, बदमाश, लुटेरे, व्यापारी, विद्वान, जाहिल—हर किस्म के लोग थे। इसलिए यह धारणा कि मुसलमान एक जाति के थे, उनकी एक भाषा और संस्कृति थी, गलत है। इस गलत धारणा का प्रचार मुसलमानों में ही नहीं है, हिन्दुओं में भी है। एक हिन्दी लेखक ने उर्दू को अरब जेहादियों

---

1. दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इंडिया, खंड ३, पृष्ठ ६१।

का कीर्ति-स्तम्भ कहा था। अरब जेहादियों को भारत-विजय का श्रेय व्यर्थ ही दिया गया। उर्दू में अरबी शब्दों की आमद के लिए स्वयं अरब कतई जिम्मेदार नहीं हैं।

भारत मे आने वाले मुसलमान स्वयं जातीय और सांस्कृतिक उत्पीड़न के शिकार थे। कहने को शासन तुर्कों का था, लेकिन उनकी राजभाषा थी फारसी। पठानों ने दिल्ली पर राज किया लेकिन दिल्ली और अफगानिस्तान दोनों जगह राजभाषा थी फारसी। फारसी के आधिपत्य के कारण तुर्की, पश्तो आदि भाषाओं को अपना स्वत्व प्राप्त न हुआ था, उन्हें अपने प्रदेशों मे राजभाषा का गौरव पद न मिला था। उज़्बेक जाति के सैनिक सम्भवतः पिछड़े हुए समझे जाते थे; इसलिए उजबक शब्द का अर्थ हो गया गंवार। सैयद एहतिशाम हुसैन ने लिखा है, "जो मुसलमान यहां आये वे तुर्की, अरबी, फारसी और दूसरी मध्य एशियाई भाषाएं बोलते थे किन्तु उनके साहित्यिक और सांस्कृतिक व्यवहार का माध्यम फारसी थी।"[1] फारसी का व्यवहार करने वाले थोड़े से लोग थे; बाकी लोग अपनी-अपनी मातृभाषा बोलते थे। ये मुसलमान आक्रमक एक जाति और एक भाषा के न थे, इसलिए वे भारत की अग्रसर जातियों के मुकाबले में अपनी जातीयता की रक्षा न कर सके वरन् उन्हीं में घुलमिल गये। इसके विपरीत स्लाव देशों में बसने वाले जर्मनों को देखिए। वे अपनी जर्मन जातीयता बनाये ही न रहे, वरन् उन्होंने बराबर प्रयत्न किया कि स्लावों का भी जर्मनीकरण हो जाय जिसकी पहली शर्त थी—स्लाव भाषाओं की जगह जर्मन भाषा का व्यवहार। बल्गारिया में तुर्कों का शासन देखिए। भाषा और मार्क्सवाद के प्रसंग में स्तालिन ने लिखा था कि तुर्कों ने शताब्दियों तक प्रयत्न किया कि बल्कान लोगों को तुर्क बना लें और उनकी भाषाओं को खंडित करें, उनका दमन कर दें और नाम-निशान मिटा दें। भारत में इस प्रकार जातीयता के विनाश का प्रयत्न नहीं किया गया। आक्रमणकारियों में धर्मान्धता थी और वे अपने धर्म का—या जिसे वे इस्लाम समझते थे उसका—प्रसार करना चाहते थे। लेकिन जातियों के रूप में वे स्वयं गठित न थे। इसका यह अर्थ नहीं कि वे भारत में उत्पीड़न के लिए उत्तरदायी न थे। उनके उच्च वर्गों, शिक्षित जनों और शासकों ने फारसी भाषा अपना कर खुद को भाषा द्वारा ईरानी बना लिया था। इसके सिवा मुगल-काल में यहां काफी ईरानी थे और दरबार में ईरानी अफसरों का काफी प्रभाव रहा। इसी कारण फारसी को राजभाषा बनाना एक तरह का सांस्कृतिक उत्पीड़न कहा जायगा। [illegible] ईरान पर [illegible] का अधिकार था

1. उर्दू साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६०।

चुका था, फारसी में अरबी शब्दावली का जोरों से प्रवेश हो चुका था। उर्दू के प्रारम्भिक काल में उसने जो अरबी शब्द पाये, वे फारसी के माध्यम से। फारसी के राजभाषा बनने से अप्रत्यक्ष रूप से अरबी ने भी हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं को प्रभावित किया। लेकिन यह याद रखना चाहिए कि हिन्दी से उर्दू का अलगाव बहुत से बहुत दो सौ साल का है, फारसी यहां राजभाषा रही है लगभग छह सौ साल। इन छह सौ सालों में जो आखीर के दो सौ वर्ष हैं, वही अलगाव के काल भी हैं। इसका अर्थ यह है कि जो युग सामन्तवाद के पतन और अंग्रेजी राज की स्थापना का युग है, उसीमें यह अलगाव बढ़ा और मजबूत हुआ।

बाहर से आने वाले भिन्न जातियों के मुसलमान यहां की जातियों में कैसे घुलमिल गये और उन्होंने कैसे यहां की भाषाओं को अपनाया, इसके प्रमाण देखिए। अमीर खुसरो की हिन्दी रचनाओं को विवादास्पद माना जाता है, पता नहीं वह उन्हीं की हैं या और लोगों की। खुसरो तुर्क थे लेकिन हिन्दुस्तान में पैदा हुए थे। उन्हें हिन्दुस्तानी होने का गर्व था और हिन्दी से प्रेम था। उनकी सांस्कृतिक भाषा फारसी थी। उसमें — अविवादास्पद रूप से — उन्होंने लिखा था

तुर्क हिन्दोस्तानम मन हिन्दवी गोयम जवाब।
शकर मिस्री नदारम कज़ अरब गोयम सुख़न।

(मैं हिन्दुस्तानी तुर्क हूं और हिन्दी में जवाब दे सकता हूं। मेरे पास मिस्र की शकर नहीं है कि अरब की बात करूं।)

चु मन तूतिए हिन्दम अर रास्त पुरसी।
ज़े मन हिन्दवी पुर्स ता नग़्ज़ गोयम।

(मैं हिन्दुस्तान की तूती हूं। हिन्दी में सवाल करो जिससे मैं मीठी बात कर सकूं।)

अपने एक दीवान की भूमिका में उन्होंने लिखा था कि उन्होंने हिन्दवी में भी कविता की है और उसे दोस्तों को दे दिया है। श्री मुहम्मद वहीद मिर्ज़ा के अनुसार[1] खुसरो ने अपनी फारसी रचनाओं में भी बड़े अच्छे ढंग से जहां-तहां हिन्दी शब्दों का प्रयोग किया है जैसे ख़ज़ाइनुल-उल-फ़ुतूह में बसीठ, परधान, मार-मार वगैरह। खुसरो को हिन्दुओं से विशेष प्रेम न था। उसने उनके अनेक रीति-रिवाजों का मज़ाक उड़ाया था और बादशाह को आगाह किया था कि

---

1. मुहम्मद वहीद मिर्ज़ा, दि लाइफ ऐण्ड वर्क्स ऑव अमीर खुसरो, कलकत्ता, १६३५, पृष्ठ २३४; खुसरो सम्बन्धी अन्य तथ्य भी इसी पुस्तक से लिये गये हैं।

उनके हाथ में ज्यादा सत्ता न आने दे। मंदिरों के ध्वंस पर उसने प्रसन्नता प्रगट की थी। खुसरो में धार्मिक असहिष्णुता की कमी न थी लेकिन वह धर्म और भाषा को मिला कर एक न कर देता था। उसे हिन्दू धर्म से भले घृणा रही हो, हिन्दी भाषा से उसे प्रेम था। श्री मिर्ज़ा ने लिखा है कि खुसरो से पहले अनेक मुसलमान लेखकों ने हिन्दी में रचनाएं की थीं, इस बात का उल्लेख स्वयं खुसरो ने किया है और अन्य प्रमाणों से भी यह तथ्य सिद्ध होता है। मसूद-इ-सद सलमान ने हिन्दी में एक पूरा दीवान लिखा था। फरिश्ता के अनुसार महमूद गज़नवी के समय में भी हिन्दी कविता रची जाती थी।

खुसरो के अलावा उस समय जिन और लेखकों ने फारसी में ग्रंथ रचे हैं, उन्होंने भी हिन्दी शब्दों का प्रयोग किया है। यह स्वाभाविक था क्योंकि जो गैर-ईरानी मुसलमान फारसी सीखते थे, वे उसे भारतीय भाषाओं के माध्यम से सीखते थे। यदि आम मुसलमानों में आपस के व्यवहार के लिए फ़ारसी भाषा का प्रयोग होता तो उसे सीखने के लिए भारतीय भाषाओं के सहारे की जरूरत न होती। "अमीर खुसरो का युग खिलजियों और तुगलकों का युग था। फीरोज़ तुगलक के समय में जो ऐतिहासिक ग्रंथ फारसी में लिखे गये, उनमें न जाने कितने शब्द भारतीय भाषाओं से लिये गये हैं जैसे ठग, लौंडी, मण्डल, ढोलक, मण्डी, चौधरी, राज, घड़ियाल, चूना, इत्यादि। इन बातों के अतिरिक्त समकालीन इतिहासों से यह भी मालूम होता है कि पाठशालाओं में जो फारसी पुस्तकें पढ़ायी जाती थीं उनका अर्थ भारतीय भाषाओं में समझाया जाता था। इससे भी पता चलता है कि हिन्दुओं-मुसलमानों के मेल-जोल से भारतवर्ष की नवीन आर्य-भाषाएं प्रभावित हो रही थीं और जिस प्रकार राजस्थानी, बुन्देली, ब्रज, अवधी इत्यादि का विकास हो रहा था, उसी प्रकार उर्दू भी अपनी जड़ें भारतवर्ष की भूमि और समाज में फैला रही थी।"[1] जो मुसलमान घर में खड़ी बोली बोलते थे, वे लौंडी, ढोलक, चौधरी, घड़ियाल वगैरह का अर्थ खूब समझते थे। जिनके लिए वे फारसी ग्रंथ लिखते थे, वे भी इन शब्दों का अर्थ खूब समझते थे। उनकी आपस की बोली न फारसी थी न तुर्की, उनकी सामान्य भाषा थी खड़ी बोली हिन्दी। फारसी के राजभाषा होने के कारण, ईरान के सांस्कृतिक प्रभुत्व के कारण ये हिन्दी-भाषी मुसलमान फ़ारसी सीखते थे और सीखते थे उसे हिन्दी के सहारे। इससे यह परिणाम कैसे निकलेगा कि हिन्दुओं-मुसलमानों के मेल-जोल से आर्य-भाषाएं प्रभावित हो रही थीं? यदि उस समय की हिन्दी या अन्य किसी भारतीय भाषा में तुर्की, पश्तो, फारसी आदि भाषाओं के बहुत से शब्द मिलते, तो यह कहा जा

1. उर्दू साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २८।

सकता था कि भिन्न जातियो के मेल से एक नयी भाषा बन रही है। किन्तु यहा हम देखते हैं कि हिन्दी के शब्दो का प्रयोग हो रहा है फारसी मे ! तब हिन्दी फारसी को प्रभावित कर रही थी या उससे स्वयं प्रभावित होकर मेल-जोल की एक नयी भाषा उर्दू को जन्म दे रही थी ? वास्तव में हिन्दुओं और मुसलमानो को मिलाकर एक नयी कौम बनाने का सवाल न था। तुर्क और पठान यहा की भाषा बोलने थे, यहा रहते हुए यही के हो गये थे। वे जातीयता का मुख्य प्रतीक—अपनी भाषा—खो चुके थे। धर्म का भेद होने से जातीयता मे भेद पैदा नही होता जैसे अरब, तुर्क, पठान, ईरानी सब एक धर्म इस्लाम को मानने पर भी एक जाति के नही हो जाते।

महमूद गजनवी के लिए प्रसिद्ध है कि उसने अपनी मुद्रा पर संस्कृत शब्द भी अंकित किये थे। इससे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि बलबन के भतीजे अब्दुल्ला को लोग छज्जू कहते थे। चौदहवी सदी मे जब दिल्ली मे अकाल पड़ा, तब बादशाह ने दिल्ली से १६५ मील दूर तम्बुओं-कनातों का एक नया शहर बसाया था और उसका नाम रखा था—बादशाह सलामत ने खुद उसका नाम रखा था—सरगद्वारी।[1] यद्यपि फारसी राजभाषा थी, फिर भी राज का बहुत सा काम हिन्दी मे होता था। इब्न बतूता को जब दिल्ली का काजी बनाया जा रहा था, तो उसने यही सोच जाहिर किया था कि उसे यहा की जबान नहीं आती। शेरशाह ने दफ्तरो मे फारसीदां मुंशियो के साथ हिन्दी लेखक भी नियुक्त किये थे, जिससे साधारण जनता को तकलीफ न हो। फारसी एकमात्र राजभाषा हुई अकबर के शासन मे, लेकिन हम आगे देखेंगे कि अकबर के समय मे भी राजभाषा के रूप मे हिन्दी का चलन पूरी तरह बन्द न हुआ था। यह दुर्भाग्य की बात है कि यह घटना अकबर के समय मे हुई क्योंकि मुगल शासको मे वह सबसे अधिक प्रगतिशील था। बाबर की भाषा अवश्य तुर्की थी लेकिन अकबर के समय तक मुगल घराने की स्त्रियो के व्यवहार की भाषा हिन्दी हो चुकी थी। अकबर को हम विदेशी शासक नही कह सकते, वह पूरा हिन्दुस्तानी था। उसके समय मे [illegible] और [illegible] ने खूब उन्नति की। उसके बारे मे प्रसिद्ध है कि वह [illegible] था। [illegible] इस अपवाद का कारण यह था कि वह फारसी न जानता था। [illegible] हिन्दी [illegible] उसने बाकायदा पढ़ी थी। जहांगीर ने लिखा था कि [illegible] मे ही अकबर की सेवा मे रहा था और [illegible] हिन्दी [illegible] राई-रत्ती ज्ञान करा दिया था। जहांगीर [illegible], [illegible] उसी ने मुहम्मद सलीम [illegible]

---

1. कैंब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, खंड ३, पृष्ठ ११६।

उसे हमेशा "शेखू बाबा" कह कर बुलाता था। शेख या शेखू हिन्दुस्तान की बोलियों के नियमों से ही बन सकता है; फारसी के नियमों से नहीं। इसी तरह फतहपुर सीकरी के पहाड़ी इलाके में पैदा होने के कारण शाह मुराद का नाम पहाड़ी रखा गया था। दानियाल हिन्दी में कविताएं रचता था। अकबर के घर और दरबार में जो हिन्दी कविता और भाषा का वातावरण था, उसकी झलक हमें जहांगीर के तानसेन सम्बन्धी वर्णन से मिलती है। "काला भौरा हमेशा इन (कँवल के) फूलों के साथ रहता है, इसलिए हिन्दुस्तान के शायर बुलबुल की तरह उसे फूल का प्रेमी समझते हैं और कविता में उन्होंने उसका बहुत उच्च कोटि का वर्णन किया है। इन कवियों में मुख्य था तानसेन कलावन्त; मेरे पिता के दरबार में उसका जोड़ न था। दरअसल उस जैसा गायक आज तक कहीं हुआ ही नहीं है। उसने अपने एक गीत में एक नौजवान के मुंह की उपमा सूरज से दी है, उसकी आंखों की उपमा खुलते हुए कँवल और उससे निकलते हुए भौरे से दी है। दूसरे गीत में उसने नायिका के कटाक्ष की तुलना कँवल की थिरकन से की है जब भौरा आकर उस पर बैठता है।"[1] अकबर ने संस्कृत और फारसी के अन्य ग्रंथों का "हिन्दवी" में अनुवाद कराया। नल-दमयन्ती की कथा का अनुवाद फारसी में कराया। अकबर और जहांगीर के समय हाथियों और तोपों के जो नाम रखे जाते थे, वे काफी दिलचस्प थे। अकबर के समय में हाथियों से खींची जाने वाली तोप को गजनल कहते थे; जिस तोप को मनुष्य खींचते थे उसे नरनल कहते थे। जहांगीर को एक हाथी भेंट किया गया था जिसका नाम था रन-रावत। उसके एक हाथी का नाम था पच-गज या पच-कुञ्जर।[2] एक का नाम था फतह-गज, एक था फौज-सगर। किन्हीं पत्रदास को अकबर ने राय रायान का खिताब दिया था। जहांगीर ने उन्हीं को राजा विक्रमाजीत की उपाधि दी थी। बादशाह जिस खिड़की पर बैठ कर जनता को दर्शन देता था, उसका कवित्वपूर्ण नाम रखा गया था—दर्शन-झरोखा। जहांगीर को हिन्दी कविता से प्रेम था। उसने लिखा है, राजा दर्शन सिंह एक हिन्दी कवि को लाये; मैंने उसकी सी सजीव हिन्दी कविता कम सुनी है।[3] जहांगीर ने अपने बारे में लिखा है, हालांकि मैं हिन्दुस्तान में पला और बढ़ा हूं, फिर भी मैं तुर्की से नावाकिफ नहीं हूं।[4] हिन्दुस्तान में रहते हुए तुर्क हिन्दुस्तानी हो गये थे; अब उनमें अगर कोई तुर्की जानता था, तो यह उल्लेखनीय बात होती थी। अकबर की तरह जहांगीर भी हिन्दू त्योहारों में भाग लेता था।

---

१. तुजुके जहांगीरी, पृष्ठ ४१३।
२. उप., खंड १, पृष्ठ २८८।
३. उप., खंड १, पृष्ठ १४१।
४. उप., पृष्ठ १०६।

उसने लिखा है, 'मेरे पिता के समय में हिन्दू अमीर और उनका अनुकरण करने वाले अन्य अमीर कीमती हीरे-जवाहरात की राखी उनके हाथ में बांधते थे। उन्होंने इस काम में अति कर दी थी, इसलिए उन्होंने यह सब बंद कर दिया था। इस साल मैंने यह सुन्दर धार्मिक कृत्य किया और हिन्दू अमीरों और बिरादरियों के मुखियों को हुक्म दिया कि मेरे हाथ में राखी बांधें।' आगे लिखा है—'इस महीने की आठ तारीख को दिवाली आयी, मैंने महल के चाकरों को हुक्म दिया कि दो-तीन रात तक मेरे सामने जुआ खेलें।' अन्यत्र उसने दशहरे के बारे में लिखा है कि उसके सामने घोड़े और हाथी सजा कर लाये गये। वहीं कूच करते समय रास्ते में शिवरात्रि पड़ी। कुछ जोगी इकट्ठे हुए। जहांगीर उनसे भी मिला और उसने हिन्दू त्योहार की रस्में पूरी कीं।[1] मुगल बादशाहों को हिन्दुओं के साथ इस तरह घुलने-मिलने देख कर हमें इस बात पर आश्चर्य न होना चाहिए कि दानियाल और अकबर कविता करते थे और जहांगीर हिन्दी कविता पर राय जाहिर कर सकता था, न ही हमें इस बात पर आश्चर्य होना चाहिए कि जब शाह आजम ने औरंगजेब को आम भेजे तो उसने उनका नाम सुधारस और रसना-विलास रखा।

संभव है, अब भी किसी के मन में भ्रम रह जाय कि मुगल बादशाहों की भाषा हिन्दी नहीं फारसी थी, किन्तु इस बात में सन्देह की जरा भी गुंजाइश नहीं है कि दिल्ली के आम मुसलमानों की भाषा हिन्दी थी। चौदहवीं सदी में मुहम्मद तुगलक ने तै किया कि देश की राजधानी दिल्ली के बदले देवगिरि हो। दिल्ली-निवासियों को शहर छोड़ कर दक्षिण चलने का हुक्म हुआ। राजधानी दिल्ली वापस आ गयी, लेकिन जो बहुत से लोग यहां से दक्षिण गये थे, वे वहीं बस गये। चौदहवीं सदी में ही इन दिल्ली-निवासियों को केन्द्र बना कर बहमनी राज्य की स्थापना हुई। "यह राज्य उत्तरी भारत के राज्यों को देखते हुए बहुत कुछ भारतीय रंग रखता था। उत्तरी भारत ईरानी और अरबी संस्कृति से प्रभावित था, पर दक्षिण इससे बहुत कुछ मुक्त था, इसीलिए यहां एक आर्य-भाषा को विकास का अच्छा अवसर मिला। अगर प्रसिद्ध इतिहास 'तारीखे फिरिश्ता' की बात ठीक मानी जाय तो यह मानना पड़ेगा कि बहमनी बादशाह के राज-कार्यालयों में हिसाब-किताब हिन्दी भाषा में रखा जाता था। इसका अर्थ यह हुआ कि १४वीं शताब्दी का अन्त होते-होते वहां उर्दू भाषा प्रचलित हो गयी थी।"[2] जो काम दक्खिन में हुआ, वह उत्तर में भी हो सकता था। यदि चौदहवीं सदी में बहमनी राज्य की

---

1. तुजुके जहांगीरी, पृष्ठ २४६।
2. उर्दू भाषा का इतिहास, पृष्ठ ३५।

तरह दिल्ली राज्य की राजभाषा हिन्दी हो जाती तो देश का सांस्कृतिक और राजनीतिक इतिहास कुछ दूसरा ही होता। सामाजिक विकास का कोई ऐसा अनिवार्य नियम नहीं था जिससे उत्तर में राजभाषा फ़ारसी होती और दक्खिन में हिन्दी। आखिर रूस में सामन्ती राजसत्ता रूसी भाषा में काम-काज करती ही थी। एक बात समझ में आती है। तुर्क और मुगल राजसत्ता का सामाजिक आधार बहुत सीमित था। इस राज्यसत्ता से किसान-कारीगर आदि अधिकांश जनता तो पीड़ित थी ही, सामन्तों का काफ़ी बड़ा हिस्सा उससे बराबर असन्तुष्ट रहता आया था। ऐसी स्थिति में फारसी को राजभाषा बनाने से वह राज्यसत्ता अपने संकुचित सामाजिक आधार में सुरक्षित रहती थी। फारसी न मुसलमानों की बोलचाल की भाषा थी, न हिन्दुओं की। उसे हिन्दू भी सीखते थे और मुसलमान भी — उन मुसलमानों को छोड़ कर जो सीधे ईरान से आये थे। राज्यसत्ता के संकुचित सामाजिक आधार के अनुरूप ही मुट्ठी भर पढ़े-लिखे लोगों की समझ में आने वाली फारसी राजभाषा बनायी गयी। दक्खिन में समस्या दूसरी थी। राज्य की अधिकांश प्रजा हिन्दी-भाषी न थी। उसकी भाषा तेलुगु या मराठी थी। इन तेलुगु और मराठी बोलने वालों पर राजभाषा हिन्दी लादी गयी। (यह बीसवीं सदी नहीं, चौदहवीं सदी की बात है, यह स्मरण रखना चाहिए)। दक्खिन में हिन्दुस्तानी जाति ने उत्पीडक जाति की भूमिका पूरी की। राज्यसत्ता के संकुचित आधार के अनुरूप यहां हिन्दी को राजभाषा बनाया गया। राज्य की साधारण प्रजा इस राजभाषा से लाभ न उठा सकती थी। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि फारसी को राजभाषा बनाने वाले तुर्क और मुगल बादशाहों की तुलना में हिन्दी को राजभाषा बनाने वाले बहमनी बादशाह ज्यादा प्रगतिशील थे। फारसी की अपेक्षा हिन्दी समझने और बोलने वालों की संख्या अधिक थी। इसके सिवा तेलुगु और मराठी बोलने वाले लोग उसे फारसी की अपेक्षा जल्दी सीख सकते थे।

बहमनी बादशाहों ने हिन्दी को राजभाषा बनाया हो चाहे न बनाया हो, इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि उत्तर से आये हुए इस राज्य के मुसलमानों की भाषा हिन्दी थी। ख्वाजा बन्दानवाज़ गेसूदराज़ "दिल्ली के प्रसिद्ध सूफ़ी फकीर निजामुद्दीन औलिया के खलीफा ख्वाजा नसरुद्दीन चिराग देहली के सबसे बड़े शिष्य और खलीफा थे। उनके माननेवालों की संख्या उत्तरी भारत में बहुत थी, पर वह अपना उद्देश्य फैलाने के लिए सन् १४१२ ई० के लगभग गुलबर्गा (गोलकुन्डा) चले आये और वहीं रह गये। गेसूदराज़ बहुत बड़े विद्वान थे, फारसी-अरबी में उनकी कई पुस्तकें प्रसिद्ध थीं। दक्खिन में भी उनका बड़ा मान हुआ और उनके माननेवालों की संख्या बढ़ने लगी। अपने समुदाय और

साधारण जनता के लिए यह अपने विचार हिन्दी में प्रकट किया करते थे।"[1] सूफी मत के एक अन्य प्रचारक शाह मीरान जी थे। "उन्होंने अपनी भाषा को स्वयं हिन्दी कहा है और इस सम्बध में यह भी लिखा है कि मेरी ये रचनाएं उन लोगों के लिए हैं जो अरबी-फारसी नहीं जानते।"[2] यदि मुसलमानों की सामान्य भाषा फारसी होती तो गेसूदराज और मीरान जी के लिए यह जरूरी न होता कि वे अपने अनुयायियों को हिन्दी में उपदेश दें। न यह हिन्दी "मेल-जोल" के फलस्वरूप बनी हुई भाषा थी जिसमें फारसी-अरबी शब्दावली की बहुतायत हो। उर्दू लेखक प्रारम्भिक दकनी को उर्दू कहते हैं, किन्तु यह उर्दू बाद की दिल्ली-लखनऊवाली उर्दू से बहुत भिन्न है। "दक्षिण में जिस साहित्य का विकास हो रहा था और उसमें जिस संस्कृति का रंग झलकता था, उस पर भारतीयता की गहरी छाप थी। वहां के कवियों की रचनाएं स्थानीय रंग से मालामाल हैं।" इसका मुख्य कारण यह था कि "वहां के लेखक और कलाकार थोड़ा बहुत ईरानी प्रभाव से बच जाते थे और अपने ही साधनों से काम लेकर अपनी ही भाषा का प्रयोग करते और उसी में रचनाएं किया करते थे।" प्रारम्भिक दकनी और बाद की दिल्ली वाली उर्दू का मुख्य भेद है—ईरानी प्रभाव। दकनी में फारसीयत कम-से-कम है। गेसूदराज के तीन सौ साल बाद की उर्दू में यह फारसीयत कसरत से है। शाह मीरानजी (या मीरांजी) की भाषा के नमूने इस प्रकार हैं :

ना उस रूप ना उस देह ना उस थान मकान।
निरगुन गुनवन्ता किस मुख करूं बखान।
ना मुझ लोभें पाट-पितम्बर यह जर जमी सिंगार।
फाटी फूटी कंबली नोकी फटा लिहाफ हमार।

भाषा के बारे में उन्होंने लिखा है

हमों बोल अरबी करे
और फारसी बहुतेरे।
यों हिन्दवी बोली तब
इस अर्थ भावे सब।
यह भाखा भले सो बोले
पुन इसका भाव खोले।
ये अरबी बोल न जाने
न फारसी पछाने।

1. उर्दू साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ३७।
2. उप., पृष्ठ ३६।

वर की वन्दना करते हुए कहते हैं :

बिस्मिल्ला उल रहमान
उल रहीम तू सुजान ।
यह सब आलम तेरा
तूं रज्जाक सभों केरा ।
तुझ बिन और न कोई
खालिक दूजा कोई ।
जे तेरा होवे करम
तो टूटे सभी भरम ।
इस कारन तुझ कू ध्याऊं
होर तेरा लेऊं नाऊं ।
है तेरा अन्त न पार
किस मुख सूं करूं उचार ।[1]

शब्द-भण्डार की दृष्टि से यह भाषा जायसी-परम्परा की है। इसे उत्तर भारत के उन प्रदेशों के लोग भी समझ लेते जहां खड़ी बोली न बोली जाती थी वरन् जहां अवधी या ब्रजभाषा जैसी किसी बोली का चलन था। इसमे फारसी का अंश उतना ही है जितना जायसी में मिल जायगा, जिससे जायसी की अवधी अवधी ही रहेगी, मेल-जोल के फलस्वरूप बनी हुई कोई नयी भाषा न हो जायगी। बाद की दकनी मे फारसी शब्द ज्यादा आये हैं लेकिन वे ऐसे हैं जो उत्तर भारत की बोलियों में भी घुलमिल गये थे। खास बात यह है कि दकनी मे उन शब्दों का बहिष्कार नहीं किया गया जो बाद को उर्दू मे मतरूक समझे गये। सत्रहवीं सदी के प्रसिद्ध लेखक मुल्ला वजही का गद्य इस तरह का था :

"अव्वल जो सब जागा खुदा ई च था। होर कई कुच न था। तो यू सब का ते आया? जाननहारा जानता है। जानते आया। पानी ते मोती पड्या। मोती बी पानी च है। वले सूरत मे फर्क पड्या। यू मोती पानी कहवाया। इस पानी होर इस मोती कूं जिने समजा सो ग्यानी कहवाया।"[2]

"कुतुब मुश्तरी" में मुल्ला वजही नायिका का शृंगार वर्णन करते हैं :

बिसें धन मुख बीच नैनां के मोती भाल में हसते,
लटां छूट तन उपर यूं है भुयंग ज्यूं मोर पर झूलते।

---

१. श्रीराम शर्मा, दक्खिनी का गद्य और पद्य, हैदराबाद, १९५४, पृष्ठ ४१-४२।
२. उप., पृष्ठ ४१५।

र घन घने कानों में के गुर घन फूल पानों मे,
त कोई मुसलमानों में विचारे नाज ते गलते।'

ा को दक्नी लेखक हिन्दी कहते थे। यह नाम गढ़ी या। इससे
ा था कि यह दक्नी दक्खिन की कोई नयी भाषा नहीं है वरन
व्यवहार उत्तर में होता था। इसके सिवा शब्द भंडार की दृष्टि
ज और अवधी के बहुत निकट थी, इसलिए हिन्दी परम्परा के
कुली कुतुबशाह की भाषा के बारे में सैयद एहतिशाम हुसैन ने
स तरह उनके विचार और विचारधारा में भारतीयता मिलती है
की भाषा उस हिन्दुस्तानी के निकट है जो हिन्दी भी है और उर्दू
मानों को भारत में रहते और यहां की भाषाएं बोलते लगभग
हो गये थे। पाच शताब्दियां मे कहीं मे नयी भाषा उत्पन्न करने
थी। लेकिन अब तक हिन्दी से स्वतन्त्र उर्दू का विकास न हुआ
आधुनिक हिन्दी की बात नहीं कहते। उस समय जायसी, रहीम,
मुसलमानों ने ब्रज या अवधी में जो शब्द-भंडार अपनाया है,
शब्द-भंडार दक्नी के लेखकों के यहां मिलता है। यह आक-
है कि "१८वीं सदी के अन्त तक 'उर्दू' शब्द का प्रयोग भाषा
मिलता। ' अभी तक ब्रज, अवधी लिखनेवाले मुसलमानों के
र खड़ी बोली लिखनेवाले मुसलमानों के शब्द-भंडार में मौलिक
था। मीर के समय तक उर्दू कवि अपनी भाषा को हिन्दी कहने
। "हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी" में पद्मसिंह शर्मा ने मीर
दृत की है

क्या जानूं लोग कहते हैं किसको सरूरे-कल्ब
आया नहीं है लफ्ज ये हिंदी जबां के बीच।

चन से यह निष्कर्ष निकला कि हिन्दुओं और मुसलमानों के
एक नयी भाषा के जन्म लेने का सिद्धान्त गढ़ा गया है, वह
। "हिन्दुस्तान" के मुसलमान उसी भाषा का प्रयोग करते थे

री, सम्पादक विमला वाघ्रे और नसीरुद्दीन हाशमी, हैदराबाद,
पृष्ठ ७१।

ा का इतिहास, पृष्ठ ४६।

२४।

जिसका हिन्दू। हिन्दी भाषा राजभाषा हुई दक्खिन मे। वहा बन्दानवाज, वजही आदि उसके समर्थ लेखक उत्पन्न हुए। इससे अन्दाज लगाया जा सकता है कि दिल्ली मे फारसी के राजभाषा होने से हिन्दी के विकास को कितना धक्का लगा। हिन्दी के जिस रूप को हम उर्दू कहते हैं, उसका विकास भी दिल्ली मे १८वी सदी के पहले न हो पाया, यानी फारसी के राजभाषा रहने से उर्दू साहित्य का विकास भी रुका रहा। वर्ना कोई कारण नही कि बन्दानवाज और वजही के समसामयिक लेखक दिल्ली मे उर्दू साहित्य न रचते। जिस समय दिल्ली मे उर्दू का विकास हुआ, उस समय तक हिन्दुओ-मुसलमानो को साथ रहते लगभग छह सौ साल हो चुके थे। कहना न होगा कि आपसी व्यवहार के लिए इन शताब्दियो मे मुसलमान उर्दू के जन्म लेने का इन्तजार न कर रहे थे। अठारहवी सदी की उर्दू-रूप वाली खडी बोली और इससे पहले की दकनी-रूप वाली खडी बोली के शब्द-भंडार मे यह अतर है कि हिन्दी के वे प्रचलित शब्द जो दकनी मे मिलते हैं उर्दू से बहुत कुछ हटाये गये हैं और उनकी जगह फारसी के शब्द रखे गये हैं। इस बात को मुसलमान उर्दू लेखको ने स्वीकार किया है। मौलाना अब्दुल हक ने लिखा था, "बाद के उर्दू शोअरा पर फारसी का रंग ऐसा गालिब आया कि यह मानूसियत उर्दू शाइरी मे बिलकुल उठ गयी और रफ्ता-रफ्ता बहुत से हिन्दी अलफाज भी जबान से खारिज हो गये और उस्तादी अलफाज के मतरूक करने मे रह गयी।... इस जमाने मे मौलवी हाली एक ऐसे शाइर हुए हैं, जिन्होने उर्दू मे हिन्दी की चाशनी देकर कलाम मे शीरीनी पैदा कर दी है, मगर हम अगर शोअरा मे इसकी कुछ कदर न हुई।"[1] मानना होगा कि अठारहवी सदी मे जिस उर्दू का विकास हुआ, वह पहले की उस उर्दू से भिन्न थी जिसमे हिन्दी शब्दो का आम चलन था। यह पहले की उर्दू, ब्रज, अवधी आदि से उस तरह दूर न थी जिस तरह १८वी सदी और आज की उर्दू दूर है। इसलिए स्पष्टता के लिए इस पहले की उर्दू को उर्दू न कह कर हिन्दी ही कहना चाहिए जैसा कि उसके लेखक भी उसे कहते थे। हिन्दी से भिन्न — खडी बोली, अवधी और ब्रज के साधारण शब्द-भंडार को छोडने वाली — उर्दू की विशेषता है, मतरूकात। हिन्दी शब्द निकाले गये और फारसी शब्दो की [illegible] [illegible] हुई। जिन कवियो ने हिन्दी शब्दो का खुल कर प्रयोग किया, उनकी भाषा को भ्रष्ट माना गया। नजीर अकबराबादी ने हिन्दी शब्दो का खूब प्रयोग किया था लेकिन इस कारण उर्दू के मशहूर करने वाले उनको [illegible] शायर न थे। पद्मसिंह शर्मा के शब्दो मे "जितने हिन्दुस्तानी शब्दों और

---

1. पद्मसिंह शर्मा द्वारा उद्धृत, हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी, पृष्ठ ६६।

[illegible] है उनकी लिखत किसी भी उर्दू [illegible] कविता को सिर्फ [illegible], लेकिन [illegible] भी नहीं रह गई है। [illegible] हिन्दुस्तानियत के कविता और [illegible] कि वह [illegible] हुआ करते, मगर अफसोस है कि [illegible] लोगों की [illegible] ने उसे 'मुख्तसर' और '[illegible]' [illegible] कर दिया।''[1]

[illegible] एहतिशाम हुसैन ने लिखा है : "दिल्ली के [illegible] हम इस प्रकार [illegible] कविता में [illegible] और उर्दू में लिखे [illegible] फारसी में करना प्रारम्भ किया पर [illegible] उर्दू में कविताएँ लिखने लगे। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि उनकी शिक्षा फारसी में हुई थी, फारसी कविता उनका आदर्श बनी हुई थी, फारसी के ही उदाहरण उनके सामने थे और फारसी के ही शब्दों के [illegible] पर वह चल सकते थे।''[2] इन शायरों पर फारसी कविता के भावों का असर ही न था, वे भाषा को भी ज्यादा से ज्यादा प्रौढ़ बनाने के लिए फारसी शब्दावली का प्रयोग करते थे। मुगल राज्य के पतनकाल में उर्दू को राज्याश्रय प्राप्त हुआ। उर्दू को माध्यम बनाकर जो साहित्य रचा गया था उसका सामाजिक आधार बहुत ही संकुचित था। "यह सामन्तवाद के पतन का युग था। और स्वस्थ न होने पर भी साहित्य और कला बादशाह और उनके अमीरों के हाथ में थे।"[3] श्री सैयद एहतिशाम हुसैन का विचार है कि इस पतनकाल में जनता की भाषा उर्दू को आगे बढ़ने का मौका मिला। "जीवन और सामाजिक चेतना के प्रभाव से उर्दू उन्नति की ओर बढ़ रही थी," लेकिन यह सामाजिक चेतना उस समय की उर्दू कविता में प्रतिबिम्बित नहीं हुई। "उसके साहित्य में वह बल नहीं देख पड़ता जो एक आगे बढ़ते हुए राष्ट्र और प्रगति करती हुई जनता के साहित्य में मिलता है। सामन्तशाही युग में साहित्य राज-दरबार के संरक्षण और सहानुभूति पर निर्भर होता है और मुगल राज्य ऐसा दुर्बल हो रहा था कि वह उर्दू साहित्य की प्रगति में किसी प्रकार सहायक नहीं हो सकता था।"[4] साहित्य का भी एक

---

१. उप., पृष्ठ ६१।
२. उर्दू साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६१।
३. उप., पृष्ठ ६१।
४. उप., पृष्ठ ६८।

हद तक वर्ग-आधार होता है। यह वर्ग-आधार सीमित और पतनशील होता तो साहित्य अधिकांश जनता के लिए अग्राह्य हो जाता है। यदि वह प्रगतिशील और व्यापक होता है तो उसका महत्व अनेक वर्गों के लिए और अनेक युगों तक रहता है। उर्दू कवियों के जीवन पर एक दृष्टि डालने से राजदरबारों से उनके सम्बध का पता चलेगा और यह सत्य स्पष्ट होगा कि साहित्य का वर्ग-आधार किस तरह उसकी भाव-सामग्री ही नही, उसके रूप (शब्द-चयन आदि) को भी प्रभावित करता है। आरम्भ मे "अगर्चे ईरानी संस्कृति और फारसी भाषा का गहरा प्रभाव पड रहा था, परन्तु व्रजभाषा और दक्षिणी उर्दू के प्रभाव भी देखे जा सकते हैं।"[1] क्रमशः व्रज और दकनी का यह प्रभाव मंद होता गया; उसका स्थान फारसीपन ने लिया।

श्री सैयद एहतिशाम हुसैन ने प्रमुख उर्दू कवियों के जीवन के बारे मे जो तथ्य दिये है, वे इस प्रकार हैं: दिल्ली छोड़कर जानेवालो मे सबसे पहले शायर फुगाँ थे। इन्होने अवध और पटना के दरबारो मे शरण ली। ताबाँ दिल्ली के रहने वाले थे। इतने सुन्दर थे कि बादशाह इन्हे देखने के लिए स्वयं उनकी बैठक के रास्ते से गुजरा करते थे। "शराब बहुत पीते थे और उसी के कारण युवावस्था मे उनका देहान्त हो गया।" दर्द राजदरबार न जाते थे, "फिर भी राजदरबार से उनकी खानकाह की सहायता होती थी।" सौदा अवध की राजधानी फैजाबाद मे रहे। जब राजधानी लखनऊ हुई तो वहा चले आये। अवध सरकार से उन्हें छः हजार रुपये साल मिलते थे। मीर का जीवन दुखमय था। "मुगल राज्य इस प्रकार से गिर रहा था कि अब उसके सँभलने की आशा नही की जा सकती थी। मीर की कविता मे उसके हृदयविदारक और रोचक चित्र मिलते हैं।" उन्होने आगरा छोडा। दिल्ली मे "बहुत से अमीरो के यहां नौकरी की।" लखनऊ आये। वहां नवाब के यहा से हर महीने उन्हे तीन सौ रुपये मिलते रहे। जब उन्होने राजदरबार जाना छोड़ दिया, तब भी यह वृत्ति उन्हे मिलती रही। जुरअत, इन्शा और मुसहफी लखनऊ दरबार मे थे। दरबार मे ऊंचा स्थान पाने के लिए इनके झगडे इतने बढ़ गये कि "कभी-कभी वह बड़ा गंदा और अश्लील रूप धारण कर लेते थे।" नासिख इस परम्परा से दूर थे लेकिन समकालीन कविता से अवश्य प्रभावित थे। कुछ सादी और प्रभावपूर्ण रचनाओं को छोड़कर "उनकी कविता अलंकारों से भरी हुई है और कभी-कभी तो ऐसा जान पडता है कि वह भी भावशून्य होकर केवल शब्दो और अलंकारो के लिए शेर लिखते थे।" उनके शिष्यों मे नवाब सैयद मुहम्मद खां रिन्द थे और दयाशंकर कौल 'नसीम' जो चाहे देना

---

1. उप., पृष्ठ ७२।

मे बरसों से दरबार मे नियुक्त थे। गालिब भी राजदरबारों से दूर थे लेकिन "चूंकि वहां के अमीर लोग उन्हें मिलते थे, इसलिए उन्हें जीवन मे कभी खाने पीने की कठिनाई नही हुई। नवाब आगा मीर, जिनकी ड्योढ़ी लखनऊ मे अब भी प्रसिद्ध है, उनका बहुत आदर करते थे।" अनीस और दबीर मर्सिया-लेखक थे। अनीस राजदरबार से दूर थे। दबीर उनके निकट थे; "अवध राजदरबार मे भी उनका सम्मान होता था।" मोमिन राजदरबार से दूर रहे। "एक खाते-पीते परिवार से सम्बन्ध रखने के कारण उनके जीवन मे भोग-विलास की कमी न थी।" ज़ौक बादशाह के गुरु थे। मासिक वृत्ति के अलावा उन्हें जागीरें भी मिली थीं। गालिब भी बादशाह के गुरु नियुक्त हुए थे। गदर के बाद रामपुर दरबार से उन्हें सौ रुपया महीना मिलता रहा। दाग भी रामपुर मे रहे। "रामपुर मे उनका ऐसा आदर-सत्कार हुआ और भोग-विलास के ऐसे अवसर मिले कि वह उसको आरामपुर कहा करते थे।" जीवन के अन्तिम चौदह वर्षो मे वह हैदराबाद रहे और वहां एक हजार रुपया महीना पाते थे।

ये सब उर्दू के प्रसिद्ध कवि थे। राज-दरबार से सम्बंध न रखने वाले कवि अपवाद रूप मे थे। अधिकांश कवि राजदरबारो से सम्बधित और उनके आश्रित थे। भारतीय सामन्तवाद अपने जीवन की आखिरी सांसें ले रहा था। उसने अपने चारो ओर एक कृत्रिम ससार बना लिया था जिसका जन-जीवन से कोई सम्बध न था। नज़ीर जैसे कवि उर्दू साहित्य की मूलधारा से दूर थे और अपनी रचनाओ से उसे नया मोड देने मे असमर्थ रहे थे। हिन्दी उर्दू के अलगाव का प्रमुख कारण उर्दू काव्य का यह संकुचित सामती आधार था। इसका यह अर्थ नही है कि कवियो ने सरल उर्दू मे रचनाए नही की, ऐसी सरल उर्दू मे जो हिन्दी से भिन्न नही है, जो इतनी अच्छी हिन्दी है कि हिन्दी कवि उससे भाषा लिखना सीख सकते हैं। लेकिन इस सरल उर्दू के कारण हिन्दी उर्दू का अलगाव नही हुआ। अलगाव हुआ फारसी-मिश्रित कठिन उर्दू के कारण। हम यहा अलगाव के कारणो की चर्चा कर रहे हैं। यह अलगाव आज की हिन्दी से हो तो चिन्ता की बात नही। उसके लिए हिन्दू साम्प्रदायिकता को जिम्मेदार ठहराया जा सकता है। किन्तु यह अलगाव था जायसी और कबीर के शब्द-भडार से, बंदानवाज़ और वजही के शब्द-भडार की परम्परा से। इसका कारण [illegible] सिद्धात, भाषा मे हिन्दीपन के बदले फारसीपन का [illegible] ब्रजभाषा से हुआ, न पजाबी से, उसका जन्म [illegible] हिंदुस्तानी जाति के गठन की बात हमने पहले की है, [illegible] हवीं सदी तक रुका न था। उस गठन का आधार दिल्ली [illegible] पतनशील सामन्ती दरबार न थे। जब अंग्रेज यहा व्यापार

को सुविधा के लिए खड़ी बोली सीखते और बोलते थे, मनुष्यों ने दुभाषिये की सहायता के बिना सिपाहियों से खड़ी बोली में बातचीत की थी, तब तक सबसे जमाना शुरू न हुआ था, तब तक राजदरबारों में भी मतरूकात का सिलसिला शुरू न हुआ था। इसलिए यह कहना सही है कि हिन्दुस्तानी जाति का रूप सबसे पहले हिन्दी भाषा के द्वारा हुआ। भले ही इसे साहित्यिक रूप देने वाले मुसलमान रहे हों, भले ही उन्होंने उर्दू (या फारसी) लिपि का प्रयोग किया हो, उनकी भाषा हिन्दी है। जैसे रसखान और जायसी की भाषा ब्रज और अवधी है, वैसे ही दक्नी के प्रारंभिक लेखकों की भाषा हिन्दी है। उन्नीसवीं सदी में जब हिन्दी गद्य का विकास हुआ, तब उसके बारे में एक भ्रान्त धारणा का प्रचार किया गया कि उर्दू से सरल शब्द निकाल कर उनकी जगह संस्कृत के कठिन शब्द रखे गये और इस तरह हिन्दी को मेल-जोल की भाषा उर्दू से अलग विकसित किया गया। बात इसमें ठीक उल्टी है। यदि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट या प्रतापनारायण मिश्र का हिन्दी गद्य लिया जाय, तो उसकी शब्दावली जायसी और बन्दानवाज़ की शब्दावली के बहुत निकट मिलेगी। उनके समकालीन उर्दू लेखकों का शब्द-भंडार उस परम्परा से दूर है। उन्नीसवीं सदी के हिन्दी लेखकों ने शहरों में प्रचलित हिन्दी को अपना आधार बनाया और जनपदीय बोलियों से बेझिझक शब्द लिये। भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त उर्दू जानते थे, उनमें से कुछ उर्दू में लिखते भी थे, लेकिन उनके हिन्दी गद्य की विशेषता संस्कृत शब्दों का प्रयोग नहीं है, उनके गद्य में वे "देहाती" शब्द और मुहावरे मिलते हैं जिससे कुछ मित्र अभी तक हिन्दी को गंवारू भाषा कहते हैं। हिन्दुस्तानी जाति नगरों में ही सीमित नहीं थी। दिल्ली और लखनऊ में कुछ लाख लोग रहते थे जिनमें कुछ हजार उर्दू शायरी से परिचित थे। गावों में लोग रामायण पढ़ते थे, सूर, मीरा और कबीर के भजन गाते थे। सूर, मीरा, कबीर और तुलसी ने किस तरह के शब्द-भंडार का प्रयोग किया था? यद्यपि इन कवियों की भाषा खड़ी बोली न थी, लेकिन उनका शब्द-भंडार बहुत कुछ सामान्य था और बाद की हिन्दी के शब्द-भंडार से मिलता था। उदाहरण के लिए अयोध्या कांड के प्रारम्भ की आठ चौपाइयों में इस तरह के शब्द आते हैं: भुवन, भूधर, सुकृत, मेघ, रिधि-सिधि, नर-नारी, सुचि, विभूति, विधि, मुदित, शील, स्वभाव, आदि। इनमें कोई शब्द ऐसा नहीं है जो आधुनिक हिन्दी में प्रयुक्त न होता हो। उर्दू में इनका प्रयोग कहीं मिले तो वह अपवाद रूप में होगा। किन्तु उस तरह की शब्दावली सूरदास में मिल जायगी। यथा कृष्ण के बंसी बजाने का वर्णन करते हुए सूर ने "मेरे सांवरे जब मुरली अधर धरी" आदि जो पद लिखा है, उसमें इस तरह के शब्द हैं: अधर, समाधि, सिध (सिद्ध), देव,

विमान, सुर, वधू, चित्र, समान, ग्रह, नखत, राम (राशि), आनंद, चर-अचर, विपरीत, कल्पित, पखान (पाषाण), गंधर्व, खग, मृग, तृन, धेनु, द्रुम, चपल, पल्लव, विटप, पुलकित, अनुराग, पौन (पवन), समीर, नीर, अभिराम, लावन्य, अनग, गरब (गर्व) इत्यादि। ये तमाम शब्द सूर की हिन्दी में स्वीकृत थे, आज की हिन्दी में भी स्वीकृत हैं। इसके विपरीत जौक की दस पंक्तियों की एक गजल में इस तरह की शब्दावली है: शौक़े-नज्जारा, रुखे-पुरनूर, मुर्गे-नजर, शमएनूर, रजूर, बे-मक्दूर, मस्तेनाज, कस्ते-मुहब्बत, बिना (नींव), कोहकन, राहे-इश्क़, दुरें-ताजे-गुलेमा, बंजा-बंजा, मूर (चींटी) इत्यादि। इस तरह के शब्द न पहले की ब्रज और अवधी में प्रयुक्त होते थे, न आज की हिन्दी में प्रयुक्त होते हैं। गालिब के दीवान की पहली गजल में, जिसमें दस पंक्तियां हैं, इस तरह की शब्दावली का प्रयोग हुआ है शोखिए-तहरीर, पैरहन, पैकरे तस्वीर, कावे-कावे-सख्त, जानीहाए तनहाई, जू-एशीर, जज्बए-बेइख्तियारे शौक, सीनएशमशीर, आगही, दामे शनीदन, मुद्दआ (उद्देश्य), अन्क़ा, आलम्-ए-तकरीर, असीरी, आतश जेर पा, मू-ए-आतश-दीदा, हल्क़ः (कड़ी) इत्यादि। इस तरह की शब्दावली का प्रयोग हिन्दी में नहीं होता और आगे कभी होगा, इसमें संदेह है। जौक, गालिब और उर्दू के दूसरे कवियों ने बहुत सरल उर्दू में भी पंक्तियां लिखी हैं लेकिन अलगाव हुआ है उस कठिन फ़ारसीपन की वजह से जिसकी मिसालें ऊपर दी हुई हैं। यह ध्यान देने की बात है कि दकनी गद्य और पद्य में फ़ारसी व्याकरण के अनुसार बनाये हुए नये समासों का प्रयोग प्रायः नहीं है। नये समासों का प्रयोग दिल्ली के शायरों ने प्रारम्भ किया। शाह मियां तुराब दकनी उन्नीसवीं सदी के कवि थे। उनकी रचनाएं नजीर अकबराबादी की याद दिलाती हैं

जिये लग तो जोरू बच्चे प्यार करते
मुये पर तो मुर्दा फ़कर (बहुतर) जी में डरते
तेरे सात हरगिज नहीं कोई मरते
तुझे गाड़ माटी में सारे बिसरते

ये ऐसा है परपच भूठा जमाना
अरे मन नको रे यहां हो दिवाना।

यह तन मन सकल धन बरस जाने हारे
अपस कूं तूं माया में ना घालना रे
सुख आनन्द सूं उसको ना पालना रे
हरेक भोर जीने के दिन टालना रे

फारसी के शब्द घुलमिल गये थे, उनका वे बेझिझक प्रयोग करते थे। यह परम्परा आगे भी कायम रही। निराला जैसा कठिन हिन्दी का लेखक १९३३ में अपनी कहानियों मे उर्दू के सरल शब्दो का प्रयोग करता है। "चतुरी चमार" के पहले दो पृष्ठों मे इस तरह के शब्द मिलते हैं: मौजा, जिला, बदौली, बाशिन्दा, बल्कि, मकान, कामना, पुश्तैनी, रिश्ता, देहात, मजबूत, हफ्ता, चुस्त, मजन, हलवा, रवादा, वगैरह, नजदीक, मामा, अवल इत्यादि। 'देवी' के पहले दो पृष्ठो मे: ख्याल, कद, फाकेमस्ती, ख्वाब, कोशिश, दुनिया, मौत, लाश, निगाह, अमीर, दोमजिला, रिश्ता, मश्क, रूह, नाराज, जरूर, किस्मत, नजर, ताज्जुब, निगाह, तमाम, चेहरा, उम्र, मुमकिन, परवरिश इत्यादि। यह १९३३ की बात थी। अभी पिछले साल (१९५९ मे) श्री भगवती चरण वर्मा के उपन्यास "भूले-बिसरे चित्र" मे सिर्फ एक पृष्ठ (९) पर इस तरह के उर्दू शब्द आये हैं: खबर, नामजद, खुशखबरी, खानदान, तवारीख, पुश्त, चालाकी, बेईमानी, जाल-फरेब, बदनाम, नकद, खरीदना, लिहाजा, नकद-जेवर, नस्ल, सिर्फ, आवारा, जिन्दगी, शान इत्यादि। ऐसे सरल उर्दू शब्दो का प्रयोग साधारण हिन्दी गद्य की विशेषता है। इसलिए यह स्थापना सही नहीं है कि हिन्दी का विकास उर्दू के सरल शब्दों के बदले सस्कृत के कठिन शब्दो के प्रयोग द्वारा हुआ है। हिन्दी का विकास उस भाषा-परम्परा के आधार पर हुआ है जिसे उर्दू ने अठारहवी सदी मे बहुत कुछ छोड दिया था।

कुछ विद्वानो का विचार है कि उर्दू में फारसी-अरबी शब्दो का प्रयोग अनिवार्य था। "उस समय कोई ऐसी बनी-बनायी भाषा प्रचलित नही रही होगी जिसमे वह धर्म और भक्ति के गहरे विचार सरलता से प्रकट कर सकें। इसलिए उनको मजबूरन बहुत से फारसी-अरबी के शब्द बोलचाल की भाषा मे मिलाने पडते होगे।"[1] यदि सवाल धर्म और भक्ति सम्बंधी कुछ पारिभाषिक शब्दो का होता तो कोई अडचन न होती। वे हिन्दी के शब्द-भडार को समृद्ध करते। किन्तु बात ऐसे शब्दो की न थी। उर्दू कवियो ने बोलचाल के हिन्दी शब्दो के बदले फारसी के शब्दों का चलन किया। आग—आतश, आख—चश्म, धुआ—दूद, अभी तक—हनोज, कली—गुचा, नगा—उरियाँ, दात—दन्दा, ओठ—लब, रोना—गिरिया, लड़ाई—नबर्द, सास—नफस, सूरज—खुर्शीद, रचना—तामीर, खलिहान—खिरमन, मुस्कान—तबस्सुम, रात—शब, छुरी—दश्ना, पानी—आब, इस तरह के शब्द गालिब के दीवान मे दो-तीन सफे उलटने पर मिल जायेगे। गालिब कविता के लिए एक विशेष शब्दावली को उचित समझते थे। फारसी के शब्दों को हिन्दी के पर्याय-

---

१. उर्दू साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २५।

ग़ालिब उस युग के कवि हैं जब मुगल साम्राज्य ध्वस्त हो चुका था और अंग्रेजी राज हिन्दुस्तान में अपनी जड़ें जमा रहा था। इस विदेशी राज के विरुद्ध अठारह सौ सत्तावन में हिन्दुस्तान की हिन्दू-मुसलमान जनता ने जान की बाजी लगाकर संघर्ष किया। नेपाल, पंजाब, हैदराबाद तथा अन्य प्रदेशों के सामन्तों की सहायता से प्रतिक्रियावादी ब्रिटिश सत्ता ने इस संघर्ष का दमन किया। इस देश पर राज करने के लिए उसने जनता में फूट डालने, एक सम्प्रदाय को दूसरे से लड़ाने और इसके लिए भाषा-सम्बन्धी भेद से भी लाभ उठाने की नीति अपनायी। अंग्रेजों ने हिन्दी-उर्दू के भेद से लाभ उठाया, उसे बढ़ावा दिया, अलगाव की खाई को और गहरा किया लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि यह भेद पहले से मौजूद था, उन्होंने किसी चमत्कार से उसे पैदा नहीं कर दिया। इस भेद का मुख्य कारण दिल्ली की राज्यसत्ता की भाषा-सम्बन्धी नीति थी। फारसी राजभाषा थी। इसके दो परिणाम हुए। एक ओर तो व्यवस्थित राज्य संचालन से व्यापार की उन्नति हुई, ब्रज, अवध आदि जनपद एक-दूसरे के निकट आये, अनिवार्य रूप से खड़ी बोली दिल्ली व आगरे के अलावा दूसरे शहरों में फैली और हिन्दुस्तानी जाति का गठन हुआ। दूसरी ओर फारसी के राजभाषा होने से खड़ी बोली को जातीय भाषा के रूप में उभरने का अवसर न मिला, दिल्ली से दूर बीजापुर और गोलकुंडा में वह साहित्य का माध्यम बनी, दक्खिन के राजाओं ने उसे राजभाषा बनाया लेकिन अपने इस अधिकार से वह अपने जन्मस्थान दिल्ली ही में वंचित रही। दिल्ली का अभिजात वर्ग ईरानी संस्कृति से बहुत प्रभावित था। अपने संकुचित सामाजिक आधार के कारण यह पतनशील सामंत वर्ग न तो जायसी-रसखान, मीरा-कबीर, सूर और तुलसी के शब्द-भंडार को अपना सका, न उसने प्रारंभिक दकनी की उदार परम्परा से ही अपना नाता जोड़ा। फारसी के राजभाषा होने के कारण और राज्यसत्ता के कर्णधारों में ईरानी संस्कृति का प्रभाव होने से हिन्दू भी फारसी सीखते थे, उर्दू के विकास में उन्होंने भी योग दिया। किन्तु इससे दिल्ली के अभिजात वर्ग का सामाजिक आधार बहुत व्यापक न हो गया था। मूल समस्या यह थी कि जिस शब्द-भंडार को सूर, तुलसी, जायसी आदि कवियों ने अपनाया है, जिस शब्द-भंडार की मूल-सामग्री जनपदों की बोलियों में सुरक्षित है, उसे उर्दू अपनाती है या नहीं। यदि अपनाती है तो यह हिन्दुस्तानी जाति के बहुसंख्यक भाग—किसानों—को अपनी ओर खींचती है और पुरानी साहित्यिक परम्परा से नाता जोड़कर समूची हिन्दुस्तानी जाति की एकता और सांस्कृतिक विकास का माध्यम बनती है। यदि वह इससे भिन्न नीति अपनाती है, जनपदीय बोलियों के शब्द-भंडार को छोड़ती है, अवधी, ब्रज, मैथिल के सामान्य शब्द-भंडार से दूर रहती है, फारसी शब्दावली का सहारा ज्यादा से

के। जैसे हिन्दी का शब्द-भडार भारत की अन्य भाषाओ के शब्द-भडार से मिलता है, वैसे ही उसकी लिपि भी भारतीय भाषाओ की लिपियो से मिलती है। हिन्दीभाषी प्रदेश मे हिन्दी-उर्दू की दो लिपियो का चलन हुआ, इसका कारण भाषा के क्षेत्र की तरह यहा भी ईरानी सस्कृति का प्रभाव था। इस सस्कृति के प्रसार से कश्मीर मे शारदा लिपि का चलन बद हो गया। लोग उर्दू लिपि मे कुछ हेरफेर करके उसी को कश्मीरी भाषा के लिए काम मे लाने लगे। *ग्रियर्सन ने 'लिग्विस्टिक सर्वे' मे इस बात का जिक्र किया है कि* उन्नीसवी सदी मे सेरामपुर के ईसाई प्रचारको ने बाइबिल का अनुवाद शारदा लिपि मे प्रकाशित किया था। इससे वहा उस लिपि की लोकप्रियता का पता चलता है। सिंध मे अरबी लिपि का चलन हुआ। पजाब मे गुरुमुखी के साथ उर्दू लिपि का प्रयोग जारी रहा। पजाब में उर्दू लिपि का प्रयोग उर्दू भाषा के अलावा पजाबी के लिए भी होता था। अब वहा—देश के विभाजन के बाद—हिन्दी और गुरमुखी लिपियो की समस्या है। कश्मीर, सिंध, पजाब, हिन्दुस्तान—उत्तर पश्चिम के इन प्रदेशो मे अरबी या फारसी लिपि ने यहा की लिपियो को अपदस्थ करके उनका स्थान लेने का प्रयत्न किया। "हिन्दुस्तान" मे कश्मीरी लिपि शारदा की तरह देवनागरी का लोप नही हुआ। इसका कारण जनता का सास्कृतिक प्रतिरोध था। आखिर यहा के लोग अपनी लिपि छोड कर दूसरो की लिपि क्यो अपनाते ? छह सौ साल तक फारसी के राजभाषा बने रहने पर भी देवनागरी मिटी नही, इस बात पर हम गर्व करते हैं। इसका एक कारण यह भी था कि मुगल बादशाह ब्रजभाषा के प्रेमी थे; उन्होने कुछ जान-बूझकर फारसी के द्वारा हिन्दी का दमन न किया था। उनके दरबारो मे ब्रजभाषा के कवियो का आदर होता था, ब्रजभाषा मे सगीत की रचनाए हर कही लोकप्रिय थी और ब्रज को लिखने के लिए वही लिपि काम मे आती थी जो अवधी या हिन्दी लिखने के लिए आती थी। कुछ प्रदेशो मे कैथी का चलन था। यह कैथी देवनागरी से मिलती थी, इसके अलावा देवनागरी की तरह उसका व्यापक प्रसार न था। मुगल सामतो ने एक ओर फारसी भाषा और फारसी लिपि को प्रश्रय दिया; दूसरी ओर उन्होने ब्रजभाषा और देवनागरी को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से प्रोत्साहन दिया। यह दोहरी नीति उनकी जातीय और सास्कृतिक विशेषता से उत्पन्न होती थी। वे एक ओर तो हिन्दुस्तान मे रहते हुए हिन्दुस्तानी बन गये थे और यहा के सगीत, कला-कौशल से प्रेम करते थे, उनके विकास को बढावा देते थे, दूसरी ओर ईरानी सस्कृति के प्रभाव मे कैद थे, फारसी भाषा, साहित्य और रहन-सहन को आदर्श मानते थे। अतः उनसे हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि का हित और अहित दोनों हुए।

लिपि सस्कृति का अग है लेकिन उसे किसी धर्म का अभिन्न अग न मान

चाहिए। जायसी में सूफी मत और भक्ति आन्दोलन एक-दूसरे से उतनी दूर नहीं थे, [illegible] दूर [illegible] के कथन से मालूम होते है।

पद्मावत के आरम्भ में जायसी ने पैगम्बर की वन्दना की :

गगन हुता नहिं महि हुती हुते चंद नहिं सूर।
ऐसइ अंध कूप महँ रचा मुहम्मद नूर।

और अन्त में वेदान्त मत को दोहराते हुए लिखा

सो हं सोऽहं बसि जो करई। जो बूझै सो धीरज धरई।

वेदान्त के सोऽहं और मुहम्मद के नूर में जायसी के लिए कोई अनिवार्य भेद नहीं था। एक स्थान पर नमाज की महिमा बताते हैं

ना नमाज है दीन क थूनी। पढ़ै नमाज सोइ बड गुनी।

दूसरी ओर वे भारतीय योगियों के मार्ग चक्रों के दर्शन कराते हैं और कहते हैं कि सातवें गढ़ पर पहुंच कर ही योगी को सिद्धि मिलती है

सातवं सोम कपार महँ, कहा सो दसवं दुआर।
जो यह पवंरि उघारं, सो बड सिद्ध अपार।

पद्मावत में ब्रह्म-साक्षात्कार का वर्णन करते हुए लिखा है

गा अंधियार रैन मसि छूटी।
भा भिनसार किरन-रवि फूटी।
अस्ति-अस्ति सब साथी बोले।
अंध जो अहे नैन विधि खोले।

हठ-योगियों के अनुरूप उन्होंने शरीर का वर्णन किया है

नौ पौरी तेहि गढ़ मझियारा। औ तहँ फिरहि पांच कोटवारा।

शाहमिया तुराब दक्नी की रचना में शिष्य पूछता है

गुरुजी मो सूक्क्षम का कुछ भेद पाऊँ।
तुमारे चरन के तो बलिहार जाऊँ।
मैं अस्तुत तुमारा तो कां लग सराऊँ।
दयावंत दाता तुम्हारा है नांव।
मेरे पिंड का सब बता देव ठांव।

गुरु उत्तर देता है :

जो लिखने सूं मुक्ता भार आया
सो ही सूकक्षम अर्थ मात्र फलाया।

[illegible] है, [illegible]। हिन्दू जाति महान है, मुस्लिम [illegible] है, [illegible] विचारकों तक में घर कर गया है और [illegible] है। एक मार्क्स-वादी लेखक के अनुसार "आधुनिक हिन्दी ने खड़ी बोली का ढांचा उर्दू से लिया और उसके बाद उन शब्द-योजनाओं और रूपकों को त्यागा और उन विचार-रूढ़ियों और उपकरणों को पुनर्जीवित किया, जो हिन्दू संस्कृति के अभिन्न अंग थे और जो हिन्दी में अवधी, ब्रज और उत्तर भारत की अन्य जन-बोलियों में (जैसे बुंदेली, राजस्थानी, मैथिल) सुरक्षित थे और जिनका निरन्तर विकास हो रहा था।"[1] इस स्थापना में यह बात सही है कि हिन्दी ने जनपदीय बोलियों में सुरक्षित शब्द-योजनाओं आदि को अपनाया। हिन्दी ने खड़ी बोली का ढांचा उर्दू से लिया, यह बात सही नहीं है। इन बोलियों से जो शब्द हिन्दी में आये, वे सब "हिन्दू संस्कृति" का अभिन्न अंग थे, यह बात ऐसी है जिसे हिन्दू सम्प्रदायवाद बड़े उत्साह से स्वीकार करेगा। इस तरह सारे देश में या तो हिन्दू संस्कृति है या मुस्लिम संस्कृति। कश्मीरियों, बंगालियों, पंजाबियों आदि की अपनी-अपनी जातीय संस्कृति कहीं नहीं बचती। उन्नीसवीं सदी में हिन्दी "हिन्दू राष्ट्रीय जागरण" का "एक शक्तिशाली माध्यम बन गयी।" उधर "उर्दू साहित्य के अधिकांश भाग पर मुसलमानों की सभ्यता और संस्कृति की छाप है। बिल्कुल ऐसे ही हिन्दी के अधिकांश भाग पर हिन्दू सभ्यता के प्रभाव स्पष्ट हैं।" इस तरह की स्थापनाओं का आधार दो राष्ट्रों का सिद्धान्त है, मुसलमानों का पाकिस्तान और हिन्दुओं का हिन्दुस्तान। यदि पूर्वी बंगाल और पश्चिमी पंजाब के मुसलमानों की संस्कृति एक ही है, तो पूर्वी बंगाल के मुसलमान उर्दू के राजभाषा बनाये जाने का विरोध क्यों करते हैं? यदि पश्चिमी बंगाल और असम के हिन्दुओं की संस्कृति एक है, तो बंगाली जन असमिया के राजभाषा बनाये जाने का विरोध क्यों कर रहे हैं? यदि तमिलनाद और उत्तर प्रदेश के हिन्दुओं की संस्कृति एक है तो वहां हिन्दी के केन्द्रीय राजभाषा बनाये जाने का विरोध क्यों हो रहा है? भाषा को लेकर जब तक हिन्दू मुसलमान विवाद करते हैं, तब तक मालूम होता है कि भाषा का आधार धर्म है। स्वाधीनता प्राप्ति और देश के विभाजन के बाद यह बिल्कुल स्पष्ट हो गया है कि भाषा को लेकर हिन्दू-हिन्दू और मुसलमान-मुसलमान भी आपस में लड़ सकते हैं और लड़ने के बहुत ही भयानक तरीके अपना सकते हैं।

हिन्दू राष्ट्र और मुस्लिम राष्ट्र, हिन्दू संस्कृति और मुस्लिम संस्कृति —

---

[1] नया साहित्य, संख्या ३, बम्बई।

इसके अनुरूप हिन्दुओं की हिन्दी भाषा और मुसलमानों की उर्दू—आज की परिस्थितियों में इस विभाजन को स्वीकार करके कुछ मित्र उसे पुराने इतिहास में भी ढूढ़ते हैं। अलगाव के बीज सामन्ती दरबारों में न ढूढ़ कर वे उन्हें सूफियों और भक्तों में खोजते है। पाकिस्तान बनने से पहले इस सिद्धान्त का काफी प्रचार था कि मुसलमानों की अपनी एक कौम है। दो राष्ट्र बनने के बाद दो राष्ट्रों या कौमों का सिद्धान्त पुराना पड़ गया। भारत में उसका उल्लेख करते हैं तो हिन्दू साम्प्रदायवादी करते हैं जिन्हे धर्म-निरपेक्ष राज्य-सत्ता सह्य नही है। पाकिस्तान मे मुस्लिम सम्प्रदायवादी बड़ी कृतज्ञता से उसे याद करते हैं क्योंकि उसी की बदौलत एक नये राष्ट्र का जन्म हुआ। धर्म के आधार पर जातीयता की कल्पना की गयी और उसका इतना प्रचार किया गया कि उसका सारा प्रभाव तुरत नष्ट नही हो सकता।

हिन्द प्रदेश के हिन्दुओं और मुसलमानों मे सांस्कृतिक और भाषागत अलगाव के लिए जिम्मेदार थे यहा के सामन्त और उनसे मित्रता करके उन्हें गद्दी से उतारने या अपनी कठपुतली बनाने वाले अंग्रेज। इसका श्रेय सूफियों और सन्तों को नही दिया जा सकता। मुसलमानों ने यहा जिस भाषा और संस्कृति को संवारा, उसका एक व्यापक जातीय आधार था। बगाल, पजाब, सिन्ध, कश्मीर, हिन्द प्रदेश—सब जगह वहा की भाषा के विकास और जातीय साहित्य की समृद्धि मे मुसलमानों का बहुत बड़ा हाथ रहा है। अन्य प्रदेशो की अपेक्षा सिन्ध का सम्पर्क मुसलमानो से पहले हुआ था। यहा पन्द्रहवी सदी के अन्त मे जिस प्रथम सिन्धी कवि के दर्शन होते हैं, वह एक मुसलमान है—काजी काजन। सिन्धी भाषा के विद्वान श्री ला. ह. अजवाणी ने काजी काजन का सम्बध देश के एक व्यापक सांस्कृतिक आन्दोलन से ठीक जोड़ा है। "काजी काजन की कविता मे अभिव्यक्त यह प्रेरणा उस महान आध्यात्मिक जागृति या आन्दोलन का परिणाम है, जिसके कारण कबीर और चैतन्य, नानक और तुकाराम-जैसी ईश्वर-प्रेमोन्मत्त आत्माएं पैदा हुईं।"[1] इस आन्दोलन को आगे बढ़ाने वाले और सिन्धी के सर्वमान्य कवि सत्रहवीं-अठारहवीं सदियों के रचनाकार शाह अब्दुल लतीफ भी मुसलमान थे। इन जैसे कवियों ने हिन्दुओं और मुसलमानों को मिलाया, अलग नहीं किया। "सिन्ध में कभी-कभी धर्मों के मिश्रण से ऐसा भी हुआ है कि मुसलमान कवि अपने-आपको गोपी और ईश्वर को कृष्ण कह कर कविता लिखते हैं।"[2] यह परम्परा सिन्ध ही में न थी, हिन्द प्रदेश में भी थी; [illegible]

१. आज का भारतीय साहित्य, दिल्ली, १९५८, पृष्ठ ३५५।
२. [illegible] ३५८।

ाद वह हिन्द प्रदेश मे ही न टूटी, सिन्ध मे भी टूटी। "यह मानना होगा कि सिन्ध की अधिकांश उत्तम सूफी कविता ब्रिटिश पूर्व दिनो की है और उसकी विषय वस्तु तथा कला-पक्ष (दोहराहूर) हिन्दी, पजाबी और अन्य उत्तर भारतीय भाषाओ से मिलता-जुलता था। यह सामान्यतः १८४३ मे अंग्रेजो के आने के बाद कुछ बिगड गयी।"[1]

सिन्ध के मुसलमान सिन्धी जाति से अलग नहीं थे। चाहे वे बाहर से आये हो और चाहे यही धर्म-परिवर्तन करके मुसलमान बने हों, सिन्ध मे रहकर वे हो गये सिन्धी। सिन्धी भाषा और साहित्य के विकास मे उनकी महत्वपूर्ण भूमिका से इन्कार नही किया जा सकता।

जैसे सूफी और भक्त सिन्ध मे एक-दूसरे के बहुत नजदीक थे, वैसे ही पंजाब मे हम उन्हे एक ही सास्कृतिक धारा मे घुलते-मिलते देखते हैं। "सिख गुरु, विशेषतया सिख धर्म के संस्थापक गुरु नानक ने उतनी ही भक्ति से सूफियों को पढा, जितनी भक्ति से भक्ति आन्दोलन के भक्तो और सन्तो को।"[2] सूफी कवि परमात्मा के विरह मे तडपते हैं। "बुल्लेशाह के लोकप्रिय गीतो मे व्यक्त यही भावना प्रायः इन सन्त कवियो मे है।" वारिस शाह भारत के एक महा-कवि हैं। हीर-रांझा मे उन्होने प्रेम की सार्वजनीन भावना को ही नहीं व्यक्त किया, उन्होने पंजाब के जनसाधारण के जीवन की जैसी झाकी दी है, वैसी अन्य प्रदेशो के कवि कम दे पाये हैं। पजाब का कोई कवि या लेखक अपने को वारिस शाह से ज्यादा पजाबी नही कह सकता। और वारिस शाह मुसलमान थे। उनकी अलग कौम और जबान नहीं थी। वह पजाबी जाति के रत्न थे, पजाबी भाषा के सौन्दर्य के सबसे बडे पारखी।

कश्मीरी भाषा को सवारने मे कवयित्रियो का विशेष हाथ रहा है। चौदहवीं सदी मे ललद्यद ने अपने पदो मे शैव दर्शन और सूफी मत के "अनिवार्य सम्पर्क"[3] का प्रमाण दिया। ललद्यद तथा उनके समकालीन कवि शेख नूरुद्दीन वली मे "कबीर के पूर्व दर्शन मिलते हैं।" "उनके पदों मे हिन्दुत्व और इस्लाम एक ही भाषा मे बोलते हैं।" सोलहवी सदी मे मुस्लिम कवयित्री हब्बा खातून ने कश्मीरी भाषा को सवारा। अन्य प्रदेशो की तरह यहा भी हम मुसलमानों को प्रदेश विशेष की भाषा को सवारते देखते हैं। इसी प्रकार बगाल मे। सत्रहवीं सदी मे दौलत काजी और सैयद आलाओल नाम के "दो

---

१. उप०, पृष्ठ १५६।

२. गुरबख्श सिंह, पंजाबी (आज का भारतीय साहित्य), पृष्ठ १८७।

३. पृथ्वीनाथ पुष्प, कश्मीरी, (आज का भारतीय साहित्य), पृष्ठ १०६।

मुसलमान कवि बड़े प्रतिभाशाली हुए" और "दोनों ने बंगला साहित्य की बड़ी सेवा की।"[1]

जैसे हिन्दी में मुसलमान कवियों का सहयोग सूफी भक्त-साहित्य में ही नहीं है, वैसे ही अन्य भाषाओं में उन्होंने अनेक स्तरों पर अपनी भाषा और साहित्य की सेवा की। श्री दिनेशचन्द्र सेन के अनुसार बंगला के पठान सामन्तों ने संस्कृत से बंगला में अनुवाद कराने के लिए विद्वान् नियुक्त किये। "वे सब बंगला बोलते और समझते थे।"[2] चौदहवीं सदी में नसीर शाह की आज्ञा से महाभारत का प्रथम बंगला अनुवाद हुआ। हुसैन शाह की आज्ञा से मालाधर बसु ने भागवत का अनुवाद किया और इसके लिए उसे गुणराजखान की उपाधि मिली।[3] डॉ. सुकुमार सेन के अनुसार सबसे पहले परमेश्वरदास ने बंगला महाभारत लिखा। परमेश्वरदास परागल खाँ के दरबारी कर्मचारी थे और परागल खाँ हुसैन शाह का एक फौजी अफसर और चटगाँव का शासक था। परागल खाँ को महाभारत सुनने का बड़ा शौक था और उसके आदेश से कवीन्द्र परमेश्वरदास ने बंगला अनुवाद किया। परागल के पुत्र, नसरत खाँ ने कवि श्रीकर नन्दी को संस्कृत से बंगला अनुवाद करने के लिए प्रोत्साहन दिया। इसी प्रकार पन्द्रहवीं सदी में सुलतान जैनुल आबदीन के "दरबारी कवियों ने न केवल फिरदौसी का शाहनामा कश्मीरी भाषा में अनूदित किया, प्रत्युत कश्मीरी भाषा में बाणासुर-वध नामक एक महाकाव्य, जैन-चरित नामक एक पद्य-जीवनी और जैन-विलास नामक एक नाटक भी लिखा।"[4]

सत्रहवीं सदी में दौलत काजी ने अपनी बंगला कविता में किस तरह की शब्दावली का प्रयोग किया था, उसका एक उदाहरण देना यहाँ अप्रासंगिक न होगा। वर्षा ऋतु का वर्णन करते हुए कवि कहता है :

खरतर सिन्धु रव पवन दारुन
चौगुन बाढ़िया जाय बिरह-आगुन।
जनम दुखिनी दुइ राजार दुहिता
बिफल से नाम धर लोरेर बनिता।

---

१. काजी अब्दुल वदूद, बंगला, (आज का भारतीय साहित्य), पृष्ठ २०८।

२. दिनेशचंद्र सेन, हिस्ट्री ऑव बेंगाली लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर, कलकत्ता, १९११, पृष्ठ ११।

३. डॉ. सुकुमार सेन ने बंगला साहित्य के इतिहास (अंग्रेजी) में लिखा है कि सुल्तान रुक्नुद्दीन बारबक शाह ने यह उपाधि दी।

४. आज का भारतीय साहित्य, पृष्ठ १०७-८।

सुजन-पिरीति जान नित्य-नव माला
लस्कर नायक-मनि जग उजियाला।'

सिन्धु, पवन, दारुन, दुहिता, बनिता आदि शब्द उस समय की हिन्दी
ता में भी प्रयुक्त होते थे। उसी परम्परा में दौलत काजी ने अपना शब्द-
न किया था।

आलाओल ने फारसी गाथा सईफुलमुल्क बदिउज्जमाल का बंगला रूप
तुत किया था। उसकी भाषा का नमूना यह है :

की जानि लिखि छे विधि ए पाप करमे
पाइया पारस-मनि हाराइलुम भ्रमे।
से सब मनेर दु.ख काहाके कहिबा
व्यथित बान्धवकुल स्मरिते मरिबा।
मुगेर अधिक जाय दुखे निशि दिन
केमने सहिब प्राने जल बिन मीन।
की लागि दारुन जिउ आछे मोर घटे
कठिन पाषान हिया ए दुखे ना फाटे।'

दौलत काजी और आलाओल को ऐसी भाषा लिखते देख कर कौन
हेगा कि अंग्रेजों के आने के पहले बंगाल में हिन्दुओं और मुसलमानों ने मिल
र अपनी सामान्य भाषा और संस्कृति का विकास न किया था? यदि इन
वियों की रचनाएं उस समय के हिन्दी कवि पढ़ते तो उन्हें आसानी से समझ
ते जैसे कि आज हम उन्हें समझ लेते हैं। बंगाल में भी फारसी को राजभाषा
नाया गया था। फारसी के बहुत से शब्द बंगला में आये। लेकिन इससे
गला की दो साहित्यिक शैलियों का विकास न हुआ। बंगाल के बंटवारे के
द जब कुछ मुस्लिम लीगी नेताओं ने ढाका में यह विचार प्रकट किया कि
र्दू की तरह बंगला का भी एक मुसलमानी रूप होना चाहिए, तब ढाका
विद्यार्थियों ने उनका तीव्र विरोध करके अपने भाषा-प्रेम का परिचय दिया।

सिन्धी, पंजाबी, कश्मीरी और बंगला साहित्य में मुसलमानों के इस योग
यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है कि भारत के हर जातीय प्रदेश में मुसल-
नों ने वहां की भाषा को अपनाया। उन्होंने वहां की भाषाओं और उनके
ाहित्य के उत्थान में असाधारण योग दिया। भारतीय भाषाओं और उनके

---

१. डॉ. सुकुमार सेन द्वारा हिस्ट्री आफ बेंगाली लिटरेचर, दिल्ली, १९६०,
में उद्धृत, पृष्ठ १६७।
२. वही, पृष्ठ १६७-८।

साहित्य के विकास की यह शक्तिशाली धारा थी जिसमें दिल्ली और लखनऊ के दरबारों की काव्य-शैली द्वीपों के समान थी। प्रगतिशील अंग्रेजों ने आकर यहां जो देशभक्ति का पाठ हमें पढ़ाया, उससे ऐसी प्रबल राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न हुई कि एक राष्ट्र के बदले दो राष्ट्र पैदा हो गये। शाह अब्दुल लतीफ का सिन्ध एक नये राष्ट्र का अंग बन गया। वारिस शाह के पंजाब के दो पंजाब बन गये और इनमें से एक पंजाब में राजभाषा उर्दू है और दूसरे में पंजाबी को अपनी मातृभाषा न मानने का आग्रह है और एक धर्म-विशेष के हित में नया राज्य बनाने का आंदोलन छिड़ा हुआ है। हब्बा खातून और शेख नूरुद्दीन का कश्मीर राजनीतिक कशमकश का अखाड़ा बन चुका है। काज़ी दाऊद और आलाओल का बंगाल धर्म के आधार पर विभाजित हो चुका है। मानना होगा कि ब्रिटिश राज्य ने यहां जैसी राष्ट्रीय चेतना फैलायी, वैसी राष्ट्रीय चेतना किसी भी देश का पूंजीवाद नहीं फैला सका।

सत्य यह है कि भारत में पूंजीवादी सम्बंधों का प्रसार हो रहा था। अंग्रेजों ने यहां के व्यापार के सहारे अपनी आर्थिक और राजनीतिक शक्ति बढ़ायी। यदि अंग्रेज यहां न आते तो यूरोप की अन्य जातियों की तरह यहां की जातियां भी अपनी विकास-प्रक्रिया पूरी करतीं। सामन्तवाद न यूरोप में अमर रहा, न यहां रहता। उसके ध्वंसकाल में उसे नया जीवन दिया ब्रिटिश साम्राज्य ने। अठारह सौ सत्तावन में भारतीय सेना ने बहादुरशाह को वैधानिक सम्राट् बनाया और उनके झंडे के नीचे देश को एक करने का भगीरथ प्रयत्न किया। यहां की जातियों में यथेष्ट एकता न होने और भारतीय तथा भारत के सीमान्त देशों के सामन्तों की अंग्रेज-भक्ति के कारण वह प्रयत्न सफल न हुआ। किन्तु भारतीय समाज में ऐसी शक्ति थी जो सामन्ती व्यवस्था के बाद पूंजीवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा करती, यह सत्य यहां के आर्थिक इतिहास से प्रमाणित है। उस समय राजसत्ता, शिक्षा आदि के लिए, जातीय गठन के लिए एक लिपि और एक भाषा का सवाल आता। वह जैसे भी हल होता, निश्चित बात यह है कि वह हल अवश्य होता। एक भाषा और एक लिपि का चलन जातीय विकास के लिए एक अनिवार्य सामाजिक आवश्यकता है। सामन्तवाद के ह्रासकाल में फारसी के राजभाषा रहने और ईरानी संस्कृति के प्रभाव से दरबारों के आसपास जो काव्य-साहित्य रचा गया, वह अलगाव का ऐसा बीहड़ कारण न था कि एक उभरती हुई जाति उसे दूर न कर पाती। अंग्रेज फूट-नीतिज्ञों ने यहां एकता के तत्वों को बराबर दबाने की कोशिश की और अलगाव के तत्वों को भरसक बढ़ावा दिया। जिन हिन्दुओं और मुसलमानों ने मध्यकालीन धर्म की खाई को पाट लिया था और हर प्रदेश में एक संयुक्त जातीयता का विकास किया था, वे शब्दावली और लिपि के भेद को भी अवश्य

दूर कर लेते और एक शक्तिशाली राष्ट्र का निर्माण करते। लेकिन अंग्रेजों ने इन संभावनाओं को खतम कर दिया। उन्होंने हिन्दी-उर्दू की दो शैलियों को दो जातियों की भाषा का रूप दे दिया और भाषा को जातीय उत्पीडन का साधन बनाया। इसीलिए यह बात मुश्किल से कुछ लोगों की समझ में आती है कि अंग्रेजी राज से पहले "हिन्दुस्तान" के हिन्दू और मुसलमान एक जाति के थे और आज भी एक ही जाति के हैं। धर्म के आधार पर न कहीं भाषाओं में भेद उत्पन्न हुआ है, न कहीं जातियां बनी हैं। इस विषय पर आगे हम थोड़ा और विचार करेंगे।

तेरहवाँ अध्याय

साम्राज्यवादी भेदनीति और हिन्दी-उर्दू की एकता

भारत में अंग्रेजी राज कायम होने से पहले देश की अनेक भाषाओं और उनके साहित्य के विकास में मुसलमानों ने योग दिया। इसका यह अर्थ इतना महत्त्वपूर्ण है कि अनेक मुसलमान लेखक कुछ भाषाओं के साहित्य के आदि प्रवर्तक माने जायेंगे। जहाँ तक जिन मुसलमान शासकों ने धार्मिक उत्पीड़न किया और मूर्तियाँ आदि तोड़ीं, उनसे इन सूफियों और साहित्यकारों की नीति भिन्न थी। इन्होंने इस देश की भाषा और संस्कृति को अपनाया और हिन्दुओं और मुसलमानों का भेदभाव बहुत कुछ दूर करके जातीय संस्कृतियों और राष्ट्रीय भावना का आधार मजबूत किया। दिल्ली और लखनऊ के सामन्ती दरबारों में, उनके पतनकाल में, ईरानी संस्कृति से प्रभावित अनेक कवियों को आश्रय मिला। इन्होंने फारसीपन को ज्यादा अपनाया। हिन्दी के बहुत से शब्दों को काव्य के लिए अनुचित ठहरा कर छोड़ दिया। कई सदियों से फारसी के राजभाषा रहने से अभिजात वर्ग में—जिसमें हिन्दू-मुसलमान दोनों थे किन्तु मुसलमानों की अधिकता थी—फारसीपन का असर काफी था। धार्मिक कारणों से शिक्षण-कार्य प्रायः दो लिपियों में होता था, राजभाषा के लिए फारसी लिपि का ज्ञान तो आवश्यक था ही। इस परिस्थिति में यह स्पष्ट है कि उत्तर भारत के अहिन्दी प्रदेशों में कहीं भी फारसी-प्रेम के कारण अभिजात वर्ग की—या मुस्लिम-प्रधान अभिजात वर्ग की—बाकी लोगों से भिन्न साहित्यिक भाषा नहीं बनी। कश्मीरी, पंजाबी, सिन्धी, बंगला, ब्रज, अवधी आदि भाषाओं में मुसलमानों ने काफी साहित्य रचा। उनकी भाषा वैसी ही है जैसे दूसरे हिन्दू कवियों की। इन भाषाओं में अरबी, फारसी, तुर्की आदि भाषाओं के शब्द आये हैं और खप गये हैं। लेकिन अठारहवीं सदी की उर्दू में अरबी-फारसी शब्दों की जैसी बहुलता है, वैसी न उस समय की, न आज की किसी भारतीय भाषा में है। यह अलगाव उत्तर भारत के शेष

सांस्कृतिक जीवन को व्यापक और [illegible] से बाहर की दुनिया से बहुत दूर था। यह इसलिए हुआ था कि उसका सामाजिक आधार संकुचित, सीमित और छिन्नमूल था। उसमें [illegible] लोक-संस्कृति और लोक-भाषा का प्रवाह अवरुद्ध न हुआ था।

फ़ारसी शब्द ज्यादा लाने से पहले दरबारों से सम्बन्धित कवियों में भी कोई अलगाव का विचार न पैदा हुआ था। यह विचार पैदा हो नहीं हो सकता था क्योंकि फ़ारसी पढ़ने वालों में हिन्दू-मुसलमान दोनों थे। फ़ारसी मुसलमानों की मातृभाषा है—यह धारणा भी उस समय मुमकिन न थी। उर्दू लिखने वालों में हिन्दू-मुसलमान दोनों थे। मुसलमान कवि-गुरुओं के शागिर्द होकर अनेक हिन्दू कवि-लेखक प्रसिद्ध हुए। उर्दू को न किसी अलग कौम की, न किसी धर्मविशेष के अनुयायियों की भाषा कहा जा सकता था। यहाँ फ़ारसी का असर पड़ने से जो विशेष शैली बनी, उसके कारण सांस्कृतिक और राजनीतिक थे। फ़ारसी के राजभाषा होने और दरबारी कवियों के ईरानी आदर्शों से प्रभावित होने को हम धार्मिक प्रक्रिया नहीं कह सकते, उसे सांस्कृतिक और राजनीतिक प्रक्रिया ही मानना चाहिए। यह न भूलना चाहिए कि हिन्दुओं का बहुत-सा धार्मिक साहित्य उर्दू में लिखा गया है।

अलगाव का आग्रह न होने से ही उर्दू लिखनेवाले मुसलमान कवि अपनी भाषा को हिन्दी या रेख़्ता कहते थे। अठारहवीं सदी के अन्त तक उर्दू नाम का चलन न हुआ था। सबसे महत्त्व की बात यह है कि मीर, ग़ालिब, सौदा जैसे उर्दू भाषा के महत्त्वपूर्ण कवियों ने कभी हिन्दी का आधार पूरी तरह नहीं छोड़ा। छोड़ना दरकिनार, हिन्दी भाषा के सरल शब्दों का बहुत ही कलात्मक प्रयोग अक्सर उन्हीं के यहाँ मिलता है। उर्दू के सम्बन्ध में इतनी ग़लत बातें बार-बार दोहरायी गयी हैं कि भाषा के नमूनों के साथ यहाँ कुछ कवियों की सांस्कृतिक विशेषताओं का उल्लेख करना भी आवश्यक है। उर्दू में केवल ईरानी संस्कृति का असर है, उसमें गुलबुलबुल की शायरी के अलावा कुछ नहीं है, उसमें केवल शराब और इश्क़ की बातें हैं—इस तरह की धारणाओं का खूब प्रचार किया गया है।

उर्दू के सबसे बड़े कवि ग़ालिब हैं। उन पर सामंती संस्कृति का असर है, साथ ही उसका बहुत तीव्र अन्तर्विरोध भी है। वह बादशाह से अपनी तनख्वाह मांगते हैं, साथ ही शायरी को इज्जत का जरिया नहीं मानते। वह मुफ़लिसी और फ़ाक़ेमस्ती के गीत भी गाते हैं (जिन्हें स्वभावतः निराला जैसा हिन्दी कवि अपनी परिस्थितियां देखकर गुनगुनाता रहा है)। उनमें रोमांटिक कवियों की आत्मविभोर गेयता है, अपनी व्यक्तिगत भावनाओं की जबर्दस्त रूढ़ि-विरोधी व्यंजना भी है। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि भवभूति,

था

> हमको मालूम है जन्नत की हक़ीकत लेकिन
> दिल के खुश रखने को ग़ालिब ये खयाल अच्छा है।

इस तरह की बीसियो पक्तियो ने लोकोक्तियो का रूप ले लिया है।

ग़ालिब अपने अलावा मीर को रेख्ते का उस्ताद मानते थे। श्री सैयद एहतिशाम हुसैन का मत है, "सीधी-साधी बोलचाल की भाषा मे इतना रस और मिठास, इतना विष और इतना कड़वापन, हार्दिक भावो का इतना कोमल चित्रण और भावनाओ का इतना तूफानी जोश काव्य रचना का एक चमत्कार जान पड़ता है।" पद्मसिंह शर्मा ने हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी वाले निबंध मे मीर के बहुत से शेर उद्धृत किये हैं जिनमे बिथा, मालता, पवन, विकस रही, घन, भसम, आरसी, मौन, अच्छर, सुत, विस्तार, चलनेहार, वचन, भजन, जीव, अचम्भा जैसे हिन्दी शब्दो का सुन्दर प्रयोग हुआ है। सौदा ने कसीदे, गज़ल, हजो आदि कई तरह का काव्य रचा। उनकी भाषा मे फारसी-पन काफी है। साथ ही बहुत जगह उन्होने ठेठ हिन्दी का प्रयोग किया है। बालमुकुन्द गुप्त ने "ब्रजभाषा और उर्दू" नाम के निबंध मे सौदा की भाषा के काफी नमूने दिये हैं। "कही-कही सौदा की कविता साफ हिन्दी भी हो जाती थी ... जब सौदा अरबी-फारसी को छोड कर मामूली बोलचाल की तरफ झुकते थे तो उनकी भाषा इतनी सरल हो जाती थी '

> अजब तरह की है वह नार। उसका क्या मै करूँ विचार।
> दिन वह डोले पी के संग। लाग रहे निश वाके संग।'

"सौदा की पहेलिया अमीर खुसरो की याद दिलाती हैं।" लगता है दिल्ली के लोक साहित्य मे इस तरह की रचनाए बराबर इज़ाफा करती रही। गुप्त जी ने उर्दू कवियो द्वारा हिन्दी शब्दो के प्रयोग के बारे मे लिखा है, "पहले उर्दू मे बहुत हिन्दी शब्द थे, पर पीछे निकाले गये। सौदा तनिक, टुक आदि शब्द बोलता था।" गुप्त जी ने सौदा द्वारा हिन्दी छन्दो के प्रयोग की मिसालें दी हैं। सौदा ने मरसियो में लावनी, दोहा और रोला छन्दो का प्रयोग किया है। "खड़ी बोली मे जो लोग ब्रजभाषा के बरते हुए छन्दो को बरतना चाहते हैं, उनके लिए यह सवा सौ साल पहले का नमूना है

> 'सुनो मुहिब्बो बात कहूँ मैं तुमसे रोयो।
> गम है शह का आज खुशी को गम से धोयो।
> जिसको जग मे लोग कहे थे दीन का मुकता।
> सीस कटा अब उसका तन है खून मे ग़लता।

दान्ते और शेक्सपियर की तरह वह करुए
हैमलेट और मैक्बेथ की तरह वह रात को
दरबारों में मनोरंजन, कामोद्दीपन की शाय
कविता दरबारों की विशेषता कभी नहीं
को बहुत गहराई से अनुभव किया है और
शैली मे चित्रित किया है। उनमें सूफी पर
उनके काव्य में वेदान्त से मिलते-जुलते वि

न था कुछ तो खुदा था, कुछ न
डुबोया मुझको होने ने, न मैं

इस शेर को उद्धृत करने के बाद नि
हिन्दू कवियों में विचार-साम्य" नाम के नि
के ये भाव हर्फ-हर्फ़ वेदान्त से मिलते हैं।"
शेर पर उन्होंने टिप्पणी की है, "यह प्रलय

तुम मेरे पास होते
जब कोई दूसरा न

इस पर लिखा है, "यह बहुत ऊंचे
यही है।" सूफी-काव्य और भारतीय दर
लिखा है, "कविता मे और सूफियाने ढग व
शास्त्र का तो बिल्कुल जोड मिल जाता है।
गालिब मे—निराला की तरह—ह
की हकीकत मालूम है। दोजख से उन्हें ड
मिला देने की बात करते हैं जिससे सैर क
दिल्ली कितनी प्रिय थी, यह इस शेर से जा

जिन्हों की छाती से पार बरछी हुई है रन में जो सूरमा हैं
बचा जो मारकर मन में जिसके बिरह का कांटा खटक रहा है।

कम्पनी राज्य में हिन्दी-उर्दू का अलगाव शुरू हुआ। बहादुर शाह ज़फ़र बादशाह ही थे। उनकी भाषा उर्दू जब-तब हिन्दी से बिलकुल मिल जाती है।

कहाँ तक सुन रहूं सुनके रहे से कुछ नहीं होता
कहूं तो क्या कहूं उनने कहे से कुछ नहीं होता।

आ जाती है जिस वक़्त तेरी ध्यान में सूरत
हो जाय है दो और भी इक ध्यान में सूरत।

भली करते बुराई होती है
मुंह से निकली पराई होती है।

बहादुर शाह ने अपने समय की दिल्ली के बारे में लिखा

गई यक-ब-यक जो हवा पलट, नहीं दिल को मेरे क़रार है।
करूं इस सितम का मैं क्या बयां, मेरा ग़म से सीना फ़िगार है।
ये रिआया हिन्द हुई तबाह, कहूं क्या-क्या इन पे जफ़ा हुई।
जिसे देखा हाकिमे वक़्त ने, कहा ये भी क़ाबिले दार है।
ये किसी ने ज़ुल्म भी है सुना कि दी फांसी लोगों को बेगुनाह।
बले कल्मा-गोयों की सिम्त से अभी दिल में उनके बुख़ार है।
न था शहर देहली, ये था एक चमन, कहू किस तरह का था यां अमन।
जो ख़िताब था वो मिटा दिया, फ़क़त अब तो उजड़ा दयार है।
यही तंग हाल जो सबका है यह करिश्मा कुदरते रब का है।
जो बहार थी सो ख़िज़ां हुई, जो ख़िज़ां थी अब यो बहार है।

इस रचना के उपर्युक्त अंश सिर्फ़ इसलिए उद्धृत किये गये हैं जिससे यह स्पष्ट हो जाय कि उर्दू में प्रेम और निराशा के अलावा भी बहुत कुछ है। इसे हिन्दुस्तानी जाति की प्राथमिक साम्राज्य-विरोधी राष्ट्रीय कविताओं में गिनना चाहिए।

सौदा की तरह बहादुर शाह ने भी हिन्दी और ब्रजभाषा में रचनाएं की हैं।

जिन गलियन में पहले देखीं लोगन की रंगरलियां थीं।
फिर देखा तो उन लोगन बिन सूनी पड़ी वो गलियां थीं।
ऐसी खलियां नीचे पड़े हैं करवट भी नहीं ले सकते।
जिनकी चालें अलबेली और चलने में छलबलियां थीं।

कहता हूं मैं अब तुम्हें मुंह पर लाफ लगाय।
कीन कुलो के ताज का सिर नेजे पर जाय'।"

छन्द ही नही, सौदा की शब्दावली ऐसी है जिस पर किसी हिन्दी प्रेमी को आपत्ति न होगी। हिन्दी-उर्दू अब भी एक-दूसरे के कितना पास थी, इसका प्रमाण यह है कि सौदा ने एकाध मरसिया ऐसा लिखा है जिसमे चौपाई छन्द उर्दू भाषा मे और दोहे व्रजभाषा मे हैं :

आबिद कहते हैं यह सबसे। रोता हूं मैं जग मे तबसे।
जब से आया छोड़ मदीना। फेर न चाहा अपना जीना।
मै दुखियारा हो अब रोया। बाप चचा करबला में रोया।
अक्बर और असगर सा भाई। तिनकी टुक भी खबर न पायी।
कैसा साथ हमारा छूटा। वैरी ने घर तिस पर लूटा।
लिखी हती जो कर्म में मेटे मिटे न मूल।
होनी थी सो हो चुकी कासों कहौं रसूल॥[1]

सौदा के बहुत से शेर ऐसे हैं जिनकी भाषा ही हिन्दी नही है, उनमे रूमानी सौदर्य का उत्कृष्ट चित्रण भी है; जैसे :

सावन के बादलों की तरह से भरे हुए।
ये वह नयन हैं जिनसे कि जगल हरे हुए।[2]

उर्दू साहित्य के आलोचक मीर को सौदा से बड़ा शायर मानते हैं। सौदा मे कही-कही ऐसी कोमल सवेदना है कि उर्दू का कोई भी कवि उन्हे नही पाता।

ज्यूं गुंचा तू चमन में बन्दे कबा को खोले
फिर गुल से ऐ पियारे बुलबुल कभू न बोले।
आवेगा वह चमन में तड़के ही मैकशी को
शबनम से कह दे बुलबुल गुल के पियाले धोले।
बाग़े जहां में आकर कुछ हमने फल न पाया
इक दिल मिला कि जिसमे हैं सैकड़ों फफोले।
ऐसा ही जाऊं-जाऊं करते हो तो सिधारो
इस दिल पै कल जो होनी सो आज ही वो होले।

और सौदा सूफियो के प्रेमोन्माद को बहुत ही सादी और सरस हिन्दी मे प्रकट कर सकते हैं :

---

१. बालमुकुन्द गुप्त, निबंधावली, कलकत्ता, स. २००७।
२. अली सरदार जाफरी द्वारा "इंडियन लिटरेचर" वाले निबन्ध में उद्धृत।

जिन्हों की छाती से पार बरछी हुई है रन में वो सूरमा हैं
बड़ा वो सावन्त मन में जिसके बिरह का कांटा खटक रहा है।

सामन्ती प्रभाव से हिन्दी-उर्दू का अलगाव शुरू हुआ। बहादुर शाह जफर बादशाह ही थे। उनकी सरल उर्दू जब-तब हिन्दी से बिलकुल मिल जाती है।

कहां तक चुप रहूं चुपके रहे से कुछ नहीं होता
कहूं तो क्या कहूं उनसे कहे से कुछ नहीं होता।

आ जाती है जिस वक्त तेरी ध्यान मे सूरत
हो जाय है यां और भी इक आन में सूरत।

भली करते बुराई होती है
मुहं से निकली पराई होती है।

बहादुर शाह ने अपने समय की दिल्ली के बारे मे लिखा

गई यक-ब-यक जो हवा पलट, नहीं दिल को मेरे क़रार है।
करूं इस सितम का मैं क्या बयां, मेरा ग़म से सीना फिग़ार है।
ये रिआया हिन्द हुई तबाह, कहूं क्या-क्या इन पै जफा हुई।
जिसे देखा हाकिमे वक़्त ने, कहा ये भी क़ाबिले दार हैं।
ये किसी ने जुल्म भी है सुना कि दी फांसी लोगों को बेगुनाह।
बने कल्मा-गोयों की सिम्त से अभी दिल में उनके बुखार है।
न था शहर देहली, ये था एक चमन, कहू किस तरह का था यां अमन।
जो खिताब था वो मिटा दिया, फ़कत अब तो उजड़ा दयार है।
यही तग हाल जो सबका है यह करिश्मा कुदरते रब का है।
जो बहार थी सो खिज़ां हुई, जो खिज़ां थी अब वो बहार है।

इस रचना के उपर्युक्त अंश सिर्फ इसलिए उद्धृत किये गये है जिससे यह स्पष्ट हो जाय कि उर्दू मे प्रेम और निराशा के अलावा भी बहुत कुछ है। इसे हिन्दुस्तानी जाति की प्राथमिक साम्राज्य-विरोधी राष्ट्रीय कविताओं में गिनना चाहिए।

सौदा की तरह बहादुर शाह ने भी हिन्दी और ब्रजभाषा में रचनाएं की है।

जिन गलियन मे पहले देखीं लोगन की रंगरलियां थीं।
फिर देखा तो उन लोगन बिन सूनी पड़ी वो गलियां थीं।
ऐसी खलियां मोंके पड़ी है करवट भी नहीं ले सकते।
जिनसे चालें अलबेली और चलने में छलबलियां थीं।

एक अन्य रचना की पंक्तियां हैं :

> दुनिया है यह रैन-बसेरा, बीत गयी रही थोड़ी सी।
> उनसे कह दो सो ना जावें नींद में जो कि निदासे हैं।

ब्रजभाषा इस तरह की लिखी है :

> या ही बिरहा दुरजन होवे या ही बिरहा सिरजन होवे।
> ना छूटे या बिरहा मों सों ना छूटूं मैं बिरहा से।
> नहीं खुले कुछ और देखूं मूंदूं तो कुछ और ही और।
> कोई वाको सांच न जाने देखी बात कहूं जा से।

इस तरह के और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं। इनसे एक नतीजा यह निकलता है कि बादशाह या दरबारी कवि फारसी-मिश्रित भाषा में रचना करते थे, तो इससे यह न समझना चाहिए कि वे हिन्दी समझते न थे या उसमें लिख न सकते थे। वे खड़ी बोली के अलावा ब्रजभाषा में भी रचना करते थे। उर्दू कविता में एक विशिष्ट शब्दावली का प्रयोग होने पर भी उसका आधार बोलचाल की भाषा थी। इस भाषा के बहुत सुन्दर उदाहरण उर्दू कविता में मिलते हैं। इसके सिवा उर्दू कवियों का भाव जगत् उतना संकुचित न था जितना उसे बताया जाता है। सूफी मत का प्रभाव दरबारों से लगाव रखने वाले शायरों में भी देखा जा सकता है। दरबारी कवियों के अलावा मुसलमानों में नज़ीर जैसे कवि थे जिन्होंने मीर या ग़ालिब की सी उर्दू अपवाद रूप में लिखी है। साधारण रूप में उन्होंने दकनी के सूफी कवियों की तरह बोलचाल की भाषा को अपनाया है। नज़ीर ने आगरे के जनजीवन का जैसा चित्रण किया है, वैसा आज तक हिन्दी-उर्दू के किसी कवि ने किसी शहर का नहीं किया, न दिल्ली और लखनऊ का कोई भी कवि अपने शहर की जनता में आज तक इतना लोकप्रिय बना हुआ है। अमीर खुसरो की तरह नज़ीर की चर्चा हिन्दी-उर्दू दोनों के साहित्य-इतिहासों में होती है।

नज़ीर में सूफ़ियों का वैराग्य है और जायसी की तरह का घोर शृंगार भी है। उन्होंने बचपन, जवानी, बुढ़ापे और मौत पर कविताएं लिखी हैं। होली, दिवाली, महादेव जी के ब्याह और कन्हैया जी के जन्म पर भी रचनाएं की हैं। एक कविता में उन्होंने गुरु नानक की वन्दना की है। जो लोग ग़ालिब, ज़ौक़, मोमिन के साथ नज़ीर की कविताएं पढ़ते हैं, उन्हें यह कुछ अनोखे शायर लगते हैं। भाषा और साहित्य के विकास को एकांगी ढंग से देखने-समझने वाले आलोचक अठारहवीं सदी में नज़ीर की भाषा और विषय-वस्तु का अनूठापन देख कर चकरा उठते हैं। किन्तु सिन्धी, पंजाबी, बंगला और दकनी में सूफ़ी कवियों ने जो परम्परा चलायी थी, उसी की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी नज़ीर हैं।

नकी विशेषता है उनका यथार्थवाद। उन्हें जीवन, समाज और चारो तरफ़
ी दुनिया मे हर कही कविता के लिए सामग्री मिल जाती है। उनका यह
ान्तरकारी महत्व है कि पाब्लो नेरुदा से बहुत पहले उन्होने छोटी-मोटी
ीजो पर कविताए लिखकर मानव-सम्वेदना को व्यापक बनाया था। वह
रसात पर लिखते हैं और उमस पर भी। वह आगरे की तैराकी देखते हैं, यहा
ी कबड्डियो का रस लेते हैं, यहा की मुफलिसी पर रोते हैं। कोरे बर्तन मे
नी की बूद का खनकना नजीर ही सुन सकते हैं

कोरे बरतन हैं क्यारी गुलशन की।
जिससे खिलती है हर कली तनकी।
बूद पानी की इनमें जब खनकी।
क्या वह प्यारी सदा है सन सन की।
ताज़गी जी की और तरी तन की।
वाह क्या बात कोरे बरतन की।

ागरे की तबाही के बारे मे लिखा है :

मेहनत से हाथ पाव के कौड़ी न हाथ आये।
बेकार कब तलक कोई कर्ज-ओ-उधार खाये।
देखो जिसे वह करता है रो-रो के हाय हाय।
आता है ऐसे हाल पै रोना हमें तो हाय।

पने आगरावासी होने पर गर्व प्रकट करते हुए कहा है .

आशिक़ कहो असीर कहो आगरे का है।
मुल्ला कहो दबीर कहो आगरे का है।
मुफलिस कहो फकीर कहो आगरे का है।
शायर कहो नज़ीर कहो आगरे का है।
इस वास्ते ये उसने लिखे पाच-चार बद।

ज़ीर का आदमीनामा मानवतावाद में डूबा हुआ है

अच्छा भी आदमी ही कहाता है ऐ नज़ीर।
और सब मे जो बुरा है सो है वो भी आदमी।

नज़ीर की कविता इस बात की ओर सकेत करती है कि उर्दू मे दरबारी
विता के अलावा एक और परम्परा थी। इस दूसरी तरह की कविता में जन-
ीवन का चित्रण था और उसकी भाषा सरल उर्दू या सरल हिन्दी थी जिसे
हर के बाज़ारो मे हिन्दू-मुसलमान आपस मे काम में लाते थे। दरबारो के
ाटने के साथ यह लोक-कविता की धारा और तेजी से आगे बढ़ती और
िन्दू-मुसलमान दोनो को अपने साथ बहा ले जाती। इस तरह अग्रेज़ो राज

कायम होने के समय उत्तर भारत में हिन्दुओं-मुसलमानों की एक सामान्य साहित्यिक भाषा भी थी जो कठिन उर्दू से भिन्न थी और जो शहर के साधारण लोगों की सांस्कृतिक एकता की प्रतीक थी। धर्म के आधार पर दो क़ौमों और दो भाषाओं का अभी सवाल न था।

१७९८ में जॉन गिलक्राइस्ट ने "दि ओरियंटल लिंग्विस्ट" में 'हिन्दुस्तान' की प्रचलित भाषा का परिचय देते हुए एक लेख लिखा। इसमें उन्होंने बताया कि यहां की भाषा को "नेटिव और दूसरे लोग" हिन्दी कहते हैं। यह शब्द इंडिया के पुराने नाम हिन्द से बना है। लेकिन इस शब्द (हिन्दी) तथा हिन्दू से बने हिन्दुई जैसे शब्दों में भ्रम होने की गुंजाइश है, इसलिए हिन्दी तथा अन्य नामों को त्याग कर इस भाषा को हिन्दुस्तानी कहना चाहिए। इसके बाद धर्म के आधार भाषा का विभाजन करते हुए उन्होंने लिखा, "हिन्दवी को मैंने शुद्ध हिन्दुओं की चीज माना है। इसलिए मैंने लगातार उसका प्रयोग भारत की प्राचीन भाषा के लिए किया है जो मुसलमान आक्रमण के पहले यहां प्रचलित थी। वह हिन्दुस्तानी का मूलाधार है। यह हिन्दुस्तानी अरबी-फारसी से कुछ ही दिन पहले बनी हुई ऊपर की इमारत है। अंग्रेज़ी के लिए जैसे फ्रांसीसी और लैटिन हैं (अर्थात अंग्रेज़ी ने उनसे शब्द लिये हैं), वैसे ही हिन्दुस्तानी के लिए फारसी और अरबी हैं। अंग्रेज़ी का मूलाधार जैसे सैक्सन है, वैसे ही हिन्दुस्तानी का आधार हिन्दवी है।" गिलक्राइस्ट ने हिन्दुस्तानी शब्द का प्रयोग उर्दू के लिए किया। प्राचीन हिन्दी को उन्होंने उर्दू का मूलाधार माना, यह ठीक किया। लेकिन इसके बाद उन्होंने यह मत प्रकट किया, "हिन्दू स्वभावतः हिन्दवी की तरफ झुकेंगे और मुसलमान अरबी-फारसी के प्रति आसक्ति दिखायेंगे। इससे दो शैलियां पैदा होती हैं, एक तो उच्च शैली (कोर्ट ऑर हाई स्टाइल) और दूसरी ग्रामीण या प्राचीन शैली। इनके बीच में एक प्रचलित लोकप्रिय शैली रहेगी जिसे मैंने सर्वोत्तम माना है और जिसका वर्णन अन्य शैलियों के साथ विस्तार के साथ कर चुका हूं।"[1]

गिलक्राइस्ट की यह स्थापना सही नहीं थी। अरबी-फारसी शब्दावली को प्रधानता देने वाली जो साहित्यिक शैली विकसित हुई थी, उसका एक संकुचित वर्ग-आधार था। यह वर्ग-आधार संकुचित अवश्य था, किन्तु इसमें मुसलमानों के अलावा हिन्दू भी थे। इसके सिवा जिसे गिलक्राइस्ट ने मध्य शैली कहा है, उसके नमूने उन्हीं गालिब, मीर और सौदा के यहां मिलते हैं जिन्होंने उच्च शैली को संवारा था। यही नहीं, जिसे गिलक्राइस्ट ने ग्रामीण

---

१. जॉन गिलक्राइस्ट, दि ओरियंटल लिंग्विस्ट: ऐन ईज़ी एण्ड फैमीलियर इंट्रोडक्शन टु द पोपुलर लैंग्वेज ऑव हिन्दुस्तान, कलकत्ता, १७९८।

की प्रचलित शैली बनी है—खड़ी हिन्दी—उसके नमूने भी इन कवियों के यहां मिल जाते हैं। मीर जैसे कवियों ने ब्रजभाषा में भी कविता की थी। बहादुरशाह ज़फ़र ने हिन्दी और ब्रजभाषा दोनों में कविता की थी। उधर दयाशंकर नसीम ने उर्दू को अपनाया था। जो एक सांस्कृतिक भेदभाव की बात थी, उसे गिल्क्राइस्ट ने बढ़ा-चढ़ा कर धार्मिक भेदभाव की बात बना दिया। [illegible], [illegible] मुहम्मद, [illegible] आदि के नामों से हिन्दू और मुसलमान अलग-अलग धर्मों की भाषाएं बोलते हैं, धर्म के कारण उनमें कहीं भी अन्तर नहीं है, इस बात को उन्होंने बिल्कुल भुला दिया।

गिल्क्राइस्ट के विपरीत प्रेमचन्द ने कहा था कि जैसे भारत के अन्य भागों में हिन्दुओं और मुसलमानों की भाषाएं सामान्य हैं, धर्म के आधार पर उनमें भेद नहीं है, वैसे ही हिन्दी प्रदेश में बोलचाल की हिन्दी-उर्दू एक ही है। जहां तक बोलचाल की भाषा का सम्बन्ध है, दोनों धर्मों के मानने वाले एक ही जाति के अंग थे और आपस में एक ही भाषा का व्यवहार करते थे। यह एकता जाति के सबसे बड़े हिस्से किसानों में पूरी तरह बनी हुई थी। गिल्क्राइस्ट के विपरीत भाषा के सम्बन्ध में प्रेमचन्द ने यह सही स्थापना रखी थी, "हिन्दुस्तान के हर एक सूबे में मुसलमानों की थोड़ी-बहुत सख्या मौजूद है। संयुक्त प्रान्त के सिवा और-और सूबों में मुसलमानों ने अपने-अपने सूबे की भाषा अपना ली है। बंगाल का मुसलमान बंगला बोलता और लिखता है, गुजरात का गुजराती, मैसूर का कन्नडी, मद्रास का तमिल और पंजाब का पंजाबी आदि। यहां तक कि उसने अपने-अपने सूबे की लिपि भी ग्रहण कर ली है। उर्दू लिपि और भाषा से यद्यपि उसका धार्मिक और सांस्कृतिक अनुराग हो सकता है, लेकिन नित्य-प्रति के जीवन में उसे उर्दू की बिलकुल आवश्यकता नहीं पड़ती। यदि दूसरे-दूसरे सूबों के मुसलमान अपने-अपने सूबे की भाषा निस्संकोच भाव से सीख सकते हैं और उसे यहां तक अपना भी बना सकते हैं कि हिन्दुओं और मुसलमानों की भाषा में नाम को भी कोई भेद नहीं रह जाता, तो फिर संयुक्त प्रान्त और पंजाब के मुसलमान क्यों हिन्दी से इतनी घृणा करते हैं? हमारे सूबे के देहातों में रहने वाले मुसलमान प्रायः देहातियों की भाषा ही बोलते हैं। जो बहुत से मुसलमान देहातों से आकर शहरों में आबाद हो गये हैं, वे भी अपने घरों में देहाती जबान ही बोलते हैं। बोलचाल की हिन्दी समझने में न तो साधारण मुसलमानों को ही कोई कठिनता होती है और न बोलचाल की उर्दू समझने में हिन्दुओं को ही, बोलचाल की हिन्दी और उर्दू प्रायः एक सी ही हैं।"[1]

---

१. प्रेमचन्द, कुछ विचार, बनारस, १९३९, पृष्ठ १९८-९९।

प्रेमचंद भाषा की समस्या पर राष्ट्रीय और जनवादी ढंग से सोचते थे। उनके सामने सारे देश का मानचित्र था जहाँ हर प्रदेश में वे हिन्दुओं और मुसलमानों को प्रादेशिक भाषाओं का व्यवहार करते देखते थे। इस आधार पर उन्हें यह दृढ़ विश्वास हुआ था कि जो बात दूसरे प्रदेशों में हुई है, वह हिन्दी प्रदेश में भी होगी। वे गांवों में हिन्दुओं और मुसलमानों की व्यापक भाषागत और सांस्कृतिक एकता देखते थे। इसलिए धर्म के आधार पर भाषा के विभाजन की बात वह सोच ही न सकते थे।

विद्वानों के अनुसार लल्लूलाल के प्रेमसागर से हिन्दुओं को अपनी भाषा प्राप्त हुई। लल्लूलाल ने यह पुस्तक दो मुसलमान सहायकों के सहयोग से लिखी थी जिनके नाम थे मजहर अली और कासिम अली। मजहर अली ने बैताल पचीसी की रचना में लल्लूलाल की मदद की थी। यदि धर्म के आधार पर भाषा का बटवारा हो रहा था, तो हिन्दी पुस्तक-रचना में दो [मुस]लमानों ने एक हिन्दू की मदद कैसे की?

अठारह सौ सत्तावन में हिन्दुओं और मुसलमानों ने अंग्रेजों को अपनी [सा]मान्य जातीयता का परिचय अच्छी तरह दिया था। इस महान् संघर्ष में [हि]न्दुओं और मुसलमानों ने कंधे से कंधा मिला कर युद्ध किया था और इस तरह अपनी जातीय एकता को दृढ़ किया था। यही नहीं, बुंदेलखंड, अवध, भोजपुर प्रदेश के सैकड़ों योद्धा एक-दूसरे के निकट आये। सन सत्तावन की समरभूमि मुख्यतः विशाल हिन्दी-भाषी क्षेत्र की धरती थी। जनपदों का अलगाव और भी कम हुआ; पूरब और पछाह के लोग घुले-मिले। अंग्रेज जातीय निर्माण के प्रति चौकन्ने थे। जनपदों की बोलियों और हिन्दी के स[म्बन्ध] पर हम आगे विचार करेंगे। यहां हिन्दी-उर्दू की समस्या की चर्चा करेंगे।

शिक्षित भारतवासियों को राष्ट्रीयता का पाठ पढ़ानेवाले अंग्रेज य[ह] हिन्दू-मुस्लिम समस्या के बारे में क्या सोचते थे? १६४७ में हिन्दुओं... मुसलमानों के विद्वेष के कारण वे देश का बटवारा करके चले गये। इसमें कुछ उनका स्वार्थ तो था नहीं। १६४७ के पहले सौ साल तक वेचारे इसी प्रयत्न में लगे रहे थे कि यहां के निवासी राष्ट्रीयता का पाठ पढ़ लें, राज्य सँभालने लायक हो जायें और अंग्रेजों को छुट्टी मिले। अठारह सौ सत्तावन में आई. टी. प्रिचार्ड नामक एक अंग्रेज राजस्थान में फौजी काम करता था। उस प्रदेश में तत्कालीन क्रांति सम्बधी कार्यवाही पर उसने एक पुस्तक लिखी है। उसमें उसने इस बात पर सबसे अधिक आश्चर्य प्रकट किया है कि यहां हिन्दू और मुसलमान मिलकर अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ने लगे। उसने लिखा है, "हम सोचा करते थे कि हिन्दू और मुसलमान किसी भी तरह आपस में एका नहीं कर सकते और मिलकर किसी तीसरे सम्प्रदाय के विरुद्ध कभी कार्य नहीं कर सकते। लोगों के लिए यह

बरेली और [illegible] युद्ध के लिए [illegible] अपने पास [illegible] थी कि [illegible], इसके [illegible] से एक [illegible] को [illegible] होगी।"[1] [illegible] ने इन [illegible] फूट का [illegible] लिया था। [illegible] मुसलमानों को [illegible] दस्तों में रखा था और हिन्दुओं [illegible]। [illegible] सैनिकों को [illegible] सवारों की [illegible] होती थी। हिन्दू-मुस्लिम एकता से अंग्रेज शासकों को जो निराशा हुई, उसे [illegible] जॉन विलियम के ने इन शब्दों में प्रकट किया है, "अंग्रेजों का [illegible] होने के पहले ही लार्ड कैनिंग को मालूम पड़ गया होगा कि [illegible] के [illegible] विरोध से अब कोई आशा नहीं है, जिस विरोध को हमने अपनी शक्ति और सुरक्षा का मुख्य आधार समझा था। स्पष्ट ही हिन्दू और मुसलमान हमारे विरुद्ध एक हो गये थे।"[2] अंग्रेजों ने जिस समय दिल्ली का घेरा डाल रखा था, उस समय उनके गुप्तचर अहसानुल्ला ने कोशिश की कि ईद के दिन मुसलमान गोकुशी करें और हिन्दुओं और मुसलमानों में दंगा हो। गोकुशी के विरुद्ध बहादुर शाह की आज्ञा से इन गुप्तचरों को बहुत निराशा हुई। बरेली में अंग्रेजों ने कोशिश की कि दंगे हो जायँ और इसके लिए उन्होंने पचास हजार रुपये खर्च करना तय किया था; लेकिन सारी रकम ज्यों की त्यों अधिकारियों ने सरकार को वापस कर दी क्योंकि पैसा लेकर दंगा करने वाले मिले ही न रहे थे।

इन सब तथ्यों से यह अनुमान किया जा सकता है कि सन् सत्तावन के बाद अंग्रेजों ने हिन्दी-उर्दू समस्या को जिस तरह उभारा, वह उनकी फूट डालो और राज करो की नीति का अभिन्न अंग थी। बीम्स का मत था कि बोलचाल की भाषा को अरबी-फारसी के कोश से समृद्ध करना चाहिए, ग्राउज का मत था कि संस्कृत से शब्द लेने चाहिए। सन् सत्तावन के बाद भारतीय समाज का विकास रुका नहीं। यदि भारत में अंग्रेजी राज कायम न होता, तो यह विकास बिल्कुल दूसरे ढंग का होता। अब वह रुक-रुक कर, अंग्रेजी शासन द्वारा उत्पन्न किये हुए अवरोधों से टकराकर, औपनिवेशिक परिस्थितियों में विषम गति से हुआ। सामंतवाद का खात्मा न हुआ। बड़े-बड़े देशी राज्यों के अलावा हजारों ताल्लुकदार और जमींदार ब्रिटिश राजसत्ता के स्तंभ-स्वरूप यहां बने रहे। यहां जो पूंजीवाद विकसित हुआ, वह भारतीय सामंतवाद और विदेशी साम्राज्यवाद दोनों से दबा हुआ था। उन्नीसवीं सदी में उसने आजादी का ख्वाब देखना भी न सीखा था। बीसवीं सदी में उसने जब ब्रिटिश राज का

---

१. आई. टी. प्रिचार्ड, दि म्युटिनीज इन राजपूताना, लंदन, १८६०, पृष्ठ २६८।
२. जॉन विलियम के, ए हिस्ट्री ऑव दी सिपोय वार इन इंडिया।

ठित विरोध करना सीखा, तब उसे सबसे बड़ी दहशत यह लगी रहती ... भारत की जनता कहीं क्रान्ति न कर दे। इसलिए वह जनता को रोकने और ब्रिटिश राज से समझौता करने के लिए बराबर तत्पर रहता था।

सन् सत्तावन के बाद अंग्रेजों ने यह प्रचार किया था कि ब्रिटेन और भारत की जनता के समान अधिकार हैं और दोनों महारानी विक्टोरिया की प्रजा हैं। इससे कुछ लेखकों ने अंग्रेजी राज की प्रशंसा में कविताएं रचीं। साथ ही उन्होंने भारत में अंग्रेजी राज की शोषण-प्रक्रिया का तीव्र विरोध भी किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्वदेशी समाज की स्थापना की जिसके सदस्य स्वदेशी वस्त्रों का ही व्यवहार करते थे। उन्होंने अनेक रचनाओं में हिन्दू जागरण की बात की, तो बहुत जगह हिन्दू-मुस्लिम एकता पर भी बल दिया। ८ फरवरी १८७४ की कवि-वचन-सुधा में भारतेन्दु ने एक लेख लिखा, "क्या हमारे देश बान्धव अब भी सचेत न होंगे ?" इसमें उन्होंने अंग्रेजों के वायदों और देश की वास्तविक स्थिति के बारे में लिखा, "कुछ काल पहले अंग्रेज लोग जब हिन्दुस्तान के विषय में व्याख्यान देते थे, तब यही प्रकट करते थे कि हम केवल इस देश के लाभमयं राज्य करते हैं, यही चिल्ला-चिल्ला कर सर्वदा कहा करते हैं कि हम सदैव हिन्दुस्तान की वृद्धि के निमित्त विचार करते हैं कि हम लोग इस देश की वृद्धि करेंगे और यहां के निवासियों को विद्यामृत पिलावेंगे और राज्य का प्रबंध किस भांति करना यह ज्ञान सब प्रजा को स्वतः हो जायगा तब हम लोग हिन्दुस्तान का सब राज्य-प्रबंध यहां के निवासियों के स्वाधीन कर देंगे और अन्त को राम राम कर जहाज पर पैर रख स्वदेश गमन करेंगे।" यह तो था भ्रम जो अंग्रेजों ने अपने राज्य के बारे में कुछ भारतवासियों के मन में उत्पन्न किया था। "परन्तु अब अंग्रेजी माया छल और घात दृष्टि में आने लगी क्योंकि हम लोगों को केवल अंग्रेजी भाषा प्राप्त हुई परन्तु कला-कौशल्य के विषय में हम लोग भली-भांति अज्ञान सागर में निमग्न हुए हैं इसमें सन्देह नहीं।" १६ फरवरी १८७४ की कवि-वचन-सुधा में उन्होंने अंग्रेजी नीति के बारे में लिखा, "क्या यह अनीति नहीं है कि अनुमानतः दो सौ वर्ष हुए इनका अधिकार इस देश में है इन्होंने हमारे धन-धान्य के वृद्धि में कोई उपाय नहीं किया और केवल अपनी भाषा सिखाया और सब व्यापार और धन सब अपने हस्तगत किया क्या यह खेद की बात नहीं है कि हमको कला-कौशल्य से विमुख रखा और आप स्वतः व्यापारी बनकर सब देश भर का धन और धान्य अपने देश में ले गये।" ६ मार्च १८७४ की कवि-वचन-सुधा में उन्होंने जनता की दशा के बारे में लिखा, "कपड़ा बनाने वाले सूत निकालने वाले खेती करने वाले, आदि सब भीख मांगते हैं — खेती करने वालों की यह दशा है कि लंगोटी लगाकर हाथ में तूंबा ले भीख मांगते हैं, और जो निरुद्यम हैं उनको तो अन्न की भ्रान्ति है।"

अंग्रेजी राज के इस शोषण के विरुद्ध भारतेन्दु ने स्वदेशी का प्रचार किया। स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार किया जाय, देश में कल-कारखाने स्थापित करके यहां उद्योग-धन्धो की उन्नति हो—यह कार्यक्रम उन्होंने देश की जनता के सामने रखा था। इसके लिए उन्होंने एक प्रतिज्ञापत्र बनाया और लोगो से उस पर हस्ताक्षर कराये। वह प्रतिज्ञापत्र २३ मार्च १८७४ की कवि-वचन-सुधा में इस प्रकार छपा था :

> "हम लोग सर्वान्तरयामी सब स्थल मे वर्तमान सर्वद्रष्टा और नित्य सत्य परमेश्वर को साक्षी देकर यह नियम मानते और लिखते हैं कि हम लोग आज के दिन से कोई विलायती कपडा न पहनेंगे और जो कपडा कि पहले से मोल ले चुके हैं और आज की मिती तक हमारे पास हैं उनको तो जीर्ण हो जाने तक काम मे लावेंगे पर नवीन मोल लेकर किसी भाति का भी विलायती कपडा न पहिरेंगे हिन्दुस्तान ही का बना कपडा पहिरेंगे हम आशा रखते हैं कि इसको बहुत ही क्या प्राय सब लोग स्वीकार करेंगे और अपना नाम इस श्रेणी मे होने के लिए श्रीयुत बाबू हरिश्चन्द्र को अपनी मनीषा प्रकाशित करेंगे और सब देश हितैषी इस उपाय के वृद्धि में अवश्य उद्योग करेंगे।"

इस कार्यक्रम से यह अनिवार्य परिणाम निकलता था कि देश की उन्नति के लिए हिन्दू और मुसलमान दोनो मिलकर प्रयत्न करें। अपने बलिया के व्याख्यान में उन्होने मुसलमानो, अछूतो आदि सभी की दृढ़ एकता स्थापित करने पर जोर दिया। "यह समय इन झगडो का नही, हिन्दू, जैन, मुसलमान सब आपस में मिलिये। जाति में कोई चाहे ऊंचा हो चाहे नीचा हो, सबका आदर कीजिए जो जिस योग्य हो उसे वैसा मानिये। छोटी जाति के लोगों का तिरस्कार करके उनका जी मत तोडिये। सब लोग आपस मे मिलिये।" मुसलमानो से उन्होंने विशेष रूप से अपील की, "मुसलमान भाइयों को भी उचित है कि इस हिन्दुस्तान मे बस कर वे लोग हिन्दुओ को नीचा समझना छोड दें। ठीक भाइयो की भांति हिन्दुओं से बरताव करें ऐसी बात जो हिन्दुओ का जी दुखाने वाली हो न करें। घर में आग लगै तब जिठानी दोरानी को आपस का डाह छोडकर वह आग बुझानी चाहिए, जो बात हिन्दुओं को नहीं

अभी तक बहुतो को यही ज्ञात है कि दिल्ली लखनऊ की बादशाहत कायम है। यारो वे दिन गये। अब आलस हठधर्मी यह सब छोड़ो। चलो हिन्दुओं के साथ

...रो। मीर हसन की मस-
... का सत्यानाश मत करो।
तुम भी दोडा ... छापन ...
नवी और इन्दर सभा पढ़ाकर छापन ... चुस्त कपड़ा पहना और गजल गुनगुनाए।
होश सम्भाला नहीं कि पढ़ी पारसी चुस्त कपड़ा पहना और गजल गुनगुनाए। न किया हमने गुलिस्तां का
'शौक तिफली से मुझे गुल की जो दीदार का था। न किया हमने गुलिस्तां का
सैर कभी।' भला सोचो कि इस हालत में बड़े होने पर वे लड़के क्यो न
बिगड़ेंगे। अपने लड़को को ऐसी किताबें छूने भी मत दो। अच्छी से अच्छी
उनको तालीम दो। पिनशिन और वजीफा या नौकरी का भरोसा छोड़ो।
लडकों को रोजगार सिखलाओ। विलायत भेजो। छोटेपन से मेहनत करने की
आदत दिलाओ। सौ महलो के लाड-प्यार दुनिया से बेखबर रहने की राह मत
दिखलाओ।" इन वाक्यो मे भारतेन्दु की राष्ट्रीय भावना अच्छी तरह प्रकट
हुई है। वे सारे देश की उन्नति का स्वप्न देखते थे, केवल हिन्दुओ की उन्नति
का नही।

उन्होने अनेक रचनाओ मे मुसलमानो के लिए तिरस्कार-वचन कहे थे।
साथ ही अनेक रचनाओ मे उनके धर्म को आदर से स्मरण किया था।
"महात्मा मुहम्मद" नाम के निबंध मे उन्होने लिखा था, "प्रभु का आदेश
पालन के हेतु सब प्रकार का दरिद्र क्लेश अपमान और आत्मीय जन का निग्रह
अम्लान बदन से सिर नीचा करके सहन किया। धन्य! ईश्वर के विश्वास
किंकर मुहम्मद!" १६ जनवरी १८७४ की कवि-वचन-सुधा मे भारतेन्दु ने एक
विज्ञापन प्रकाशित किया था जिससे मालूम होता है कि उन्होंने मुसलमानो
के धर्मग्रंथ कुरान का अनुवाद किया था। विज्ञापन से उनकी धार्मिक सहिष्णुता
का पता चलता है। विज्ञापन इस प्रकार है :

"कुराने शरीफ

अर्थात् मुसलमानों के मत की पवित्र धर्म पुस्तक हिन्दी भाषा मे।
इस बड़े ग्रंथ को मैंने बड़े परिश्रम से हिन्दी भाषा मे अनुवाद किया है
अब इसको छापने का भी विचार है परन्तु बड़ा ग्रंथ है और व्यय विशेष
है इससे यह इच्छा की है कि पहले १०० ग्राहक ठहराकर तब छापना
प्रारम्भ करूं इससे विद्यानुरागी और मतो के जानकारो से निवेदन है
कि वे लोग इसके छापने का उत्साह अपने आज्ञापत्र से शीघ्र बढ़ावें और
मूल्य इसका छपने के पीछे व्यय के अनुसार रखा जायगा परन्तु किसी
दशा में १०) रु. से यह विशेष न होगा।

—हरिश्चन्द्र।"

१२ जनवरी।

यदि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को मुसलमानो के धर्म से द्वेष होता तो वे उनके
धर्मग्रंथ को हिन्दी मे अनुवादित करके सस्ते मूल्य मे बेचने की योजना जनता के

सामने न रखते। उनका उद्देश्य यह था कि एक-दूसरे के धर्म को न जानने से जो विद्वेष बढ़ रहा था, वह दूर हो। इन सब बातों का बहुत सीधा सम्बध हिन्दी भाषा के विकास से था। यदि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी को हिन्दुओं की भाषा मानते तो वे उर्दू में भी कविता न करते। यदि वे उर्दू को मुसलमानो की धार्मिक भाषा मानते तो अपनी हिन्दी से उर्दू के शब्दो को निकालते, उनकी जगह संस्कृत के शब्द ढूंढ कर रखते। भारतेन्दु ने हिन्दी मे कुरान शरीफ के अनुवाद की योजना ही अपने पाठको के सामने न रखी थी, उन्होने उर्दू मे एक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित करने की योजना भी बनायी थी। १७ सितम्बर १८७२ की कवि-वचन-सुधा मे उन्होने अपने इस उर्दू पत्र "कासिद" का विज्ञापन प्रकाशित किया था। वह इस प्रकार है :

"कासिद !
सातएं दिन आवेगा !!
नये हितकारी और विचित्र समाचार कहैगा !!!

"यह एक साप्ताहिक उरदू पत्र निकलेगा इसमे अनेक हित की, नये उद्गार की, साम्प्रत समयानुसार लोकवृद्धि की और अनेक शुभ समाचार की बातें रहैंगी—यह पत्र बहुत उत्तम बड़े-बड़े पृष्ठो में स्वच्छ अक्षरो मे छपैगा—मूल्य १०) वार्षिक।

—हरिश्चन्द्र
उद्यमकर्ता।"

इस पत्र के प्रकाशन के लिए "उद्यमकर्ता" स्वयं हरिश्चन्द्र थे। किसी दूसरे प्रकाशक के पत्र का विज्ञापन उन्होंने न छापा था। हिन्दुओं और मुसलमानो की मिली-जुली जातीयता के विकास के लिए हिन्दी के सजग लेखक इस तरह प्रयत्न कर रहे थे।

हिन्दी-उर्दू की एकता और परस्पर भेद के बारे मे ८ सितम्बर १८७३ की कवि-वचन-सुधा मे भारतेन्दु ने जो कुछ लिखा था, उससे बढ़कर अभी तक कोई कुछ नही लिख सका है। शीर्षक अंग्रेजी मे था—"Hindi versus Urdu, Philologically हिन्दी और उर्दू"। इसमे यह महत्वपूर्ण स्थापना है, "हिन्दी और उर्दू मे अन्तर क्या है हम बिना संकोच के उत्तर देते हैं कि भाषाओ मे कुछ अन्तर नही है क्योंकि व्याकरण की विभक्तियां और नियम दोनो के एक है पर इतना ही अन्तर है कि हिन्दी मे जिसके लिए हिन्दी शब्द नही मिलता वहां संस्कृत शब्द काम मे आते हैं और उर्दू मे सहज हिन्दी शब्द होने पर भी और जहां शब्द नही मिलते हैं वहां तो अवश्य ही अरबी और फारसी के शब्द लिखे जाते है यही दोनों मे अन्तर है।" अपनी इस

स्पाना के अनुरूप भारतेन्दु ने उर्दू के प्रचलित शब्दों का बहिष्कार नहीं किया।
न बीर पकबराबादी और अन्य सूफियों की काव्य-परम्परा का अनुसरण करते
हुए उन्होंने खड़ी बोली में इस तरह की रचनाएं भी की हैं :

पी राधा माधव युगल चरन रस का अपने को मस्त बना।
पी प्रेम पियाला भर-भर कर कुछ इस मै का भी देख मजा।
यह वह मै है जिसके पीने से और ध्यान छुट जाता है।
अपने में भी बिलकुल फिर कुछ भेद नहीं दिखलाता है।
इसके सुरूर से मस्त हरेक अपने को नजर बस आता है।
फिर और हवस रहती न जरा कुछ ऐसा मजा दिखाता है।
दुक मान मेरा कहना दिल को इस मैखाने की तर्फ झुका।
पी प्रेम पियाला भर-भर कर कुछ इस मै का भी देख मजा।

भारतेन्दु की हिन्दी नीति का अनुसरण करते हुए बालकृष्ण भट्ट भी उर्दू के सरल शब्दों का प्रयोग करते थे। वह हिन्दी-उर्दू को एक ही भाषा मानते थे। उन्होंने फरवरी १८८५ के "हिन्दी प्रदीप" में लिखा था, "यह कौन कहता है कि उर्दू दूसरी वस्तु है। सच पूछो तो उर्दू भी इसी हिन्दी का एक रूपान्तर है।"[1]

बालमुकुन्द गुप्त हिन्दी-उर्दू को एक ही भाषा के दो रूप मानते थे। दोनों मे लिपि और शब्दावली का भेद था। उन्होंने लिखा था, "इस समय हिन्दी के दो रूप हैं। एक उर्दू दूसरा हिन्दी। दोनो मे केवल शब्दों का ही नहीं लिपि भेद बडा भारी पड़ा हुआ है। यदि यह भेद न होता तो दोनो रूप मिलकर एक हो जाते। यदि आदि से फारसी लिपि के स्थान में देवनागरी लिपि रहती यह भेद ही न होता। अब भी लिपि एक होने से भेद मिट सकता है। जल्द ऐसा होने की आशा कम है। अभी दोनो रूप कुछ काल तक अलग-अलग अपनी-अपनी चमक-दमक दिखाने की चेष्टा करेंगे। आगे समय जो करा वही होगा।" गुप्त जी को विश्वास था कि दोनो रूप मिलकर एक इसलिए हिन्दी-उर्दू के साहित्यकारों को एक-दूसरे के साहित्य से परिचित चाहिए। उन्होंने हिन्दी-भाषियों को उर्दू साहित्य से परिचित कराने के अनेक निबंध लिखे थे। उपर्युक्त वाक्य उन्होंने "हिन्दी भाषा की भू नाम के निबंध मे लिखे थे। उसीमें आगे लिखा था, "बड़ी कठिनाई तो कि दोनो एक-दूसरे को न पहचानते हैं न पहचानने की चेष्टा करते हैं

---

1. राजेन्द्र शर्मा द्वारा "हिंदी गद्य के निर्माता बालकृष्ण भट्ट" (भा उद्धृत, पृष्ठ ३४६।

बड़ा भारी अन्तर हो जाता है ! जो लोग उर्दू के अच्छे कवि और ज्ञाता हैं, वह हिन्दी की ओर ध्यान देना कुछ आवश्यक नही समझते। इसीसे देवनागरी अक्षर भी नही सीखते और भारतवर्ष के साहित्य से निरे अनभिज्ञ हैं। अरब और फारिस के साहित्य की ओर खिंचते हैं। साथ-साथ भारतवर्ष के साहित्य से घृणा करते और जी चुराते हैं। उधर हिन्दी के प्रेमी भी उर्दू की ओर कम दृष्टि रखते हैं और उर्दू वालो को अपनी ओर की बातें ठीक-ठीक समझाने की चेष्टा नही करते। यदि दोनो ओर से चेष्टा हो तो इस भाषा की बहुत कुछ उन्नति हो सकती है।" दोनों ओर के लोग चेष्टा करें तो किस भाषा की उन्नति होगी —हिन्दी की या उर्दू की ? गुप्त जी का आशय उस सामान्य भाषा से था जिसके आधार पर हिन्दी-उर्दू की दो शैलियो का विकास हुआ था। उनका अपना प्रयत्न यह था कि सबसे पहले हिन्दी-उर्दू वाले एक-दूसरे के साहित्य से परिचित हो। "मैं इस पुस्तक द्वारा दोनो ओर के लोगो को एक-दूसरे की बातें ठीक-ठीक समझा देने की चेष्टा करूंगा। इसमें मेरा अधिक श्रम हिन्दी वालो के लिए होगा।"[1]

हिन्दुस्तानी जाति के गठन और उसके सांस्कृतिक विकास के लिए १६वीं सदी का हिन्दी आन्दोलन एक ऐतिहासिक आवश्यकता थी। हिन्द प्रदेश की जनपदीय बोलियों का शब्द-भंडार, ब्रजभाषा, अवधी, मैथिल आदि के साहित्य मे प्रयुक्त शब्द-भडार, बगला, मराठी, गुजराती, तेलुगु, कन्नड, मलयालम आदि भाषाओ के शब्द-भडार का बहुत बडा सामान्य भाग हिन्दी मे आया। उर्दू बहुत कुछ इस विकास-परम्परा से दूर जा पडी थी। ईरानी सस्कृति के प्रभाव से यहां की लिपियों, भाषाओ आदि को जो उभरने का मौका न मिला था, उस कमी को हिन्दी ने पूरा किया। तुर्कों और मुगलो ने यहा फारसी को राजभाषा न बनाया होता, तो यह अधिकार अमीर खुसरो के समय में, और उसके भी पहले, हिन्दी को मिलता। फारसी के बाद अंग्रेजों की कृपा से कचहरियो, दफ्तरो आदि मे उर्दू का चलन हुआ। यह उर्दू बोलचाल की उर्दू न थी जिसके नमूने नजीर, सौदा, जफर आदि से हमने ऊपर दिये हैं। यह उर्दू ऐसी थी जिसमे सभी पारिभाषिक शब्द अरबी-फारसी के थे और यहा की जनता के लिए पहेली थे। इसलिए देहात मे पढ़े-लिखे आदमी का अर्थ होता था उर्दू जाननेवाला। जो "पढ़ा-लिखा" आदमी उर्दू न जानता था, वह गांव वालों के किसी काम न आ सकता था, अर्थात कचहरी या दफ्तरो के "कागजात" समझ न सकता था और न कोई सलाह दे सकता था। रोटी-रोजी के लिए उर्दू जानना आवश्यक था। कबीर, सूर और जायसी की शब्दावली का व्यवहार

---

1. बालमुकुन्द गुप्त, निबन्धावली, पृष्ठ ११०-११।

करने वाला गँवार समझा जाता था; शराफत और ... कचहरियों
भाषा के व्यवहार करने में समझी जाती थी। इसी कारण कचहरी
सरकारी दफ्तरों में हिन्दी-प्रवेश के लिए आन्दोलन चला। इस आन्दोलन के
विरुद्ध मुसलमानों को उभारना अंग्रेजों के लिए कठिन नहीं था। पुलिस-कचहरी
में अल्पसंख्यकों को अनुपात से ज्यादा जगहें देकर अंग्रेज बहुसंख्यकों को
दबाने की नीति बरत रहे थे। उन्होंने भाषा और धर्म को जातीय विघटन
और उत्पीडन का साधन बनाया था। इस पर भी बालमुकुन्द गुप्त जैसे लेखक
हिन्दी-उर्दू दोनों में रचनाएं करते रहे और दोनों को एक-दूसरे के निकट लाने
का प्रयत्न करते रहे, इसके लिए उनकी जितनी प्रशंसा की जाय, उतनी कम
है। आश्चर्य इस बात पर न होना चाहिए कि उन्होंने उर्दू पर कुछ फब्तियां
कसी, वरन् इस पर होना चाहिए कि उकसावे का इतना सामान होने पर भी
वे एकता के लिए बराबर प्रयत्न करते रहे और हिन्दी में उन्होंने मज़ाक
का सिलसिला शुरू न किया।

ग्रियर्सन के अनुसार अंग्रेजों की प्रेरणा से आधुनिक हिन्दी का जन्म
हुआ। लल्लूलाल-रचित प्रेमसागर द्वारा हिन्दुओं को परस्पर व्यवहार के लिए
गद्य की भाषा मिली। इस भाषा का निर्माण उर्दू शब्दों को निकाल कर उनकी
जगह इंडो-आर्य अर्थात् संस्कृत शब्दों के प्रयोग से हुआ। ग्रियर्सन को यह
मालूम था कि बहुत से हिन्दू उर्दू का व्यवहार करते हैं। इसलिए हिन्दुओं की
ही भाषा हिन्दी है, यह कहना कठिन होता। उन्होंने हिन्दी को धार्मिक हिन्दुओं
(पायस हिन्दूज़) की भाषा कहा। लिंग्विस्टिक सर्वे की भूमिका में उन्होंने हिन्दी
के जन्म के बारे में लिखा, "यह हिन्दी, जिसे उच्च हिन्दी (हाई हिन्दी) भी
कहा जाता है, उन हिन्दुओं के गद्य की साहित्यिक भाषा है जो उर्दू का व्यव-
हार नहीं करते। इसकी उत्पत्ति हाल की है और पिछली शताब्दी (अर्थात्
उन्नीसवीं शताब्दी) के आरम्भ-काल में अंग्रेजी प्रभाव से उसका चलन हुआ।
तब तक हिन्दू गद्य लिखते थे, और उर्दू का प्रयोग न करते थे, तो अपनी
स्थानीय बोली अवधी, बुन्देली, ब्रजभाषा, यथासंभव हिन्दोस्तानी आदि-आदि
का व्यवहार करते थे। डॉक्टर गिलक्राइस्ट की प्रेरणा से लल्लूलाल ने प्रसिद्ध
ग्रंथ प्रेमसागर लिख कर यह स्थिति बदल दी। इस ग्रंथ के गद्यभाग प्रायः उर्दू
में लिखे गये थे, अन्तर यह था कि जहां उर्दू लेखक फारसी शब्द इस्तेमाल
करता, वहां लल्लूलाल ने इंडो-आर्य शब्द रख दिये थे। उसकी दोआब की जो
वास्तविक बनावट थी, उसको पीर फिर मोड़ने का काम आगे शुरू हुआ।
आरम्भ से ही यह नया प्रयोग सफल हुआ। उसने लिखी हुई प्रथम पुस्तक ने
सभी धार्मिक हिन्दुओं का ध्यान आकर्षित किया और सभी भाषा के समान
लेखक की उत्तेजना और अनुगामी लोगों ने उसको शुरू कर दिया। इस प्रकार

इस रचना ने एक कमी पूरी की। इसने हिन्दुओं को एक शिष्ट-भाषा (लिंग्वा फ्रांका) दी। मुसलमानों के शब्दों का, जो उनके लिए [illegible] थे, प्रयोग किये बिना दूर-दूर के प्रांतों के लोग इसके द्वारा एक-दूसरे से बातचीत कर सकते थे। इस तरह वह [illegible] से स्वतन्त्र न था [illegible] भी क्योंकि उसका व्याकरण उस भाषा का था जिसे हर हिन्दू सरकारी दफ्तरों के बाहर अपने काम-काज में व्यवहृत करता था और उसका शब्द-भंडार उत्तर भारत की सभी हिन्दू भाषाओं की साझा सम्पत्ति था। इसके सिवा टीका-टिप्पणियों जैसी चीजों को छोड़ कर भारत की किसी भी वर्नाक्युलर में इससे पहले बहुत कम गद्य लिखा गया था। प्रायः सारा साहित्य पद्य तक सीमित था। इसलिए बिहार से लेकर पंजाब तक हिन्दुस्तान में सर्वत्र स्वभावतः प्रेमसागर की भाषा हिन्दू गद्य का आदर्श बन गयी। अब तक वह अपना यह स्थान बनाये हुए है।"

प्रेमसागर ने धार्मिक हिन्दुओं का ध्यान आकर्षित किया। उससे हिन्दुओं को शिष्ट-भाषा प्राप्त हुई। उसने हिन्दू गद्य का आदर्श प्रस्तुत किया। इसके द्वारा दूर-दूर के हिन्दू आपस में बातचीत कर सकते थे। कहना चाहिए कि गिलक्राइस्ट की प्रेरणा से लल्लूलाल ने हिन्दू राष्ट्र का निर्माण किया। लेकिन बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र आदि अहिन्दी प्रदेशों के हिन्दू वहां के मुसलमानों के समान बंगला, गुजराती, मराठी आदि भाषाएं बोलते थे। अंग्रेजों की कृपा से इन अहिन्दी भाषाओं में हिन्दू गद्य और मुस्लिम गद्य का विकास न हो सका, मुस्लिम मिल्लत और हिन्दू राष्ट्र के विकास में कसर रह गयी। इन अहिन्दी भाषाओं का नाश भी नहीं हुआ जिससे सारे देश में धर्म के आधार पर दो ही भाषाओं का चलन होता!

ग्रियर्सन के अनुसार टीका-टिप्पणियों के अलावा भारत की किसी भी भाषा में प्रेमसागर के रचना-काल तक गद्य का विकास हुआ ही न था। बहमनी राजाओं ने हिन्दी को राजभाषा बनाया था। शेरशाह ने फारसी के साथ हिन्दी को राज-काज का माध्यम माना था। जाट सामन्तों ने राजकाज के लिए ब्रजभाषा का व्यवहार किया था। छत्रसाल सरकारी काम बुंदेलखंडी में करते थे। मराठा राज्य की भाषा मराठी थी। फिर भी यहां की किसी भाषा में टीका-टिप्पणियों को छोड़ कर गद्य का विकास ही न हुआ था! १६३५ ई. में, जब अंग्रेजी गद्य का कोई उल्लेखनीय विकास न हुआ था, मुल्ला वजही ने "सबरस" में लिखा था, "आज लगन कोई इस जहान में हिन्दुस्तान में हिन्दी' जबान में इस लताफत इस छन्दा सो नजम होर नस्र मिला कर गुला कर नहीं बोल्या।" ग्रियर्सन यह सिद्ध करना चाहते थे कि यहां के सांस्कृतिक जागरण के अग्रदूत हैं अंग्रेज जिन्होंने एशियाई अज्ञान के अंधकूप

से यहां के लोगो को बाहर निकाला और यूरोपीय सभ्यता का प्रकाश दिखा कर उन्हे सभ्य बनाया। इसीलिए उनकी समझ मे गिलक्राइस्ट के प्रेरणादान से पहले यहा के हिन्दू परस्पर विचार-विनिमय भी न कर सकते थे।

उन्होने गिलक्राइस्ट और लल्लूलाल को जिस भाषा-क्रांति का श्रेय दिया है, उसमे एक ही खामी है। उन्नीसवी सदी का हिन्दी गद्य लल्लूलाल की गद्य-शैली से एकदम भिन्न है। यदि गिलक्राइस्ट ने लल्लूलाल से हिन्दी गद्य की नीव डलवायी भी हो तो यह स्पष्ट है कि नीव बहुत खस्ता थी। लल्लूलाल का गद्य इस तरह का था, "इतना कह महादेव जी गिरिजा को साथ ले गगा तीर पर जाय, नीर मे न्हाय-न्हिलाय, अति लाड-प्यार से लगे पार्वती जी को वस्त्र आभूषण पहिराने। निदान अति आनन्द मे मग्न हो डमरू बजाय-बजाय, ताडव नाच नाच, सगीत शास्त्र की रीति से गाय गाय लगे रिझाने।" शुक्ल जी ने ठीक लिखा है कि "लल्लूलाल की भाषा कृष्णोपासक व्यासो की-सी ब्रज-रजित खड़ी बोली है।" यह भाषा कहा तक नित्यप्रति के व्यवहार मे आ सकती थी, इस सम्बध मे शुक्ल जी ने अपने इतिहास मे लिखा है, "भाषा की सजावट भी प्रेमसागर मे पूरी है। विरामो पर तुकबदी के अतिरिक्त वर्णनो मे वाक्य भी बड़े-बडे आये है और अनुप्रास भी यत्रतत्र है। मुहावरो का प्रयोग कम है। साराश यह कि लल्लूलाल जी का काव्याभास-गद्य भक्तो की कथावार्ता के काम का ही अधिकतर है, न नित्य-व्यवहार के अनुकूल है, न सम्बद्ध विचारधारा के योग्य।" ग्रियर्सन के अनुसार अग्रेजो की प्रेरणा से हिन्दुओ के परस्पर व्यवहार के लिए जो गद्य शैली इजाद की गयी थी, वह शुक्ल जी के अनुसार नित्य व्यवहार मे काम न आ सकती थी। यह गद्य नही काव्याभास गद्य था भाषा साफ-सुथरी खडी बोली न होकर ब्रज-रजित खड़ी बोली थी। इस अध्याय मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और बालमुकुन्द गुप्त की रचनाओं से प्रसगवश जो उद्धरण दिये गये हैं, उनकी शैली और प्रेमसागर की शैली का अन्तर स्पष्ट देखा जा सकता है। भारतेन्दु का युगान्तरकारी महत्व ही इस बात मे है कि उन्होने लल्लूलाल की परम्परा से भिन्न बोलचाल की खडी बोली के आधार पर साहित्यिक गद्य का निर्माण किया। शुक्ल जी के शब्दो मे "मुशी सदासुख की भाषा साधु होते हुए भी पडिताऊपन लिए थी, लल्लूलाल में ब्रजभाषापन और सदल मिश्र में पूरबीपन था।" इसीलिए "जब भारतेन्दु अपनी मंजी हुई परिष्कृत भाषा सामने लाये तब हिन्दी बोलने वाली जनता को गद्य के लिए खड़ी बोली का प्रकृत साहित्यिक रूप मिल गया और भाषा के स्वरूप का प्रश्न न रह गया।"

लल्लूलाल के गद्य के बारे मे ग्रियर्सन का यह मत भी था कि वह प्रायः उर्दू मे लिखा गया था (प्रैक्टीकली रिटिन इन उर्दू), उसमे फारसी शब्दों

की जगह इडो-आर्य शब्दो को बिठा दिया गया था। यह बात सही हो तो क्रियाओ के रूप लल्लूलाल के गद्य मे वही होने चाहिए जो उर्दू गद्य में स्वीकृत थे। जाय, न्हाय, बजाय, गाय जैसे प्रयोग उर्दू के स्वीकृत प्रयोग न थे। लल्लूलाल की तरह मीर अम्मन ने भी गिलक्राइस्ट की प्रेरणा से बागोबहार की रचना की थी। इसकी उर्दू लल्लूलाल के ब्रजभाषापन से किस तरह मुक्त है, यह दर्शनीय है। मीर अम्मन ने पुस्तक का आरम्भ इस प्रकार किया है, "सुभान अल्लाह साना कि जिसने एक मुट्ठी खाक से क्या क्या सूरतें और मिट्टी की मूरतें पैदा की बावजूद दो रग के एक गोरा एक काला और यही नाक कान हाथ पाव सब को दिये हैं तिस पर रग रग की शक्लें जुदा जुदा बनायी कि एक की सजधज से दूसरे का डीलडौल नही मिलता करोरो खलक़त मे जिसको चाहिए पहचान लीजिये आसमान उसके दरयाएवहदत का एक बुलबुला है और जमीन पानी का बताशा है लेकिन यह तमाशा है कि समन्दर हजारो लहरें मारता है पर उसका बाल बाका नही कर सकता जिसकी यह कुदरत और सकत हो उसकी हम्दोसना मे जबान इन्सान की गोया गूगी है कहे तो क्या कहे।" यदि इस गद्य मे दरयाएवहदत, हम्दोसना जैसे कुछ टुकडो को निकाल कर उनकी जगह "इडो-आर्य" शब्दो को रखने से लल्लूलाल ने हिन्दी गद्य रचा होता तो उसमे वह ब्रजभाषापन न होता जिसकी आलोचना शुक्ल जी ने की थी। इसलिए ग्रियर्सन ने हिन्दी गद्य के आविर्भाव के बारे मे जो कहानी गढ़ी थी, वह एकदम झूठ थी।

ग्रियर्सन की एक स्थापना यह थी कि हिन्दी और उर्दू की वाक्य-रचना अलग-अलग ढग से होती है। उन्होने लिखा था, "लल्लूलाल के समय मे हिन्दी ने अपने लिए शैली के कुछ नियम बना लिये हैं जिनके कारण वह उर्दू से भिन्न हो जाती है। इनमें मुख्य नियम का सम्बन्ध शब्द क्रम से है जो हिन्दुस्तानी के उस रूप की तुलना मे कम स्वच्छन्द होता है।" सभव है, ग्रियर्सन का आशय यह हो कि उर्दू मे जैसे वाक्यांश आगे-पीछे कर दिये जाते हैं—यथा मीर अम्मन के ऊपर वाले उद्धरण मे—वैसे हिन्दी मे नहीं किये जाते। लेकिन उन्होने हिन्दुओ की उर्दू और मुसलमानो की उर्दू मे भी भेद किया है। उन्होने स्पष्ट लिखा है, "केवल मुसलमानो की उर्दू मे हम वाक्य-रचना का फारसी शब्द-क्रम मिलता है।" (ओनली इन दि उर्दू ऑफ दि मुसलमान्स डु वी फाइंड दि पर्शियन आर्डर ऑफ वर्ड्स इन ए सेन्टेन्स।) ग्रियर्सन जैसे भाषा-विज्ञानी को इस तरह का मत प्रकट करते हुए देख कर आश्चर्य होता है। लगता है, यह बात वह जल्दी मे नहीं कह गए। काफी सोच विचार के बाद उन्होंने मुस्लिम उर्दू और हिन्दू उर्दू के भेद पर अपनी राय कायम की थी। उन्होंने इस प्रसग मे लिखा था कि "नेटिव सहबन्धेच (इडियम्स) विदा

रचनाक्रम के विरुद्ध इतना दृढ़ है कि हिन्दू किसी बोली को शब्द-भंडार के आधार पर नहीं वरन् उसके शब्द-क्रम के आधार पर उसे उर्दू अर्थात् हिन्दुस्तानी का फारसीयत वाला रूप मानते हैं।" इस नियम के अनुसार नज़ीर, इंशा आदि को हिन्दी साहित्य के इतिहास में जगह न मिलनी चाहिए और दयाशंकर नसीम, रतननाथ सरशार जैसों को उर्दू साहित्य के इतिहास में स्थान न मिलना चाहिए।

मुहम्मद हुसैन आज़ाद जैसे लेखक मुसलमान बच्चों को जिस फारसी शब्दक्रम वाली उर्दू का अभ्यास कराते थे, उसकी मिसाल यह है। एक लड़के और जुलाहे में बातचीत हो रही है। "मियां ! यह थान कितने को बेचोगे ? हुज़ूर ! दो-ढाई रुपये को बिकेगा। इस काम में क्या रहा ? जब से कल का कपड़ा चला है, इसे टके गज़ कोई नहीं लेता। अब तो नैनूं लट्ठे की क़दर है। एक दिन वह था कि हमारे हाथ के कपड़े बड़े-बड़े अमीर पहनते थे। एक दिन यह है कि गरीब भी नहीं पूछते। क्या करें ? अपने दिन पूरे करते हैं, कमर्त बढ़ती बेच ही डालते हैं। सुनो—हिम्मत न हारो मेहनत किये जाओ— बहुत न सही, थोड़ा ही सही। तुम्हारा काम बहुत अच्छा है। गरीबों के तन ढंकते हैं। अमीरों के भी काम निकलते हैं। वह आप नहीं पहनते, पर उनके सायबान, परदे, कनातें और तम्बू बनते हैं।" इस "मुस्लिम उर्दू" पर बाल-मुकुन्द ने "हिन्दी उर्दू" में यह टिप्पणी की है, "जहां जिसका बयान किया है, उसकी तसवीर खींच दी है। देखिये तो ग़रीब जुलाहे की हालत कितनी खूबसूरती से दिखाई है। आज अगर हज़रत आज़ाद को खबर होती कि स्वदेशी तहरीक की बदौलत उनके गरीब जुलाहे के दिन फिरे हैं, और आपने जो उसे हिम्मत दिलाई थी कि मेहनत किये जाओ; उसका उसे फल मिला है। वह कितने खुश होते ?"[१]

यह मामूली आदमी का काम नहीं है कि आज़ाद और बालमुकुन्द गुप्त की वाक्य-रचना में फारसी-हिन्दी का भेद पहचान लें। ग्रियर्सन का कहना है कि उन्नीसवीं सदी में शुद्ध हिन्दी में कहानियां लिखी गयीं जिनमें एक भी फारसी शब्द न था, फिर भी "हिन्दू लेखक उसे उर्दू नाम देते थे क्योंकि वाक्य-रचना फारसी ढंग की थी। लेखक मुसलमान था। इसलिए बचपन में मौलवी ने उसे जो मुहाविरे सिखाये थे, उन्हें इस्तेमाल करने की आदत वह छोड़ न पाता था।" बचपन में किस तरह की उर्दू सिखायी जाती थी, उसका एक नमूना ऊपर है। इस उर्दू को सीख कर कोई शुद्ध हिन्दी की वाक्य-रचना फारसी ढंग से कैसे करने लगेगा, यह समझ से परे है।

---

१ बालमुकुन्द गुप्त, निबंधावली, पृष्ठ १०१।

ग्रियर्सन ने मानो यह तै कर लिया था कि हिन्दी-उर्दू का सम्बंध हिन्दू धर्म और इस्लाम से जोड़ेंगे ही। उर्दू का प्रसार क्यों हुआ? इस्लाम के कारण! "इस्लाम ने उर्दू को दूर-दूर तक पहुँचाया है। बंगाल और उड़ीसा में जो हमें मुसलमान नौकर मिलते हैं जिनकी बावजूद उनके प्रदेशवासियों की नहीं वरन् दिल्ली और लखनऊ की जबान बोलने की कोशिश— अक्सर भद्दी कोशिश— होती है।" मुमकिन है कि ग्रियर्सन को कुछ खानसामा वगैरह मिले हों जो यह समझ कर कि साहब हिन्दुस्तानी समझता है, दिल्ली और लखनऊ की जबान में बोले हों। यह भी संभव है कि कुछ अल्पसंख्यक यहां से जाकर उधर बस गये हों और अपनी मातृभाषा अपनाये रहे हों। दक्खिन में, बम्बई और कलकत्ते में बहुत से मुसलमान उर्दू बोलते हैं। इनमें अधिकांश उत्तर से गये हुए अल्पसंख्यक हैं या उन्होंने उत्तरवासियों के सम्पर्क से यह भाषा सीख ली है। साधारण नियम यही है कि हर प्रदेश में मुस्लिम जन-साधारण वहीं की भाषा बोलते हैं। यदि इस्लाम से उर्दू का कोई आध्यात्मिक सम्बंध होता तो वह सबसे पहले इस्लाम की जन्मभूमि अरब में बोली जाती। उसके बाद तुर्की, ईरान, इराक जैसे देशों में भी वह मुसलमानों की मातृभाषा होती। लेकिन इस देश के बाहर की बात दूर, यहीं के मुसलमान कश्मीरी, सिन्धी, बंगला आदि भाषाएं बोलते रहे हैं और उनमें बहुत शानदार साहित्य भी रच चुके हैं।

ग्रियर्सन की अन्य भ्रान्तियों की तरह यह इस्लाम के कारण उर्दू के प्रसार की भ्रान्ति भी है। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि कुछ मुसलमान उर्दू भाषा और लिपि से अपना धार्मिक सम्बंध मानते हैं। कुछ लोग फारसी-अरबी का भेद न समझ कर दोनों भाषाओं के शब्दों को अपनी धार्मिक भाषा का शब्द मान बैठते हैं। मुसलमानों का धर्म ग्रंथ अरबी भाषा में है। अरबी शामी परिवार की भाषा है। जैसे अरब देश इस्लाम से पुराना है, वैसे ही अरबी भाषा इस्लाम से पुरानी है। जिस परिवार की सदस्य अरबी है, उसी की सदस्य हिब्रू है। कुछ धर्म-प्रेमी विद्वान पहले कहा करते थे कि हजरत आदम हिब्रू बोलते थे, इसलिए संसार की सभी भाषाएं हिब्रू से उत्पन्न हुई हैं। अब अगर भाषा का आधार धर्म होता तो यूरोप में शामी परिवार की भाषाओं का चलन होता क्योंकि ईसामसीह इसी परिवार की भाषा बोलते थे। लेकिन यूरोप में ईसाई चर्च की भाषा लैटिन रही, कुछ देशों में ग्रीक चर्च का प्राधान्य रहा। ग्रीक और लैटिन को हिन्द-यूरोपीय या आर्य-भाषा माना जाता है। इस बारे में तो जरा भी सन्देह नहीं कि अपने उच्चतम विकासकाल में ये भाषाएं गैर-ईसाइयों में प्रचलित थीं। विधर्मियों की भाषाएं लेकर ईसाई चर्च ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया। ग्रीक और लैटिन को धर्म-भाषा मानने वाले ईसाइयों में भी केवल

देने के लिए दादन, संस्कृत दद्, जीने के लिए जीस्तन, संस्कृत जीव् (जी), सोने के लिए खुफ्तन, संस्कृत स्वप्, सुनने के लिए शिनूदन् और शनीदन्, संस्कृत श्रु, मारने के लिए कुश्तन, संस्कृत मन्, खाने के लिए खुर्दन, संस्कृत खाद्, बांधने के लिए बस्तन्, संस्कृत बध् — इस तरह की फारसी-संस्कृत की सामान्य क्रियाएँ दोनों भाषाओं का प्राचीन और घनिष्ठ सम्पर्क सिद्ध करती हैं। फारसी-संस्कृत में कुछ शब्द-रूप और अर्थ एक से हैं। नाम, तन, दूर, मूषक, न, आदि शब्द दोनों भाषाओं में एक ही रूप-अर्थ वाले हैं। संस्कृत के ऐसे शब्द फारसी में बहुत हैं जो थोड़े ध्वनि-परिवर्तन के साथ उस भाषा में स्वीकृत हैं। सिरिश्त–सृष्टि, शिशा–शीत, किर्म–कृमि, अस्प–अश्व, अगुश्त–अंगुष्ठ, बार–भार, बूम–भूमि, दर–द्वार, पा–पाद, पुश्त–पृष्ठ, तिश्ना–तृष्णा, जव–यव, जुबान–युवन्, सर–स्वर, खुश्क–शुष्क, दंदा–दन्त, ज़ानू–जानु, जन (ज़नी)–जनी, साया–छाया, नौ–नव, आब–आप, अब्र–अभ्र, अब्रू–भ्रू, सर–शिर, सफ़ेद–श्वेत, शीर–क्षीर, सन्दल–चदन, काफ़ूर–कर्पूर, कान–खनि, कुजा–कुत्र, गाव–गो, मुश्त (मुश्ती)–मुष्टि, बद–बध, तप–ताप, दोष–दोषा, (रात्रि), सतर (पंक्ति)–सत्र, सोग–शोक — इस तरह भिन्न ध्वनि किन्तु समान अर्थ वाले बहुत से शब्द दोनों भाषाओं में सामान्य हैं। फारसी में माता-पिता के लिए मादर-पितर, दुहिता के लिए दुख्तर, स्वसा के लिए ख्वाहर, भ्राता के लिए बिरादर आदि परिवार-सम्बंधी शब्द प्रयुक्त होते हैं जो संस्कृत-परिवार के ही हैं। संख्यावाचक शब्द सद–शत, दह–दश, बीस्त–विंशति, हश्त–अष्ट, पंज–पंच, शश्–षष्, हफ्त–सप्त, आदि हमारे परिवार के हैं। फारसी में ज़ाद शब्द का बहुत प्रयोग होता है जो, संस्कृत का जात शब्द है - आदमी-ज़ाद, अर्थात् आदमी से उत्पन्न। फारसी में ज़ाद से क्रिया बनायी गयी है, ज़ादन। ज़िन्दा शब्द में नकार उसी प्रवृत्ति के कारण है जिससे पथ का भिन्न रूप पंथ भी होता है। ख्वाब का अर्थ है निद्रा और यह स्वप्न का फारसी रूप है। नक्त और स्तर के योग से नक्षत्र शब्द बनता है, फारसी में स्तर से बने हुए सितारा और अख्तर दो रूप प्रचलित हैं। बुत शब्द डॉ. चाटुर्ज्या के अनुसार बुद्ध से बना है, बुद्ध की मूर्तियों की अधिकता से लोग मूर्तिमात्र को बुद्ध–बुत कहने लगे। वर्ष के लिए साल शब्द सूरि से बना है। चन्द्रमा के बदले सूर्य की गति के आधार पर जिस वर्ष की गणना होती है, उसी को साल कहते हैं। सूर्य के लिए जैसे लैटिन में सोल शब्द है, वैसे ही फारसी में साल शब्द चला है। बोगाज़ कुई के इन्द्र-वरुण-पूजक मर्तन्नी जन मर्त्य होने के कारण अपने को इस नाम से पुकारते थे। फारसी के मर्द और मुर्दा शब्दों का स्रोत वही है जो मर्त्य और मर्तन्नी का था। अर्थ में भेद है। फारसी में चन्द्रमा और महीने के लिए माह शब्द है, यह संस्कृत का मास शब्द है।

ग्रीक और लैटिन भाषाओं का चलन न रहा। बाद ...
भाषा न रही; कहा जाता है कि इससे स्पेनी, फ्रांसीसी, इतालवी आदि
उत्पन्न हुई। किन्तु अंग्रेजी या जर्मन भी लैटिन से उत्पन्न हुई है, यह कोई नहीं
कहता। रूसी, उक्रैनी, बेलोरूसी आदि भाषाएं ग्रीक या लैटिन से उत्पन्न हुई
हैं, यह भी किसी का दावा नहीं है। यूरोप में ग्रीक, लैटिन, स्लाव, फिनो-
उग्रियन और जर्मन कुलों की भाषाएं बोली जाती हैं यद्यपि इनके बोलने वालों
में अधिकांश ईसाई हैं। भाषा-परिवारों के निर्माण और भाषाओं के विकास की
प्रक्रिया में कहीं भी हम धर्म को नियामक शक्ति के रूप में नहीं देखते। ईसाई
धर्म इन भाषाओं और भाषा-परिवारों के भेद और समानता को मिटाने या
कायम करने की स्थिति में नहीं रहा। उदाहरण के लिए, अंग्रेज ईश्वर को गॉड
कहते हैं। जर्मन उसे गोट कहते हैं। दोनों शब्द एक ही परिवार के हैं। लेकिन
फ्रांसीसी भाषा में ईश्वरवाचक शब्द दूसरा है — द्यु (या दियू)। यह शब्द भार-
तीय दिव् और देव से सम्बंधित है। रूसी शब्द है बोग, जो ऐश्वर्यवाचक संस्कृत
भग शब्द का एक रूप है। हंगेरियन भाषा में उसी के लिए शब्द है इस्तेन
धर्म एक है किन्तु ईश्वर के लिए भी इन भाषाकुलों के अलग-अलग शब्द हैं।

मुसलमान ईश्वर को खुदा कहते हैं, अल्ला भी कहते हैं। खुदा फार
का शब्द है, अल्लाह अरबी का। भारत में हर जगह वे अपनी धार्मिक प्रा
को नमाज कहते हैं। यह शब्द भी अरबी का न होकर फारसी का है। उ
शब्द है सलात (सल्त का बहुवचन)। तुर्की में खुदा के लिए उस भाष
अपना प्रचलित शब्द है तन्रि। फारसी में अरबी शब्दों की भरमार है। इसका
कारण इस्लाम धर्म का प्रसार उतना नहीं है जितना ईरान पर अरब का राज-
नीतिक और सांस्कृतिक प्रभुत्व है। फारसी ने उच्च सांस्कृतिक स्तर की
शब्दावली को ही अरबी से नहीं अपनाया, उसके मूल शब्द-भंडार में भी सैकड़ों
अरबी शब्द भर गये और वे फारसी के माध्यम से भारतीय भाषाओं में —
न्यूनाधिक मात्रा में — आये। यदि कोई इन शब्दों का विशेष सम्बंध इस्लाम
धर्म से माने तो उसकी इच्छा, लेकिन उसे यह न भूलना चाहिए कि फारसी
हिन्द-यूरोपीय परिवार की भाषा मानी जाती है। वह संस्कृत के बहुत निकट है,
इसमें कोई संदेह नहीं। फारसी अस्त (है) संस्कृत अस्ति के समान अस् धातु
का एक रूप है। होने के लिए बूदन् भू की समकक्ष धातु है। खड़े होने के लिए
इस्तादन् क्रिया संस्कृत स्था (स्लाव स्तो) का फारसी प्रतिरूप है। देने के लिए
दादन् स्पष्ट ही संस्कृत की दा धातु है। इसी तरह खींचने के लिए कशीदन्,
संस्कृत कृष्, उसी की समरूप फारसी धातु है किश्तन् जिसका अर्थ है जोतना,
करने के लिए कर्दन्, संस्कृत कृ, पकाने के लिए पुख्तन, संस्कृत पच्, पूछने के
लिए पुर्सीदन, संस्कृत प्रच्छ् (पृच्), डरने के लिए तर्सीदन्, संस्कृत त्रस्, आरजा-

दन के लिए कर्दीदन, संस्कृत कृ, जीने के लिए ज़ीस्तन, संस्कृत जीव् (जी), स्तवन के लिए स्तूदन, संस्कृत स्तु, सुनने के लिए शिनूदन और शनीदन, संस्कृत श्रु, खोदन के लिए कन्दन, संस्कृत खन्, खाने के लिए खुर्दन, संस्कृत खाद्, बाँधने के लिए बन्दीदन, संस्कृत बंध् — इस तरह की फारसी-संस्कृत की सामान्य क्रियाएँ दोनों भाषाओं का प्राचीन और घनिष्ठ सम्पर्क सिद्ध करती हैं। फारसी-संस्कृत में कुछ शब्द-रूप और अर्थ एक से हैं। नाम, तन, दूर, मूषक, न, आदि शब्द दोनों भाषाओं में एक ही रूप-अर्थ वाले हैं। संस्कृत के ऐसे शब्द फारसी में बहुत हैं जो थोड़े ध्वनि-परिवर्तन के साथ उस भाषा में स्वीकृत हैं। गिरिफ्त–गृहि, शिता–शीत, किर्म–कृमि, अस्प–अश्व, अंगुश्त–अंगुष्ठ, बार–भार, बूम–भूमि, दर–द्वार, पा–पाद, पुश्त–पृष्ठ, तिश्ना–तृष्णा, जव–यव, जुवान–युवन्, खर–खर, खुश्क–शुष्क, दंदा–दन्त, ज़ानू–जानु, ज़न (ज़नी)–जनी, साया–छाया, नौ–नव, आब–आप, अब्र–अभ्र, अब्रू–भ्रू, सर–सिर, सफ़ेद–श्वेत, शीर–क्षीर, सन्दल–चंदन, काफ़ूर–कर्पूर, कान–खनि, कुजा–कुत्र, गाव–गो, मुश्त (मुश्ती)–मुष्टि, बद–बध, तप–ताप, दोष–दोषा, (रात्रि), सतर (पंक्ति)–सत्र, सोग–शोक — इस तरह भिन्न ध्वनि किन्तु समान अर्थ वाले बहुत से शब्द दोनों भाषाओं में सामान्य हैं। फारसी में माता-पिता के लिए मादर-पितर, दुहिता के लिए दुख्तर, स्वसा के लिए ख्वाहर, भ्राता के लिए बिरादर आदि परिवार-सम्बंधी शब्द प्रयुक्त होते हैं जो संस्कृत-परिवार के ही हैं। संख्यावाचक शब्द सद–शत, दह–दश, बीस्त–बिंशति, हश्त–अष्ट, पंज–पंच, शश्–षष्, हफ्त–सप्त, आदि हमारे परिवार के हैं। फारसी में ज़ाद शब्द का बहुत प्रयोग होता है जो, संस्कृत का जात शब्द है : आदमी-ज़ाद, अर्थात् आदमी से उत्पन्न। फारसी में ज़ाद से क्रिया बनायी गयी है, ज़ादन। ज़िन्दा शब्द में नकार उसी प्रवृत्ति के कारण है जिससे पथ का भिन्न रूप पंथ भी होता है। ख्वाब का अर्थ है निद्रा और यह स्वप्न का फारसी रूप है। नक्त और स्तर के योग से नक्षत्र शब्द बनता है, फारसी में स्तर से बने हुए सितारा और अख्तर दो रूप प्रचलित हैं। बुत शब्द डॉ. चाटुर्ज्या के अनुसार बुद्ध से बना है, बुद्ध की मूर्तियों की अधिकता से लोग मूर्तिमात्र को बुद्ध-बुत कहने लगे। वर्ष के लिए साल शब्द सूरि से बना है। चन्द्रमा के बदले सूर्य की गति के आधार पर जिस वर्ष की गणना होती है, उसी को साल कहते हैं। सूर्य के लिए जैसे लैटिन में सोल शब्द है, वैसे ही फारसी में साल शब्द चला है। बोगाज़ कुई के इन्द्र-वरुण-पूजक मर्तन्नी जन मर्त्य होने के कारण अपने को इस नाम से पुकारते थे। फारसी के मर्द और मुर्दा शब्दों का स्रोत वही है जो मर्त्य और मर्तन्नी का था। अर्थ में भेद है। फारसी में चन्द्रमा और महीने के लिए माह शब्द है; यह संस्कृत का मास शब्द है।

जो लोग फारसी के शब्दों को इस्लामी संस्कृति का अभिन्न अंग समझ कर अपनी भाषा में गढ़ाते हैं, वे अगर अनजान में काफिर शब्दों को ही यह सम्मान देते हैं। जब वे उनको उच्च स्तर और शस या गात्र को नीच शब्द समझते हैं, तब वे यही सिद्ध करते हैं कि वे इस्लाम नहीं, ईरानी संस्कृति के गुलाम हैं। इस्लाम अनेक भाषाएं बोलने वाले देशों में फैला, बौद्ध, हिन्दू ईसाई धर्म भी अनेक भाषाएं बोलने वाली जातियों में फैले। इन सब जातियों की अपनी-अपनी संस्कृतियां हैं। ईसाई धर्म अफ्रीका में फैला, भारत में फैला, उसके बाद यूरोप में फैला। इससे यूरोप के साम्राज्यवादी अफ्रीका और यूरोप को गुलाम बनाने से बाज न आये। यूरोप के लोग यदि अपनी यूरोपीय संस्कृति पर गर्व करते हैं तो इसका कारण ईसाई धर्म नहीं है। ईसाई धर्म मानने वाले हब्शियों को वह यूरोपियन सभ्यता का प्रतिनिधि नहीं मान लेंगे। यूरोपीय सभ्यता यहां के अनेक देशों के परस्पर सहयोग और उनके सांस्कृतिक आदान-प्रदान से बनी है। इस संस्कृति बनाने वालों में मार्क्स, फ्रायड और आइन्स्टीन जैसे यहूदी भी रहे हैं ईसाई धर्म को न मानते थे। इसी तरह भारतीय संस्कृति के निर्माण में के बौद्ध, जैन, सिख, ईसाई, मुसलमान, सभी धर्म के अनुयायियों ने दिया है, वह केवल हिन्दुओं की संस्कृति नहीं है। जो लोग हिन्दुत्व के ... में संस्कृत को भारत की राष्ट्रभाषा बनाना चाहते हैं या हिन्दी तथा भारत की अन्य भाषाओं को संस्कृत शब्दावली से गले तक भर देना चाहते हैं, वे न संस्कृत के विकास को समझते हैं, न हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं का विकास पहचानते हैं। जब लोग इस्लामी संस्कृति की बात करते हैं, तब उनका मतलब तुर्की, ताजिकिस्तान, उजबेकिस्तान, अफगानिस्तान की संस्कृति नहीं होता, हिन्दुस्तान के सिंधी, कश्मीरी, पंजाबी या बंगाली मुसलमानों की संस्कृति नहीं होता, उनका मतलब होता है अरब और ईरान की संस्कृति, वहां की भाषा और साहित्य। वे यह भूल जाते हैं कि ये दो भिन्न देश हैं, उनकी भाषाएं दो अलग परिवारों की हैं, उनकी संस्कृति में महत्वपूर्ण भेद हैं। यह सही है कि किन्हीं भी दो देशों के दो मुसलमान या ईसाई मिलें, तो सामान्य धर्म के आधार पर वे कुछ बातों में अपने को एक-दूसरे के निकट पायेंगे। किन्तु यह भी सही है कि बहुत सी अन्य महत्वपूर्ण बातों में वे अपने प्रदेश के विधर्मी को अन्य जातीय सहधर्मी की तुलना में अपने निकट पायेंगे। इन "कुछ बातों" में दो मुख्य हैं, भाषा और साहित्य। दो कश्मीरी — एक हिन्दू और एक मुसलमान — महजूर ... कविता का साथ-साथ रस लेंगे; ईरान का मुसलमान उनके इस सांस्कृतिक ... सिन्धी — एक हिन्दू और एक मुसलमान — शाह ... को गद्गद होकर पढ़ेंगे और सुनेंगे, तुर्की या

अफगानिस्तान का मुसलमान इस आनन्द मे शरीक नही हो सकता। इसी तरह वारिस शाह, नजरुल इस्लाम आदि लेखको की रचनाओ को पजाब के हिन्दू-मुसलमान-सिख, बगाल के हिन्दू-मुसलमान-बौद्ध समझ सकते है, अन्य प्रदेशो के गैर-बगाली, गैर-पजाबी मुसलमान — धर्म मे भाई होते हुए भी — वारिस शाह और नजरुल इस्लाम के साहित्य-रस से वचित रहेगे। कहना न होगा कि भाषा और साहित्य ऐसे तत्व हैं जिनका स्थान सस्कृति के और सभी तत्वो मे ऊचा है। इन्हे सस्कृति से निकाल दीजिए तो कहने-सुनने लायक उसमे बहुत ज्यादा सामग्री न बचेगी।

यदि लोग इस बात को समझ ले कि उर्दू मे जिन फारसी-अरबी शब्दो के लिए उनका इतना आग्रह है, वे इस्लाम धर्म की विशेष सम्पत्ति नही हैं, तो शायद वे भारत की अन्य भाषाओ की तरह उर्दू का विकास भी करें और हिन्दी तथा सस्कृत शब्दो से इतना परहेज न करे। जो लोग बोलचाल मे घुलमिल जाने वाले फारसी शब्दो को हिन्दी से निकालने का प्रयत्न करते हैं, यह समझ कर कि ये शब्द मुसलमान हैं, वे भी यह प्रयत्न छोड दें। लेकिन इस्लामी सस्कृति, इस्लामी भाषा और इस्लामी साहित्य का भूत बहुत लोगो पर सवार है, अरबी-फारसी से इस्लाम का विशेष सम्बध है, इस बात को मुसलमान ही नही, हिन्दू-सस्कृतिवादी भी मानते हैं।

भाषा ही नही, लिपि से भी वे इस्लाम धर्म का विशेष सम्बध मानते है। अरबी लिपि और वर्णमाला मे पे नही है, चे नही है, डाल नही है, ड नही है, लेकिन अब ये सब अक्षर "इस्लामी" लिपि मे शामिल है। अरबी मे 'से,' 'स्वाद' आदि वर्णो का उच्चारण उर्दू से बिल्कुल भिन्न है; फिर भी से, स्वाद, सीन तीनो अक्षर लिपि मे सुरक्षित रहने चाहिए, भले ही बोलचाल मे उनका उच्चारण-भेद बिल्कुल जाहिर न होता हो। उत्तर प्रदेश के शिक्षित और प्रगतिशील मुसलमान भी यह समझ बैठे है कि हिन्दुस्तान की जबानो मे मुसलमानो ने साहित्य रचा भी होगा तो फारसी या उर्दू लिपि मे ही। यहा की लिपियो को वे कैसे अपनाते ? उन्हे इस बात पर आश्चर्य अवश्य होता है कि बगाल के मुसलमान बगला लिपि का व्यवहार कैसे कर लेते है !

यह मान लिया जाता है कि हिन्दी-भाषी प्रदेश के सभी शिक्षित मुसल-मान उर्दू लिपि जानते है। अब तो हिन्दी राजभाषा हो गयी है और कुछ मुसलमान हिन्दी सीखते है। बात अभी की नहीं, तब की है जब यहा अल्प-सख्यको के रक्षक अग्रेजो का राज था और कचहरियो और दफ्तरो मे उर्दू का व्यवहार होता था। १९२८ ई मे ख्वाजा हसन निजामी ने "कुरान शरीफ" का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया था। इस पवित्र ग्रथ को हिन्दी भाषा मे अनुवादित करने और देवनागरी लिपि मे प्रकाशित करने के उद्देश्य का कारण

करके मुसलमान अवाम को हिन्दी हासिल करने के लिए मजबूर कर दिया है। और वहां के देहात में आधे मुसलमान सिवाय हिन्दी हुरूफ के और कोई हर्फ नहीं पढ़ सकते।" यदि अंग्रेजों ने सरकारी दफ्तरों में हिन्दी का चलन किया होता और मुसलमानों को हिन्दी सीखने के लिए मजबूर किया होता, तो १९४७ के बाद उर्दू-भाषियों में, विशेषकर मुसलमानों में, इस बात को लेकर आन्दोलन न उठ खड़ा होता कि उन पर हिन्दी लादी जा रही है और उर्दू दबायी जा रही है। हिन्दी उत्तर प्रदेश में राजकाज की भाषा बनी स्वाधीनता प्राप्ति के बाद। यह सभी जानते हैं कि राजकाज के बहुत कम विभागों में अभी हिन्दी से काम लिया जाता है। यह बात सही है कि वहां के देहात के आधे मुसलमान सिवाय हिन्दी हुरूफ के और कोई हर्फ नहीं पढ़ सकते थे। शहर में रहने वाले मुसलमान उर्दू ज्यादा पढ़ते थे क्योंकि उन्हें कचहरियों-दफ्तरों में काम करना होता था। उनके साथ हिन्दू भी उर्दू सीखते थे और हिन्दुओं में खासकर कायस्थ उर्दूदां होते थे, क्योंकि पटवारी से लेकर डिप्टी कलक्टरी तक सभी सरकारी पदों पर वे अपनी बिरादरी का हक समझते थे। ख्वाजा हसन निज़ामी ने लिपि-सम्बधी स्थिति का सही वर्णन किया है, उसके कारण गलत दिये हैं। देहात में मुसलमान अपने जीवन की परिस्थितियों के कारण, सामान्य सामाजिक जीवन बिताने के लिए हिन्दी लिपि सीखते थे। हिन्दुस्तानी जाति के निर्माण में देहात के इन मुसलमानों का महत्व शहरों के उर्दूदां मुसलमानों से कम न था। इसीलिए प्रेमचन्द ने जोर देकर कहा था कि देहात में हिन्दुओं-मुसलमानों के बीच किसी तरह का भाषाभेद नहीं है।

अन्य प्रान्तों के लिए हसन निज़ामी ने लिखा था, "सी. पी. में तो पहिले ही से सब मुसलमानों में हिन्दी हुरूफ का रिवाज था। बिहार व उड़ीसा में भी हिन्दी मुरव्वज थी और इस तरह एक करोड़ मुसलमानों की तादाद हिन्दी हुरूफ़ के सिवा अरबी, फारसी हुरूफ से बेखबर थी। यानी देशी रियासतों और यू पी, सी. पी., बिहार वगैरा में उन मुसलमानों की तादाद एक करोड़ थी, जो सिर्फ हिन्दी हुरूफ पढ़ सकते थे।" ख्वाजा हसन निज़ामी ने जिन मुसलमानों पर ध्यान केन्द्रित किया था, वे बंगाल या केरल के मुसलमान न थे। वे मुख्यतः उन्हीं मुसलमानों की चर्चा कर रहे थे जो हिन्दुस्तानी कौम के थे। इस क़ौम के एक करोड़ मुसलमान हिन्दी लिपि का व्यवहार करते थे। यह मान लें कि ख्वाजा ने यह संख्या कुछ बढ़ा-चढ़ा कर बतायी है, तो भी उससे इतना स्पष्ट हो जाता है कि हिन्द प्रदेश के अधिकांश मुसलमान उर्दू लिपि का व्यवहार न करते थे और दिल्ली, आगरा, लखनऊ, हैदराबाद से जो मुसलमान जितना ही दूर थे, उतना ही वह हिन्दी लिपि को ज्यादा आसानी से अपनाते थे। — — जो भी हो, यह बिल्कुल सभव था—और आज भी है—कि

मुसलमान हिन्दी लिपि के माध्यम से हिन्दुस्तानी जाति की सामान्य संस्कृति और साहित्यिक भाषा के विकास में योग दें।

लिपि किसी जाति की संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है, लेकिन भाषा का वह अभिन्न अंग नहीं है। तुर्की रोमन लिपि में लिखी जाती है, इससे भाषा खतम नहीं हो गयी। राजपाल एंड संज़ ने उर्दू काव्य के लोकप्रिय संस्करण देवनागरी लिपि में प्रकाशित किये हैं, इससे उर्दू भाषा की लोकप्रियता बढ़ी ही है, कम नहीं हुई।

ब्रिटिश कूटनीति के विरुद्ध हिन्दी-उर्दू के सजग साहित्यकार इस बात का बराबर प्रयत्न करते रहे कि हिन्दी-उर्दू घुलमिल कर एक हों। ऐसे लोगों में सबसे बड़ा नाम प्रेमचंद का है। वह हिन्दी-उर्दू दोनों के साहित्यकार थे। गांवों की जनता को जितनी अच्छी तरह वह जानते थे, उतनी अच्छी तरह हिन्दी-उर्दू का और कोई साहित्यकार न जानता था। उन्हें यहां की जनता की सांस्कृतिक एकता पर दृढ़ विश्वास था। इसीलिए उन्हें यह विश्वास भी था कि हिन्दी-उर्दू मिल कर एक होंगी। राजनीतिक स्तर पर इस एकता के लिए गांधी जी ने प्रयत्न किया। इस सिलसिले में हिन्दुस्तानी का आंदोलन भी चला। हिन्दी-उर्दू दोनों में इसका विरोध हुआ। हिन्दी में "बेगम सीता" के प्रयोग की सही या झूठी कहानी का खूब प्रचार हुआ। किन्तु यह बिलकुल सही है कि सन् ३६ के आसपास हिन्दी और उर्दू लेखकों की एक बहुत बड़ी संख्या जितना एक-दूसरे के निकट आयी, उतना पहले कभी न आयी थी। इस आन्दोलन में कुछ खामियां भी थीं जिनके कारण वह सफल न हो सका।

किसी जाति की-भाषा समस्या पर विचार करते हुए हमें सबसे पहले उसके बोलचाल के रूप पर ध्यान देना चाहिए। क्या बोलचाल के रूप में भी हिन्दी-उर्दू दो भाषाएं हैं? इसमें सन्देह नहीं कि बहुत कठिन हिन्दी और बहुत कठिन उर्दू "बोली" जा सकती है लेकिन आम लोग उसे बोलते नहीं हैं इसलिए प्रेमचंद का यह कहना ठीक था कि "बोलचाल की हिन्दी और उ प्रायः एक सी हैं।" उर्दू-हिन्दी के सर्वनाम एक हैं — वह, मैं, तू, हम इत्यादि। हिन्दी-उर्दू की क्रियाएं एक ही हैं — जाना, सोना, खाना, पीना, करना, मरना, जीना, लिखना, पढना इत्यादि। आजमाना, गुजरना, लरजना जैसी क्रियाएं बहुत थोडी हैं, कुल मिलाकर एक दर्जन से ज्यादा नहीं, जो फ़ारसी-अरबी शब्दों के आधार पर बनी हैं। वे हिन्दी के लिए मतरूक नहीं हैं। बोलचाल में उनका प्रयोग बराबर होता है। हिन्दी-उर्दू के सम्बन्धवाचक शब्द — में, पर, से, का आदि — वही हैं जो हिन्दी के। दोनों का मूल शब्द-भंडार भी एक है लेकिन यहां बहुत दिनों तक फारसी के राजभाषा रहने से हिन्दी शब्दों के फारसी या अरबी पर्यायवाची शब्द भी प्रचलित हो गये हैं, जैसे

देश—मुल्क, आकाश—आस्मान, धरती—जमीन, भाषा—जबान, किसान—काश्तकार, नदी—दरिया, रोगी—बीमार इत्यादि। इन शब्दो का व्यवहार बोलचाल की हिन्दी-उर्दू मे किसी भेदभाव के बिना होता है। देश, आकाश, धरती जैसे शब्द उर्दू साहित्यकारो की रचना मे मिलेगे और मुल्क, आस्मान, जमीन जैसे शब्द हिन्दी साहित्यकारो की रचनाओ मे। इसके सिवा हल, बैल, खेत, खलिहान, बीज, जुताई, बुवाई, कारखाना, मजदूर, काम, छुट्टी आदि हजारो ऐसे शब्द है जिनके पर्यायवाची शब्द बोलचाल की भाषा मे व्यवहृत नही होते, साहित्यिक भाषा मे भले होते हो। लखनऊ और हैदराबाद के हिन्दू-मुसलमान बोलचाल की भाषा मे फारसी शब्दो का व्यवहार ज्यादा करेगे, उन्ही फारसी शब्दों की जगह बिहार और मध्य प्रदेश के मुसलमान हिन्दी या संस्कृत शब्दो का प्रयोग करेगे। यह स्थानीय भेद हुआ, इससे दो भाषाओ का निर्माण नही होता। हिन्दी-उर्दू का व्याकरण एक, वाक्य रचना एक सी, शब्द-भडार और क्रियाएं एक सी—इसीलिए हिन्दी-उर्दू भाषियो की दो कौमे नही हैं। उनकी जाति एक है और बोलचाल की भाषा एक है।

हिन्दी-उर्दू मे सबसे पहला भेद लिपि का है। लिपि लिखने के काम आती है न कि बोलने के। इसीलिए लिपि-भेद को हम बुनियादी भेद नही मानते। हिन्दी-उर्दू मे दूसरा भेद है शब्द-भडार का। यह भेद साधारण लोगो की बोलचाल मे बिलकुल नही है, पढ़े-लिखे लोगो मे बहुत थोडा है और भाषा के लिखित रूपो मे बहुत ज्यादा है। बोलचाल मे जो शब्द सामान्य सम्पत्ति हैं, लिखते समय उनमे भी अलगाव करने की प्रवृत्ति देखी जाती है। धरती, आकाश, किसान, नदी, भाषा, रोगी, देश जैसे शब्द उर्दू मे कम मिलेगे, काश्तकार दरिया, आसमान, जबान जैसे शब्द साहित्यिक हिन्दी मे कम मिलेगे। लेकिन मूल भेद दूसरा है। दर्शन, राजनीति, साहित्य आदि मे जब हमे ऐसे शब्दो की जरूरत होती है जो किसानो-मजदूरो की बोलचाल मे नही हैं, तो उर्दू लेखक अरबी-फारसी से उधार लेते है, हिन्दी लेखक संस्कृत से। राजनीति—सियासत, साहित्य—अदब, लिपि—रस्मुलखत, भाषाविज्ञान—लसानियात, आलोचना—तनकीद, अन्तरराष्ट्रीय—बैनुलअक्वामी, इतिहास—तारीख, जनतन्त्र—जम्हूरियत, कोश—लुगत—मुख्यत: इस तरह की शब्दावली हिन्दी-उर्दू मे अलगाव उत्पन्न करती है।

पहले यह समझना आवश्यक है कि हिन्दी-उर्दू का अलगाव हमारे जातीय विकास के लिए घातक है। पढ़े-लिखे लोगो की शक्ति एक जगह सिमट कर पूरी जाति को आगे बढ़ाने के बदले बिखर जाती है और लिपि के आधार पर पाठक वर्ग दो हिस्सो मे बँट जाता है। यदि भाषा और साहित्य उच्च वर्गों के थोड़े से पढ़े-लिखे आदमियो के लिए ही हो तो वे चाहे उर्दू मे मनोरंजन करें

चाहे हिन्दी में, [illegible] लेकिन सवाल है इन
के साधारण लोगों का, [illegible] और [illegible]
पूरी [illegible] का। भाषा और साहित्य [illegible] है। [illegible]
से सबसे पहले [illegible] के लिए होंगे। वह यह भाषा और लिपि का [illegible]
तक न रहेगा? समाजवादी व्यवस्था के निर्माण के लिए जनता का संगठन, उसकी
शिक्षा और [illegible] जरूरी है। यदि एक ही कारखाने के मजदूर दो लिपियों
से काम लेते हैं, तो इससे उनकी शक्ति कम होगी, उनकी मजदूरी में [illegible]
[illegible]। इसके सिवा हिन्दुस्तानी जाति दुनिया की सबसे बड़ी जातियों में है।
अथवा बोलने वाले बहुत हैं, लेकिन वे अनेक जातियों के हैं। एक ही भाषा
बोलनेवाली कोई जाति इतनी संख्या में बड़ी हो सकती है तो चीनी है। भारत
की सभी जातियों में हमारी जाति सबसे बड़ी है, यह निर्विवाद है। ऐसी स्थिति
में हमारी भाषा का राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय महत्व है। स्पष्ट है कि हमारी
भाषा अपनी पूरी ताकत से तभी प्रगति कर सकती है जब उसमें जाति के सभी
तत्वों का सहयोग हो।

हिन्दी-उर्दू को एक होना चाहिए — यह हमारे ऐतिहासिक विकास की
माग है। इसके लिए आवश्यक सांस्कृतिक आधार यह है कि साधारण जनता
की बोलचाल की भाषा एक है। हमें इस एकता की ओर बढ़ने के लिए मजबूर
करने वाला सामाजिक कारण देश का पिछड़ापन, जनता की गरीबी, समाज-
वादी निर्माण की आवश्यकता है। इसके सिवा यह भी याद रखना चाहिए कि
भारत के हर प्रदेश का सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन अलग-थलग रहकर
विकसित नहीं होता, वह अखिल भारतीय जीवन-प्रवाह की एक धारा है और
उस प्रवाह के साथ ही आगे बढ़ता है। यहां की भाषाएं भी एक-दूसरे को
प्रभावित करती हैं, करती रही हैं और करेंगी। भारत के हर जातीय प्रदेश की
भाषा और लिपि एक हो, लेकिन हिन्द प्रदेश की दो लिपियां और दो भाषाएं
हों, यह सम्भव नहीं है।

इस स्थिति को बदलने के दो तरीके हैं। उर्दू का दमन किया जाय और
हर उर्दू-प्रेमी को हिन्दी सीखने और उसका व्यवहार करने पर मजबूर किया
जाय। दूसरा तरीका मेल-मिलाप और समझाने-बुझाने का है। पहले तरीके के
हामी बहुत लोग हैं जिनमें कुछ अपने को मार्क्सवादी भी कहते हैं। यह तरीका
गलत है। सबसे पहले इसलिए गलत है कि उर्दू लिखने-बोलने वाले केवल
मुसलमान नहीं हैं; उर्दू के संरक्षण की मांग विशुद्ध साम्प्रदायिक मांग नहीं है।
उसे हम सांस्कृतिक अल्पसंख्यकों की मांग कहते हैं, भले ही उर्दू प्रेमियों में
मुसलमान अधिक हों, हिन्दू कम हों। साहित्यिक हिन्दी-उर्दू का भेद वास्तविक
है, कल्पित नहीं। साहित्यिक उर्दू में राष्ट्रीय और जनवादी विचारों का समर्थन

कम है [illegible] है। जनता का एक छोटा हिस्सा ही सही, वह अभी [illegible] और [illegible] का [illegible] उर्दू के मुकाबले में [illegible] है। हजार उसमें वह [illegible]। सबसे महत्वपूर्ण कारण यह है कि जिसे हम उर्दू कहते हैं, उसमें हमारी हिन्दी का बहुत बड़ा साहित्य रचा गया है। हैदराबाद राज्य हिन्दी प्रचार सभा के आर्य-समाजी मंत्री श्री श्रीराम शर्मा ने इस मत को प्रमाणित कर दक्खिनी अक्षरों में दक्खिनी हिन्दी के गद्य-पद्य के नमूने एक पुस्तक में प्रकाशित किये हैं। इसी को उर्दू आलोचक और इतिहासकार उर्दू कहते हैं — जिससे सिद्ध यह होता है कि हमारी मिली-जुली विरासत देवनागरी लिपि के अलावा उर्दू लिपि में भी सुरक्षित है। हिन्दी के हजारों मुहावरे, हजारों तद्भव शब्द उर्दू साहित्य में खूबसूरती से इस्तेमाल किये गये हैं। अभी तो राजपाल एण्ड सन्ज़ ने उर्दू के मशहूर शायरों की रचनाएं प्रकाशित की हैं। इसी तरह अगर उर्दू गद्य की पुस्तकें प्रकाशित की जावें तो हिन्दी पाठकों को अन्दाज हो कि उनकी बोलचाल की भाषा का कितना सुथरा रूप इस गद्य में सुरक्षित है।

उर्दू अलग किसी कौम की भाषा नहीं है। इसलिए उसे इलाकाई जबान मनवाने के आन्दोलन का विरोध करना उचित है। किन्तु वह सास्कृतिक अल्पसंख्यकों की साहित्यिक भाषा है, इसलिए उसे पढ़ने-पढ़ाने और उसका व्यवहार करने की सुविधा मिलनी चाहिए। राजभाषा के रूप में हिन्दी होनी चाहिए; राजकाज के लिए दो लिपियां और उनमें लिखी हुई दो भाषाएं नहीं हो सकतीं। हिन्दी-उर्दू के शब्द-भडार में काफी आदान-प्रदान की गुजाइश है। हिन्दी में बोलचाल के बहुत से शब्द साहित्यिक कृतियों में छोड़ दिये जाते हैं। बहुत से मुहावरे, कहावतें, बोलचाल के शब्द ऐसे हैं जो उर्दू में हैं लेकिन जिनका प्रयोग हिन्दी में नहीं होता, कम होता है या गलत भी होता है। यह सब उर्दू से हिन्दी में आयेगा, हमारी साहित्यिक भाषा ज्यादा सरल और मुहावरेदार होगी। उर्दू में संस्कृत शब्दों से जो परहेज है, उसे कम होना है। भारत की भाषाओं के लिए अरबी-फारसी का वही महत्व नहीं है जो संस्कृत का है। व्याकरण और मूल शब्द-भडार की दृष्टि से उर्दू संस्कृत-परिवार की भाषा है, न कि अरबी परिवार की। इसलिए अरबी से पारिभाषिक शब्द लेने की नीति गलत है; केवल अरबी से शब्द लेने और संस्कृत शब्दों को मतरूक समझने की नीति और भी गलत है। भारत की सभी भाषाएं प्रायः संस्कृत के आधार पर पारिभाषिक शब्दावली बनाती हैं। उर्दू इन सब भाषाओं से न्यारी रहकर अपनी उन्नति नहीं कर सकती। जहां तक पाकिस्तान का सम्बन्ध है, यह याद रखना चाहिए कि वहां की भाषाएं सिन्धी, पंजाबी, पश्तो, बंगाली आदि हैं। उर्दू इनके अधिकार छीनने वाली राजभाषा है। पाकिस्तान में उर्दू का सामाजिक आधार बहुत

ही संकुचित है। इसमें जरा भी सन्देह न होना चाहिए कि सिन्ध, पंजाब, पूर्वी बंगाल आदि प्रदेशो की जनता अपनी भाषाओं की रक्षा करेगी और उन्ही के माध्यम से अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नति करेगी। इसलिए यदि कोई यह सोचे कि पाकिस्तान उर्दू की रक्षा करेगा, तो यह उसका भ्रम है। पाकिस्तान बनने से उत्तर प्रदेश के मुसलमानो की न सामाजिक समस्याएं हल हुईं, न उनकी भाषा-समस्या हल हो सकती है। इसीलिए उर्दू की समस्या का हल कही है तो इसी हिन्द प्रदेश मे है जहा की जनता मे उसकी बोलचाल का रूप कायम है।

शब्द-भंडार मे आदान-प्रदान सम्भव है लेकिन लिपि मे इसकी सम्भावना बिलकुल नही है। उर्दू से अलिफ और हिन्दी से 'ई' लेकर कोई नयी लिपि नही बनायी जा सकती। रोमन लिपि का सवाल नही है। हम अपनी लिपि छोड़कर रोमन लिपि न अपनायेंगे। यदि रोमन लिपि कोई बहुत पूर्ण और वैज्ञानिक लिपि होती तो उस पर विचार भी किया जाता। हिन्दी-उर्दू के लिपि-भेद को दूर करने के लिए रोमन लिपि को अपनाना वैसे ही है जैसे हिन्दी-तमिल, मराठी-गुजराती या बंगला-असमिया के झगड़ो को दूर करने के लिए अंग्रेजी को यहा राजभाषा बनाये रखना। उर्दू-लिपि के व्यवहार के लिए पूर्ण स्वाधीनता देते हुए प्रगतिशील विचारको को चाहिए कि उर्दू-भाषियो को देवनागरी लिपि सिखाये। देवनागरी लिपि मे उर्दू की जितनी किताबें छप रही हैं, उन्हे देखते हुए यह अनुमान होता है कि आगे चलकर देवनागरी लिपि मे ही "उर्दू" के लेखकों की रचनाएं छपेंगी। साक्षरता-प्रसार के साथ और दक्षिण में हिन्दी-प्रचार के साथ हिन्दी पुस्तको के लिए एक बहुत बड़ा बाजार तैयार हो गया है। यह नामुमकिन है कि उर्दू के होशियार पंजाबी लेखक इस स्थिति से फायदा न उठायें। सीधी मुनाफे की बात है। उर्दू में किताब छपेगी, कम बिकेगी; हिन्दी में छपेगी, ज्यादा बिकेगी। यह एक तरह का आर्थिक दबाव है जिससे देवनागरी लिपि को उर्दू लेखक अपनायेंगे। प्रेमचंद साम्प्रदायिकता से बहुत दूर थे। हिन्दी-उर्दू दोनों में लिखते थे। उनके बारे में कहा जाता है कि वे उर्दू से हिन्दी में "आये"। इसका कारण उन्होंने १९१५ के एक पत्र में लिखा था, "अब हिन्दी लिखने की मश्क भी कर रहा हूं। उर्दू में अब गुजर नहीं। मालूम होता है, बालमुकुन्द गुप्त मरहूम की तरह मैं भी हिन्दी लिखने में जिन्दगी सर्फ कर दूंगा।" १९२९ में उन्होंने लिखा था, "उर्दू में कोई पुरसाने हाल (पूछने वाला) तो है ही नहीं। दो नाविलों के तर्जुमे [illegible] पंजाब को दिए। अभी कुछ तय नहीं हुआ।" इन पत्रों को उद्धृत करने के बाद भी हंसराज रहबर ने "प्रेमचंद : जीवन और कृतित्व" में लिखा है, "मानो उर्दू [illegible] वर्ष बाद तक पुस्तकें छपवाना चाहते थे। 'सेवा सदन' प्रकाशित होने के छह-सात

साल बाद इसका उर्दू संस्करण 'बाजारे-हुस्न' इसी दारुल-अशाअत पंजाब, लाहौर से प्रकाशित हुआ था।" इस तरह का आर्थिक दबाव प्रेमचंद के समय कम था; आज बहुत ज्यादा हो गया है। इसलिए भी उर्दू लेखक हिन्दी लिपि अपनायेंगे।

कुछ लोगों की धारणा है कि पाकिस्तान उर्दू के कारण बना है। यह धारणा बिलकुल गलत है। बंगाल का एक हिस्सा देश से अलग हुआ, लेकिन वहां के लोग उर्दू नहीं अपनी भाषा का विकास चाहते है। उर्दू मे एक प्रगतिशील धारा रही है और उनके लेखक उर्दू-भाषियों मे, विशेषकर मुस्लिम समाज में राष्ट्रीयता और प्रगतिशील विचारधारा का प्रचार करते रहे है। १८५७ मे उर्दू के बहुत से अखबार निकलते थ। इन्ही मे अजीमुल्ला का "पयामे आजादी" था। ये अधिकांश पत्र देश की स्वाधीनता के समर्थक थे। बालमुकुन्द गुप्त ने लिखा है कि मुहम्मद हुसेन आजाद के पिता मुहम्मद बाकर "उर्दू अखबार" निकालते थे। "कहा जाता है कि उस अखबार मे अंग्रेजो के खिलाफ बहुत मफामीन निकलते थे। गदर के वक्त भी वह जारी था। इससे भी अंग्रेज इनसे नाराज थे। इसी नाराजी के सबब इनकी जान गयी। 'उर्दू अखबार' का एक-एक नम्बर तलाश कराके अंग्रेजो ने जलवा दिया।" आगे चलकर दयानारायण निगम के पत्र 'जमाना' मे बालमुकुन्द गुप्त और प्रेमचंद दोनो लिखते थे। हाली ने उर्दू मे दरबारी परम्परा का विरोध किया था और समाज-सुधार सम्बधी साहित्य रचने पर जोर दिया था। अकबर इलाहाबादी बहुत सफल व्यंग्यकार थे और उनके शेर हिन्दी पाठकों मे खूब लोकप्रिय हुए हैं। इकबाल ने देशभक्तिपूर्ण रचनाएं की लेकिन बाद मे साम्प्रदायिकता के प्रमुख प्रचारक बने। हसरत मोहानी पूर्ण स्वराज्य के समर्थक थे और अपने विचारों के लिए अनेक बार जेल गये। जिगर मे रूमानी गेयता खूब है, साथ ही उन्होंने सामाजिक विषयो पर—जैसे हिन्दू-मुस्लिम दंगो पर—प्रभावशाली रचनाएं की है। जोश ने बहुत इन्कलाबी कविताएं लिखी है लेकिन उनमे उफान और झाग ज्यादा, गहराई कम है। रघुपति सहाय फिराक ने उर्दू मे राष्ट्रीय, अन्तरराष्ट्रीय, रूमानी और बेजान हर तरह की कविताएं की हैं। वह हिन्दी मे भी लिखते हैं यद्यपि उद्देश्य हिन्दी वालो को गाली देना रहता है। प्रेमचंद हिन्दी-उर्दू दोनों मे लिखते थे। सागर निजामी ने राष्ट्रीय कविताएं ही नहीं लिखीं, अपनी रचनाओं में हिन्दी के काफी शब्दो का प्रयोग भी किया है। मजाज मे लिरिक कवि की श्रेष्ठ प्रतिभा थी और वह प्रगतिशील आन्दोलन को आगे बढ़ाने वालो मे थे। मखदूम मुहीउद्दीन, अली सरदार जाफरी, कैफी, मजरूह सुल्तानपुरी आदि कवि जन-आन्दोलनों के साथ रहे है और इसके लिए जेल-यात्राएं कर चुके है। पाकिस्तान की सरकार फैज जैसे कवियों को जेल मे डालकर अपने उर्दू-प्रेम का परिचय दे चुकी है।

ही मसुविधा है। इसमें जरा भी सन्देह न होना चाहिए कि सिन्ध
पूर्वी बगाल आदि प्रदेशों की जनता अपनी भाषाओं की रक्षा करे
उन्हीं के माध्यम से अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नति करेगी।
यदि कोई यह सोचे कि पाकिस्तान उर्दू की रक्षा करेगा, तो यह उ
है। पाकिस्तान बनने से उत्तर प्रदेश के मुसलमानों की न सामाजिक
हल हुई, न उनकी भाषा-समस्या हल हो सकती है। इसीलिए उर्दू की
का हल कहीं है तो इसी हिन्द प्रदेश में है जहा की जनता में उसकी
का रूप कायम है।

शब्द-भडार में आदान-प्रदान सम्भव है लेकिन लिपि में इसकी स
बिलकुल नही है। उर्दू से अलिफ और हिन्दी से 'ई' लेकर कोई नयी लि
बनायी जा सकती। रोमन लिपि का सवाल नही है। हम अपनी लिपि
रोमन लिपि न अपनायेंगे। यदि रोमन लिपि कोई बहुत पूर्ण और
लिपि होती तो उस पर विचार भी किया जाता। हिन्दी-उर्दू के लिपि-
दूर करने के लिए रोमन लिपि को अपनाना वैसे ही है जैसे हिन्दी
मराठी-गुजराती या बगला-असमिया के झगडो को दूर करने के लिए अं
यहा राजभाषा बनाये रखना। उर्दू-लिपि के व्यवहार के लिए पूर्ण स्व
देते हुए प्रगतिशील विचारकों को चाहिए कि उर्दू-भाषियो को देवनागरी
सिखायें। देवनागरी लिपि में उर्दू की जितनी किताबें छप रही हैं, उन्हें
हुए यह अनुमान होता है कि आगे चलकर देवनागरी लिपि में ही "उ
लेखको की रचनाए छपेगी। साक्षरता-प्रसार के साथ और दक्षिण में
प्रचार के साथ हिन्दी पुस्तको के लिए एक बहुत बडा बाजार तैयार ह
है। यह नामुमकिन है कि उर्दू के होशियार पंजाबी लेखक इस स्थिति से
न उठाये। सीधी मुनाफे की बात है। उर्दू में किताब छपेगी, कम बिकेगी,
में छपेगी, ज्यादा बिकेगी। यह एक तरह का आर्थिक दबाव है जिससे देव
लिपि को उर्दू लेखक अपनायेंगे। प्रेमचद साम्प्रदायिकता से बहुत द
हिन्दी-उर्दू दोनो में लिखते थे। उनके बारे में कहा जाता है कि वे उर्दू से
में "आये"। इसका कारण उन्होने १९१५ के एक पत्र में लिखा था,
हिन्दी लिखने की मश्क भी कर रहा हू। उर्दू में अब गजर नही। मालू
है, बालमुकुन्द गुप्त मरहूम की तरह मैं भी ...
दूगा।" १९२६ में उन्होने लिखा था,
तो है ही नही। दो नाविलो
कुछ तय नही
"प्रेमचद :
खर्च करके

[illegible]

गैरों कुचली जनताओं के शोर मे धरती गूंज उठी है।
दुनिया के इन्कलाब-नगर में हक की दहनी गूंज उठी है।

देखो अपनी भोर रही है दर्द करेरे हार रहो है।
कष्ट की ज्वाला फूट पड़ी है जलता है थोरा जग फको है।
पंख लगे हैं काल के देरे थामो अपने मुर्दे करेरे।
तुम हो जन-जनता के सैनिक पाप के नाशक सत्य के रक्षक।
भूख के मारो जुल्म के पाले कामो कुटियाओं के उजाले।

फ़िराक़ : वो चैन है इस मे कि बिजली लहराये।
वो रस आवाज़ मे कि अमृत ललचाये।
रफ्तार में वो मधक पवन-रस बल खाये।
गेसुओं में वो महक कि बादल मंडलाये।

संयोग वियोग की कहानी न उठा।
पानी में भीगते कंवल को देखा।
बीती होंगी सुहाग रातें कितनी,
लेकिन है आज तक कंवारा नाता।

सामाजिक जीवन की परिस्थितियां हिन्दी-उर्दू को बराबर एक-दूसरे के नजदीक लाती रही है। सिनेमा और रगमच के लिए लिखने वाले शुद्ध हिन्दी-उर्दू का खयाल रखें तो उनकी रचनाएं असफल हों। किसानों और मजदूरों मे राजनीतिक काम करने वालों को मजबूरन ऐसी सरल भाषा का प्रयोग करना पड़ता है जिसे हिन्दू-मुसलमान दोनों समझें। जन-आन्दोलन की एकता हिन्दी-उर्दू के रूपों पर बराबर असर डाल रही है, और इसीलिए हमें यह दृढ़ विश्वास है कि ये दोनों रूप अपने अच्छे से अच्छे तत्वों से एक ही साहित्यिक भाषा के विकास में सहायता करेंगे। आज जो अलगाव की भावनाएं है, उनका सामाजिक आधार तेज़ी से नष्ट हो रहा है, एकता का विशाल सामाजिक आधार दिन पर दिन शक्तिशाली बन रहा है। देवनागरी लिपि में उर्दू का जो साहित्य छपा है और उर्दू में हिन्दी कवियों और हिन्दी साहित्य के बारे में जो पुस्तकें और लेख निकले हैं, उनसे आपस के भ्रम काफी दूर हुए हैं। इस वातावरण में बोलचाल की भाषा के एक ही साहित्यिक रूप के विकसित होने के लिए बहुत बड़ी संभावना है। अभी जो शक्ति दो रूपों में बिखरी हुई है, वह जब केन्द्रित होकर एक सामान्य रूप को सँवारेगी, तब हिन्दुस्तानी जाति का सहित्य सारे देश को चमत्कृत करेगा।

वामिक जौनपुरी, जाँनिसार अख्तर, साहिर लुधियानवी आदि कवि और कृश्नचंदर, राजेन्द्र सिंह बेदी जैसे कहानी-लेखक, सैयद एहतिशाम हुसैन जैसे आलोचक उर्दू साहित्य को साम्प्रदायिकता और दरबारी परम्परा से बहुत आगे खींच लाये हैं। इस सब विकास को न देखना और यह कहना कि उर्दू के कारण पाकिस्तान बना है, तिल का ताड़ बनाना है। विचारधारा में बहुत बड़ी समानता होने से यह सम्भावना पैदा होती है कि उर्दू-हिन्दी की समस्या नहीं तो कम से निकट भविष्य में सुलझेगी।

यह स्वाभाविक है कि आधुनिक उर्दू लेखकों की रचनाओं में बहुत हिन्दी शब्द आवें। आखिर जनता में तो भाषा का बंटवारा है नहीं। पाकिस्तान रेडियो से गीत सुनिए। ढाका की बात छोड़िए। लाहौर और रावलपिंडी सुननेवालों की फर्माइश पर हिन्दी गीत सुनाये जाते हैं। कुछ आधुनिक कवियों की हिन्दी के नमूने देखिए:

मजरूह:

मदद मांगी हमारी बेबसी ने धरती माता की।
दुहाई दी हमारी बेकसी ने जग के दाता की।
मगर सोया हुआ है जग का दाता देखते जाओ।
जहां वालो! इसे कहते हैं दुनिया देखते जाओ।

मखदूम:

जाने वाले सिपाही से पूछो
वो कहां जा रहा है?
कौन दुखिया है जो गा रही है,
भूखे बच्चों को बहला रही है,
लाश जलने की बू आ रही है,
जिन्दगी है कि चिल्ला रही है,
जाने वाले सिपाही से पूछो
वो कहां जा रहा है?

* * *

रात-रात भर जाग-जाग कर किसको गीत सुनाते हो?
चुप-चुप रहकर झिलमिल-झिलमिल किस भाषा में गाते हो?
जाओ जाओ छुप जाओ सितारो, जाओ तुम छुप जाओ जाओ।
झूम झूम कर गरज गरज कर बादल बन कर छाना है।
धरती के प्यासे होंठों में अमृत-रस बरसाना है।
जाओ जाओ छुप जाओ सितारो, जाओ जाओ तुम छुप जाओ।

जाति की यह एकता सदा सुरक्षित रही है। छह सौ साल तक फारसी और उसके बाद आज तक अंग्रेजी के राजभाषा रहने पर भी यह एकता टूट नहीं पायी, न हमारी भाषा का नाश हुआ। ईरानी संस्कृति के प्रभाव और फारसी के राजभाषा रहने से सामन्तवाद के पतनकाल में बोलचाल की भाषा के आधार पर अरबी-फारसी शब्दावली को प्रधानता देने वाले रूप का विकास हुआ। इसका सामाजिक आधार संकुचित था, फिर भी उसमें बोलचाल की भाषा का आधार बराबर बना हुआ था। अंग्रेज़ों ने इस भेदभाव को बढ़ाया। हिन्दी-उर्दू के जागरूक लेखकों ने भाषा के दोनों साहित्यिक रूपों में राष्ट्रीय और जनवादी विचारधारा और भावनाओं को ही न झलकाया, बल्कि दोनों रूपों को निकट लाने का भी प्रयास किया।

उर्दू का सबल पक्ष यह है कि उसमें बोलचाल की हिन्दी का साफ़-सुथरा रचा हुआ रूप मिलता है। उसकी कमज़ोरी यह है कि वह पारिभाषिक —या उच्च सांस्कृतिक—शब्दावली अरबी-फारसी से लेती है, हिन्दी-संस्कृत शब्दों को त्याज्य समझती है, इसके सिवा लिपि-भेद के कारण वह हिन्दुस्तानी जाति के पढ़े-लिखे लोगों में अल्पसंख्यक जनता तक ही पहुंच पाती है। इन दोनों को निकट लानेवाला कारण आर्थिक और सामाजिक है: एक बड़े बाजार का निर्माण, देवनागरी लिपि में छपी किताबों की ज्यादा बिक्री, जनता की ग़रीबी दूर करके और समाजवादी निर्माण के लिए उसकी एकता, शिक्षा और संगठन की आवश्यकता, सिनेमा, रेडियो और रंगमंच से सरल सामान्य भाषा का प्रचार। उर्दू मिटायी नहीं जा सकती क्योंकि न वह अरबी है, न फ़ारसी; उसमें हिन्दी की बहुत बड़ी सम्पत्ति है। वह ज्यों की त्यों न रहेगी क्योंकि उसने अरबी-फारसी का ग़लत पक्षपात किया है और भारतीय भाषाओं की विकास-धारा से दूर रही है। आधुनिक हिन्दी को भी उर्दू से बहुत कुछ लेना है, बाल-मुकुन्द और प्रेमचन्द की हिन्दी की तरह अपने को सरल-सुबोध और मुहावरेदार बनाना है, प्रयोग और मुहावरों में स्थिरता लाना है। दोनों लिपियों के घुलने-मिलने का प्रश्न नहीं है। लिपि एक होगी — देवनागरी। एक लिपि के माध्यम से जितना ही उर्दू लेखक जनता तक अपनी रचनाएं पहुंचायेंगे, उतना ही वे स्वयं जनता से सीखेंगे, हिन्दी लेखकों को सरल मुहावरेदार भाषा लिखने की प्रेरणा देंगे, और जनता को यह फ़ैसला करने का मौका मिलेगा कि साहित्यिक भाषा में कौन से शब्द रहने चाहिए और कौन से ख़ारिज होने चाहिए। हिन्दी लिपि में प्रकाशित उर्दू कविताएं, उर्दू में हिन्दी साहित्य की चर्चा, सिनेमा और रंगमंच से एक ही सामान्य भाषा में कलाकृतियों का प्रस्तुत होना सिद्ध करता है कि ऊपर की स्थापनाएं सही हैं, देश के लिए हितकर हैं और लोग उन पर अमल भी कर रहे हैं।

अंग्रेजी राज की भेद-नीति ग्रियर्सन की रचनाओं में देखिए। उसके विपरीत एकता में दृढ़ विश्वास, दोनों रूपों के मिलने और सामान्य जनता के साहित्य की प्रगति में विश्वास पद्मसिंह शर्मा के इन शब्दों में देखिए :

"हमारी हिन्दी भाषा एक थी और एक है; पर हिन्दी और उर्दू के नामभेद से उसके दो जुदा-जुदा रूप माने जाने लगे। उसके उपासकों ने, अपनी-अपनी रुचि और संस्कृति के अनुसार, उसकी विभिन्न आकार-प्रकार की दो मूर्तियां बना कर खड़ी कर दी हैं। भाषा देश को एकता के सूत्र में बांधने का—जातीयता का—कारण होती है; लेकिन दुर्भाग्य से यहां उल्टी बात हो रही है। . उर्दू हिन्दुस्तान की भाषा है, इसकी प्रवृत्ति हिन्दी है, इसलिए उसका (में) अनार्य (सामी) भाषा के शब्दों की अधिकता खटकने वाली बात है। भारत में संस्कृतमूलक शब्द जितनी सुगमता से समझे जा सकते हैं, उतने अरबी या तुर्की के शब्द नहीं। उनका उच्चारण और आशय हिन्दुस्तानियों के लिए अग्राह्य और अस्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त इससे एक लाभ यह भी होगा कि हिन्दी और उर्दू का बढ़ता हुआ भेद मिट जायगा केवल इतना ही नहीं, बल्कि भारत की अन्य समृद्ध प्रान्तीय भाषाओं के साथ भी उर्दू की घनिष्ठता स्थापित हो जायगी, क्योंकि बंगला, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं में भी वैज्ञानिक परिभाषाएं संस्कृत से ही ग्रहण की गयी हैं और की जा रही हैं, जिनका प्रचार वहां शिक्षित समुदाय और सर्व-साधारण में अच्छी तरह हो गया है। उर्दू में परिभाषाएं अरबी से ही ली जायं, यह साहित्यिक दृष्टि से ही नहीं भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी श्रेयस्कर नहीं है। जिस भाषा और रीति से हिन्दी में परिभाषाओं का निर्माण हुआ है, वही रीति उर्दू में भी ग्राह्य होनी चाहिए। जब उर्दू और हिन्दी एक ही हैं, तो यह परिभाषा-भेद की एक नयी भीत इन दोनों के बीच में खड़ी करना किसी प्रकार भी वाछनीय नहीं कहा जा सकता। .. यदि हिन्दी-उर्दू दोनों संयुक्त परिवार की दशा में आ जायं, तो फिर इनकी साहित्य-सम्पत्ति का संसार की कोई भाषा मुकाबिला न कर सके।"

स्तालिन की यह स्थापना सही है कि एक जाति की दो भाषाएं नहीं होतीं यद्यपि दो जातियों की एक ही भाषा हो सकती है। अंग्रेजी भाषा ब्रिटिश और अमरीकी जातियों की भाषा है। अमरीकी नीग्रो अमरीकी जाति का हिस्सा हैं; उनकी अलग भाषा नहीं है। यूरोप के यहूदी जिस देश में रहते हैं वहीं की भाषा बोलते हैं। धर्म के आधार पर भाषाओं का वर्गीकरण नहीं होता। ईसाई धर्म, इस्लाम, बौद्ध धर्म, हिन्दू धर्म—इनमें प्रत्येक धर्म के अनुयायी एक से अधिक भाषा-परिवारों की भाषाएं बोलते हैं। जातीय एकता की कसौटी बोलचाल की भाषा है, साहित्य की विशेष शैलियां नहीं। हिन्दुस्तानी

यानी की यह एकता सदा सुरक्षित रही है। छह सौ साल तक फारसी और उसके बाद आज तक अंग्रेजी के राजभाषा रहने पर भी यह एकता टूट नही पायी, न हमारी भाषा का नाश हुआ। ईरानी संस्कृति के प्रभाव और फारसी के राजभाषा रहने से सामन्तवाद के पतनकाल मे बोलचाल की भाषा के आधार पर अरबी-फारसी शब्दावली को प्रधानता देने वाले रूप का विकास हुआ। इसका सामाजिक आधार सकुचित था, फिर भी उसमे बोलचाल की भाषा का आधार बराबर बना हुआ था। अंग्रेजो ने इस भेदभाव को बढ़ाया। हिन्दी-उर्दू के जागरूक लेखको ने भाषा के दोनो साहित्यिक रूपो मे राष्ट्रीय और जनवादी विचारधारा और भावनाओ को ही न झलकाया, बल्कि दोनो रूपो को निकट लाने का भी प्रयास किया।

उर्दू का सबल पक्ष यह है कि उसमे बोलचाल की हिन्दी का साफ-सुथरा रचा हुआ रूप मिलता है। उसकी कमजोरी यह है कि वह पारिभाषिक —या उच्च सास्कृतिक — शब्दावली अरबी-फारसी से लेती है, हिन्दी-सस्कृत शब्दो को त्याज्य समझती है, इसके सिवा लिपि-भेद के कारण वह हिन्दुस्तानी जाति के पढ़े-लिखे लोगो मे अल्पसख्यक जनता तक ही पहुच पाती है। इन दोनो को निकट लानेवाला कारण आर्थिक और सामाजिक है एक बड़े बाजार का निर्माण, देवनागरी लिपि मे छपी किताबो की ज्यादा बिक्री, जनता की गरीबी दूर करके और समाजवादी निर्माण के लिए उसकी एकता, शिक्षा और सगठन की आवश्यकता, सिनेमा, रेडियो और रगमच से सरल सामान्य भाषा का प्रचार। उर्दू मिटायी नही जा सकती क्योकि न वह अरबी है, न फ़ारसी; उसमे हिन्दी की बहुत बडी सम्पत्ति है। वह ज्यो की त्यो न रहेगी क्योकि उसने अरबी-फारसी का ग़लत पक्षपात किया है और भारतीय भाषाओं की विकास-धारा से दूर रही है। आधुनिक हिन्दी को भी उर्दू से बहुत कुछ लेना है, बाल-मुकुन्द और प्रेमचन्द की हिन्दी की तरह अपने को सरल-सुबोध और मुहावरेदार बनाना है, प्रयोग और मुहावरो मे स्थिरता लाना है। दोनो लिपियो के घुलने-मिलने का प्रश्न नही है। लिपि एक होगी — देवनागरी। एक लिपि के माध्यम से जितना ही उर्दू लेखक जनता तक अपनी रचनाए पहुचायेगे, उतना ही वे स्वय जनता से सीखेंगे, हिन्दी लेखको को सरल मुहावरेदार भाषा लिखने की प्रेरणा देंगे, और जनता को यह फैसला करने का मौका मिलेगा कि साहित्यिक भाषा मे कौन से शब्द रहने चाहिए और कौन से खारिज होने चाहिए। हिन्दी लिपि मे प्रकाशित उर्दू कविताए, उर्दू मे हिन्दी साहित्य की चर्चा, सिनेमा और रगमच से एक ही सामान्य भाषा मे कलाकृतियो का प्रस्तुत होना सिद्ध करता है कि ऊपर की स्थापनाए सही हैं, देश के लिए हितकर हैं और लोग उन पर अमल भी कर रहे हैं।

अंग्रेजी राज की भेद-नीति ग्रियर्सन की रचनाओं में देखिए। उ
[प]रीत एकता में दृढ़ विश्वास, दोनों रूपों के मिलने और सामान्य जनत
[स]ाहित्य की प्रगति में विश्वास पद्मसिंह शर्मा के इन शब्दों में देखिए :

"हमारी हिन्दी भाषा एक थी और एक है; पर हिन्दी और उ
नामभेद से उसके दो जुदा-जुदा रूप माने जाने लगे। उसके उपासकों ने,
-अपनी रुचि और संस्कृति के अनुसार, उसकी विभिन्न आकार-प्रकार की दो
मूर्तियां बना कर खड़ी कर दी हैं। भाषा देश को एकता के सूत्र में बांधने का
— जातीयता का — कारण होती है, लेकिन दुर्भाग्य से यहां उल्टी बात हो
रही है। .. उर्दू हिन्दुस्तान की भाषा है, इसकी प्रवृत्ति हिन्दी है, इसलिए
उसका (मे) अनार्य (सामी) भाषा के शब्दों की अधिकता खटकने वाली
बात है। भारत में संस्कृतमूलक शब्द जितनी सुगमता से समझे जा सकते
हैं, उतने अरबी या तुर्की के शब्द नहीं। उनका उच्चारण और आशय हिन्दु-
स्तानियों के लिए अग्राह्य और अस्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त इससे एक
लाभ यह भी होगा कि हिन्दी और उर्दू का बढ़ता हुआ भेद मिट जायगा।
केवल इतना ही नहीं, बल्कि भारत की अन्य समृद्ध प्रान्तीय भाषाओं के साथ
भी उर्दू की घनिष्टता स्थापित हो जायगी, क्योंकि बंगला, मराठी, गुजराती
आदि भाषाओं में भी वैज्ञानिक परिभाषाएं संस्कृत से ही ग्रहण की गयी हैं और
की जा रही हैं, जिनका प्रचार वहां शिक्षित समुदाय और सर्व-साधारण में
अच्छी तरह हो गया है। उर्दू में परिभाषाएं अरबी से ही ली जायं, यह
साहित्यिक दृष्टि से ही नहीं भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी श्रेयस्कर नहीं है।
जिस भाषा और रीति से हिन्दी में परिभाषाओं का निर्माण हुआ है, वही री[ति]
उर्दू में भी ग्राह्य होनी चाहिए। जब उर्दू और हिन्दी एक ही हैं, तो इ[न]
परिभाषा-भेद की एक नयी भीत इन दोनों के बीच में खड़ी करना किसी प्रक[ार]
भी वांछनीय नहीं कहा जा सकता। ... यदि हिन्दी-उर्दू दोनों संयुक्त परि[वार]
की दशा में आ जाय, तो फिर इनकी साहित्य-सम्पत्ति का संसार की कोई भ[ाषा]
मुकाबिला न कर सके।"

स्तालिन की यह स्थापना सही है कि एक जाति की दो भाषाएं नहीं
होतीं यद्यपि दो जातियों की एक ही भाषा हो सकती है। अंग्रेजी भाषा ब्रिटिश
और अमरीकी जातियों की भाषा है। अमरीकी नीग्रो अमरीकी जाति का
हिस्सा हैं; उनकी अलग भाषा नहीं है। यूरोप के यहूदी जिस देश में रहते हैं,
वहीं की भाषा बोलते हैं। धर्म के आधार पर भाषाओं का वर्गीकरण नहीं
होता। ईसाई धर्म, इस्लाम, बौद्ध धर्म, हिन्दू धर्म — इनमें प्रत्येक धर्म के
अनुयायी एक से अधिक भाषा-परिवारों की भाषाएं बोलते हैं। जातीय एकता की
कसौटी बोलचाल की भाषा है, साहित्य की विशेष शैलियां नहीं। हिन्दुस्तानी

चौदहवां अध्याय

बोलचाल की भाषा

हिन्दी-उर्दू दो भाषाएं नहीं हैं क्योंकि उनका व्याकरण एक है, उनक शब्द-भंडार एक है। भोजपुरी और हिन्दी का व्याकरण एक नहीं है; भोजपुरी और हिन्दी के व्याकरण में भी काफी भिन्नता है। इन अवधी, बुंदेलखंडी, मैथिली के व्याकरण में भी काफी भिन्नता है। इन की बोलियां कहा जाय या हिन्दी से स्वतंत्र भाषा माना जाय ?

भाषा-सम्बन्धी समस्याओं को समझने के लिए भाषा और अन्तर करना आवश्यक है। जो लोग आर्य या द्रविड़ परिवार की भा किसी आदि आर्य या द्रविड भाषा से उत्पन्न मानते हैं, वे इन पुत्रियों के और उनकी जननी को भाषा कहते हैं। यह व्याख्या गलत है क्यों... कोई प्रमाण नहीं है कि किसी परिवार की भाषाएं किसी आदि भाषा से उत्पन्न हुई हैं। कुछ लोग समझते हैं कि कोई मूल भाषा अपने क्षेत्र से बाहर जब विशाल प्रदेश में फैलती है, तब उसमें स्थानीय भेद उत्पन्न हो जाते हैं जैसे अपभ्रंश सारे उत्तर भारत में फैल गयी और उसके स्थानीय भेदों से आधुनिक भाषाओं का जन्म हुआ। अपभ्रंश का उदाहरण गलत है, क्योंकि भारत की आधुनिक भाषाओं के व्याकरण-रूप उसमें मिलते नहीं हैं। लेकिन जर्मन-भाषी ऐंगल और सैक्सन जन इंग्लैंड पहुंचे और वहां अंग्रेजी का विकास हुआ। क्या हम अंग्रेजी को जर्मन भाषा की बोली कहें ? ऐसा कहना गलत होगा क्योंकि ऐंगल और सैक्सन जनों की कोई परिनिष्ठित जर्मन भाषा न थी। वास्तव में परिनिष्ठित भाषा के रूप में अंग्रेजी जर्मन के पीछे विकसित नहीं हुई। कुछ लोग बोली की यह व्याख्या करते हैं कि जो कुछ टकसाली भाषा के स्तर से गिरा हुआ हो, वह बोली है। जैसे अंग्रेजी में टकसाली प्रयोग है: "आई हैव नन" (I have none)। इसे कोई कहे "आ हाए नैन" (a hae nane)—तो इसे बोली कहा जायगा।[1] इस उदाहरण में व्याकरण और शब्द-भंडार एक

---

1. ब्लूमफील्ड।

पर वह नहीं हुआ। सोवियत दागिस्तान में बोलियों की भरमार थी। उनमें से कुछ बोलियों के आधार पर भाषाओं के विकास का आयोजन किया गया अर्थात् सोवियत व्यवस्था में जातीय गठन की आवश्यकता उत्पन्न होने पर अनेक बोलियों के क्षेत्र में एक ही बोली के आधार पर किसी एक भाषा के प्रसार की आवश्यकता भी उत्पन्न हुई। अमरीका में रेड इंडियन जनों की बहुत सी बोलियां हैं; जब कभी इन जनों में जातियों का निर्माण होगा, तब इन बोलिये से भी भाषाएं उभर कर सामने आयेंगी।

बोलियों में ध्वनि-भेद, व्याकरण-भेद और शब्द-भंडार के भेद—ती ह के भेद होते हैं। यहां बोलियों में केवल ध्वनि-भेद होता है, वहीं व्याकरण- द मुख्य होता है, वहां दोनों भेद होते हैं। इन तीनों में मुख्य भेद है शब्द- डार का। यदि दो बोलियों का शब्द-भंडार मूलतः भिन्न है तो अन्य समान- ताओं के रहते हुए भी उनके बोलने वाले एक-दूसरे की बात न समझेंगे। कठिन उर्दू और कठिन हिन्दी का भेद ऐसा ही है। दरियाएलताफ़त में सैयद इंशा ने मिर्ज़ा जानजाना से अपनी मुलाकात का हाल लिखा है जिसका एक वाक्य पद्मसिंह शर्मा ने उद्धृत किया है: "इब्तदाए मिन सवासे ता अवायले-रीआन और अवायले रीआव से अलल-आन इत्तिफ़ाक़े-मिलई ताक़ तक़बील उतबए-आलिये न वहद था कि सिलके-तहरीरो-तक़रीर में मुन्तज़िम हो सके, लिहाज़ा बेवास्ता ओ तसीला हाज़िर हुआ हूं।" यह न अरबी है, न फ़ारसी क्योंकि व्याकरण रूप, और विभक्ति चिन्ह हिन्दी के हैं। न यह हिन्दी है क्योंकि शब्द-भंडार सब अहिन्दी हैं। पद्मसिंह शर्मा तक ने लिखा है कि इसमें "क्रिया और कारक के दो-एक शब्दों ('से' 'में' और 'हुआ हूं') को छोड़ कर हमारी तो समझ में कुछ आया नहीं।" इसे हिन्दी की बोली कहेंगे क्योंकि बुनियादी ढांचा हिन्दी का है। दो बोलियों में ध्वनि-भेद हो सकता है लेकिन ध्वनि-भेद होने से ही दो बोलियों की पृथक् सत्ता स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। बनारस और पटना की तरफ़ लोग पहले को पहिले कहते हैं, "कहना" जैसे शब्द में 'क' का उच्चारण वह शुद्ध 'अ' के समान करते हैं; पछांह के लोग पहिले को पहले, कुछ क्षेत्रों में 'ह' का प्रायः लोप हो जाता है, पहले का नया रूप बनता है पैले; कहना बोला जाता है कैहना के समान। आगरे में "क्या कही" सुनने में लगता है "क्या कई"। लेकिन पहले, और कहना शब्दों का द्विविध उच्चारण करने वालों को हम दो बोलियां बोलने वाला न कहेंगे।

भाषा और बोली एक ही परिवार की हो सकती है, और दो परिवा की भी। ब्रिटेन में वेल्श और गेलिक जर्मन परिवार की भाषाएं नहीं हैं; अंग्रे केल्टिक परिवार की भाषा नहीं है। अब ब्रिटिश जाति की "भाषा" है अंग्रे

वेल्श और गेलिक को बोली का दर्जा ही मिला है। कुछ लोगों का विचार है कि खड़ी बोली का सम्बंध जितना पंजाबी से है, ब्रज का जितना सम्बंध राजस्थानी और गुजराती से है, मैथिल का जितना सम्बंध बंगला से है, उतना आपस में एक-दूसरे से नहीं है। यह बात सही भी हो तो खड़ी बोली को पंजाबी की बोली, ब्रज को गुजराती की बोली और मैथिल को बंगला की बोली न कहा जायगा। किसी समय असमिया और उड़िया को बंगला की बोली कहा जाता था किन्तु अब वे स्वतंत्र भाषाएं मानी जाती हैं। जातीय विकास के प्रवाह में अक्सर वही लोग शामिल होते हैं जो भाषा और संस्कृति में एक दूसरे के निकट होते हैं। लेकिन यह नियम अटल नहीं है। जातीय भाषा का क्षेत्र सदा बोलियों के व्याकरण-रूपों का ध्यान रखकर नहीं बनता। उसके अन्य ऐतिहासिक कारण भी होते हैं।

यह संभव था कि मैथिल और भोजपुरी स्वतंत्र भाषाएं होतीं या बंगला की बोलियां कहलातीं लेकिन ग्रियर्सन के शब्दों में "बिहार का सूबा राजनीतिक रूप से शताब्दियों तक बंगाल की अपेक्षा उस प्रान्त से अधिक सम्बद्ध रहा है जिसे आगरा और अवध का संयुक्त प्रान्त कहते हैं। रामायण के संस्कृत महाकाव्य की रचना के समय से ही अयोध्या (वर्तमान अवध) के राजा रामचन्द्र के बारे में कहा जाता था कि वह अपनी वधू सीता को मिथिला अर्थात् वर्तमान उत्तरी बिहार से लाये थे। बिहारी का मुंह उत्तर-पश्चिम की तरफ ही रहता है। बंगाल से उसे विरोधी आक्रमणों का ही अनुभव हुआ है। इन कारणों से अक्सर बिहार की भाषा को हिन्दी का ही एक रूप समझा गया है।"[1] यद्यपि बिहार-निवासियों का घनिष्ठ सम्पर्क उत्तर प्रदेश से रहा है, फिर भी ग्रियर्सन की निगाह में यह सम्पर्क काफी न था और बिहार की बोलियां हिन्दी की अपेक्षा बंगला के अधिक निकट हैं।

डॉ. उदयनारायण तिवारी ने बिहार-निवासियों और अन्य हिन्दी-भाषियों के आपसी सम्बंध पर यह मत प्रकट किया है "वस्तुतः ऐतिहासिक दृष्टि से बिहारी भाषा बोलने वालों का सम्बंध उत्तर प्रदेश से ही अधिक है। समय समय पर उत्तर प्रदेश की विभिन्न जातियां ही बिहार में जाकर बस गयीं और बिहारी भाषा-भाषी बन गयीं। विवाहादि सम्बंध में भी बिहार का सम्बंध बंगाल की अपेक्षा उत्तर प्रदेश से ही अधिक रहा। उत्तर प्रदेश की ब्रजभाषा का, मध्य युग में, बिहार में पर्याप्त आदर था और आज की नागरी हिन्दी अथवा खड़ी बोली समस्त बिहार की शिक्षा का माध्यम है।"[2] यदि भोजपुरी

---

१. लिंग्विस्टिक सर्वे, खंड १, पृष्ठ १४८।
२ भोजपुरी भाषा और साहित्य, पृष्ठ १६९।

था वह नहीं हुआ। सोवियत दागिस्तान में ... का आयोजन किया ...
कुछ बोलियों के आधार पर भाषाओं के विकास का आयोजन किया ... उत्पन्न होने पर अनेक
सोवियत व्यवस्था में जातीय गठन की आवश्यकता उत्पन्न होने पर अनेक
बोलियों के क्षेत्र में एक ही बोली के आधार पर किसी एक भाषा के प्रसार की
आवश्यकता भी उत्पन्न हुई। अमरीका में रेड इंडियन जनों की बहुत सी
बोलियां हैं; जब कभी इन जनों में जातियों का निर्माण होगा, तब इन बोलियों
में भी भाषाएं उभर कर सामने आयेंगी।

बोलियों में ध्वनि-भेद, व्याकरण-भेद और शब्द-भंडार के भेद—तीनों
तरह के भेद होते हैं। कहीं बोलियों में केवल ध्वनि-भेद होता है, कहीं व्याकरण-
भेद मुख्य होता है, कहीं दोनों भेद होते हैं। इन तीनों में मुख्य भेद है शब्द-
भंडार का। यदि दो बोलियों का शब्द-भंडार मूलतः भिन्न है तो अन्य समान-
ताओं के रहते हुए भी उनके बोलने वाले एक-दूसरे की बात न समझेंगे।
कठिन उर्दू और कठिन हिन्दी का भेद ऐसा ही है। दरियाएलताफत में सैयद
इंशा ने मिर्ज़ा जानजाना से अपनी मुलाकात का हाल लिखा है जिसका एक
वाक्य पद्मसिंह शर्मा ने उद्धृत किया है: "इब्तदाए सिन सवासे ता अवायले-
रीआन और अवायले रीआन से अलल-आन इश्तियाके-मिलई ताक तकबील
उतबए-आलिये न बहद्द था कि सिलके-तहरीरो-तकरीर में मुन्तज़िम हो सके
लिहाज़ा बेवास्ता ओ तसीला हाज़िर हुआ हूं।" यह न अरबी है, न फार
क्योंकि व्याकरण रूप, और विभक्ति चिन्ह हिन्दी के हैं। न यह हिन्दी
क्योंकि शब्द-भंडार सब अहिन्दी है। पद्मसिंह शर्मा तक ने लिखा है कि इ
"क्रिया और कारक के दो-एक शब्दों ('से' 'मैं' और 'हुआ हूं') को छो
कर हमारी तो समझ में कुछ आया नहीं।" इसे हिन्दी की बोली कहेंगे क्योंकि
बुनियादी ढांचा हिन्दी का है। दो बोलियों में ध्वनि-भेद हो सकता है लेकिन
ध्वनि-भेद होने से ही दो बोलियों की पृथक् सत्ता स्वीकार करना आवश्यक नहीं
है। बनारस और पटना की तरफ लोग पहले को पहिले कहते हैं, "कहना"
जैसे शब्द में 'क' का उच्चारण वह शुद्ध 'अ' के समान करते हैं; पछाह
के लोग पहिले को पहले, कुछ क्षेत्रों में 'ह' का प्रायः लोप हो जाता है, पहले
का नया रूप बनता है पैले; कहना बोला जाता है कैहना के समान। आगरे में
"क्या कही" सुनने में लगता है "क्या कई"। लेकिन पहले, और कहना
शब्दों का द्विविध उच्चारण करने वालों को हम दो बोलियां बोलने वाला न
कहेंगे।

भाषा और बोली एक ही परिवार की हो सकती हैं, और दो परिवा
की भी। ब्रिटेन में वेल्श और गेलिक जर्मन परिवार की भाषाएं नहीं हैं; अंग्रे
केल्टिक परिवार की भाषा नहीं है। अब ब्रिटिश जाति की "भाषा" है अंग्रे

बेंगला और मैथिल को बोली का दर्जा ही मिला है। कुछ लोगों का विचार है कि खड़ी बोली का सम्बन्ध जितना पंजाबी से है, ब्रज का जितना सम्बन्ध राजस्थानी और गुजराती से है, मैथिल का जितना सम्बन्ध बंगला से है, उतना आपस में एक-दूसरे से नहीं है। यह बात सही भी हो तो खड़ी बोली को पंजाबी की बोली, ब्रज को गुजराती की बोली और मैथिल को बंगला की बोली न कहा जायगा। किसी समय असमिया और उड़िया को बंगला की बोली कहा जाता था किन्तु अब वे स्वतंत्र भाषाएं मानी जाती हैं। जातीय विकास के प्रवाह में अक्सर वही लोग शामिल होते हैं जो भाषा और संस्कृति में एक दूसरे के निकट होते हैं। लेकिन यह नियम अटल नहीं है। जातीय भाषा का क्षेत्र सदा बोलियों के व्याकरण-रूपों का ध्यान रखकर नहीं बनता। उसके अन्य ऐतिहासिक कारण भी होते हैं।

यह संभव था कि मैथिल और भोजपुरी स्वतंत्र भाषाएं होतीं या बंगला की बोलियां कहलातीं लेकिन ग्रियर्सन के शब्दों में "बिहार का सूबा राजनीतिक रूप से शताब्दियों तक बंगाल की अपेक्षा उस प्रान्त से अधिक सम्बद्ध रहा है जिसे आगरा और अवध का संयुक्त प्रान्त कहते हैं। रामायण के संस्कृत महाकाव्य की रचना के समय से ही अयोध्या (वर्तमान अवध) के राजा रामचन्द्र के बारे में कहा जाता था कि वह अपनी वधू सीता को मिथिला अर्थात् वर्तमान उत्तरी बिहार से लाये थे। बिहारी का मुंह उत्तर-पश्चिम की तरफ ही रहता है। बंगाल से उसे विरोधी आक्रमणों का ही अनुभव हुआ है। इन कारणों से अक्सर बिहार की भाषा को हिन्दी का ही एक रूप समझा गया है।"[1] यद्यपि बिहार-निवासियों का घनिष्ठ सम्पर्क उत्तर प्रदेश से रहा है, फिर भी ग्रियर्सन की निगाह में यह सम्पर्क काफी न था और बिहार की बोलियां हिन्दी की अपेक्षा बंगला के अधिक निकट हैं।

डॉ उदयनारायण तिवारी ने बिहार-निवासियों और अन्य हिन्दी-भाषियों के आपसी सम्बन्ध पर यह मत प्रकट किया है "वस्तुत ऐतिहासिक दृष्टि से बिहारी भाषा बोलने वालों का सम्बन्ध उत्तर प्रदेश से ही अधिक है। समय-समय पर उत्तर प्रदेश की विभिन्न जातियां ही बिहार में जाकर बस गयीं और बिहारी भाषा-भाषी बन गयीं। विवाहादि सम्बन्ध से भी बिहार का सम्बन्ध बंगाल की अपेक्षा उत्तर प्रदेश से ही अधिक रहा। उत्तर प्रदेश की ब्रजभाषा का, मध्य युग में, बिहार में पर्याप्त आदर था और आज भी नागरी हिन्दी अथवा खड़ी बोली समस्त बिहार की शिक्षा का माध्यम है।"[2] यदि भोजपुरी

1. लिंग्विस्टिक सर्वे, खंड १, पृष्ठ १४८।
2. भोजपुरी भाषा और साहित्य, पृष्ठ १६९।

और हिन्दी में और कोई भाषागत सम्बध न होता, केवल ये ऐतिहासिक सम्बन्ध ही होते, तो भी सभावना यही होती कि शताब्दियो के दृढ़ सम्पर्क के कारण हिन्दी और भोजपुरी-भाषी घुल-मिल कर एक ही जाति के अंग बन जाते। लेकिन डॉ. तिवारी ग्रियर्सन के अनुयायी हैं। उनके विचार से बिहार की बोलियो का जितना सम्बध बगला से है, उतना हिन्दी से नही है। इस सम्बध को सर्व-मान्य कराने मे केवल एक कठिनाई है; न तो भोजपुरिये बगालियो को अपना भाई समझते है, न बगाली इन्हें हिन्दुस्तानियो मे अलग करके देखते हैं। बगालियो और भोजपुरियो का प्रेम-सम्बध इस प्रकार है : "सबसे अधिक भोजपुरी बगाल मे जाते है। वहा इन्हें बगाली लोग 'हिन्दुस्थानी' अथवा 'पश्चिमे' तथा कभी-कभी 'देशवाली' अथवा 'खोट्टा' भी कहते हैं। 'खोट्टा' शब्द मे स्पष्टरूप से घृणा का भाव भी आ जाता है। अधिकाश भोजपुरी बगाल तथा उसके मुख्य नगर कलकत्ते मे दरवानी अथवा छोटा-मोटा काम करके ही जीविको-पार्जन करते है। इसी कारण इनके लिए 'खोट्टा' शब्द का प्रयोग किया होगा। वस्तुतः बगाली तथा भोजपुरी, दोनो इससे अनभिज्ञ है कि उनकी भाषा एक ही मागधी भाषा से प्रसूत हुई है। शिक्षित बगाली भी इस तथ्य से अपरि-चित ही है और वे भोजपुरी को हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी के अन्तर्गत ही मानते है।"[१]

ग्रियर्सन ने बिहारी भाषा का बारबार उल्लेख किया था। बिहारी नाम की कोई भाषा नही है। यदि साधारण बिहारी जन भोजपुरी या मैथिली को किसी बिहारी भाषा की बोली न मानें तो आश्चर्य नही। डॉ. तिवारी इस बात से दुखी जान पडते है कि "इन तीनो बोलियो के बोलनेवालो को इस बात की प्रतीति भी नही होती कि उनकी बोलियां बिहारी भाषा की उपभाषाए है। इस सम्बध मे यह भी कठिनाई है कि बिहारी भाषा का कोई साहित्यिक रूप भी उपलब्ध नही है। ऐसी दशा मे इन बोलियो के बोलने वाले यदि अपनी-अपनी बोली को एक-दूसरे से पृथक मानें तो इसमे आश्चर्य ही क्या है ?"[२]

बिहारी भाषा का साहित्यिक रूप कहा से उपलब्ध हो ! पहले बिहारी भाषा का कोई बोलचाल का रूप तो हो ! भोजपुरी, मगही, मैथिली या हिन्दी के अलावा बिहारी कौन सी भाषा है ? ग्रियर्सन जैसे विद्वान् बिहारी भाषा की चर्चा करें तो करें लेकिन उत्तर भारत का निवासी भी बिहारी भाषा के अस्तित्व की कल्पना करे, यह महान् आश्चर्य की बात है।

---

१. भोजपुरी भाषा और साहित्य, पृष्ठ ७।
२. उप., पृष्ठ ३।

ग्रियर्सन ने यह मत प्रतिपादित किया था कि बिहारी भाषा बगला की सगी बहन है। "यद्यपि बिहारी लोग बगाल की हर चीज को शत्रु भाव से देखते है, फिर भी उनकी भाषा बगाली की बहन है, पछाह की भाषा से उसका सम्बध दूर का है।" ग्रियर्सन ने उसे बगला और उडिया के साथ मागधी अपभ्रश की पुत्री माना था। ग्रियर्सन ने लिखा है कि बिहारी भाषा मागधी के मूल क्षेत्र मे अब भी बनी हुई है और मागधी की सब विशेषताए भी उसमे सुरक्षित हैं। मानो उन्होने मगध की वास्तविक बोलचाल की भाषा के दर्शन किये हो। कठिनाई केवल एक है कि मागधी अपने शकार-प्रेम के लिए प्रसिद्ध थी लेकिन बिहारी बन्धु उत्तर-प्रदेशवासियो की तरह सकार-प्रेमी हैं। ग्रियर्सन ने इसका ऐतिहासिक कारण ढूढ निकाला है। शकार की भरमार है बगाल मे। बिहारी लोग बगाल की हर चीज को शत्रु भाव से देखते है। इसी लपेट मे शकार भी आ गया। उन्होने कहा — यह बगालीपन की निशानी है, इसलिए शकार का नाश हो, सकार चिरजीवी हो! लिखा है, "कई शताब्दियो से बिहारियो की जो आकाक्षा रही है कि पूरब से सब सम्बध तोड ले, इसीसे उन्होने पछाह के सकार को अपना लिया लेकिन यह अपेक्षाकृत आधुनिक आविष्कार है। यह बात इससे स्पष्ट सिद्ध होती है कि यद्यपि वे बोलते है 'स' किन्तु अपनी जातीय कैथी लिपि मे उसे लिखते हैं 'श'। वे उसी अक्षर का प्रयोग करते हैं जिसका प्रयोग हिन्दू वैय्याकरणो ने मगध के शकार प्रेम के ज्ञापन के लिए किया था।" किसी पडोसी जाति से शत्रु भाव के कारण बिहार जैसे बहु-सख्यक प्रान्त की सारी जनता अपना उच्चारण ही बदल दे, यह भाषाविज्ञानी क्रान्ति वास्तविक हो, तो इस पर बिहारी भाइयो को उचित गर्व होना चाहिए और उन्हे ग्रियर्सन का चिरकृतज्ञ होना चाहिए कि उन्होने इस क्रान्ति का पता लगाया। किन्तु इसी न्याय से बगाल को यह श्रेय दिया जा सकता है कि 'खोट्टा' लोगो को 'स' बोलते देख उन्होने सभी सकार वर्ण वाले शब्दो को शकारमय कर दिया। और यह क्रान्ति भी अपेक्षाकृत आधुनिक ही कही जायगी क्योंकि बगाल की जातीय लिपि मे सध्या, सुख, सब आदि शब्दों को दन्त्य 'स' से ही लिखा जाता है! बगालियों और बिहारियो ने क, ख, ग, घ आदि अन्य अक्षरो को शत्रुपक्ष द्वारा उच्चरित होते देखकर उन्हे त्याग नही दिया, और केवल श-श-श या स-स-स का सीत्कार-फूत्कार बद कर दिया, इसे उनकी परम उदारता मानना चाहिए।

भोजपुरी बोली केवल बिहार मे नही बोली जाती। वह उत्तर प्रदेश (ग्रियर्सन के समय के सयुक्त प्रान्त) के पूर्वी जिलो मे भी बोली जाती है। फिर भी ग्रियर्सन ने उसे बिहारी भाषा के अन्तर्गत माना। ग्रियर्सन ने उर्दू को इस्लाम की भाषा बताया। हिन्दुओ-मुसलमानो के प्रेम-सम्बध के लिए यह एक शिलान्यास हुआ। उनका विचार था कि आर्य-भाषाए अधिक शक्तिशाली होती

हैं; वे अनार्य-भाषाओं का स्थान बराबर छीन रही है। "भारत में आर्य-भाषा सभ्यता और जाति-प्रथा (कास्ट सिस्टम) की भाषाएं हैं। जाति-प्रथा अन्तर्गत रहने वालों को जो शक्ति और गौरव प्राप्त होता है, वह इन भाषाओं को प्राप्त है। वे उन भाषाओं का स्थान निरन्तर छीन रही है जिन्हें हम भारत में आदिवासी भाषाएं कह सकते हैं जैसे द्रविड, मुण्डा और तिब्बती-बर्मी परिवार।"[1] भारत की एकता, विशेषकर दक्षिण को उत्तर से मिलाने के लिए ग्रियर्सन ने यह दूसरी शिला रखी। उन्होंने बिहारी नामक नवीन भाषा की कल्पना करके हिंदी-भाषी जाति की एकता के लिए तीसरी शिला रखी। इससे सतोष न करके उन्होंने भोजपुरियों तथा मैथिल-मगही भाषियों के प्रेम सम्बन्ध को दृढ़ करने के लिए दो-तीन छोटी-मोटी शिलाएं और रख दीं। भाषा-विज्ञान का यह भव्य-भवन बड़ी पुख्ता नींव पर बनाया गया। उन्होंने भोजपुरी, मैथिली और मगही तीनों के बोलने वालों के लिए अलग-अलग नैशनैलिटी शब्द का प्रयोग किया है। बहस किसी शब्द विशेष के प्रयोग को लेकर नहीं है। बहस का विषय है इन जातियों की चरित्रगत विशेषताएं जिनकी व्याख्या ग्रियर्सन ने काफी विस्तार से की है। उनके मत से भोजपुरिये भारत की लड़ाकू जातियों में से हैं। वे सारे आर्य भारत में फैले हुए हैं, मौके से लाभ उठाकर वे अपना भाग्य स्वयं निर्मित करते हैं। अंग्रेजी फौज में वे भर्ती होते रहे हैं और १८५७ के गदर में उन्होंने प्रमुख भाग लिया था। उनमें पालकी ढोने वाले, डाकू और बंगाल में दरवानगीरी करने वाले मिलते हैं। उनकी भाषा रोजमर्रा के व्यवहार के लिए बनी है और उसमें व्याकरण की जटिलताएं नहीं हैं। इसके विपरीत मैथिली में व्याकरण की बहुत सी जटिलताएं हैं। "मैथिली और मगही उन जातियों (नैशनैलिटीज) की बोलियां हैं जिनमें रूढ़िवाद का वीभत्स रूप देखने को मिलता है जबकि भोजपुरी एक शक्तिशाली नस्ल (race) की व्यावहारिक भाषा है। वह अपने को परिस्थितियों के अनुकूल ढाल लेती है और उसका प्रभाव सारे भारत में महसूस किया गया है।" उधर मिथिला सदा ब्राह्मणों के आधिपत्य में रहा है। "कहा जाता है कि मिथिला के ब्राह्मणों में जो अगम्य घमंड बीसवीं सदी में है, वही राम के विवाह के समय भी उन्होंने प्रदर्शित किया था।" प्राचीन काल से ही मिथिला के निवासी अगम्य रूढ़िवादी रहे हैं। उनका सबसे बड़ा दोष यह है कि वे "गन्तानोत्पत्ति में मस्त्यावृद्धि करते रहते हैं और धरती पर निर्धनता का भार बढ़ाते हैं। केवल एक हुनर आता है, खेती। अन्य प्रदेशों में जाकर कोई धंधा करने की बात वे सोचते नहीं हैं।"

[1] लिंग्विस्टिक सर्वे, खंड १, पृष्ठ २९।

इस प्रकार बिहार में एक प्रगतिशील जाति है भोजपुरियो की और दो ह्रासशील और रूढ़िवादी जातियां हैं मैथिलो और मगहियो की।

किसी समय—१९२५ ई. में—जब श्री उदयनारायण तिवारी बी. ए. के छात्र थे, तब उनसे डॉ. धीरेन्द्र वर्मा ने कहा था, "डॉ. ग्रियर्सन के अनुसार भोजपुरी-भाषा क्षेत्र हिन्दी के बाहर पडता है; किन्तु मैं ऐसा नही मानता।" उस समय डॉ. वर्मा के विचार उन्हें रुचिकर लगे थे और "हिन्दी के क्षेत्र से भोजपुरी को अलग करना मुझे देशद्रोह सा प्रतीत हुआ था।" परन्तु अब? "परन्तु आज भोजपुरी के अध्ययन में चौबीस वर्षों तक निरन्तर लगे रहने तथा भाषा-शास्त्र के अधिकारी विद्वानो के सम्पर्क से भाषा-विज्ञान के सिद्धान्तो को यत्किंचित सम्यक रूप में समझ लेने के पश्चात् मुझे अपने उस पूर्वाग्रह पर खेद होता है, जो बी ए प्रथम वर्ष में, भाषा-विज्ञान के गम्भीर परिशीलन के बिना ही मेरे हृदय में स्थान पा गया था। आज मुझे डॉ ग्रियर्सन के परिश्रम, ज्ञान एवं पक्षपात-रहित विवेचना के गौरव का अनुभव होता है और इस विद्वान के प्रति हृदय श्रद्धा से परिपूर्ण हो जाता है।" अस्तु, देखना चाहिए कि तिवारी जी ने चौबीस वर्षों के अध्ययन के बाद भोजपुरी को हिन्दी क्षेत्र से बाहर रखने के लिए कौन से तथ्यों का उद्घाटन किया है।

उन्होने सबसे पहले ग्रियर्सन के पूर्वी और पश्चिमी हिन्दी के भेद को स्वीकार किया है, फिर पूर्वी हिन्दी से भी बिहारी को अलग किया है।

पूर्वी और पश्चिमी हिन्दी का अन्तर बतलाते हुए तिवारी जी ने लिखा है कि बगला, उडिया तथा असमिया में 'आ' का उच्चारण 'ओ' की तरह होता है। "किन्तु ज्यो-ज्यो हम पश्चिम (बिहारी बोलियो) की ओर बढते जाते है, त्यो-त्यो 'अ' का विलम्बित उच्चारण कम होता जाता है और पश्चिमी भोजपुरी में तो यह विवृत हो जाता है। पूर्वी हिन्दी में भी 'अ' का उच्चारण पश्चिमी भोजपुरी की ही भांति होता है।" यदि पूर्वी हिन्दी में 'अ' का वैसा ही उच्चारण होता है, जैसा पश्चिमी भोजपुरी में, तो इससे क्या सिद्ध हुआ? समग्र भोजपुरी को पूर्वी हिन्दी से अलग नही किया जा सकता। जिस क्षेत्र में पूर्वी हिन्दी होगी, उसी में पश्चिमी भोजपुरी गिनी जायेगी। और ज्यो-ज्यो हम बिहार की बोलियो की ओर बढते जाते है, त्यो-त्यो 'अ' का विलम्बित उच्चारण कम होता जाता है, इससे क्या सिद्ध हुआ? यही कि बिहार की बोलियां असमिया-बगला, उडिया के क्षेत्र से बाहर हट रही है और हिन्दी क्षेत्र की उच्चारण पद्धति के निकट आ रही हैं। किन्तु यदि अवध, मिथिला, मगध, भोजपुर के निवासी 'अ' का उच्चारण बिलकुल बगालियो की भांति करते, तब भी शब्द-भंडार की समानता के आधार पर यहां की भाषाएं हिन्दी की बोलियां ही कहलाती, उन्हें बगला की बोलियां न कहा जाता। इसी भाषा

हैं; वे अनार्य-भाषाओं का स्थान बराबर छीन रही है। "भारत में आर्य-भाषाएं सभ्यता और जाति-प्रथा (कास्ट सिस्टम) की भाषाएं हैं। जाति-प्रथा के अन्तर्गत रहने वालो को जो शक्ति और गौरव प्राप्त होता है, वह इन भाषाओं को प्राप्त है। वे उन भाषाओ का स्थान निरन्तर छीन रही है जिन्हे हम इस देश में आदिवासी भाषाएं कह सकते है जैसे द्रविड, मुण्डा और तिब्बती-बर्मी भाषा-परिवार।"[1] भारत की एकता, विशेषकर दक्षिण को उत्तर से मिलाने के लिए ग्रियर्सन ने यह दूसरी शिला रखी। उन्होंने बिहारी नामक नवीन भाषा की कल्पना करके हिन्दी-भाषी जाति की एकता के लिए तीसरी शिला रखी। इतने से संतोष न करके उन्होंने भोजपुरियों तथा मैथिल-मगही भाषियो के प्रेम भाव को दृढ करने के लिए दो-तीन छोटी-मोटी शिलाएं और रख दी। भाषा-विज्ञान का यह भव्य-भवन बडी पुख्ता नीव पर बनाया गया। उन्होंने भोजपुरी, मैथिली और मगही तीनो के बोलने वालो के लिए अलग-अलग नेशनैलिटी शब्द का प्रयोग किया है। बहस किसी शब्द विशेष के प्रयोग को लेकर नही है। बहस का विषय है इन जातियो की चरित्रगत विशेषताएं जिनकी व्याख्या ग्रियर्सन ने काफी विस्तार से की है। उनके मत से भोजपुरिये भारत की लड़ाकू जातियों में से है। वे सारे आर्य भारत मे फैले हुए हैं, मौके से लाभ उठाकर वे अपना भाग्य स्वयं निर्मित करते हैं। अंग्रेजी फौज में वे भर्ती होते रहे हैं और १८५७ के गदर में उन्होंने प्रमुख भाग लिया था। उनमे पालकी ढोने वाले, डाकू और बगाल में दरवानगीरी करने वाले मिलते है। उनकी भाषा रोजमर्रा के व्यवहार के लिए बनी है और उसमे व्याकरण की जटिलताएं नही हैं। इसके विपरीत मैथिली में व्याकरण की बहुत सी जटिलताएं हैं। "मैथिली और मगही उन जातियों (नेशनैलिटीज) की बोलियां हैं जिनमे रूढ़िवाद का वीभत्स रूप देखने को मिलता है जबकि भोजपुरी एक शक्तिशाली नस्ल (race) की व्याव-हारिक भाषा है। वह अपने को परिस्थितियों के अनुकूल ढाल लेती है और उसका प्रभाव सारे भारत में महसूस किया गया है।" उधर मिथिला सदा ब्राह्मणों के आधिपत्य में रहा है। "कहा जाता है कि मिथिला के ब्राह्मणों में जो असभ्य घमंड बीसवीं सदी में है, वही राम के विवाह के समय भी उन्होंने प्रदर्शित किया था।" प्राचीन काल से ही मिथिला के निवासी [illegible] और रूढ़िवादी रहे हैं। उनका सबसे बड़ा दोष यह है कि वे "[illegible] जनसंख्या में वृद्धि करते रहते हैं और धरती पर निर्धनता का भार बढ़ाते हैं। [illegible] अन्य प्रदेशों में जाकर कोई धंधा करते [illegible] केवल एक [illegible] जाता है, [illegible] बात के धोखे नहीं है।"

---

1. लिंग्विस्टिक सर्वे, पद १, पृष्ठ २९।

मुनि अरु पीर औलिया, सब भूलल बाड़े नखरे में।" भोजपुरी के आधुनिक कवि रघुनाथ उपाध्याय ने लिखा, "बिना परिवार, बिना घर जे मरत बाड़े।" श्री रामविचार पाण्डेय ने लिखा, "ओकरे में हमरा के राधिका खोजत बाड़ी।" ये सब उदाहरण "भोजपुरी भाषा और साहित्य" के पृष्ठ २६, ४२ और ४६ पर मिल जायेंगे। यह ड़कारमय क्रिया भोजपुरी में इतनी प्रचलित है कि इसी ग्रंथ के क्रिया-प्रकरण में पृष्ठ २८२ पर उसके विभिन्न रूप दिये हुए हैं। स्पष्ट ही ड़ के आधार पर भोजपुरी और हिन्दी में भेद नही किया जा सकता; ड़ को पश्चिमी क्षेत्र की विशेष ध्वनि नही कहा जा सकता। तिवारी जी ने अपनी पूर्व स्थापना के विपरीत पृष्ठ ११२ पर ड़ और ढ़ को पूरब की विशेष ध्वनियां कहा है। सुनिए: "साहित्यिक हिन्दी तथा पूरब में 'ड' तथा 'ढ' का उच्चारण 'ड़' तथा 'ढ़' हो जाता है। इस प्रकार हिन्दी में 'बड़ा' उच्चारण करते हैं, 'बडा' नही। ऊपरी दोआब में 'ड' का उच्चारण प्रायः सुरक्षित है। यहां गाड़ी को गाडी या गाड्डी एवं चढ़ना को चढना रूप में उच्चरित करते है।" बात सही है। खड़ी बोली के मूल क्षेत्र में डकार-ढकार की भरमार है। साहित्यिक हिन्दी में ड़ और ढ़ ध्वनियो का चलन पूर्वी प्रभाव के कारण हुआ है। लेकिन पृष्ठ १७५ पर उन्हे याद आता है कि एक भाषा बिहारी भी है और वह हिन्दी से भिन्न है। इसलिए फिर दोनो का भेद करते हुए लिखते है, "हिन्दी मूर्धन्य 'ड़' तथा 'ढ़' का उच्चारण, बिहारी में 'र' तथा 'र्ह' हो जाता है।" तिवारी जी के पास ऐसा जादू है कि जब चाहते है तब ड़ और ढ़ की ध्वनिया पूरबी हो जाती है, जब चाहते है तब वे पश्चिमी हो जाती है। भोजपुरी में ड़ की लोकप्रियता हम देख चुके है। अपने ग्रंथ के पृष्ठ १३६ पर ग्ध, ड्ढ, र्ध, ढ, ण्ड, आदि ध्वनियो के ढ़ मे परिवर्तित होने की ये मिसालें तिवारी जी ने दी है: डाढ़ा, उढ़री, अगवढि, अढइया, डेढ़, बढनी, बढ़ई, गढ, काढ़ा, पढ़ल, सुंढ़, बूढ़, काढल। इनके अलावा इसी पृष्ठ पर अन्य शब्द दिये हुए है जिनकी व्युत्पत्ति का पता नही चला—कोढ़ी, खोढ़िला, ठढ़िया, ड्योढी, ढोढ़ी, पीढ़ा, साढ़। ढ़ की ध्वनि भोजपुरी में उतनी ही प्रचलित है जितनी ड़ की। सही बात यह है जो तिवारी जी ने पृष्ठ ११२ पर लिखी है, यानी यह कि हिन्दी और उसकी पूर्वी बोलियो दोनो मे ड़ और ढ़ की ध्वनियों का प्रयोग होता है। यह कहना अवश्य गलत है कि ड तथा ढ का उच्चारण ड़ तथा ढ़ हो जाता है मानो हिन्दी और अवधी, भोजपुरी आदि मे ड, ढ की ध्वनिया रही न गयी हो। ड़ और ढ़ की ध्वनिया शब्द के आरम्भ मे कभी नही आती। ड और ढ की ध्वनिया शब्द के आरम्भ और अन्त मे कही भी आ सकती है—डमरू, बेडौल डडा, ठढा, ढोना, बुड्ढा। ढ जितना शब्द के आरम्भ मे मिलता है, उतना उसके मध्य और अन्त मे नही। यह नियम हिन्दी तथा उसकी पूर्वी बोलियों दोनो पर लागू होता है।

के उत्तरी और दक्खिनी क्षेत्रों में 'अ' के उच्चारण का ऐसा ही भेद मिलता है, किन्तु इस कारण दक्खिनी रूसी को कोई उत्तरी रूसी से स्वतंत्र भाषा नहीं मानता।

तिवारी जी ने ध्वनि-भेद का दूसरा उदाहरण दिया है—ड और ध्वनियों का। "पूर्वी हिन्दी तथा भोजपुरी, दोनो मे" पश्चिमी हिन्दी की ध्वनिया 'र' और 'र्ह' मे परिणत हो जाती है जैसे तोडे, पूर्वी हिन्दी भोजपुरी मे तोरे। इस उदाहरण से भी सिद्ध हुआ कि पूर्वी हिन्दी भोजपुरी से भिन्न नही है। जहा तक पूर्वी और पश्चिमी हिन्दी के भेद का सम्बन्ध है, तिवारी जी ने स्वय लिखा है, "किन्तु इसके अपवाद भी उपलब्ध हैं। यथा—पश्चिमी हिन्दी तथा पूर्वी हिन्दी वाढ, भोजपुरी वाढि।" यह भी पक्का भेद नही है। ढ की ध्वनि पूर्वी हिन्दी, पश्चिमी हिन्दी और भोजपुरी तीनो मे है। वास्तव मे जिसे वह अपवाद कहते है, वह अपवाद नही है। ढ की ध्वनि अवधी के शब्दो में खूब मिलती है · लाढी (गाड़ी), वाढव, काढब, चढब, मढब (बातें बनाना), ब्याढै (ब्याढै जाय, नाश हो, स्त्रियो का विशेष प्रयोग), गढब, पढब, मढब, दाढी, पैढी, कोढी, गाढ, असाढ, ठाढ, इत्यादि। इसी प्रकार ड की ध्वनि के शब्द हैं · बडा, बडाई, जडाऊ, माडौ (मंडप), लोहडी (कडाही), खो (जिसके दात टूटे हों), मडनी (अनाज के पूलो को पशुओ से कुचलवाना जिससे भूसा और नाज अलग हो जाय), राड, चाड, साड, भाड, म्याड (मेड़), (भेड़िया), ग्वाडा (पशु बाधने का स्थान), कूडा, डाड़ (दंड), (कुम्हडा), खाड़ा (टुकडा), छाडव, जडव, ताडब, पहुडव, लड़व इत्यादि शब्दो का और इन जैसे अन्य सैंकडो शब्दों का प्रयोग अवध के किसान बर करते है। किन्तु ड और ढ की ध्वनिया पूर्वी हिन्दी मे ही नही भरी पड़ी हैं। हिन्दी क्षेत्र से बाहर, पूर्वी हिन्दी से भिन्न भोजपुरी में भी उनकी यथेष्ट प्रचुरता है। इसके प्रमाण ढूढने के लिए दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। "भोजपुरी भाषा और साहित्य" के ही पृष्ठ १३५ पर दृष्टिपात कीजिए। यहा भोजपुरी शब्दो मे मध्य तथा अत्य 'ड' की उत्पत्ति या व्युत्पत्ति समझायी गयी है। संस्कृत का ट भी ड हो गया है, असडा (अक्ष-वाट, असाडा), घोड़ा, पुड़िया, साडी। सस्कृत ड्य ने ड रूप लिया है—जाड़। प्राकृत ड, ड्ड ने इसी ध्वनि का रूप धारण किया है · हाड़, गोड, पडल। सस्कृत ड्र से ड—बड़, ओडिया। सस्कृत ण्ड से ड—कूँडि, हाडी, पाँड़, भाड, माड, गँडेरी। सस्कृत द से भी ड़—मँड़सी (सन्दशिका)। सस्कृत ल से ड—ताडी। सस्कृत ट से ड़—कड़ाह। जब सस्कृत के इतने विभिन्न व्यजन बारबार डकार रूप धारण करते हैं, तब मानना होगा कि यह ध्वनि भोजपुरी-भाषियों को विशेष प्रिय है। भोजपुरी की एक प्रचलित क्रिया है—बाड़े। कबीर ने लिखा था, "गुरु

इसके बाद तिवारी जी ने 'र-ल' की ध्वनियों का भेद किया है। हम पहले ही कह चुके है कि रकार बहुलता पूर्वी बोलियों की विशेषता है। लेकिन प्राचीन काल से ही पूर्वी और पश्चिमी बोलियो का इतना निकट सम्पर्क था कि पाणिनि को रलयोरभेदः — इस सूत्र की रचना करनी पड़ी थी। छन्द की भाषा मे ही र-ल के विकल्प से एक ही शब्द के दो-दो रूप मिलते हैं। प्राचीन काल से इन बोलियों के सम्पर्क और मिश्रण के कारण अब ऐसी स्थिति नही है कि पूरब मे केवल रकारयुक्त शब्द मिलें और लकार का बहिष्कार हो या पश्चिम मे लकारवाले शब्द ही हो, रकार का बहिष्कार हो। तिवारी जी ने र-ल की ध्वनियो को पूर्वी-पश्चिमी हिन्दी का विभाजन-चिन्ह मान लिया है। लिखा है, "इसी प्रकार (ड़ और ढ के समान) पश्चिमी हिन्दी तथा पूर्वी हिन्दी एवं भोजपुरी मे 'र', 'ल' के परिवर्तन मे पर्याप्त भेद है। यथा—प. हिन्दी फल किन्तु पू. हिन्दी तथा भोजपुरी फर।" यदि यह बात सही हो तो भोजपुरी और पूर्वी हिन्दी की एक ही ध्वनि-प्रकृति हुई। इस आधार पर हम भोजपुरी को पूर्वी हिन्दी से अलग नही कर सकते। लेकिन प्राचीन मागधी में लकारबाहुल्य है; 'राजा' 'लाजा' बन जाता है। यदि 'बिहारी' मागधी की पुत्री है तो उसमें फर की जगह फल ही होना चाहिए था। तब ल की जगह र क्यों हुआ? पश्चिमी हिन्दी के प्रभाव से। एक ही पैरा मे रकार पूर्व की विशेष ध्वनि होने के बाद पश्चिम की विशेष ध्वनि भी हो जाती है। ऊपर उद्धृत किये हुए दोनो वाक्यों के बाद तिवारी जी ने लिखा है, "वास्तव मे पूर्वी हिन्दी तथा भोजपुरी मे मागधी के प्रभाव के कारण 'र' के स्थान पर सर्वत्र 'ल' ही होना चाहिए था; किन्तु पश्चिम की आदर्श भाषा तथा शिष्ट उच्चारण के कारण ऐसा नही हो पाया है और कहीं-कहीं तो पश्चिम का इतना अधिक प्रभाव पड़ा है कि जहा 'ल' सुरक्षित रहना चाहिए वहा भी 'र' हो गया है।" होना चाहिए था ल सो हो गया र। इसका कारण है पश्चिम का प्रभाव; पश्चिम की आदर्श भाषा और शिष्ट उच्चारण। मानो पश्चिम की बोलियो में ल का एकदम अभाव हो, उनमें र की इतनी भरमार हो कि पूरब मे भी ल की जगह र हो गया। ऊपर की स्थापना के बाद तिवारी जी ने उदाहरण दे दिये हैं: "यथा—पश्चिमी हिन्दी हल, किन्तु पूर्वी हिन्दी तथा भोजपुरी हर, पश्चिमी हिन्दी जल, किन्तु पूर्वी हिन्दी तथा भोजपुरी जर; संस्कृत रज्जु, पूर्वी हिन्दी लजुरी (लेजुरी), भोजपुरी रसरी।"

यदि पश्चिमी हिन्दी मे हल शब्द का चलन है, तो इस शिष्ट उच्चारण के प्रभाव से भोजपुरी मे हर कैसे हो गया? यदि आदर्श भाषा में जल शब्द का प्रचार होता है, तो उसके प्रभाव से पूरब मे जर का चलन कैसे हो गया? संस्कृत रज्जु से लजुरी किसके प्रभाव से बना? यह लजुरी

ने ही रलरी रूप कैसे धारण कर लिया (ल के साथ ज को भी स मे कैसे बदल दिया)?

छोड़िए इन प्रश्नों को। पश्चिमी हिन्दी का प्रभाव न होगा तो उत्तरी या दक्खिनी हिन्दी का होगा। मुख्य बात यह है कि भोजपुरी की विशेषता है ल के स्थान पर र का प्रयोग। यह बात सही हो तो हम मान लेगे कि भोजपुरी हिन्दी क्षेत्र के बाहर की बोली है। भोजपुरी में भूतकाल के रूप बनाने की आसान तरकीब है, धातु मे ल जोड़ना, रहल, देखल, करल, धरल इत्यादि। भोजपुरी को ल ध्वनि इतनी प्रिय है कि वर्तमान काल के लिए भी उसमे करेला, जाला, आवेला आदि रूप प्रचलित है।[1] तिवारी जी ने आदर्श भोजपुरी के रूप मे पृष्ठ ३४२-४३ पर "शकर आ पार्वती जि के कहनी" दी है। इसकी चौदह पंक्तियों मे चवालिस बार ल ध्वनि की आवृत्ति हुई है। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि कोई भोजपुरिया बन्धु एक पंक्ति बोलेगा तो कम-से-कम तीन बार ल-ल करेगा। सिद्ध हुआ कि भोजपुरी मे लकार का बहिष्कार नही है। यही नहीं, ल-ध्वनि उसे विशेष प्रिय है। कल्पित रकार प्रेम के आधार पर उसे हिन्दी से अलग नहीं किया जा सकता। हा, आपने मिसाल दी है फल और फर की।

> फूलहि फरहि न बेत, जदपि सुधा बरसहिं जलद।
> मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलहि बिरंचि सम।

फरने के साथ फलना भी है, बरसने को कही भी बलसना नही कहते, न मूरख और गुरु मूलख और गुलु बने है। इससे पहचानिए कि हिन्दी की बोलियो मे कितनी समानता है, हिन्दी और अहिन्दी भाषाओ मे कितनी समानता है। अवधी मे फरब क्रिया मे ही र का प्रयोग होता है, संज्ञा फल मे नही। इसीलिए तुलसीदास ने "फूलहि-फरहि" लिखा और "जो दायक फल चारि" भी लिखा, एक जगह फरहि दूसरी जगह फल। अवधी के समान भोजपुरी मे भी 'फल' शब्द का चलन है। अपने ग्रथ के पृष्ठ ३५३ पर तिवारी जी ने एक लोक गीत उद्धृत किया है जिसकी एक पंक्ति है:

> "मधुरी-मधुरी फल तोरी खाव सखी, फल तोरी खाव।"

फल-फर वाली बात बेपर की रही।

तीसरा भेद 'ह' सम्बन्धी है। कहते है कि पश्चिमी हिन्दी मे "मध्यग" 'ह' का प्राय. लोप होता है किन्तु पूर्वी हिन्दी और भोजपुरी मे यह मध्याक्षर रूप मे आता है। उदाहरण दिये है—पश्चिमी हिन्दी दिया, पूर्वी हिन्दी देहिस,

---

1 भोजपुरी भाषा और साहित्य, पृष्ठ २८८।

जपुरी विश्लेषण। पृष्ठ २... पर तिवारी जी ने दे धातु के रूप दिये हैं।
दी-दे, दीही-देई, दोही-दी; भोजपुरी में हकारयुक्त और हकारहीन दोनों
के रूप प्रचलित हैं।

चौथा भेद 'य-व' सम्बधी है। पश्चिमी हिन्दी (व्रजभाषा)
होगा 'याम,' 'वाम', पूर्वी हिन्दी और भोजपुरी में होगा 'एम,' 'ओ
'ओहमे'। यह मिसाल भी गलत है। अवधी में होगा—'यहि मा,' 'वहि
मा'। पूरबी हिन्दी में हर जगह एम, ओम नही होता। खड़ी बोली में यह-वह
भी है, इन-उन भी। भोजपुरी में एह के साथ इह, एहन के साथ इहन जैसे
रूप भी हैं, ओ के साथ उन्हन् जैसे रूप है। तिवारी जी के ग्रथ में पृष्ठ २२१
और २२३ पर ये रूप दिये हुए है। य-ए और व-ओ वाला भेद भी गलत साबित
हुआ। तिवारी जी को सभवत यह भ्रम है कि भोजपुरी में य-व की ध्वनियां
होती ही नही है। आगे लिखा है, "शब्द के मध्य तथा अन्त में 'य' भोजपुरी
'ए' में परिवर्तित हो जाता है, यद्यपि लिखावट में 'य' ही रहता है।
परिशिष्ट में उन्होंने जो लोक कथाएं दी हैं, उनमे भयल्, आयल्, गयल्, ...
रूप भरे पड़े हैं। सभव है कि इन सबमें य का उच्चारण ए-वत् हो। लेकिन
"रुपया गइल वाय" (पृष्ठ ३२९), इस टुकड़े में रुपया का उच्चारण रुपेआ
और वाय का उच्चारण वाए होना चाहिए क्या? "वलिया" का उच्चारण
क्या है? वलिएआ? तिवारी जी ने अपने ग्रथ के पृष्ठ ६-७-८ पर मगहिया,
भोजपुरिया, वक्सरिया, पुर्बिया, छपरहिया आदि शब्दो का या-वाला रूप दिया
है। इसे बदल कर क्या आ-वाला रूप कर देना चाहिए? मजा यह कि
भोजपुरी ने ऐ स्वर वाले उधार लिये हुए शब्दो में ऐ की जगह अय् ध्वनि
का चलन किया है, यथा "गैरहाजिर" के दो रूप है, गरहाजिर और गयर-
हाजिर। इसी तरह गैर-जगह को बोलेंगे गयर-जगह (पृष्ठ १७४)। भोजपुरी
में एक 'इया' प्रत्यय है। इसीसे भोजपुरिया, नगपुरिया आदि रूप बनते हैं।
पृष्ठ १६२ पर इन रूपो के साथ बढ़िया, घटिया, पुड़िया, डिबिया, धड़िया
धुनिया, लोहिया आदि शब्द भी दिये हुए है।

'व' के बारे में लिखा है कि पचास-साठ बरस पहले की भोजपुरी
स्वस्ति को स्वस्ति, स्वादित और सोस्ति लिखा जाता था। इससे निष्कर्ष यह
निकला कि बगला के मध्ययुग के संस्कृत उच्चारण की भांति "भोजपुरी में
भी 'व' का उच्चारण 'ओ' होता है।" होता था नही, होता है। एक लोक
कथा में यह वाक्य आता है, "ढेलवा कहे हम बड़ा, पतवा कहे हम बड़ा"
(पृष्ठ ३३२)। व का ओ करके पढ़िए इस वाक्य को! अत्यत मधुर हो
जायगा। हँहवां, ...वां, चरवाह, मवति, चोरवा, ली आवा, आदि को इसी
...के नियम ... चाहिए। भोजपुरी में एक प्रत्यय है

रूप, इनसे चढ़ब, [illegible] बने रूप बनते है, चलाना, भुलाना जैसे रूप भी। एक प्रत्यय है अवन् जिससे देखवन्, चुनावन् जैसे रूप बनते है। एक प्रत्यय है वार — रखवार, खिलवार। भोजपुरी में 'व' के लोप होने की बात भ्रान्त सिद्ध होती है।

पांचवां भेद यह बताया है कि पश्चिमी हिन्दी में दो स्वर प्रायः एक साथ नहीं आते। इसलिए पश्चिमी हिन्दी में जहां ऐ और औ होंगे वहां पूर्वी हिन्दी और भोजपुरी में अइ और अउ आ जायेंगे। पश्चिमी हिन्दी में कहै, पूर्वी में कहइ, इसी तरह और और मौर के लिए पूरबी में अउर, मउर। "आइये" —इसमें दो स्वर एक साथ आते या नहीं? भैया और कौआ को पश्चिम में कैसे बोलते हैं? बनकौआ पूरब ही में नहीं उड़ाते। लड़के पश्चिम में भी खेल में [illegible] है। ब्रजभाषा में गैया-मझैया, गवैया भैया रुपइया, गधैया आदि रूपों की भरमार है। एक लोक-कथा में यह पद आता है

> पगन लिपैयो मय्या पगन लिपैयो मय्या !
> कुम्हार के ते मोंगरी मंगैयो मय्या !'[1]

यहां लिपैयो मंगैयो का उच्चारण आगरे के प्रसिद्ध शब्द भैयो (भइयो) के समान ही होता है। पृष्ठ ७० पर तिवारी जी ने लिखा है कि पश्चिमी हिन्दी के जै, बैसाख, ऐब जैसे शब्द भोजपुरी में जइ, बइसाख, अएँब हो जाते हैं। अर्थात् पश्चिमी हिन्दी के ऐ का उच्चारण भोजपुरी में हर जगह अइ के समान नहीं होता। कवि ने लिखा है

> बनवा बेईला सबको देवारी मे राम धै
> करबोओ जूता टोपी दुपट्टा तोरे बदे।

यहां क्या राम धै को राम धइ पढ़ेंगे? आगे की पंक्ति है

> चढ़ जाले कौनो दाँव पै सारे तो लेईला।

यहां क्या "जालइ" और "दाँव पइ" पढ़ेंगे?

छठा भेद यह बताया है कि पश्चिमी हिन्दी के आकारान्त रूप भोजपुरी में अकारान्त या व्यजनान्त हो जाते है, जैसे बडा भोजपुरी में बड या बड्, भला, भोजपुरी में भल या भल्। वही ढेला-पत्ता वाली कहानी देखिए। "ढेलवा कहे हम बडा, पतवा कहे हम बडा।" भोजपुरी का यह उदाहरण तिवारी जी का ही दिया हुआ है जिसमें बड की जगह बडा रूप का प्रयोग हुआ है। शब्दो के अंत्य दीर्घ स्वर को ह्रस्व करने के बदले भोजपुरी की सहज प्रवृत्ति है शब्द के

---

1. ब्रज की लोक-कहानियां, सम्पादक सत्येन्द्र, ब्रज साहित्य मडल, मथुरा, पृष्ठ ११६।

है कि खड़ी बोली में भी अधिकरण के साथ — भोजपुरी क ...। ही — 'मे' का प्रयोग होता है। इससे भोजपुरी और खडी बोली की समानता सिद्ध होती है; इसलिए उस पर जोर देना तिवारी जी ने उचित नही समझा।

अब 'ने' का प्रयोग लीजिए। "पश्चिमी हिन्दी की सबसे बड़ी विशेषता है 'ने' परसर्ग का प्रयोग। इसका पूर्वी हिन्दी तथा बिहारी (भोजपुरी त[illegible] बिहारी की अन्य बोलिया — मैथिली, मगही) मे सर्वथा अभाव है।" [illegible] 'ने' का प्रयोग न करने पर भी अवधी पूर्वी हिन्दी ही रहती है, तो उसी 'ने' का प्रयोग न करने पर भोजपुरी भी हिन्दी की पूर्वी बोली क्यो नही [illegible] सकती ? यदि खडी बोली में 'ने' का प्रयोग न हो तो उसे भोजपुरी की बोली माना जायगा ? दर्द ने लिखा था .

लोग कहते हैं आशिकी जिसको
मै जो देखा बड़ी मुसीबत है।

* * *

दीदे वादीद हुई दूर से मेरी उसकी
पर जो मैं चाहा था सो बात न होने पायी।

* * *

तिश्नगी और भी भड़कती गयी
ज्यू-ज्यूं मैं अपने आंसुओं को पिया।

मैं देखा, मैं चाहा, मैं पिया — इस तरह के प्रयोगो को पूर्वी हिन्दी नमूना मानें या पश्चिमी हिन्दी का ? इसी तरह सौदा ने बहुत से शेर कहे हैं जिनमें 'ने' गायब है :

पूछा पयामबर से जो मैं यार का जवाब
कहने लगा, खामोश कि है बात बेतरह।

* * *

मैं हजरते सौदा को सुना बोलते यारो
अल्लाह रे अल्लाह है क्या नग्मे-बयां है।

* * *

मैं जो पूछा सबब कहा मत पूछ
बात कहनी ये नामुनासिब है।

मैं पूछा, मैं सुना — इस तरह के प्रयोग ठेठ हिन्दी के शायरों के यहाँ मिलते हैं, 'ने' के न रहने से उनकी भाषा पूर्वी नहीं हो जाती। इसी तरह 'ने' के न रहने से भोजपुरी हिन्दी क्षेत्र के बाहर नहीं चली जाती।

बहुत भिन्न है। क्रिया-रूपों के सम्बन्ध में तो पूर्वी हिन्दी, पश्चिमी हिन्दी से और भी दूर है। 'मैं हूँ' के लिए पूर्वी हिन्दी में अहेउँ तथा आहेउँ होता है। अवध के पूर्वी भाग में यह बाटेउँ हो जाता है जिसका सम्बन्ध स्पष्ट रूप से भोजपुरी के बाटी, बाटीं आदि से है। भोजपुरी में बाटी के अलावा होना क्रिया का प्रयोग भी होता है, 'हम होईं इत्यादि।' अवधी में 'हूँ' के लिए अहेउँ के अतिरिक्त हों, हऊँ आदि का प्रयोग भी होता है और हूँ इसी हऊँ का संकुचित रूप है। तुलसीदास ने लिखा था

> कबि न होउँ नहि बचन प्रबीनू।
> सकल कला सब बिद्या हीनू।

यह होउँ 'हूँ' का सगोती है।

क्रियाओं के अतीतकाल सम्बन्धी पूर्वी और पश्चिमी रूप बहुत भिन्न बताये गए हैं। मारा रूप मारित से बना है अर्थ है वही ग्रियर्सन वाला—वह मर डाला मारा गया। एक ही शब्द-ब्रह्म से दो प्रकार की सृष्टि कैसे होती है, इसका उदाहरण यह है—'शौरसेनी में मारित तथा चलित का 'त' पहले 'द' में परिणत हो जाता है और तत्पश्चात् इसका लोप हो जाता है। मागधी भाषाओं तथा बोलियों में उसके स्थान पर 'ल' हो जाता है।" मराठी और रूसी में भी अतीतकाल के रूपों में 'ल' का प्रयोग होता है, इसलिए उन्हें मागधी की पुत्रियां और भोजपुरी की सगी बहनें मानना चाहिए! एक कमाल यह और हुआ कि मागधी-प्रसूत भाषाओं के बोलने वाले यह भूल चुके हैं कि मारल का अर्थ है मारा गया, किन्तु "पूर्वी हिन्दी में इनके कर्मवाच्य के रूप को विस्मरण करने की प्रक्रिया अभी भी चल रही है।" मिसाल यह दी है कि पूर्वी अवध में कहेंगे ऊ मारिस जहां 'ऊ' कर्ता है, किन्तु "पश्चिमी अवध में स्थित उन्नाव जिले में इसे 'उइ मारिस' कहते हैं। यहां पर उइ वास्तव में तिर्यक् रूप है और इसका अर्थ है उसके द्वारा। उइ के कर्ताकारक एक-वचन का रूप है 'वो'।" उन्नाव जिले की बोली से थोड़ा सा परिचय इन पंक्तियों के लेखक का भी है। कर्ताकारक एक-वचन का रूप 'वो' नहीं होगा। पुल्लिंग एक-वचन में होता है 'वहु' और स्त्रीलिंग एक-वचन में होता है 'वह', यथा वहु (मनई) जात है, वह (मेहरिया) जाति है। इसी का बहुवचन होता है उइ या वी, वी (मनई) जाति है, वी (मेहरिया) जाती हैं। मारिस रूप गलत है, होना चाहिए मारेसि (जैसा कि तुलसीदास ने लिखा था—मारेसि मोहि कुठाँय)। वहु मारेसि, वह मारेसि किन्तु बहु-

---

१. भोजपुरी भाषा और साहित्य, पृष्ठ २७७।

इन बोलियों मे मिलते है। खडी बोली में घोडा, भला, मारा आदि रूप पजाबी की कृपा से होगे। "इस विवेचना से यह सिद्ध हो जाता है कि खडी बोली मे -आ- प्रत्यय वस्तुतः पजाबी से ही आया है।" ब्रज का परिचित शब्द है कन्हैया। इसे होना चाहिए कन्हैयो। "नद बबा की बात सुनौ हरि।"—बबा नही, बबो! "तुम पै कौन दुहावै गैया।" "नहि आधीन तेरे बाबा के नहि तुम हमरे नाथ गुसैयां।"

"कहन लगे मोहन मैया-मैया।
नंद महर सौं बाबा-बाबा अरु हलधर सौं भैया।
ऊचे चढ़ि चढ़ि कहति यशोदा लै लै नाम कन्हैया।
दूरि खेलन जनि जाहु ललारे मारैगी काहु की गैया।"

ब्रजभाषा मे आकारान्त शब्दो की भरमार है। जहा तक घोडा शब्द का सम्बध है, "ब्रज की लोक-कहानिया" नामक पुस्तक मे आप इसके अनेक प्रयोग देख सकते हैं, "एक घोडा सवारी के काजें लायौ।" (पृष्ठ ६८)। "साहूकार जादौ घोडा की पीठि पै असवार भयौ।" (पृष्ठ १६०)। घोडो रूप का प्रयोग नही हुआ। यह तो हुई ब्रजभाषा की बात। भोजपुरी की एक लोक-कथा मे हम पढते हैं, "एक रहे ढेला एक रहे पत्ता। दुनो मे भयल झगरा। ढेलवा कहे हम बडा, पतवा कहे हम बडा।" यहा ढेला, पत्ता, झगडा, बडा आदि आकारान्त रूप क्या पजाबी के प्रभाव का प्रमाण है? इस तरह कलकत्ता, लका, मलाया, एशिया, अफ्रीका, अमरीका पर भी पजाबी का असर दिखाया जा सकता है!

हिन्दी मे सम्बधकारक है 'का'। यह भी पजाबी 'दा' से प्रभावित है। "सम्बधकारक मे, खडी बोली मे (ने) पजाबी के दा अनुसर्ग को न अपना कर उसके स्थान पर का को ही ग्रहण किया है। यह का भी वस्तुत को या कौ का आकारान्त रूप ही है।" ब्रज का 'को' या 'कौ' पजाबी के प्रभाव से 'का' हो गया। लेकिन यह प्रभाव किस तरह पडा, यह तिवारी जी ने शायद सकोचवश नही लिखा। सकोचवश इसलिए कि ग्रियर्सन यह रहस्योद्घाटन कर चुके थे। मूल व्याख्या इस प्रकार है "बोलचाल की भाषा के रूप मे हिन्दुस्तानी पश्चिमी हिन्दी की बोली है जो उसे पजाबी मे क्रमश बदलते हुए दिखलाती है। उसका व्याकरण पश्चिमी हिन्दी का है लेकिन विभक्ति-चिन्ह वे है जो पजाबी मे मिलते है। उदाहरण के लिए, पश्चिमी हिन्दी का असली सम्बधकारक चिन्ह है कौ। पजाबी मे इसका समकक्ष रूप है दा। पश्चिमी हिन्दी की हिन्दुस्तानी बोली कौ से क लेती है लेकिन अन्त्य स्वर आ पजाबी दा से लेती है और इस तरह का रूप बनता है।"[1] कही की ईंट कही का

---

1 लिंग्विस्टिक सर्वे आॅव इडिया, खड 1, पृष्ठ १६४।

वचन मे 'वौ' के साथ होगा मारेनि। मारेसि कर्मवाच्य रूप है, यह एक
उइ का अर्थ है उसके द्वारा — यह दूसरा भ्रम है।

भविष्यत् काल का भेद देखिए। चलिष्यति से चलिहइ बना।
मे इसी के सम पर मारिहौ, मारिहैं आदि रूप चलते हैं। "इस प्र
कहा जा सकता है कि शौरसेनी मे ह-भविष्यत् के रूप मे प्रयुक्त होते हैं त
इह–प्रत्यय लगा कर सम्पन्न होते हैं।" किन्तु मागधी-प्रसूत बोलि
चलिष्यति-चलिहइ की प्रक्रिया पसद नही आयी। उन्होने चलितव्यम् वाल
पसद किया। किन्तु अपने ग्रथ के पृष्ठ २६६ पर चलिहैं, चलिहऽ आदि भ
काल के रूप देकर डॉ तिवारी ने लिखा है, "जहा तक भोजपुरी का स
है, यहा भी स>ह भविष्यत् मध्यम पुरुष मे मैथिली तथा बगला की भांति
बनता है।" भोजपुरी तथा पश्चिमी बोलियों का सम्बंध उन्ही के शब्दो
इस प्रकार है, "स्स् या स् का 'ह' मे परिवर्तन वस्तुतः पश्चिमी भाषाओं एव बोलियो
बोलियो की विशेषता है, किन्तु इसकी छाप पूरब की भाषाओं एव बोलियो प
स्पष्ट रूप से दीख पडती है।" जहा तक ब्रजभाषा मे बकारान्त क्रिया-रूपों
व्यवहार की बात है, "एक बादशा के लरिका और बजीर के लरिका ते दो
ई। वे दोऊ हरि बखत सग रहते और एकई सोइबौ, बैठिबौ, खाइबौ, हो
सबु सगई ओ।"[1] यही नही, बिहारी जैसा ब्रजभाषा का कवि भविष्य काल
ही लिए यकारान्त रूप का प्रयोग करता है :

मोरचन्द्रिका स्याम सिर, चढ़ि कत करति गुमान।
लखिबौ पायन पै लुठत, सुनियत राधा मान॥

इसे ब्रजभाषा पर भोजपुरी का प्रभाव मानिए।

चलव रूप के लिए लिखा है, "भविष्य का यह रूप पुरुष तथा वचन
अनुसार परिवर्तित नही होता।" लेकिन पृष्ठ २७२ पर आप "हम देखबि
देखबे, तुं देखब" आदि रूप मजे से देख सकते हैं। इन रूपो के बाद आप
टिप्पणी भी पढ सकते है, "मूल शब्द देखब है और उसी मे विभिन्न
जोड कर रूप बनाये गये है।"

तिवारी जी को एक ओर जहा यह चिन्ता है कि भोजपुरी को
त्र से बाहर की भाषा सिद्ध करे, वहा खडी बोली को पजाबी से सम्बद्ध कर
ो भी उतनी ही तीव्र कामना है। उनके अनुसार "खडी बोली को छोड़
श्चिमी हिन्दी की अन्य ग्रामीण बोलियो मे क्रिया के तद्भव कृदन्तीय रू
विशेषण तथा सज्ञापद ओकारान्त अथवा औकारान्त होते हैं।" उदाहरण दि
है कि भला, मारा, घोडा के ... मारो ... घोड़ो–घोड़ो

1. ब्रज की ...

का भी प्रयोग होता है लेकिन 'मैं' ने काफी समय से ब्रज मे दखल जमा
है। "मैया मैं नहि माखन खायौ।" "मैया मैं तो चद-खिलौना लैहो।"
तुम्हरे गुन जाने स्याम।" "मैं मन बहुत भाति समुझायौ।"

इधर तो हिन्दी (खडी बोली) शुद्ध पश्चिमी भाषा भी नही, पजाब मे
अधिक प्रभावित है, उधर 'बिहारी' भाषा पूर्वी हिन्दी से भी पृथक् है और
, उडिया, असमिया के अधिक निकट है। यद्यपि — "बगला भाषा-भाषियो
बिहारियो को 'पश्चिम' तथा उनकी भाषा को सदैव पश्चिमी हिन्दी की ही
उपभाषा माना," तथापि — "यह निर्विवाद सत्य है कि बिहारी पूर्वी हिन्दी
की भाषा है तथा इसका सम्बध बगला, उडिया तथा असमिया से ही है।"

ध्वनि-भेद बताते हुए लिखा है कि हिन्दी मूर्धन्य ड तथा ढ का उच्चारण
बिहारी मे र तथा र्ह हो जाता है, यथा हिन्दी — पडना, बिहारी परल या
। यहा यह बताना चाहिए था कि बगला मे ड का प्रयोग बखूबी होता है,
पडिल, गडिने, गडाइ, गुडगुडि, इत्यादि। आगे लिखा है कि "इसी प्रकार
'ल' बिहारी मे 'र्' तथा 'न्' मे परिणत हो जाता है। यथा — हिन्दी
> बिहारी फर, हिन्दी गाली > भोजपुरी गारी, हिन्दी लगोट > भोजपुरी
ट तथा नगोट, हिन्दी लगोटी > भोजपुरी लगोटी, नगोटी तथा निगोटी।
बगला मे भी प्राय यही प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। यथा — हिन्दी तथा
संस्कृत लक्ष्मी > आदर्श बगला लक्खी किन्तु ग्रामीण बगला नक्खी एव हिन्दी
लगोटी > बगला नेगटी।" 'ल' के 'र' मे परिवर्तित होने का नियम नही है।
भोजपुरी और बगला मे लकारवाले शब्दो की प्रचुरता है। इसी तरह 'ल' के 'न'
मे बदलने का कोई व्यापक नियम नही है। लक्ष, लक्खी, लाज, लम्बा, लागि,
ल, लाठि, लुकोचुरि आदि ढेरो लकारयुक्त शब्द बगला मे प्रचलित हैं।

अन्य भेद 'य' और 'व' के सम्बध मे बताया है। "बिहारी तथा बगला मे,
समयबोधक को छोडकर शब्द के आदि मे 'य' तथा 'व' नही आते किन्तु
पश्चिमी हिन्दी की ब्रजभाषा मे ये 'य' तथा 'व' आते हैं।" ब्रजभाषा वाले
यमुना को जमुना कहते हैं और वैष्णव कवियो की कृपा मे जमुना का यथेष्ट
प्रयोग एव बगला कविता मे भी है। 'य' का 'ज' और 'व' का 'ब' उच्चारण हो, यह
ठीक लेकिन बिहारी तथा बगला मे शब्दो के आदि मे य-व का बहिष्कार हो,
निराधार कल्पना है। उदाहरण देते हुए लिखा है, "खडी बोली मे तो ये
'इ' तथा 'उ' मे परिणत हो जाते है। (मानो यह और वह का अस्तित्व ही
हो।) यथा — बिहारी (भोजपुरी) एमे, ओमे > ब्रजभाषा यामें, वामें
किन्तु हिन्दी इसमे, उसमे।" जा, जाहा, जे आदि बगला के परिचित सर्वनाम
। ये एआ, एआहा, ए नहीं हो गये।

"बिहारी तथा बगला मे ह्रस्व ए, ऐ, ओ, एव और का प्रयोग होता है,

किन्तु हिन्दी में इनका अभाव है।" एकदम अभाव तो नही है। देहात शब्द मे ए का उच्चारण 'नेक' के ए के समान दीर्घ नही होता। इसी तरह मेहतर, बेहतर। चौहत्तर और चौसठ के उच्चारण मे ह्रस्व-दीर्घ औ का भेद देखिए।

"यह बात उल्लेखनीय है कि बिहारी तथा बगला के सम्बधकारक के अनुसर्गों मे पूर्ण साम्य है। यथा — उहार घोडा, उहार घोडाय, उहार घोड़ी, उहार घोडीते।" इस तरह तो हमारा, तुम्हारा, मेरा रूप हिन्दी मे भी है, किन्तु क्या संज्ञा के साथ भी भोजपुरी, मैथिली आदि में 'र' चिन्ह लगता है? तिवारी जी की पुस्तक के पृष्ठ १९२ पर सम्बधकारक 'के' का विस्तृत वर्णन है और उदाहरण दिये गये है, राम के, कुकुरन के। बगला का सम्बध चिन्ह है 'र', हिन्दी और उसकी बोलियो का सम्बध चिन्ह है 'क'।

"बगाली की भाति ही बिहारी मे भी भविष्यत् के रूप अब सयुक्त करके सम्पन्न होते है।" पश्चिम मे वकारान्त रूपो के प्रयोग का उल्लेख हम पहले ही कर चुके है।

"क्रिया-रूपो के सम्बध मे, केवल सम्भाव्य वर्तमान के एक-दो रूपो को छोडकर, बिहारी तथा हिन्दी के क्रियापदो मे किसी प्रकार की समानता नही है। इसके विपरीत बगला तथा बिहारी के क्रियापदो के प्रायः सभी रूपो मे निकट का सम्बध स्पष्ट रूपो से दृष्टिगोचर होता है।" वर्तमान को तो छोड़ ही दीजिये। अतीत और भविष्य के बारे मे भ्रान्ति यह है कि भोजपुरी-बगला मे 'ल' और 'ब' चिन्हो का ही प्रयोग होता है, और पश्चिम मे इनका अभाव है। मराठी और राजस्थानी मे लकारान्त क्रियारूपो का उल्लेख पहले हो चुका है। इसी प्रकार ब्रजभाषा मे वकारान्त रूपो की चर्चा हम कर चुके है। यह धारणा बिल्कुल गलत है कि भोजपुरी आदि बोलियो मे 'ल' और 'ब' के बिना भूत और भविष्यत् के रूप बनते ही नही है। पृष्ठ २६७ पर अतीतकाल के बारे मे तिवारी जी ने ठीक लिखा है कि "भोजपुरी मे इसके दो रूप मिलते हैं—(अ) ल्-रहित अतीत तथा (आ) ल्-सहित अतीत।" देखुई, देखुए, देखुअ आदि उस लकारहीन अतीत के रूप है। इसी तरह मैथिली मे रहो, रहै, रहिए, आदि रूप हैं (पृष्ठ २११)। इसी प्रकार भविष्य के लिए बकारान्त रूप अनिवार्य नही है। भोजपुरी-मगही-मैथिली मे होई, होतइ होएत आदि रूपो का चलन भी है (पृष्ठ २०१)।

बिहारी तथा हिन्दी मे "एक तात्विक अन्तर" यह बताया गया है कि "हिन्दी की सकर्मक क्रियाओ मे जहा कर्मणि प्रयोग चलता है," वहा बिहारी मे कर्तरि प्रयोग का चलन है। हिन्दी की सकर्मक क्रियाओ के कर्मणि प्रयोग का उल्लेख यो किया गया है मानो प्रत्येक काल मे कर्मणि प्रयोग सभव हो।

लड़का पुस्तक पढ़ता है—पढ़ेगा, लड़की पुस्तक पढ़ती है—पढ़ेगी, यहाँ क्रिया का सम्बन्ध कर्ता से है, न कि कर्म से। केवल अतीतकाल में—जब क्रिया सम्पन्न हो चुकी है—उसमें कर्म का सम्बन्ध होता है लड़की ने आम खाया, लड़के ने पुस्तक पढ़ी। हिन्दी के प्रभाव से भोजपुरी क्रियाओं के अतीत-रूपों में भी यह लिंगभेद प्रकट होने लगा है। पृष्ठ १८५ पर लिखा है, "कभी कभी संज्ञा पदों का लिंग ज्ञान क्रियाओं द्वारा भी निर्धारित होता है। यथा—घर जर गइल, घर जल गया, पोथी जरि गइलि, यहाँ 'घर' पुल्लिंग तथा पोथी स्त्रीलिंग है यह गइल तथा गइलि क्रिया के द्वारा ही प्रतीत होता है।" हिन्दी वालों से भोजपुरिया की भिन्न प्रकृति होनी चाहिए, इसलिए "यहाँ इस बात को सदैव स्मरण रखना चाहिए कि खड़ी बोली बोलने वालों की भाँति भोजपुरी भाषा-भाषियों के मन में यह स्पष्ट धारणा नहीं होती कि घर पुल्लिंग तथा पोथी स्त्रीलिंग है। स्पष्ट धारणा न होने पर भी वे घर के साथ गइल और पोथी के साथ गइलि रूपों का प्रयोग कर लेते हैं, इससे सिद्ध होता है कि अतीतकाल में कर्मणि प्रयोग और लिंगभेद के संस्कार भोजपुरियों के अवचेतन में बद्धमूल हो चुके हैं। अकर्मक क्रियाओं के अतीत रूपों में हिन्दी के समान भोजपुरी में भी लिंगभेद मिलता है सकरजि कहलें, गउरा पार्वती कहलीं। (पृष्ठ ३४३)। सिद्धान्त यह स्थिर किया गया है कि "मागधी-प्रसूत, बंगला, उड़िया आदि भाषाओं में भी कर्तरि प्रयोग ही प्रचलित है।" लेकिन डॉ चाटुर्ज्या के अनुसार बंगला, असमिया और उड़िया के प्राचीन रूपों में लिंगभेद विद्यमान था। "निअ धरिणी चण्डाली लेली—" इस तरह के प्रयोगों का हवाला देने के बाद उन्होंने लिखा है, "इनसे पता चलता है कि लिंग-भेद सम्बधी ज्ञान भाषा में काफी तीव्र था।"[1] इससे क्या समझा जाय? जब भाषाएं सद्य प्रसूत थीं, तब लिंगभेद था, जब विकसित और पल्लवित हुईं, तब लिंगभेद मिट गया? बंगला से लिंगभेद मिटा, डॉ चाटुर्ज्या के अनुसार "व्याकरण की रूढ़ियों को विवेक के सामने झुकना पड़ा।" दुर्भाग्य से विवेक का पूर्ण प्रकाश भोजपुरी पर न पड़ा, अविवेक की छाया में लिंगभेद बना ही रहा। नकारात्मक रूपों के लिए लिखा है कि बिहारी में जिन, जनि और मति शब्दों का व्यवहार होता है, "हिन्दी में केवल मत का प्रयोग होता है।" एक शब्द और भी है 'न' या 'नहीं'। इस 'न' का प्रयोग भोजपुरी में भी होता है—तु भिजब ना, ओइसन केहुके न बीते। (पृष्ठ ३३५)। जिन, जनि का प्रयोग ब्रज, बुंदेलखंडी आदि हिन्दी की अन्य पश्चिमी बोलियों में होता है। क्या जिन, जनि, मत का प्रयोग बंगला में होता है? तिवारी जी ने

1. ऑरिजिन एण्ड डिवेलपमेंट आव बँगाली लैंग्वेज, खण्ड २, पृष्ठ ७२०-२१।

निष्कर्ष यह निकाला है : "सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि बिहारी—मैथिली, मगही तथा भोजपुरी — का जिन बातो मे पश्चिमी हिन्दी से पार्थक्य है, उन्ही बातो से इसका बगला से साम्य है। बिहारी बोलियो की पारस्परिक एकता इस बात को स्पष्ट रूप से प्रमाणित करती है कि इनकी उत्पत्ति मागधी अपभ्रंश से हुई है।"

पहले तो इसी मे सन्देह है कि मागधी अपभ्रंश नाम की कोई बोलचाल की भाषा थी। यदि हो भी तो सबसे पहले मगही, भोजपुरी और मैथिली के भेद की व्याख्या करनी होगी कि एक ही माता की इन पुत्रियो मे 'तात्विक' भेद कैसे पैदा हो गये? ग्रियर्सन का मत था कि हिन्दी या बगला की तुलना मे मैथिली और मगही के क्रिया-रूप आश्चर्यजनक ढग से पेचीदा हैं। क्रिया-रूप के इसी भेद का उल्लेख डॉ चाटुर्ज्या ने किया है।[1] डॉ. तिवारी ने भी उ[स] बात को दोहराया है: "भोजपुरी क्रियाओं के रूप मे मैथिली तथा म[गही की] क्रियाओ के रूप की जटिलता का सापेक्षिक दृष्टि से अभाव है।" (पृष्ठ ३)

'हूँ' के लिए छी है, थिकहू भी है। बाटी, बाडी, बानी, हई, हवं सब 'हूँ' के लिए है। 'था' के लिए प्रथम पुरुष मे हल, रहल, छल आदि अनेक रूप है। और ये सभी अपभ्रंश प्रसूत है। मैथिली और मगही की बात दरकिनार, भोजपुरी के ही सब रूपो को मागधी अपभ्रंश से सिद्ध करना कठिन होगा। वर्तमान काल मे लकारान्त रूप है, लकारहीन रूप भी, भविष्य के लिए बकारान्त रूप है, बकारहीन भी। इसी प्रकार अतीत के लिए लकारान्त रूप है, लकारहीन भी। ये सब एक ही अपभ्रंश से कैसे उत्पन्न हुए, इसकी कोई कैफियत "भोजपुरी भाषा और साहित्य" मे नही दी गयी। डॉ. चाटुर्ज्या ने बगला भाषा के मूल उद्गम के बारे मे ठीक लिखा है, "बगला बोलिया एक ही आदि बगला भाषा से उत्पन्न नही मानी जा सकती। उन्हे उत्तरकालीन मागधी अपभ्रंश के विभिन्न स्थानीय रूपो मे उत्पन्न मानना चाहिए।"[1] इसी तरह भोजपुरी, मैथिली आदि को विभिन्न प्राचीन बोलियो मे उत्पन्न मानना युक्तिसगत है।

तिवारी जी ने भोजपुरी को हिन्दी क्षेत्र से बाहर की भाषा सिद्ध करने के लिए जो तर्क दिये है, वे या तो भ्रान्त है या काफी कमजोर है। उसे बगला [से] सम्बद्ध करने के लिए उन्होंने जो आग्रह दिखाया है, वह अन्तर्जातीय भाईच[ारे] की दृष्टि से श्लाघ्य हो सकता है, लेकिन भाषा-विज्ञान की दृष्टि से सत्य [नहीं]।

---

[1] ...मेंट..., भाग १, पृष्ठ ९१।

नहीं होता। भोजपुरी और बंगला में अनेक महत्वपूर्ण समानताएं हैं लेकिन वे मराठी, राजस्थानी, ब्रज, अवधी आदि में भी मिलती हैं। हिन्दी और हिन्दी की बोलियों में उसकी समानताएं ऐसी भी हैं जो उसे बंगला से विलग करती हैं। भोजपुरी के क्रिया-रूपों में लिंगभेद मिलता है, बंगला में इसका अभाव है। यह साधारण भेद नहीं है। भोजपुरी में है या हे क्रिया का व्यवहार होता है, बंगला में इसका अभाव है। भोजपुरी में मैं या मएँ, हम आदि सर्वनाम मिलते हैं। ये बंगला में नहीं हैं। भोजपुरी में सम्बन्धकारक के लिए 'क' या उसके किसी रूप का व्यवहार होता है। बंगला में इसका व्यवहार नहीं होता। भोजपुरी सकार प्रधान है, बंगला शकार प्रधान।

तिवारी जी ने कहीं यह सिद्ध नहीं किया कि भोजपुरी के धातु-प्रत्यय हिन्दी से भिन्न हैं। बात, बाल चाल, मन, समुझ, जाच आदि शब्द (पृष्ठ १५५) हिन्दी में भी प्रचलित हैं। समुझ का समझ रूप परिनिष्ठित हिन्दी में चलेगा, इतना ही अन्तर है। क्या यह समझ शब्द बंगला में प्रचलित है? बनइला, धरइला जैसे रूप अवधी में भी प्रचलित हैं, बनइला को बनैला कर दीजिए, हिन्दी का परिष्कृत रूप हो गया। बंगला में भी बनैला है? बुझक्कड, पिअक्कड, घुमक्कड, भुलक्कड—किसी से पूछिए, ये हिन्दी क्षेत्र के बाहर के शब्द हैं? चलता-फिरता, लोटनी, बहना आदि शुद्ध हिन्दी के रूप हैं। इसी प्रकार उठती, घटती, चलन, माडन, ढकना, छानना, ओढना, ढकनी, सोहनी, चटनी आदि-आदि रूप भोजपुरी की ही सम्पत्ति नहीं हैं। उन पर हिन्दी की अन्य बोलियों का हक भी है। इससे कैसे सिद्ध हुआ कि भोजपुरी हिन्दी से दूर है और बंगला के अधिक निकट है? इसी प्रकार भोजपुरी की कस, कर, काढ, कांप, काट, गूज, घट, चुन, चढ़, चल, छेद, टुट (टूट), ठग, डूब, डर, दे, नहा, पढ, बोल, हट, हार आदि धातुएं हिन्दी की भी हैं। इसी प्रकार "उपसर्ग-संयुक्त धातुओं के उदाहरण" हैं उपज (ना), उखार (उखाडना), उतर, निबाह, पोछ, बइठ (बैठना), सउप (सौपना), इत्यादि। प्रेरणार्थक क्रियाएं . उखाड (पृष्ठ २४७ पर इसे प्रेरणार्थक कहा गया है), तार (तारना), नहा (नहाना), पसार, फाड़, मार, इत्यादि। "अर्द्ध-तत्सम धातुएं" गरज (ना), तज (ना), बरज (ना), इत्यादि। ऐसी धातुएं जो "साधित रूप में नहीं प्रतीत होती हैं, और जिनकी उत्पत्ति संस्कृत में भी नहीं जान पडती"—अट (अटना), चिहुक, जुट (ना), झाक, टाप (ना), टोक (ना), पटक, इत्यादि। नाम धातुएं अकुर (अकुरित होना), उग (उगना), खोव (खोना), गाढ (ना), थाम (थामना), दुखा (ना), पिरा, बखान, भूख आदि। "अर्द्ध तत्सम नामधातु" अकुला (ना), अलाप (ना), असीस (ना)। "फारसी-अरबी शब्दों से बनी हुई नाम धातुएं" : गर्मा (ना), बकस (बख्शना), बदल (बदलना)। इसी तरह अन्य धातुएं अटक (ना),

फूक (ना), झगड़, पछड़ (पिछड़ना), पुकार, टहल, फूंक (फूंकना), छिक (छींकना), खटखटा (ना), गुलबुला (ना)। ये सब क्रियाए इन्ही या इनसे कुछ भिन्न रूपो मे हिन्दी और उसकी अन्य बोलियां मे मिलती हैं। ऐसी धातुएं बहुत थोडी है जो भोजपुरी मे व्यवहृत तो होती हो किन्तु हिन्दी के लिए अव्यवहार्य हो। ऐसी धातुए जो भोजपुरी और बंगला मे सामान्य हो किन्तु हिन्दी तथा उसकी "पूर्वी" बोलियो के लिए असामान्य हो, ढूढने से दो-चार ही मिलेगी। इसके विपरीत बंगला मे बहुत सी धातुए, मूल शब्द-भडार का बहुत बडा भाग ऐसा है जो न हिन्दी मे है, न भोजपुरी आदि "हिन्दी क्षेत्र बाहर" समझी जाने वाली बोलियो मे।

बंगला की वे क्रियाए जो भोजपुरी से मिलती हैं, अक्सर हिन्दी अन्य बोलियो की क्रियाओ से भी मिलती-जुलती है। यह स्वाभाविक है क्योंकि अवध और बिहार के बहुत से लोग प्राचीन काल से ही बंगाल जाकर बसते रहे हैं। डा चाटुर्ज्या ने यह मत प्रकट किया है कि "भौगोलिक परिस्थिति सम्बधी प्रमाण, परम्परा, इतिहास — सभी से यह सिद्ध होता है कि आर्य भाषा एक बाढ के रूप मे बंगाल पहुची।"[1] आगे लिखा है कि उसके आगे से (अर्थात् पश्चिम की ओर से) राज्य-कर्मचारी, सैनिक बौद्ध, जैन प्रचारक और पुरोहित, व्यापारी और कारीगर अपने साथ भाषा लाये।[2] बाद को संस्कृत की जो शब्दावली बंगला मे गयी, उसे छोड़ कर भी बंगला और हिन्दी मे, विशेषकर हिन्दी की पूर्वी बोलियों मे, बहुत बडी समानता है। फिर भी अवधी, भोजपुरी आदि तो हिन्दी की बोलिया बनी — वे बंगला की बोलिया न बनी — और उधर बंगला एक स्वतंत्र भाषा के रूप मे विकसित हुई। इसका कारण यह है कि बंगला की अपनी क्रियाए है जो हिन्दी और उसकी सभी बोलियो से भिन्न है, उसकी अपनी मूल शब्द-भडार की सामग्री है जो हिन्दी की बोलियो से उसका अलगाव स्पष्ट करती है। नित्य व्यवहार मे आनेवाली हिन्दी और उसकी बोलियो से भिन्न बंगला की कुछ क्रियाएं ये हैं : घुमाना—सोना (जब कबीरदास कहते हैं, सूतल रहलू मैं नींद भरी हो, गुरु दिहले जगाइ, तब हिन्दी भाषी सोना क्रिया से परिचित होने के कारण सूतल का अर्थ समझ लेता है, किन्तु बिहार के हिन्दी भाषी बन्धु भी बंगला की धातु विशेष से परिचित हुए बिना रवीन्द्रनाथ की पंक्ति "घुम भागा आखि फूटे थरे थरे" का अर्थ न समझेंगे। बंगला के "आखि फूटे" और हिन्दी की "आख फूटे" एक-दूसरे से बिलकुल उल्टे हैं।), दोड़ानो—खड़े हो

1. ऑरिजिन एण्ड डिवेलेपमेंट...., खंड २, पृष्ठ ६२।
2. उप., पृष्ठ ७२—७३।

भाषी प्रदेश को एक करने के बदले लोग वर्तमान उत्तर प्रदेश के भी विभाजन की चर्चा चला चुके है।

ब्रज और बुन्देलखड के अलग प्रान्त बनाने की माग भी उठ चुकी है। हिन्दी-

यदि ब्रज, अवध, बुन्देलखड, मिथिला आदि स्वतंत्र जातियो के प्रदेश हैं तो उनके जिन साहित्यकारो ने अपना सर्वाधिक साहित्य हिन्दी मे रचा उन्होने अपनी मातृभाषा का अहित किया है। आधुनिक हिन्दी के जन्मदाता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भोजपुरी क्षेत्र के थे। हिन्दी के और भारत के श्रेष्ठ उपन्यासकार प्रेमचद भोजपुरी क्षेत्र के थे। इन्हे भोजपुरी को सँवारना चाहिए था, न कि हिन्दी को। बिहार और भोजपुरी क्षेत्र के अन्य लेखकों मे सर्वश्री शिवपूजन सहाय, दिनकर, हजारी प्रसाद द्विवेदी, जानकीवल्लभ शास्त्री, राहुल साकृत्यायन, नागार्जुन, आदि के प्रसिद्ध नाम हिन्दी पाठको को सहज ही याद आ जायेंगे। नागार्जुन ने मैथिली मे भी रचनाए की हैं; बलचनमा आदि उपन्यास हिन्दी मे लिखे है। राहुल जी की भोजपुरी रचनाए उनकी हिन्दी कृतियो का शताश भी नही है। कवि रूप मे दिनकर, आलोचक रूप मे हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी के कारण विख्यात है। इसी प्रकार अवधी क्षेत्र मे प्रतापनारायण मिश्र से लेकर निराला तक, ब्रज क्षेत्र मे राधाचरण गोस्वामी से लेकर पद्मसिंह शर्मा तक, बुन्देलखड मे मैथिलीशरण गुप्त और वृन्दावनलाल वर्मा जैसे दिग्गज हिन्दी साहित्य को समृद्ध करते रहे हैं। हिन्दी मे दिल्ली, मेरठ और मुरादाबाद के लेखक कितने है ? उसे समृद्ध साहित्य की भाषा बनाया है, खड़ी "बोली" क्षेत्र के बाहर, विशाल हिन्द प्रदेश की अन्य बोलियो के क्षेत्रों मे रहने वाले साहित्यकारो ने। क्या बगला और मैथिली के अलगाव पर जोर देने वाले मित्र भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, प्रेमचद, वृन्दावनलाल वर्मा, प्रसाद, निराला, पत, मैथिलीशरण गुप्त, रामचद्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, दिनकर आदि साहित्यकारो को अपनी "भाषा" का साहित्यकार मानने से इनकार करेगे ? क्या वे इनके हिन्दी कृतित्व को उसी दृष्टि से देखेंगे जिस दृष्टि से मराठी या तेलुगु-भाषी पाठक प्रेमचन्द या मैथिलीशरण गुप्त को देखते है या जिस दृष्टि से हम हिन्दी-भाषी पाठक रवीन्द्रनाथ ठाकुर को देखते हैं ?

कलकत्ते में एक बार भोजपुरी-सम्मेलन हुआ। इसके सभापति प्रिंसिपल मनोरजन प्रसाद सिनहा ने भोजपुरी को मातृभाषा और हिन्दी को राष्ट्रभाषा बताया। उन्होंने पूछा, "का हिन्दी अउरी भोजपुरी मे कवनो विरोध बा ? मातृभाषा के जे सेवा करेला ऊ का राष्ट्रभाषा के सेवा ना करे ?" तुलसीदास का हवाला देते हुए उन्होंने कहा, "रामचरितमानस अवधी मे अउरी विनय पत्रिका वोगैरह ब्रजभाषा मे। हम पूछतानी कि का ऊ हि[illegible] सेवा ना [illegible] [illegible]वाई, सूरदास, कबीर, [illegible] रसखान, र[illegible]

का हिन्दी के कवि लोग ना रहे ? का कबीर के भाषा भोजपुरी ना हउ ? का तुलसीदास के भाषा में भोजपुरी के भरमार नइखे ? मैथिल कोकिल विद्यापति के का हमनी हिन्दी के कवि ना मानी ले ?" इन वाक्यों में भोजपुरी, अवधी, ब्रज — सभी भाषाओं में लिखनेवालों को हिन्दी का कवि माना गया है। यह बिल्कुल सही है, क्योंकि ये सब हिन्दी की बोलियां है, किसी एक बोली की सेवा करना उस भाषा की सेवा करना ही है। भोजपुरी-प्रेमी कबीर को भोजपुरी का कवि कहते है, हिन्दी प्रेमी उन्हे हिन्दी का कवि मानते है। खड़ी बोली, ब्रज, अवधी, भोजपुरी — इनमे किसी भी एक बोली में या उनके मिश्रित रूप में कबीर लिखते है, वह हिन्दी के ही कवि कहलाते है क्योंकि इन सबका आपसी सम्बध सामान्य शब्द-भडार रखने वाली बोलियो का है, स्वतत्र भाषाओ का नहीं। इसीलिए कबीर, सूर, तुलसी, मीरा, आदि की रचनाए किसी एक जनपद में ही लोकप्रिय नही है, वे हिन्द प्रदेश के सभी जनपदो में लोकप्रिय है। प्रिसिपल मनोरजन ने विद्यापति आदि को हिन्दी का कवि कह कर इस बात का समर्थन किया है कि मैथिली आदि हिन्दी की बोलियां है। मैथिली स्वतत्र भाषा होती तो उसके कवि को हिन्दी कवि कैसे कहते ? किसी ने रवीन्द्रनाथ ठाकुर को हिन्दी कवि क्यो नही कह दिया ?

हिन्दी की ये बोलियां कई शताब्दियों से एक-दूसरे को प्रभावित करती आ रही हैं। डॉ उदयनारायण तिवारी कहते है कि भोजपुरी पर "कहीं-कहीं तो पश्चिम का इतना अधिक प्रभाव पड़ा है कि जहा 'ल' सुरक्षित रहना चाहिए वहा भी 'र' हो गया है।" मिसाल गलत है, लेकिन स्थापना सही है कि भोजपुरी पर पश्चिमी हिन्दी बोलियो का प्रभाव पड़ा है। भोजपुरी में भविष्यकाल के अन्य पुरुष सम्बधी रूपो में इह प्रत्यय लगता है। "इस प्रकार भोजपुरी अन्य पुरुष के रूपो पर शौरसेनी की स्पष्ट छाप है।" ब्रजभाषा में करणकारक के लिए अन् प्रत्यय का प्रयोग होता है। "अवधी तथा भोजपुरी मे भी ठीक इसी कारक मे अन् तथा अनि प्रत्यय प्रयुक्त होते है।" "भोजपुरी क्रियापदो मे लिंग का पार्थक्य खड़ी बोली के ही प्रभाव मे आया है।" आप् प्रत्यय के लिए लिखा है, "यह प्रत्यय भोजपुरी मे हिन्दी से आया है और यह मिलाप (दक्षिण हिन्दी मेलमिलाप) मे वर्तमान है।" इस प्रकार डॉ तिवारी के ही अनेक वाक्य इस सदर्भ मे उद्धृत किये जा सकते है और उनसे सिद्ध होता है कि भोजपुरी तथा अन्य हिन्दी बोलियां एक-दूसरे को प्रभावित करती रही हैं। इन बोलियों का शब्द-भडार इतना मिलता-जुलता है कि यह कहना सरल नहीं है कि कौन सा शब्द किसी एक ही बोली मे व्यवहृत होता है, दूसरी में नही। अपने ग्रथ मे तिवारी जी ने एक जगह बुदेलखडी के शब्द-भडार की चर्चा की है। इस सिलसिले मे उन्होने यह घोषित करते हुए एक शब्द-सूची दी

हिन्दी प्रदेश को टुकड़े करने की मांग भी उठ चुकी है। हिन्दी-
ब्रज और बुन्देलखण्ड के अलग प्रदेश बनाने की मांग भी उठ चुकी है। हिन्दी-
भाषी प्रदेश को एक करने के बदले मांग वर्तमान उत्तर प्रदेश के भी विभाजन
की चर्चा चल चुकी है।

यदि ब्रज, अवध, बुन्देलखण्ड, मिथिला आदि स्वतंत्र जातियों के प्रदेश हैं,
तो उनके किन साहित्यकारों ने अपना सर्वाधिक साहित्य हिन्दी में रचा है,
उन्होंने अपनी मातृभाषा का अहित किया है। आधुनिक हिन्दी के जन्मदाता
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भोजपुरी क्षेत्र के थे। हिन्दी के और भारत के श्रेष्ठ उपन्यास-
कार प्रेमचंद भोजपुरी क्षेत्र के थे। इन्हें भोजपुरी को संवारना चाहिए था, न
कि हिन्दी को। बिहार और भोजपुरी क्षेत्र के अन्य लेखकों में सर्वश्री शिव-
पूजन सहाय, दिनकर, हजारी प्रसाद द्विवेदी, जानकीवल्लभ शास्त्री, राहुल
सांकृत्यायन, नागार्जुन, आदि के प्रसिद्ध नाम हिन्दी पाठकों को सहज ही याद
आ जायेंगे। नागार्जुन ने मैथिली में भी रचनाएं की हैं; बलचनमा आदि उपन्यास
हिन्दी में लिखे हैं। राहुल जी की भोजपुरी रचनाएं उनकी हिन्दी कृतियों का
शतांश भी नहीं है। कवि रूप में दिनकर, आलोचक रूप में हजारीप्रसाद
द्विवेदी हिन्दी के कारण विख्यात हैं। इसी प्रकार अवधी क्षेत्र में प्रतापनारायण
मिश्र से लेकर निराला तक, ब्रज क्षेत्र में राधाचरण गोस्वामी से लेकर पद्मसिंह
शर्मा तक, बुन्देलखण्ड में मैथिलीशरण गुप्त और वृन्दावनलाल वर्मा जैसे दिग्गज
हिन्दी साहित्य को समृद्ध करते रहे हैं। हिन्दी में दिल्ली, मेरठ और मुरादाबाद
के लेखक कितने हैं? उसे समृद्ध साहित्य की भाषा बनाया है, खड़ी "बोली"
क्षेत्र के बाहर, विशाल हिन्दी प्रदेश की अन्य बोलियों के क्षेत्रों में रहने वाले
साहित्यकारों ने। क्या बंगला और मैथिली के अलगाव पर जोर देने वाले
मित्र भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, प्रेमचंद, वृन्दावनलाल वर्मा,
प्रसाद, निराला, पंत, मैथिलीशरण गुप्त, रामचंद्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी,
दिनकर आदि साहित्यकारों को अपनी "भाषा" का साहित्यकार मानने से
इनकार करेंगे? क्या वे इनके हिन्दी कृतित्व को उसी दृष्टि से देखेंगे जिस
दृष्टि से मराठी या तेलुगु-भाषी पाठक प्रेमचन्द या मैथिलीशरण गुप्त को देखते
है या जिस दृष्टि से हम हिन्दी-भाषी पाठक रवीन्द्रनाथ ठाकुर को देखते हैं?

कलकत्ते में एक बार भोजपुरी-सम्मेलन हुआ। इसके सभापति प्रिंसिपल
मनोरंजन प्रसाद सिनहा ने भोजपुरी को मातृभाषा और हिन्दी को राष्ट्रभाषा
बताया। उन्होंने पूछा, "का हिन्दी अउरी भोजपुरी में कवनो विरोध बा?
मातृभासा के जे सेवा करेला ऊ का राष्ट्रभासा के सेवा ना करे?" तुलसीदास
का हवाला देते हुए उन्होंने कहा, "रामचरितमानस अवधी में अउरी विनय
पत्रिका वगैरह ब्रजभाषा में। हम पूछतानी कि का ऊ हिन्दी के सेवा ना
कइलन? चन्दबरदाई, सूरदास, कबीर, दादू, रसखान, ... इत्यादि.

[illegible] कर दिये गये थे। इन लोगों के साथ कभी-कभी कुछ ऐसे [illegible] भी मिल जाते हैं जो जातीय विकास की समस्या को समझते नहीं हैं, जो एक तरह के [illegible] से पीड़ित हैं, जो समझते हैं कि प्रत्येक बोली को [illegible] दर्जा दिये बिना सांस्कृतिक जनतंत्र कायम नहीं हो सकता। लेकिन ये बोलियां एक-दूसरे से इतनी ज्यादा मिलती-जुलती हैं कि [illegible] के लिए भी यह बताना कठिन होगा कि उनमें रचित कविताएं किस बोली की हैं।

बना से पूछों चमेली से पूछों, पूछों मैं बन भटकोइया।
गाय से पूछों गनेंदा से पूछों, पूछों मैं पोखरा कुइंया।

* * *

सम्बत सत्रह सो बनि गयऊ। तेरह अधिक ताहि पर भयऊ॥
साहजहां छोडी दुनियाई। पसरो औरंगजेब दुहाई॥

* * *

बिजुलिया चमके रे आंगन मे चितवन मार के।

ये पंक्तियां डॉ तिवारी द्वारा उद्धृत भोजपुरी के कवियों की हैं। प्रथम दो पंक्तियों में ब्रज और खड़ी बोली की तरह 'मैं' का बहुत साफ प्रयोग हुआ है। दूसरे उद्धरण में गयऊ, भयऊ आदि रामायणी अवधी की याद दिलाते हैं। "आंगन में चितवन मार के" जैसे टुकड़े खड़ी बोली में फब सकते हैं। हिन्दी की बोलियां एक-दूसरे के इतना नजदीक हैं कि एक में रचा हुआ साहित्य दूसरी के क्षेत्र में आसानी से समझ में आ जाता है। झांसी में एक बार जनपदीय कवियों का सम्मेलन हुआ। उस बुंदेलखंडी क्षेत्र में भोजपुरी के जनकवि रामकेर ने अपनी रचनाएं सुनाईं और वे खूब जमीं। नागार्जुन के उपन्यास "रतिनाथ की चाची" का नायक रतिनाथ अपनी चाची को अक्षर-ज्ञान कराने के बाद उसे रामायण पढ़ने योग्य बना देता है। इस उपन्यास से पता चलता है कि मैथिल गृहस्थों के यहां तुलसीकृत रामायण का पाठ आम बात है। लोग ब्रजभाषा के गीत भी गाते हैं—जागहु हो बृजराज, लाज मोर राखहु हो बृजराज। "नयी पौध" में दिगम्बर के नाना अवधी और ब्रज में कविता करते थे, जहां तक दिगम्बर का सम्बध है, "मीरा के वे अनमोल पद बहुधा दिगम्बर को अपनी लय में बहा ले जाते थे।" इन तथ्यों से यह निष्कर्ष निकलता है कि हमारे जातीय गठन में खड़ी बोली के अतिरिक्त ब्रज, अवधी आदि अन्य बोलियों का भी योग रहा है। जो भी बोली अपने क्षेत्र से बाहर के लोगों तक पहुंची है, वह दो या अधिक जनपदों को एक-दूसरे के पास लायी है और इस प्रकार हमारे जातीय निर्माण में सहायक हुई है। इस प्रक्रिया में अन्यतम महत्व गोस्वामी तुलसीदास का है। आज तक

है कि "बुंदेली में अनेक ऐसे शब्द प्रचलित हैं, जिनका हिन्दी में व्यवहार नहीं होता।" इस सूची के कुछ शब्द ये हैं : बाबा, दादा, बापू, दीदी, माई, बेट[illegible] भौजी, दुलहिन, लुगाई, महरिया, बिटिया, लाला, छोना, बुवा, जीजा, गुड़[illegible] धरिया, टाठी, बटुवा, लोटवा, कलसा, करहिया (कड़ाही), पानदव्वा। अ[illegible] बुंदेलखंड में ऐसे शब्द हैं जिनका प्रयोग इन बोलियों के क्षेत्र ही में होता है [illegible] यदि दादा-दीदी, भैया-भौजी को कोई विद्वान एक ही जनपद के शब्द स[illegible] है, तो उससे बुद्धिमान् बहस के अलावा और कोई बहस नहीं की जा सकती।

डॉ. जयकान्त मिश्र ने मैथिल साहित्य के इतिहास में लिखा है कि शुद्ध मैथिली में वैष्णव भजन नहीं हैं। भक्तजन अवधी और ब्रज में रचे हुए भजन गाते हैं। मिथिला से ब्रज और अवध काफी दूर हैं, बंगाल बहुत पास है। यदि मैथिली हिन्दी की अपेक्षा बंगला के अधिक निकट होती तो उसके क्षेत्र में बंगला के वैष्णव-गीतों का प्रचार होता, न कि अवधी और ब्रज के गीतों का। हिन्दी के अन्य जनपदों की तरह मिथिला में भी लोग ब्रजभाषा में कविता रचते थे। डॉ मिश्र के अनुसार लोचन लक्ष्मीनारायण मैथिल, हलधर दास, बलबीर, सीताराम, मैथिल रमापति, शंकरदत्त, गुमान, मौन, हेम, ईशा, गोपाल, कृष्ण, लच्छिराम चिरजीव, लालदास, रघुनंदनदास, हर्षनाथ झा, सोने, गोपीश्वर सिंह, बुद्धिलाल फतुरालाल, माहेश्वराम, लक्ष्मीनाथ आदि बीसों कवियों के नाम दिये जा सकते हैं जो ब्रजभाषा में रचनाएं करते रहे हैं। अनेक मैथिल कवियों की भाषा पर अर्थात् मैथिली पर ब्रजभाषा का प्रभाव पड़ा। बहुतों ने सूर और तुलसी के अनुकरण पर गीत लिखे।

तुलसीदास ने ब्रज और अवधी में रचनाएं कीं। उनकी साहित्यिक भाषा पर हिन्दी की अन्य बोलियों का भी प्रभाव है, उनकी रचनाएं ब्रज और अवध के बाहर भी लोकप्रिय हुईं। इन बातों से सिद्ध होता है कि विभिन्न जनपद एक-दूसरे के निकट आ रहे थे और वहां के निवासी अपना अलगाव दूर करके एक महाजाति के अंग बन रहे थे। महाजाति का निर्माण एक लम्बी प्रक्रिया है; सामन्ती अवशेषों और अवरुद्ध उद्योगीकरण के सबब से वह प्रक्रिया आज भी पूरी नहीं हुई। जो क्षेत्र हिन्दी केन्द्रों से यातायात के साधनों द्वारा जुड़े हुए थे, वहां अलगाव की भावना कम हुई। जहां यातायात के साधनों का अभाव रहा, सामन्ती सम्बन्ध ज्यादा दिनों तक कायम रहे, वहां अलगाव की भावना भी ज्यादा रही। डॉ. उदयनारायण तिवारी ने लिखा है कि "मैथिली अपने विशुद्ध रूप में उत्तरी दरभंगा के ब्राह्मणों की बोली है।" दरभंगा की सामंती शक्तियां ही मिथिला को अलग राज्य बनाने पर जोर देती रही हैं। इसी तरह बुंदेलखंड के आन्दोलन के पीछे सामंती शक्तियां रही हैं। ब्रज का अलग सूबा बनाने के लिए वे लोग उतावले हुए हैं जिन्हें उत्तर प्रदेश के मंत्रि-मंडल में जगह नहीं

किसी भी साहित्यकार की रचनाएं हिन्दी के सभी जनपदों में इतने व्यापक स्तर पर — गांवों के जन-साधारण और नगरवासियों द्वारा — नहीं पढ़ी गयीं जैसे रामायण पढ़ी गयी है। रामायण को लोग इस तरह बंगाल और महाराष्ट्र में नहीं पढ़ते यद्यपि मुक्ति पाने और स्वर्ग जाने की आकांक्षा वहां के लोगों में हिन्दी-भाषियों से कम नहीं है। कुछ लोग इस बात पर आपत्ति करते हैं कि ब्रज, अवधी, मैथिली के साहित्य को हम हिन्दी का ही साहित्य मानते हैं। साहित्य और संस्कृति किसी मानव-समूह की होगी, हवा में तो विकसित न होगी। आधुनिक युग में ये मानव-समूह जातियों (नेशन) के रूप में गठित हैं। हिन्दी-भाषी एक महाजाति हैं। इस महाजाति के अन्तर्गत जितनी भी बोलियों के लोग आते हैं, उन सबका साहित्य एक ही जाति का साहित्य कहलायेगा। हमारी जाति हिन्दी है, हमारी भाषा हिन्दी है, इसलिए हिन्दी क्षेत्र की सभी बोलियों के साहित्य को हम हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत लेते हैं। इसका अर्थ यह नहीं होता कि तुलसी, सूर, कबीर ने आज की हिन्दी में रचनाएं की हैं। इसका अर्थ इतना ही है कि इन सब बोलियों में रचा हुआ साहित्य एक ही जाति की सम्पदा है। संसार में शायद ही कोई ऐसी भाषा हो जिसकी बोलियों का साहित्य इतना समृद्ध हो, साथ ही पुराना भी हो। खड़ी बोली हिन्दी का साहित्य अपेक्षाकृत नवीन है। इसके अनेक ऐतिहासिक कारण हैं जिनमें मुख्य हैं खड़ी बोली के मूल क्षेत्र में फारसी का राजभाषा के रूप में आधिपत्य और अंग्रेजी राज में हिन्दी-भाषी प्रदेश का पिछड़ा रहना। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि 'बोलियों' में साहित्य-रचना हिन्दी क्षेत्र की अद्भुत घटना नहीं है। बोली के हिसाब से बंगाल के तीन भाग किये जा सकते थे। डॉ चाटुर्ज्या ने लिखा है कि "भाषा और संस्कृति के विचार से तीन बंगाल निर्मित हो सकते थे — राढ़, वरेन्द्र और बंग; उत्तरी बंगाल कामरूप (आसाम) में मिल जाता और डेल्टा राढ़ और बंग में बांट लिया जाता। इनमें से प्रत्येक बंगाल अपने में लगभग उतना ही पूर्ण होता जितना कि उड़ीसा या असम है।"[1] तीन बंगाल न बने; बना एक ही बंगाल। यदि हमें इन तीनों क्षेत्रों की बोलियों में साहित्य मिले, तो क्या हम उसे बंगला साहित्य के अलावा किसी और नाम से पुकारेंगे? यदि पंजाब की पोठवारी बोली में किसी ने साहित्य रचा हो, तो क्या उसे पंजाबी साहित्य में न गिना जायगा? दक्खिनी फ्रांस की बोली प्रोवासाल में बहुत सा साहित्य रचा गया था, उसे फ्रांसीसी साहित्य में ही तो गिना जाता है। रॉबर्ट बर्न्स ने अपनी अधिकांश कविताएं स्कॉट बोली में लिखी थीं। किन्तु अंग्रेजी साहित्य के इतिहास में उसकी चर्चा भी होती है। ब्रिटिश जाति

1. ऑरिजिन एण्ड डिवेलपमेंट..., खंड 1, पृष्ठ 147।

के निर्माण में गेलिक भाषी स्कॉट लघु जाति का विलयन हो गया और अब गेलिक को अंग्रेजी की एक बोली का दर्जा ही प्राप्त है। भारत या अमरीका के अंग्रेजी-लेखकों को अंग्रेजी साहित्य के इतिहास में स्थान नहीं मिलता। यह उचित है। अंग्रेजी साहित्य ब्रिटिश जाति का साहित्य है। अमरीकी जाति अलग है। भाषा एक होने पर भी अमरीकी विश्वविद्यालयों में यह भ्रम नहीं होता कि वहां ब्रिटिश साहित्य का अध्ययन हो रहा है या अमरीकी साहित्य का।

तीन बंगालों के प्रसंग में डॉ चाटुर्ज्या ने एक बात बहुत मार्के की कही है, "बोलियों की विभिन्नता होते हुए भी राजनीतिक और सामाजिक कारणों से बंगाल में भाषा-सम्बंधी एकता कायम हुई है।"[1] जिस प्रदेश में तीन बंगाल बन सकते थे, वहां जातीय एकता केवल भाषागत कारणों से उत्पन्न नहीं हुई। किसी भी प्रदेश में जातीय निर्माण केवल भाषागत कारणों से नहीं होता। सामाजिक कारणों की बहुत बड़ी भूमिका होती है। यदि यह मान भी लिया जाय कि भोजपुरी और बंगला एक ही मागधी से उत्पन्न हुई है, तो भी इस भाषागत तथ्य से एक महत्तर तथ्य है, वह यह कि "मगध का प्राचीन गौरव और संस्कृति समाप्त हुई और क्रमशः वह हिन्दुस्तान का एक भाग बन गया।"[2] भोजपुरी प्रदेश, मिथिला और मगध में ब्रज और अवधी ने ही प्रवेश न किया, वहां खड़ी बोली भी पहुंची और उसी तरह जातीय भाषा के रूप में विकसित होने लगी जैसे ब्रज या अवध में। बिहार में हिन्दी और उसकी बोलियों के परस्पर सम्बंध के बारे में डॉ उदयनारायण तिवारी ने लिखा है, "यद्यपि साहित्यिक भाषा के रूप में, बिहारी भाषा-भाषी क्षेत्र में आज हिन्दी की ही प्रतिष्ठा है तथापि बिहारी — मैथिली, मगही तथा भोजपुरी — बोलने वालों की अपनी-अपनी बोलियों के प्रति अत्यधिक ममता है। बिहारी की इन बोलियों (अर्थात् हिन्दी की बोलियों) की जड़ें यहां की जनता के हृदय में बहुत दूर तक चली गयी हैं और यह आशा करना कि निकट भविष्य में, बोलचाल में भी, हिन्दी इनका स्थान ले लेगी, दुराशा मात्र है।"[3] बिहार या उसके बाहर के लोगों को अपनी-अपनी 'बोलियों' पर खूब ममता हो, इस पर किसी को क्या आपत्ति हो सकती है! यह बिलकुल सही है कि इन बोलियों की जड़ें जनता में बहुत दूर तक चली गयी हैं। इसलिए इन बोलियों में नाटक, गीत, व्यंग्य कविताएं आदि लिखी जायें, यह ठीक है। किसान-आन्दोलन की प्रगति के लिए इस तरह के लोक साहित्य की रचना आवश्यक है। किन्तु गद्य के लिए खड़ी बोली का

---

१. ऑरिजिन एण्ड डिवेलेपमेंट..., खंड १, पृष्ठ १८६।
२. उप., पृष्ठ १४७।
३ भोजपुरी भाषा और साहित्य, पृष्ठ १७५।

किसी भी साहित्यकार की रचनाएं हिन्दी के सभी जनपदों में इतने व्यापक स्तर पर — गावों के जन-साधारण और नगरवासियों द्वारा — नहीं पढ़ी गयीं जैसे रामायण पढ़ी गयी है। रामायण को लोग इस तरह बगाल और महाराष्ट्र में नहीं पढ़ते यद्यपि मुक्ति पाने और स्वर्ग जाने की आकाक्षा वहा के लोगों में हिन्दी-भाषियों से कम नहीं है। कुछ लोग इस बात पर आपत्ति करते हैं कि ब्रज, अवधी, मैथिली के साहित्य को हम हिन्दी का ही साहित्य मानते है। साहित्य और सस्कृति किसी मानव-समूह की होगी, हवा में तो विकसित न होगी। आधुनिक युग में ये मानव-समूह जातियों (नेशन) के रूप में गठित हैं। हम हिन्दी-भाषी एक महाजाति हैं। इस महाजाति के अन्तर्गत जितनी भी बोलियों के लोग आते हैं, उन सबका साहित्य एक ही जाति का साहित्य कहलायेगा। हमारी जाति हिन्दी है, हमारी भाषा हिन्दी है, इसलिए हिन्दी क्षेत्र की सभी बोलियों के साहित्य को हम हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत लेते हैं। इसका अर्थ यह नहीं होता कि तुलसी, सूर, कबीर ने आज की हिन्दी में रचनाएं की है। इसका अर्थ इतना ही है कि इन सब बोलियों में रचा हुआ साहित्य एक ही जाति की सम्पदा है। ससार में शायद ही कोई ऐसी भाषा हो जिसकी बोलियों का साहित्य इतना समृद्ध हो, साथ ही पुराना भी हो। खडी बोली हिन्दी का साहित्य अपेक्षाकृत नवीन है। इसके अनेक ऐतिहासिक कारण है जिनमें मुख्य है खड़ी बोली के मूल क्षेत्र में फारसी का राजभाषा के रूप में आधिपत्य और अंग्रेजी राज में हिन्दी-भाषी प्रदेश का पिछडा रहना। किन्तु यह स्मरण रखना चाहि[illegible] कि 'बोलियों' में साहित्य-रचना हिन्दी क्षेत्र की अद्भुत घटना नहीं है। बोल[illegible] के हिसाब से बगाल के तीन भाग किये जा सकते थे। डॉ. चाटुर्ज्या ने लि[illegible] है कि "भाषा और सस्कृति के विचार से तीन बगाल निर्मित हो सकते थे - राढ, वरेन्द्र और बग, उत्तरी बगाल कामरूप (आसाम) में मिल जाता [illegible] डेल्टा राढ़ और बग में बाट लिया जाता। इनमें से प्रत्येक बगाल अपने में लग[illegible] उतना ही पूर्ण होता जितना कि उडीसा या असम है।"[1] तीन बगाल न बने, बना एक ही बगाल। यदि हमें इन तीनों क्षेत्रों की बोलियों में साहित्य मिले, तो क्या हम उसे बगला साहित्य के अलावा किसी और नाम से पुकारेंगे? यदि पजाब की पोठवारी बोली में किसी ने साहित्य रचा हो, तो क्या उसे पजाबी साहित्य में न गिना जायगा? दक्खिनी फ्रास की बोली प्रोवासाल में बहुत सा साहित्य रचा गया था, उसे फ्रासीसी साहित्य में ही तो गिना जाता है। रॉबर्ट बर्न्स ने अपनी अधिकाश कविताएं स्कॉट बोली में लिखी थीं। किन्तु अंग्रेजी साहित्य के इतिहास में उसकी चर्चा भी होती है। ब्रिटिश जाति

1. ऑरिजिन एण्ड डिवेलपमेंट...., खड १, पृष्ठ १४७।

के विकास से इंग्लैंड से अलग एक नयी जाति का विकास हो गया और अब इंग्लैंड की भाषा को [illegible] का रूप [illegible] है। भारत या अमरीका के अमरीकी-लेखकों को अंग्रेजी साहित्य के इतिहास में स्थान नहीं मिलता। यह उचित है। अंग्रेजी साहित्य ब्रिटिश जाति का साहित्य है। अमरीकी जाति अलग है। भाषा एक होने पर भी अमरीकी विश्वविद्यालयों में यह भ्रम नहीं होता कि वहा ब्रिटिश साहित्य का अध्ययन हो रहा है या अमरीकी साहित्य का।

तीन बंगालों के प्रसंग में डॉ. चाटुर्ज्या ने एक बात बहुत मार्के की कही है, "बोलियों की भिन्नता होते हुए भी राजनीतिक और सामाजिक कारणों से बंगाल में भाषा-सम्बन्धी एकता कायम हुई है।"[1] जिस प्रदेश में तीन बंगाल बन सकते थे, वहां जातीय एकता केवल भाषागत कारणों से उत्पन्न नहीं हुई। किसी भी प्रदेश में जातीय निर्माण केवल भाषागत कारणों से नहीं होता। सामाजिक कारणों की बहुत बड़ी भूमिका होती है। यदि यह मान भी लिया जाय कि भोजपुरी और बगला एक ही मागधी से उत्पन्न हुई है, तो भी इस भाषागत तथ्य से एक महत्तर तथ्य है, वह यह कि "मगध का प्राचीन गौरव और संस्कृति समाप्त हुई और क्रमश: वह हिन्दुस्तान का एक भाग बन गया।"[2] भोजपुरी प्रदेश, मिथिला और मगध में ब्रज और अवधी ने ही प्रवेश न किया, वहां खड़ी बोली भी पहुंची और उसी तरह जातीय भाषा के रूप में विकसित होने लगी जैसे ब्रज या अवध में। बिहार में हिन्दी और उसकी बोलियों के परस्पर सम्बन्ध के बारे में डॉ. उदयनारायण तिवारी ने लिखा है, "यद्यपि साहित्यिक भाषा के रूप में, बिहारी भाषा-भाषी क्षेत्र में आज हिन्दी की ही प्रतिष्ठा है तथापि बिहारी — मैथिली, मगही तथा भोजपुरी — बोलने वालों की अपनी-अपनी बोलियों के प्रति अत्यधिक ममता है। बिहारी की इन बोलियों (अर्थात् हिन्दी की बोलियों) की जड़े यहां की जनता के हृदय में बहुत दूर तक चली गयी है और यह आशा करना कि निकट भविष्य में, बोलचाल में भी, हिन्दी इनका स्थान ले लेगी, दुराशा मात्र है।"[3] बिहार या उसके बाहर के लोगों की अपनी-अपनी 'बोलियों' पर खूब ममता हो, इस पर किसी को क्या आपत्ति हो सकती है! यह बिलकुल सही है कि इन बोलियों की जड़े जनता में बहुत दूर तक चली गयी हैं। इसलिए इन बोलियों में नाटक, गीत, व्यग्य कविताए आदि लिखी जायें, यह ठीक है। किसान-आन्दोलन की प्रगति के लिए इस तरह के लोक साहित्य की रचना आवश्यक है। किन्तु गद्य के लिए खड़ी बोली का

1. ऑरिजिन एण्ड डिवेलेप्मेंट..., खड १, पृष्ठ १४६।
2. उप., पृष्ठ १४७।
3. भोजपुरी भाषा और साहित्य, पृष्ठ १७५।

के इन रूपो की है। डॉ. तिवारी ने इस पत्र को भोजपुरी के नमूने के तौर पर उद्धृत किया है, पर, है वह खडी बोली का नमूना। पत्र की भाषा भोजपुरी से प्रभावित खडी बोली है। कानपुर, बनारस, या पटना मे जब दूर-दूर के जिलो के मजदूर आपस मे बाते करते हैं, तब वे भी खडी बोली मे इसी तरह अपनी बोलियो के रूप मिला देते हैं। आधुनिक हिन्दी के कवियो ने जब ब्रजभाषा छोड़कर खडी बोली मे कविता करना शुरू किया था, तब उनकी खडी बोली मे भी इसी तरह ब्रजभाषा के रूप मिल जाया करते थे। यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। उपर्युक्त पत्र यह सिद्ध करता है कि जिस समय भारतेंदु हरिश्चंद्र आधुनिक हिन्दी गद्य का सृजन करने की तैयारी मे थे, उस समय अनेक भोजपुरी-भाषी अपनी निजी खतकितावत मे खडी बोली का प्रयोग करने लगे थे। तिवारी जी ने भोजपुरी गद्य की ऐसी मिसाले नही दी जिनमे इसी प्रकार बगला के व्याकरण रूप मिल गये हो। हिन्दी-क्षेत्र के हर सास्कृतिक और औद्योगिक केन्द्र मे भोजपुरीभाषी बधु मिलते है। उन्हे गैर-भोजपुरी हिन्दी भाषियो से सम्पर्क कायम करना ही होना है। मैंने कलकत्ते मे देखा है कि भोजपुरी और अवधी बोलने वाले मजदूर एक ही इमारत मे रहते हैं। एक जिले के मजदूर तो आपस मे अपनी बोली ही बरतेंगे, लेकिन भोजपुरी मजदूर अवध के साथी से बात करेगा तो भरसक खडी बोली का व्यवहार करेगा। इस प्रकार हिन्दी-क्षेत्र के विभिन्न जनपदो के बीच जातीय भाषा के रूप मे हिन्दी का व्यवहार निरतर बढ़ता रहा है।

लेकिन डॉ. तिवारी का कहना है कि "बिहार की बोलियो का वस्तुत बगला से तथा हिन्दी का राजस्थानी एव पजाबी से ही अति निकट का सम्बन्ध है। इसमे अतिशयोक्ति भी नही है। एक अशिक्षित तथा निरक्षर बिहारी बगाल मे जाकर अल्प प्रयास मे ही शुद्ध बगला बोलने लगता है, किन्तु साधारण रूप मे शिक्षित एव साक्षर बिहारी के लिए भी शुद्ध हिन्दी बोलना सरल कार्य नही है। हा, यह बात दूसरी है कि अनेक कारणो से, बिहार मे शिक्षा का माध्यम हिन्दी ही रहेगी।"[1] यदि यह बात सही होती कि बिहारी बधु हिन्दी की अपेक्षा बगला आसानी से सीख लेते हैं, तो कलकत्ते जैसे शहर मे वे परस्पर हिन्दी के बदले बगला का व्यवहार ही करते। लेकिन बगाली मित्र उन्हे पश्चिमा और हिन्दुस्तानी इसीलिए कहते हैं कि वे बगला के बदले हिन्दी अपनाते है। इस बात पर यकीन न हो तो डॉ सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के अनुभव की बात सुनिए। उन्होने अपने बचपन के अनुभव याद करते हुए लिखा है, "कलकत्ता मे अपने बचपन मे ही लेखक ने हाट-बाजारो मे तथा घर के बिहारी नौकरो से बगाल मे प्रयुक्त 'बाजारू हिन्दी' कहलाने योग्य भाषा का

---

1. भोजपुरी भाषा और साहित्य, पृष्ठ १७१।

सहारा लेना होगा। आप भोजपुरी मे गद्य लिखेंगे तो उसकी ९५ फीसदी शब्दा-वली हिन्दी की होगी। बोलियों की जड़े जनता में बहुत गहरी होती हैं। हमारे देश मे ही नही, फास और इंग्लैंड जैसे पूजीवादी देशो मे भी बोलियो का अस्तित्व है और लोग अपनी जातीय भाषा के अलावा उन्हे भी बोलते हैं। लेकिन अपनी बोली के साथ बिहार के लोग जातीय भाषा के रूप में हिन्दी बोलेंगे, या मैथिली को बिहारी भाषा बनायेंगे, या मगध, मिथिला, भोजपुर प्रदेश में वहा की बोलिया अलग-अलग जातीय भाषाए बनेगी, इसका फैसला अ होने को नही रह गया है।

भोजपुरी भाषा और साहित्य के परिशिष्ट मे डॉ. तिवारी ने भोजपुरी के कुछ पुराने कागज-पत्र दिये है। इनमे रघुनदन शर्मा को लिखा हुआ काशी नरेश का एक पत्र दिलचस्प है। यह पत्र सम्वत् १९५३ मे लिखा गया था। उन्नीसवीं सदी की तुलना मे आज भोजपुरी क्षेत्र मे खडी बोली का प्रचार बहुत अधिक है। किन्तु आज से अर्द्ध शताब्दी पहले भी खडी बोली वहा काफी पैठ चुकी थी। इस कारण उक्त पत्र को भोजपुरी मे खडी बोली के व्याकरण रूप मि गये है। इसमे एक ओर विवाह का निमत्रण पत्र पाकर "हर्ष भयल", दूसरी ओर रसम नेवता शिवकुमार उपाध्याय उपरोहित "ले जाते हैं।"[1] इस तरह का मिश्रण अपवाद नही है। सम्बत १९२७ का लिखा हुआ एक अन्य पत्र देखिए। इसमे स्वस्ति श्री सर्वोपमा योग्य के बाद लिखा है, "आगे बहुत दिनों से आपका कुशलानन्दजनित कोई कृपापत्र हमारे पास नही आया इसलिए चित-वृत्ति निरन्तर लगा है इस वास्ते खत लिखा है कृपापूर्वक कुशलमंगल घटित पत्र से शीघ्रता मे सानन्द करब जेते प्रमुदित होयँ और श्री बाबू रामगुलाम सिंह जीव संवतर के है उनको एक लडका के तलास है सो आपके पास भी जिकर हुई थी सो टीपन देने मे कुछ आपको तामुल है और आपने कहा भी था कि राजा साहब जी का पत्र आवें तो टीपन हम देयँ सो इस विषे मे तो हमारे नज-दीक टीपन देने मे कुछ सन्देह की बात नही है मोनासिब हो तो टीपन दे दीजिये अगर गणना वगैरह शुद्ध बनि जायगी तो आइन्दे देखा जायगा अधिक समाचार इहा का सब यथास्थित है कोई नवीन बात नही जो लिखें आप कृपापूर्वक कुशल-मगल घटित पत्र से हमेशा सानद करत रहब जेते खुसी वो खातिर जमा रहे।"[2] इस पत्र के वाक्यो मे 'करत रहब' और 'सानद करब' के साथ 'नही आया', 'लगा है', 'खत लिखा है', 'हुई थी', 'कहा भी था' आदि खड़ी बोली के व्याकरण रूप जमे हुए है। वास्तव मे ज्यादा तादाद खड़ी बोली

1. भोजपुरी भाषा और साहित्य, पृष्ठ ३२१।
2. उप., पृष्ठ ३११।

के इन रूपों की है। डॉ. तिवारी ने इस पत्र को भोजपुरी के नमूने के तौर पर उद्धृत किया है, पर, है वह खड़ी बोली का नमूना। पत्र की भाषा भोजपुरी से मिश्रित खड़ी बोली है। कानपुर, बनारस, या पटना में जब दूर-दूर के जिलों के मजदूर आपस में बात करते हैं, तब वे भी खड़ी बोली में इसी तरह अपनी बोलियों के रूप मिला देते हैं। आधुनिक हिन्दी के कवियों ने जब ब्रजभाषा छोड़कर खड़ी बोली में कविता करना शुरू किया था, तब उनकी खड़ी बोली में भी इसी तरह ब्रजभाषा के रूप मिल जाया करते थे। यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। उपर्युक्त पत्र यह सिद्ध करता है कि जिस समय भारतेंदु हरिश्चंद्र आधुनिक हिन्दी गद्य का सृजन करने की तैयारी में थे उस समय अनेक भोजपुरी-भाषी अपनी निजी पत्र-व्यवहार में खड़ी बोली का प्रयोग करने लगे थे। तिवारी जी ने भोजपुरी गद्य की ऐसी मिसालें नहीं दी जिनमें इसी प्रकार बंगला के व्याकरण रूप मिल गये हों। हिन्दी-क्षेत्र के हर सांस्कृतिक और औद्योगिक केन्द्र में भोजपुरीभाषी बंधु मिलते हैं। उन्हें गैर-भोजपुरी हिन्दी भाषियों से सम्पर्क कायम करना ही होता है। मैंने कलकत्ते में देखा है कि भोजपुरी और अवधी बोलने वाले मजदूर एक ही इमारत में रहते हैं। एक जिले के मजदूर तो आपस में अपनी बोली ही बरतेंगे, लेकिन भोजपुरी मजदूर अवध के साथी से बात करेगा तो भरसक खड़ी बोली का व्यवहार करेगा। इस प्रकार हिन्दी-क्षेत्र के विभिन्न जनपदों के बीच जातीय भाषा के रूप में हिन्दी का व्यवहार निरंतर बढ़ता रहा है।

लेकिन डॉ. तिवारी का कहना है कि "बिहार की बोलियों का वस्तुतः बंगला से तथा हिन्दी की राजस्थानी एवं पंजाबी से ही अति निकट का सम्बंध है। इसमें अतिशयोक्ति भी नहीं है। एक अशिक्षित तथा निरक्षर बिहारी बंगाल में जाकर अल्प प्रयास से ही शुद्ध बंगला बोलने लगता है, किन्तु साधारण रूप से शिक्षित एवं साक्षर बिहारी के लिए भी शुद्ध हिन्दी बोलना सरल कार्य नहीं है। हां, यह बात दूसरी है कि अनेक कारणों से, बिहार में शिक्षा का माध्यम हिन्दी ही रहेगी।"[1] यदि यह बात सही होती कि बिहारी बंधु हिन्दी की अपेक्षा बंगला आसानी से सीख लेते हैं, तो कलकत्ते जैसे शहर में वे परस्पर हिन्दी के बदले बंगला का व्यवहार ही करते। लेकिन बंगाली मित्र उन्हें पश्चिमा और हिन्दुस्तानी इसीलिए कहते हैं कि वे बंगला के बदले हिन्दी अपनाते हैं। इस बात पर यकीन न हो तो डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के अनुभव की बात सुनिए। उन्होंने अपने बचपन के अनुभव याद करते हुए लिखा है, "कलकत्ता में अपने बचपन से ही लेखक ने हाट-बाजारों में तथा घर के बिहारी नौकरों से बंगाल में प्रयुक्त 'बाजारू हिन्दी' कहलाने योग्य भाषा का

1. भोजपुरी भाषा और साहित्य, पृष्ठ १७५।

सहारा लेना होगा । आप भोजपुरी में गद्य लिखेंगे तो उसकी ९५ फीसदी शब्दा-
वली हिन्दी की होगी । बोलियों की जड़ें जनता में बहुत गहरी होती है । हमारे
देश में ही नहीं, फ्रांस और इंग्लैंड जैसे पूंजीवादी देशों में भी बोलियों का
अस्तित्व है और लोग अपनी जातीय भाषा के अलावा उन्हें भी बोलते हैं ।
लेकिन अपनी बोली के साथ बिहार के लोग जातीय भाषा के रूप में हिन्दी
बोलेंगे, या मैथिली को बिहारी भाषा बनायेंगे, या मगध, मिथिला, भोजपुर
प्रदेश में वहां की बोलियां अलग-अलग जातीय भाषाएं बनेंगी, इसका फैसला उ
होने को नहीं रह गया है ।

भोजपुरी भाषा और साहित्य के परिशिष्ट में डा. तिवारी ने भोजपुरी के
कुछ पुराने कागज-पत्र दिये हैं । इनमें रघुनन्दन शर्मा को लिखा हुआ काशी नरेश
का एक पत्र दिलचस्प है । यह पत्र सम्वत् १९५३ में लिखा गया था । उन्नीसवीं
सदी की तुलना में आज भोजपुरी क्षेत्र में खड़ी बोली का प्रचार बहुत अधिक
है । किन्तु आज से अर्द्ध शताब्दी पहले भी खड़ी बोली वहां काफी पैठ चुकी
थी । इस कारण उक्त पत्र की भोजपुरी में खड़ी बोली के व्याकरण रूप मिल
गये हैं । इसमें एक ओर विवाह का निमंत्रण पत्र पाकर "हर्ष भयल", दूसरी
ओर रसम नेवता शिवकुमार उपाध्याय उपरोहित "ले जाते हैं ।"[1] इस तरह
का मिश्रण अपवाद नहीं है । सम्वत १९२७ का लिखा हुआ एक अन्य प
देखिए । इसमें स्वस्ति श्री सर्वोपमा योग्य के बाद लिखा है, "आगे बहुत दि
से आपका कुशलानन्दजनित कोई कृपापत्र हमारे पास नही आया इसलिए चित्त-
वृत्ति निरन्तर लगा है इस वास्ते खत लिखा है कृपापूर्वक कुशलमंगल घटित पत्र
से शीघ्रता में सानन्द करब जेते प्रमुदित होयें और श्री बाबू रामगुलाम सिंह
जीव सेवतर के है उनको एक लडका के तलाश है सो आपके पास भी जिकर
हुई थी सो टीपन देने में कुछ आपको तामुल है और आपने कहा भी था कि
राजा साहब जी का पत्र आवे तो टीपन हम देयें सो इस विषे में तो हमारे नज-
दीक टीपन देने में कुछ सन्देह की बात नही है मोनासिब हो तो टीपन दे दीजिये
अगर गणना वगैरह शुद्ध बनि जायगी तो आइन्दे देखा जायगा अधिक समाचार
इहा का सब यथास्थित है कोई नवीन बात नही जो लिखें आप कृपापूर्वक कुशल-
मंगल घटित पत्र से हमेशा सानद करत रहब जेते खुसी वो खातिर जमा
रहे ।"[2] इस पत्र के वाक्यों में 'करत रहब' और 'सानद करब' के साथ
'नही आया', 'लगा है', 'खत लिखा है', 'हुई थी', 'कहा भी था' आदि
खड़ी बोली के व्याकरण रूप जमे हुए है । वास्तव में ज्यादा तादाद खड़ी बोली

1. भोजपुरी भाषा और साहित्य, पृष्ठ ३२१ ।
2. उप., पृष्ठ ३१९ ।

के इन रूपों को है। डॉ तिवारी ने इस पत्र को भोजपुरी के नमूने के तौर पर उद्धृत किया है, पर, है वह खड़ी बोली का नमूना। पत्र की भाषा भोजपुरी से प्रभावित जरूर मानी जाती है। कानपुर, बनारस, या पटना में जब दूर-दूर के जिलों के मजदूर आपस में बात करते है, तब वे भी खड़ी बोली में इसी तरह अपनी बोलियों के रूप मिला देते है। आधुनिक हिन्दी के कवियों ने जब ब्रजभाषा छोड़कर खड़ी बोली में कविता करना शुरू किया था, तब उनकी खड़ी बोली में भी इसी तरह ब्रजभाषा के रूप मिल जाया करते थे। यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। उपर्युक्त पत्र यह सिद्ध करता है कि जिस समय भारतेंदु हरिश्चन्द्र आधुनिक हिन्दी गद्य का सृजन करने की तैयारी में थे, उस समय अनेक भोजपुरी-भाषी अपनी निजी सर्जनात्मक मे खड़ी बोली का प्रयोग करने लगे थे। तिवारी जी ने भोजपुरी गद्य की ऐसी मिसालें नहीं दी जिनमें इसी प्रकार बगला के व्याकरण रूप मिल गये हो। हिन्दी-क्षेत्र के हर सांस्कृतिक और औद्योगिक केन्द्र में भोजपुरीभाषी बधु मिलते है। उन्हे गैर-भोजपुरी हिन्दी भाषियो से सम्पर्क कायम करना ही होता है। मैंने कलकत्ते में देखा है कि भोजपुरी और अवधी बोलने वाले मजदूर एक ही इमारत में रहते है। एक जिले के मजदूर तो आपस मे अपनी बोली ही बरतेंगे, लेकिन भोजपुरी मजदूर अवध के साथी से बात करेगा तो भरसक खड़ी बोली का व्यवहार करेगा। इस प्रकार हिन्दी-क्षेत्र के विभिन्न जनपदो के बीच जातीय भाषा के रूप मे हिन्दी का व्यवहार निरतर बढ़ता रहा है।

लेकिन डॉ तिवारी का कहना है कि "बिहार की बोलियो का वस्तुत बगला से तथा हिन्दी का राजस्थानी एव पजाबी से ही अति निकट का सम्बध है। इसमें अतिशयोक्ति भी नहीं है। एक अशिक्षित तथा निरक्षर बिहारी बगाल मे जाकर अल्प प्रयास से ही शुद्ध बगला बोलने लगता है, किन्तु साधारण रूप में शिक्षित एव साक्षर बिहारी के लिए भी शुद्ध हिन्दी बोलना सरल कार्य नही है। हा, यह बात दूसरी है कि अनेक कारणों से, बिहार मे शिक्षा का माध्यम हिन्दी ही रहेगी।"[1] यदि यह बात सही होती कि बिहारी बधु हिन्दी की अपेक्षा बगला आसानी से सीख लेते है, तो कलकत्ते जैसे शहर में वे परस्पर हिन्दी के बदले बगला का व्यवहार ही करते। लेकिन बगाली मित्र उन्हें पश्चिमा और हिन्दुस्तानी इसीलिए कहते हैं कि वे बगला के बदले हिन्दी अपनाते हैं। इस बात पर यकीन न हो तो डॉ सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के अनुभव की बात सुनिए। उन्होंने अपने बचपन के अनुभव याद करते हुए लिखा है, "कलकत्ता मे अपने बचपन मे ही लेखक ने हाट-बाजारो मे तथा घर के बिहारी नौकरो से बगाल मे प्रयुक्त 'बाजारू हिन्दी' कहलाने योग्य भाषा का

---

1. भोजपुरी भाषा और साहित्य, पृष्ठ १७५।

सहारा लेना होगा। आप भोजपुरी में गद्य लिखेंगे तो उसकी ९५ फीसदी शब्दा-
वली हिन्दी की होगी। बोलियों की जडे जनता में बहुत गहरी होती हैं। हमारे
देश में ही नहीं, फ्रांस और इग्लैंड जैसे पूजीवादी देशो में भी बोलियो का
अस्तित्व है और लोग अपनी जातीय भाषा के अलावा उन्हें भी बोलते है।
लेकिन अपनी बोली के साथ बिहार के लोग जातीय भाषा के रूप में हिन्दी
बोलेगे, या मैथिली को बिहारी भाषा बनायेगे, या मगध, मिथिला, भोजपु
प्रदेश में वहा की बोलिया अलग-अलग जातीय भाषाएं बनेगी, इसका फैसला
होने को नहीं रह गया है।

भोजपुरी भाषा और साहित्य के परिशिष्ट मे डॉ तिवारी ने भोजपुरी के
कुछ पुराने कागज-पत्र दिये है। इनमे रघुनदन शर्मा को लिखा हुआ काशी नरेश
का एक पत्र दिलचस्प है। यह पत्र सम्बत् १९५३ मे लिखा गया था। उन्नीसवी
सदी की तुलना मे आज भोजपुरी क्षेत्र में खडी बोली का प्रचार बहुत अधि
है। किन्तु आज से अर्द्ध शताब्दी पहले भी खडी बोली वहा काफी पैठ चु
थी। इस कारण उक्त पत्र की भोजपुरी मे खडी बोली के व्याकरण रूप f
गये है। इसमे एक ओर विवाह का निमत्रण पत्र पाकर "हर्ष भयल", इ
ओर रसम नेवता शिवकुमार उपाध्याय उपरोहित "ले जाते हैं।"[1] इस तरह
का मिश्रण अपवाद नही है। सम्वत १९२७ का लिखा हुआ एक अन्य पत्र
देखिए। इसमे स्वस्ति श्री सर्वोपमा योग्य के बाद लिखा है, "आगे बहुत दिनों
से आपका कुशलानन्दजनित कोई कृपापत्र हमारे पास नही आया इसलिए चित
वृत्ति निरन्तर लगा है इस वास्ते खत लिखा है कृपापूर्वक कुशलमंगल घटित पत्र
से शीघ्रता मे सानन्द करब जेते प्रमुदित होयें और श्री बाबू रामगुलाम सिंह
जीव सेवतर के है उनको एक लडका के तलास है सो आपके पास भी जिकर
हुई थी सो टीपन देने मे कुछ आपको तामुल है और आपने कहा भी था कि
राजा साहब जी का पत्र आवै तो टीपन हम देयँ सो इस विषै मे तो हमारे नज-
दीक टीपन देने मे कुछ सन्देह की बात नही है मोनासिब हो तो टीपन दे दीजिये
अगर गणना वगैरह शुद्ध बनि जायगी तो आइन्दे देखा जायगा अधिक समाचा
इहा का सब यथास्थित है कोई नवीन बात नही जो लिखे आप कृपापूर्वक कुश
मगल घटित पत्र से हमेशा सानद करत रहब जेते खुसी वो खातिर ज
रहे।"[2] इस पत्र के वाक्यो मे 'करत रहब' और 'मानद करब' के
'नही आया', 'लगा है', 'खत लिखा है', 'हुई थी', 'कहा भी था'
खडी बोली के व्याकरण रूप जमे हुए हैं। वास्तव मे ज्यादा तादाद खडी

1. भोजपुरी भाषा और साहित्य, पृष्ठ ३२१।
2. उप., पृष्ठ ३१९।

गोतिया भाई आप कहाते — मेरी मदत पर आओ काम
मैं अंगरेज से विगडा हू — मेरी मदत पर आओ काम
ई बाबू ने जोड किया — सुन तो बाबू मेरी बात
मेरे पास जोश ना — मेरे पास पल्टन ना
कहो बाबू क्या करें — अतना बात बाबू ने सुना
सुन अमर मेरी बात — जब जवानी मेरी थी
तब अंगरेज बिगडल ना — अब जयेफी बीती जाय
जीरा ऐसा दात हो जाय — आ सन ऐसा बार हो जाय
जुलजुल मास लटकत जाय — बाँह मे कुबत मिले जाय
कैसे तेगा पकडूं मैं — कैसे मनी को मारूं मैं ।[1]

एक अन्य पँवारे की भाषा का नमूना देखिए

सुन जनरैल मेरी बात
तुम्हारा तोप माता है — मेरा जगल पिता है
मैं जगल छोडूगा नही — रात दिन का धावा किया
जा नोनीडीह दाखिल हुआ — तब ले जरनैल जोड किया
दूरबीन लगाके देखे जाय — बाबू के पल्टन छिपा है ।

तीसरे पँवारे की भाषा .

भोजपुरी माने बाबू है — हन हन तेगा मारता है
सोन नदी मे धोता है — विक्टोरिया को मेरा सलाम
आन कलकत्ता दाखिल हुआ — सुनो लाट मेरी बात
भोजपुर माने बाबू है — जरी रोब माने ना ।

"बिहार भर मे ये पँवरिये कुअर सिंह के पँवारे को खूब गाते थे" और आज भी तलवार चलाने की मुद्रा मे गाते हैं तो "वीर रस सजीव हो उठता है।" इससे प्रमाणित हुआ कि बिहार मे खडी बोली का इतना प्रसार हो चुका है कि उसमे न केवल उच्च साहित्य वरन् लोकगीत भी रचे जाते हैं और वे सारे प्रदेश मे लोकप्रिय होते है। यही कारण है कि १९२० के असहयोग-आन्दोलन मे भोजपुरी जनता को उत्साहित करने के लिए उसकी जनपदीय बोली मे ही रचनाएं न की गयी वरन् हिन्दी मे भी लोकप्रिय कविताएं रची गयीं। ऐसी लोकप्रिय हिन्दी रचनाएं करने वालो मे प्रिंसिपल मनोरंजन भी थे।

"डुमराव के प्रिंसिपल मनोरंजन ने 'अस्सी बरस का वीर बाकुरा कुअर

---

1. श्री दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह, बाबू कुवर सिंह, पटना, पृष्ठ ११, मनी — मजा का कलक्टर।

मान शान कर लिया था।"¹ यदि इन बाजारू नौकरों के लिए हिन्दी की अपेक्षा बगला सीखना सरल होता तो वे मालिक के बेटे से बगला ही में बात करते और भावी भाषाविद् को उनसे बाजारू हिन्दी सीखने का अवसर ही न मिलता। इसलिए डॉ चाटुर्ज्या ने अन्यत्र ठीक लिखा है कि पूरबी और बिहारी बोलियों के बोलने वालों ने हिन्दी या हिन्दुस्तानी को "अपनी साहित्यिक एवं सार्वजनिक जीवन की भाषा मान रखा है।"² केवल साहित्यिक भाषा नहीं, हिन्दी सार्वजनिक जीवन की भाषा भी बनी। इसीलिए हिन्दुस्तानी क्षेत्र में उन्होंने बिहार को भी गिना है। "पूरबी हिन्दी तथा बिहारी बोलने वाला पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा बिहार का भाग जो 'पूरब' कहलाता है, भी इसी 'हिन्दुस्तान या हिन्दुस्थान' का एक हिस्सा है। बगाल में बगला न बोलने वाले तथा बिहार या उत्तर प्रदेश के लोगों को 'हिन्दुस्थानी' अथवा 'पश्चिमा' कहा जाता है।"³

बिहार बंगाल प्रान्त से सयुक्त रह चुका है। असम की तरह बिहार में भी अधिकाश उच्च पदो पर बगाली नियुक्त होते रहे हैं। फिर भी बिहार में बगला के बदले हिन्दी का ही प्रसार होता रहा। जिन "अनेक कारणों से बिहार में शिक्षा का माध्यम हिन्दी ही रहेगी," वे कौन से हैं? "बिहार में, व्यावहारिक दृष्टि से, आज उच्च शिक्षा का माध्यम हिन्दी के अतिरिक्त कोई अन्य भाषा नहीं हो सकती।"⁴ इस व्यावहारिक दृष्टि की विशेषता क्या है? यदि बिहार के निरक्षर लोग भी हिन्दी की तुलना में बगला आसानी से सीख लेते हैं, तो "व्यावहारिक" बात यही होगी कि उनकी शिक्षा का माध्यम बगला हो! "पश्चिम की वलिष्ठ भाषा हिन्दी के माध्यम से अपने हृदय के भावों का प्रकाशन" करने के लिए उन्हे बाध्य क्यो किया जाय?

लेकिन बिहार और हिन्दी (खड़ी बोली) का सम्बध बहुत पुराना है। श्री दुर्गाशकर प्रसाद सिह ने कुअर सिह पर अपनी पुस्तक मे कुछ पँवारे उद्धृत किये है। ये पँवारे काफी पुराने है और उन्हे गाने वालो की पँवरिया जाति ही बन गयी है। इन पँवारो की भाषा खडी बोली है जिनमे कही-कही भोजपुरी के रूप भी मिलते है।

> सुन अमर मेरी बात — सोने कलम हाथी ले
> लिख परवाना भेजे का — जा टेकारी दाखिल हुआ
> जा डुमराव दाखिल हुआ — जा दलीपपुर दाखिल हुआ
> जा रामगढ दाखिल हुआ — सुन तू बाबू मेरी बात

---

१. भारतीय आर्यभाषा, पृष्ठ २४५।
२. उप, पृष्ठ १८३। ३ उप, पृष्ठ १५९।
४. भोजपुरी भाषा और साहित्य, पृष्ठ १७५।

गोतिया भाई आप कहाते — मेरी मदत पर आओ काम
मैं अंगरेज से बिगडा हू — मेरी मदत पर आओ काम
ई बाबू ने जोड किया — सुन तो बाबू मेरी बात
मेरे पास जोश ना — मेरे पास पल्टन ना
कहो बाबू क्या करे — अतना बात बाबू ने सुना
सुन अमर मेरी बात — जब जवानी मेरी थी
तब अंगरेज बिगडल ना — अब जयेफी बीती जाय
जीरा ऐसा दात हो जाय — आ मन ऐसा बार हो जाय
जुलजुल माम लटकत जाय — बाँह में कुवत मिले जाय
कैसे तेगा पकडूं मैं — कैसे मनी को मारूँ मैं।[1]

एक अन्य पंवारे की भाषा का नमूना देखिए ·

मुन जनरैल मेरी बात
तुम्हारा तोप माता है — मेरा जगल पिता है
मैं जगल छोडूगा नही — रात दिन का धावा किया
जा नोनीडीह दाखिल हुआ— तब ले जरनैल जोड किया
दूरबीन लगाके देखे जाय — बाबू के पल्टन छिपा है।

तीसरे पँवारे की भाषा

भोजपुरी माने बाबू है — हन हन तेगा मारता है
सोन नदी मे धोता है — विक्टोरिया को मेरा सलाम
आन कलकत्ता दाखिल हुआ — सुनो लाट मेरी बात
भोजपुर माने बाबू है — जरी रोब माने ना।

"बिहार भर मे ये पंवरिये कुअर सिंह के पंवारे को खूब गाते थे" और आज भी तलवार चलाने की मुद्रा मे गाते हैं तो "वीर रस सजीव हो उठता है।" इससे प्रमाणित हुआ कि बिहार मे खडी बोली का इतना प्रसार हो चुका है कि उसमे न केवल उच्च साहित्य वरन् लोकगीत भी रचे जाते हैं और वे सारे प्रदेश मे लोकप्रिय होते है। यही कारण है कि १९२० के असहयोग-आन्दोलन मे भोजपुरी जनता को उत्साहित करने के लिए उसकी जनपदीय बोली मे ही रचनाएं न की गयी वरन् हिन्दी मे भी लोकप्रिय कविताएं रची गयी। ऐसी लोकप्रिय हिन्दी रचनाएं करने वालो मे प्रिंसिपल मनोरजन भी थे।

"डुमराव के प्रिंसिपल मनोरजन ने 'अस्सी बरस का वीर बांकुरा कुअर

---

[1] श्री दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह, बाबू कुअर सिंह, पटना, पृष्ठ ७७, मनी — गया का कलक्टर।

गिह मरदाना था' की रचना की जो हिन्दी मे थी और खूब जनप्रिय हुई। गाधी जी तक ने उसको पसंद किया।"[1]

शेरशाह बिहार ही का था जिसने अपने राज्य के दफ्तरों में हिन्दी को स्थान दिया था। उसके समय की राजभाषा हिन्दी का कोई नमूना नही मिला लेकिन उसके कुछ ही समय बाद अकबर के समय की राजभाषा हिन्दी का नमूना मिला है। उस समय तक चाहे फारसी राजभाषा बना दी गयी हो, चाहे उसके साथ हिन्दी भी राजभाषा बनी रही हो, इसका प्रमाण है कि सोलहवी सदी में राज-काज के लिए बिहार मे खडी बोली हिन्दी का प्रयोग होता था। पटना के प्रोफेसर सैयद हसन अस्करी ने अपने एक लेख में मानसिंह की एक सनद उद्धृत की है। मानसिंह १५८७ से १५९४ तक बिहार के राज्यपाल थे। उन्होंने बिहार मे मामू-भाजे की मजार की देखरेख करने वाले शेखबख्श को चौदह बीघा ज़मीन जीविका के लिए दी थी। वह सनद प्रो. अस्करी को प्राप्त हुई। सनद फ़ारसी में है लेकिन उसके साथ ही मूल सनद में उसका हिन्दी रूपान्तर भी दिया गया है। इसकी भाषा इस प्रकार की है, "हर साल परवाने तलब मत करो साल तमाम मे फी बीघे मजरू पिच्छे सुक्का एक खालिस लीजो अरु और कच्छु दखल मत करो।"[2] हिन्दी रूपान्तर की लिपि प्रो. अस्करी के अनुसार कैथी और देवनागरी का मिश्रित रूप है। कई जगह अक्षर मिट गये हैं या कागज फट गया है। प्रो अस्करी ने हिन्दी पाठ श्री धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी की सहायता से पढ कर रोमन मे लिखा। उसी से ऊपर का उद्धरण देवनागरी में दिया गया है। हिन्दी रूपान्तर मे "मत करो"—यह टुकडा तीन बार आया है। इससे स्पष्ट है कि सनद की भाषा मूलतः खडी बोली है। लीजो, कीजो जैसे क्रिया-रूप उस समय की—और बहुत दिन बाद की भी—खड़ी बोली मे प्रयुक्त होते थे।

बिहार मे खडी बोली के प्रसार की इस सुदीर्घ परम्परा को देखकर इस बात पर आश्चर्य न होना चाहिए कि आज साहित्य के अलावा वहा सार्वजनिक जीवन मे उसका व्यवहार होता हैं। इसके प्रमाण मैथिली के परमभक्त नागार्जुन के हिन्दी उपन्यास "बलचनमा" मे मिलेगे। दरभगा मिथिला का सास्कृतिक केन्द्र है। वहा स्टेशन पर पहुच कर बलचनमा लोगो की बोली-बानी

---

१ बाबू कुअर सिह, पृष्ठ ९९।

२. सैयद हसन अस्करी, सम डोक्यूमेंट्स रिलेटिंग टु दि मोसोलियम ऑव मामू-भाजा ऐंड जडुआ; बेंगाल पास्ट एंड प्रेजेंट, खड ६६, १९४६-४७, कलकत्ता। प्रो. अस्करी के लेख का पता मुझे उन्ही से लगा था जिसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हू।

सुन कर कहता है, "रंग रंग के साथ यहां लोगों की बोली भी बदली थी। यह काह्-कुहे सुनने का पहिला मौका था मेरे लिए।" काह्-कुहे बिहार की कोई बोली नहीं है। उपन्यास लेखक ने उसका अर्थ स्पष्ट कर दिया है, "का-को वाली बोली, हिन्दी-उर्दू।" मैथिली-भाषी बलचनमा अपने परिवार में खड़ी बोली के व्यवहार के बारे में कहता है, "अब तो मुझे भी इसी बोली की लत पड़ गयी है। अपनी बोली भूलता जा रहा हूं। बबुनी की तो बात छोड़ो, चार बरस का मेरा ननकिरवा परदिपवा फरफर बोलता है।" जब बलचनमा का बेटा परदिपवा भी फरफर हिन्दी बोलने लगा, तब यह कैसे कहा जा सकता है कि बिहार के लोग हिन्दी बोलेंगे, यह दुराशामात्र है ?

मिथिला की तरह मगध में भी खड़ी बोली का प्रचार है। गया के लोगों की बोली के बारे में बलचनमा कहता है, "कुली भी पक्की बोली बोलते हैं। सिगरेट बेचने वाले भी काहे-कुहे करते हैं।" अनेक भाषाविदों की तुलना में नागार्जुन का बलचनमा बिहार की भाषा-स्थिति को ज्यादा बारीकी से देखता है। पटना की बोली के बारे में कहता है, "पटना की तरफ शहरूपन ज्यादा है। उधर जिसको रखना कहेंगे, इधर हम उसको धरना कहेंगे। उधर के लोग साफ जबान बोलते हैं। यहां गाड़ी में बाबू लोगों के मुंह से 'किहिस-दिहिस' निकलता है, तो उधर तुम लोगों के मुंह से 'किया-दिया' सुनोगे।" पटना बिहार का प्रमुख सांस्कृतिक केन्द्र है। बलचनमा वहां की हिन्दी को ठीक ही "साफ जबान" कहता है। नागार्जुन के अन्य उपन्यास 'नयी पौध' से हमें यह सूचना मिलती है कि चुपके-चुपके बोल मैना, काली कमली वाले तुमको लाखों पर्नाम आदि गीत उधर भी प्रचलित हैं। मिथिला की अदालतों में बुकसेलर "किस्सा तोता मैना, किस्सा सवाचार यार" जैसी किताबें बेचते हैं। इस फुटपाथ साहित्य से भी हिन्दी बिहार में फैली है। डॉ जयकान्त मिश्र ने इस बात पर खेद प्रकट किया है कि मैथिली भाषा के लिए देवनागरी लिपि का चलन हुआ। इसका कारण यह बताया है कि मिथिला में सरकारी और गैर-सरकारी तौर पर उपन्यास, पत्रिकाओं और मनोरंजक साहित्य का चलन हिन्दी में हुआ, मैथिल लिपि में उसका अभाव था। अब यह सिद्ध करने की जरूरत नहीं है कि मैथिली बंगला की अपेक्षा हिन्दी के अधिक निकट है। मिथिला में दरिद्र हिन्दी के उपन्यासों के बदले समृद्ध बंगला के मनोरंजक साहित्य का प्रचार क्यों न हुआ ?

डॉ. जयकान्त मिश्र ने इस बात पर खेद प्रकट किया है कि आधुनिक मैथिल कवि रघुनंदन दास के काव्य 'सुभद्रा-हरण' पर हिन्दी का प्रभाव पड़ा है। मिथिला में हिन्दी नाटक खेले गये जो मैथिली-खड़ी बोली के निकट सम्बंध के बिना सम्भव न था। मिथिला के मित्रों ने मुझे बताया है कि वहां के विद्यार्थी हाई स्कूल परीक्षा में हिन्दी या मैथिली में किसी एक को ले सकते हैं; अधिकांश

विद्यार्थी मैथिली की तुलना में हिन्दी लेते है। हमारा जातीय गठन नित्य-प्रति दृढ़तर होता जाता है; भाषाविद् इस प्रगति पर अफसोस करें तो करते रहें।

भाषा का टकसाली रूप बनने और उसके फैलने में काफी समय लगता है। बिहार के लेखक हिन्दी लिखने में कठिनाई का अनुभव करते हों या कभी-कभी गलती कर जाते हों तो आश्चर्य नही। हिन्दी के लगभग ८० फीसदी कवि और लेखक "पश्चिमी हिन्दी" के क्षेत्र के नही; वे अवध और उसके आगे के पूर्वी प्रदेश के हैं। उनसे ज्यादा अच्छी हिन्दी पछाह के लोगों ने लिखी हो, ऐसा नही मालूम होता। कुछ लोगो को भ्रम है कि पूर्वी बोलियों की तुलना में राजस्थानी और पजाबी भाषाए खडी बोली के ज्यादा निकट हैं। कुछ बातो में खडी बोली अवश्य पजाबी या राजस्थानी से मिलती है, जैसे उधर मैथिली बगला से मिलती है। लेकिन कुल मिलाकर न तो व्याकरण की दृष्टि से, न शब्द-भडार के विचार से राजस्थानी या पजाबी को पूर्वी बोलियों की तुलना मे हिन्दी के अधिक निकट कहा जा सकता है। हिन्दी के पजाबी लेखक अपनी भाषा मे पूरब के लेखको से ज्यादा गलतिया ही करते हैं।

राजस्थानी भाषा की चर्चा करते हुए डॉ चाटुर्ज्या ने लक्ष्य किया है कि राजस्थानी और पजाबी मे ळ ध्वनि है, किन्तु हिन्दी और उसकी सभी बोलियो मे उसका अभाव है। खडी बोली के ग्राम्य रूप को छोडकर बोलचाल की हिन्दी, ब्रज तथा अवधी आदि बोलियो मे ण का बहिष्कार है। पजाबी और राजस्थानी मे इसकी भरमार है। डॉ. चाटुर्ज्या ने लिखा है कि राजस्थान की कुछ बोलियो मे च, छ, ज, झ, का दत्य उच्चारण सुनाई देता है। हिन्दी और उसकी सभी बोलियो मे इसका अभाव है।

डॉ चाटुर्ज्या ने राजस्थानी की विशेषताओ मे घ, झ, ढ, ध, भ के विशेष उच्चारण और हकार की विकृति का उल्लेख किया है। "जिन भाषाओ मे यह विकृति नही होती, उनका विभाग (पछाही हिन्दी, कोसली या पूर्वी हिन्दी, हिमाली भाषाए, बिहारी अर्थात् भोजपुरी, मैथिली, मगही), पश्चिमी तथा उत्तरी बगला, आसामी, ओड़िया और मराठी — ये इस विभाग मे आयेंगी।" यहां डॉ. चाटुर्ज्या ने हिन्दी की पूर्वी और पछाही बोलियो को एक वर्ग मे रखा है, राजस्थानी और पजाबी को इससे भिन्न दूसरे वर्ग मे रखा है। वास्तव मे बगला हिन्दी की पूर्वी बोलियो के वर्ग मे नही आती क्योंकि बोलचाल में "पश्चिमी बंगला के उच्चारण की एक खास रीति यह है कि शब्दो के मध्यस्थ तथा अन्तस्थ 'ह'कार का ऐसा ही लोप होता है, और अघोष तथा घोष दोनो प्रकार के महाप्राण वर्णों मे अल्पप्राणता आ जाती है।" ध्वनि-प्रकृति की इस विशेषता मे बगला हिन्दी (या मैथिली की) की अपेक्षा राजस्थानी और पजाबी के ज्यादा निकट है। डॉ. चाटुर्ज्या ने बंगला को हिन्दी की पूर्वी बोलियों के साथ

सकता है, उसके लिखित रूप के आधार पर। लेकिन वह लिखित रूप बोलचाल की भाषा से काफी भिन्न है। पजाबी मे घ, भ आदि वर्णो का उच्चारण अल्प-प्राणवत् होता है। पुरानी हिन्दी (या उर्दू) मे मुज, तुज जैसे प्रयोग पजाबी प्रभाव के कारण है। इसी पश्चिमी प्रभाव के कारण कुछ क्षेत्रो के अन्त्य और मध्य 'ह' का लोप [illegible] हो जाता है किन्तु यह परिनिष्ठित हिन्दी की प्रवृत्ति नही है, पूर्वी बोलियो की ओर भी नही है। सयुक्त वर्णो के प्रयोग मे बलाघात — हिन्दी भाड़ो की जगह भड्डो — पजाबी की विशेषता है।

कुछ लोगो का विचार है कि हिन्दी के आकारान्त शब्द पजाबी के प्रभाव से बने है! यह स्मरण रखना चाहिए कि पजाबी मे ऐसे शब्दों की कमी नही है जो अकारान्त ही है। "पजाब" शब्द पजाबी नही है, पजाब है। शहरों के नाम अमृतसर, लाहौर आदि, नदियो के नाम सतलुज, चनाब, झेलम आदि, व्यक्तियों के नाम गुरु नानक, गुरु गोबिंद सिह, वारिस शाह, भगत सिह, गुरबख्श सिह, मोहन सिह आदि, शब्द-भडार मे सर्दार, घर, नाल, कृपाण, शरम, मुल्ख, जट, रब, टब, अज्ज, बार (बाहर), हत्थ, सच्च, बिच्च, धरम इत्यादि। ये आकारान्त रूप नही हैं।

हिन्दी और उसकी सभी बोलियो मे सम्बध-कारक का चिन्ह 'का' या 'क'-युक्त कोई अन्य वर्ण है। राजस्थानी मे 'का' भी है किन्तु उसका विशेष चिन्ह 'रा' है, ठीक बंगला 'र' या 'एर' के समान। पजाब का अपना चिन्ह है 'दा'। इसी प्रकार क्रिया-रूपो मे भेद है। हिन्दी का भविष्यवाचक 'गा' न राजस्थानी मे अनिवार्य है, न पजाबी मे। राजस्थानी मे 'ला' और 'सी' भविष्यवाचक चिन्ह के रूप मे आते हैं। मुख्य बात यह है कि राजस्थानी और पजाबी दोनो का अपना शब्द-भडार है। हिन्दी और उसकी बोलियो के शब्द-भडार मे जितनी समानता है, उतनी समानता हिन्दी-राजस्थानी, हिन्दी-पजाबी, राजस्थानी-पजाबी के शब्द-भडार मे नही है। डॉ चाटुर्ज्या ने राजस्थानी के शब्द-भडार की इस सापेक्ष स्वतत्रता की ओर सकेत किया है : भाबा (पुत्र), झावडो (पुत्र), मगरो (पहाड), बारहठ या बारठ (पुरोहित, भाट), डगर (पहाड), गडक (कुत्ता), आड (हस), डुक्कर (सुअर), डाबर (बच्चा)। इस तथ्य पर श्री जयनारायण व्यास ने अपने एक लेख मे जोर दिया है और उदाहरणस्वरूप ओलबा या ओलबा (उलहना), नाणा (रुपया या सिक्का), बारोठिया (लुटेरा), हथाई (बैठना), खोसना (लूटना), ढिगली (ढेर), सीरा (हलवा), माठा (सुस्त) आदि शब्द उद्धृत किये हैं।[1] इसी तरह

1. जयनारायण व्यास, राजस्थानी भाषा और राजस्थानी बोलियां; प्रेरणा, जून १९५४।

पन्द्रहवाँ अध्याय

राज्यभाषा—राष्ट्रभाषा

अंग्रेजी विकसित भाषा है, भारतीय भाषाएं अविकसित हैं। भारतीय भाषाओं में हिन्दी खास तौर से अविकसित है। अंग्रेजी का सहारा छूटा तो भारतवर्ष की एकता तो छिन्न-भिन्न हो ही जायगी, विश्व संस्कृति से उसका सम्बंध भी एकबारगी टूट जायगा। अंग्रेजी भारत की राष्ट्रभाषा रहे तो सबसे अच्छा। दूसरे देशों के सामने शर्म के मारे उसे राष्ट्रभाषा न कह सकें और मन मार कर हिन्दी का व्यवहार करना पड़े, तो अंग्रेजी और हिन्दी दोनों को राष्ट्रभाषा का दर्जा देना चाहिए। यदि हिन्दी को ही राष्ट्रभाषा रखने की प्रतिज्ञा करनी पड़े, तो भी जहां तक हो सके, सांस्कृतिक और राजकीय कार्यों के लिए अंग्रेजी का व्यवहार होना ही चाहिए। उदाहरण के लिए, जब हम बाहर जायेंगे, किसी अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन में भाग लेंगे, तब (कभी-कभी, हमेशा नहीं) हम हिन्दी का व्यवहार करेंगे। लेकिन अपने घर में हमारे मुखपत्र अंग्रेजी में प्रकाशित होंगे, हमारी कार्यकारिणी का अधिवेशन होगा तो उसमें विचार-विनिमय अंग्रेजी में होगा, नेताओं का अन्य नेताओं और उपनेताओं से पत्र व्यवहार अंग्रेजी में होगा। भारत को आजाद करने के लिए मुख्य प्रेरणा अंग्रेजी से ही मिली लेकिन आजादी पाने के लिए भी अंग्रेजी की उतनी आवश्यकता न थी जितनी अब समाजवादी भारत के निर्माण के लिए है।

स्वाधीनता आन्दोलन के दिनों में महात्मा गांधी जीवित थे। अंग्रेजी में उन्होंने भी बहुत कुछ लिखा था किन्तु वे भारतीय भाषाओं के समर्थक थे। वे न इन भाषाओं पर हिन्दी लादना चाहते थे, न हिन्दी लादने का हौआ खड़ा करके अंग्रेजी बनाये रखने के पक्ष में थे। वह भारत के उन नेताओं में थे जो अहिन्दी भाषी होते हुए भी देश में सर्वत्र, और उत्तर भारत में विशेष रूप से, अपने हिन्दी भाषणों द्वारा जनता को मोह लेते थे। स्तालिन की मातृभाषा रूसी नहीं थी, लेकिन जारशाही रूस में रूसी के बिना बड़े पैमाने पर राजनीतिक कार्यवाही हो न सकती थी। ख्रुश्चोव की मातृभाषा उक्रैनी है लेकिन सोवियत

देश के नेता होने के नाते उन्हें रूसी का व्यवहार करना पड़ता है। मिकोय अर्मीनिया के हैं लेकिन प्रमुख नेता और उपमंत्री होने के कारण यदि वे केव अर्मीनियाई भाषा से काम लें या हर अवसर के लिए दुभाषिया रखें, तो स्पष्ट कि वह अपना राजनीतिक उत्तरदायित्व आसानी से नही निभा सकते। भार में हिन्दी का व्यवहार किये बिना कोई अखिल भारतीय नेता नही बन सकता महात्मा गाधी, सुभाषचन्द्र बोस उस युग के नेता हैं जब अहिन्दी भाषी राष्ट्र नायक हिन्दी में भाषण देने से यह न समझते थे कि उनकी अपनी भाषा व तौहीन हो रही है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने हिन्दी को ही अपने आन्दोल का माध्यम बनाया था। किसी भी अहिन्दी भाषा में भाषण देकर आप अप प्रदेश मे अवश्य नाम कमा सकते है, लेकिन सारे देश के नेता नही बन सकते लोग कहते हैं, नेहरू के बाद कोई ऐसा नेता नही दिखाई देता जिसकी बा सारा देश ध्यान से सुने। इसका कारण जहा हिन्दी भाषी प्रदेश का राजनीतिव पिछडापन है, वहा अहिन्दी भाषी नेताओ द्वारा हिन्दी के प्रति उदासीनता भ है। वे हिन्दी के माध्यम से जन-साधारण मे राजनीतिक कार्यवाही का महत्व नही समझ पाये।

कुछ लोग — विशेष कर कुछ हिन्दी-भाषी और साहित्य सम्मेलन के कर्णधार — हिन्दुस्तानी की समस्या को लेकर गाधी जी से रुष्ट थे। लेकिन दक्षिण भारत में गाधी जी और उनके अनुयाइयो-सहयोगियो ने जितना हिन्दी प्रचार किया है, उतना और किसी नेता, राजनीतिक पार्टी या सास्कृतिक संस्था ने नही किया। इसलिए आज के विभिन्न दलीय नेताओ के अंग्रेजी-प्रेम को देखकर कहना पडता है कि इन सबकी तुलना मे गांधी जी देश की जनता के बहुत ज्यादा नजदीक थे।

भारत सरकार द्वारा नियुक्त ऑफिशियल लैंग्वेज कमीशन ने १९५१ की जनगणना के आकडे देकर दिखाया है कि देश मे पढे-लिखे लोगो की सख्या १६.६ प्रतिशत है। इनमें अग्रेजी पढे-लिखे केवल एक फी सदी हैं। इन अग्रेजी पढे-लिखो की गिनती हाई स्कूल परीक्षा को मानदड मानकर की गयी है। इसका मतलब है कि राजनीतिक और सास्कृतिक कार्यों के लिए अंग्रेजी का व्यवहार करने की क्षमता वाले सज्जन और देविया ०·२५ प्रतिशत से अधिक नही हैं। इन एक बटा चार फी सदी के बल पर भारत में ससार के सबसे बड़े जनतंत्र का प्रयोग हो रहा है! इन्ही एक बटा चार की रीढ़ पर भारत की एकता स्थिर है! एक छोटा सा वर्ग जो अग्रेजी अखबार पढता है, अग्रेजी के माध्यम से नौकरी पाता है, अग्रेजी के माध्यम से नेतागीरी करता है, अग्रेजी के माध्यम से पार्लमिंटरी डिमोक्रेसी और सोशलिस्ट पैटर्न के प्रयोग करता है, वही नेहरू के बाद कौन होगा — यह समस्या उठाकर परेशान भी हो लेता है। यह छोटा गुट

यह [illegible] है। अंग्रेजी से उनका निहित स्वार्थ है। विदेशी भाषा के बल पर वह साहब बना हुआ करोड़ों देशवासियों पर राज करता है। उसकी पोशाक बदलती है, कभी कुरता, कभी सूट और टाई और कभी शेरवानी या बंद कालर का कोट लेकिन भाषा सर्वत्र अंग्रेजी। जनता का यह सकुचित वर्ग आखिर खुद तो नष्ट होगा ही, खतरा यह है कि अपने विनाश के साथ वह देश की बागडोर [illegible] को न सौंप दे!

अंग्रेजी के पक्ष में सबसे बड़ी दलील यह दी जाती है कि वह अन्तरराष्ट्रीय और विश्व संस्कृति की भाषा है। इसके साथ एक छोटी दलील यह है कि हिन्दी राजभाषा के रूप में अहिन्दी भाषियों पर लादी जा रही है। इसलिए जब लादा ही जाता है तो अंग्रेजी को लादी क्यों न ढोयी जाय? मुख्य बात यह है कि हिन्दी सीखकर तो नौकरियों में अहिन्दी भाषियों के मुकाबले में हिन्दीभाषी बाजी मार ले जायेंगे। अंग्रेजी सीखने में दोनों के लिए कठिनाइयां बराबर हैं। हिन्दुस्तानी की गुलामी से अंग्रेज की गुलामी फिर अच्छी!

यहां यह कह देना चाहिए कि दूसरी भाषाओं का हक छीनने और उन पर जोर-जबर्दस्ती से हिन्दी लादने का भय एकदम बेबुनियाद नहीं है। इस भय को उत्पन्न करने वाले सबसे पहले कांग्रेसी नेता हैं जिन्होंने यह नारा दिया दिया कि अंग्रेजी की जगह हिन्दी लेगी। अंग्रेजी ने यहां की भाषाओं के स्वत्व छीने थे। वह विद्यालयों से लेकर न्यायालयों तक उनके स्थान पर व्यवहृत होती आयी थी। *अगर अंग्रेजी की तरह हिन्दी भी बंगाल या महाराष्ट्र में शिक्षा* का माध्यम और कचहरियों की भाषा हो जाय, तो यह अन्य जातियों के सांस्कृतिक अधिकारों का दमन तो होगा ही। दूसरी जातियां इस अन्याय को कैसे सहन करेंगी? यह भय कुछ राजनीतिक प्रचार के कारण व्यर्थ ही नहीं उत्पन्न हो गया। एकाध प्रांत में हिन्दी को शिक्षण-संस्थाओं में अनिवार्य स्थान दे दिया गया लेकिन प्रान्त की अपनी भाषा को राजकाज की भाषा न बनाया गया। ऐसा करने वाले नेता उस समय उत्कट हिन्दी प्रेमी थे। लेकिन आजकल *वे अंग्रेजी छोड़ दूसरी बात नहीं करते और "हिन्दी साम्राज्यवाद" के खिलाफ* सबसे ज्यादा (अंग्रेजी में) शोर मचाते हैं।

अंग्रेजी भाषा यहां साम्राज्यवादी व्यवस्था में जातीय उत्पीडन का एक साधन थी। उसके द्वारा यहां की भाषाओं के अधिकारों को कुचला गया था। इसलिए अंग्रेजी का स्थान हिन्दी ले—यह नारा गलत था। हमारे नेताओं को स्पष्ट करना चाहिए था कि अंग्रेजी के स्थान पर सभी भारतीय भाषाएं अपने उचित पद पर प्रतिष्ठित होंगी, अंग्रेजी का स्थान एक भाषा नहीं वरन् अपने-अपने क्षेत्र में सभी भाषाएं लेंगी। *इनमें परस्पर व्यवहार के लिए* और सीमित क्षेत्र में केन्द्रीय राजकाज के लिए हिन्दी का व्यवहार होगा। भारत एक

बहु-जातीय राष्ट्र है, यह बात कांग्रेसी नेताओं को रुचती नही है। हिन्दू राष्ट्र-वादियो के लिए भाषाओ की बहुलता व्यर्थ का व्यवधान है। सबसे अच्छा होता कि सस्कृत राष्ट्रभाषा हो जाती। यह न सभव हो तो एक छोर से दूसरे छोर तक हर क्षेत्र में हिन्दी का व्यवहार तो होना ही चाहिए। कांग्रेसी नेताओं ने स्थिति स्पष्ट की। उन्होने कहा कि हिन्दी किसी पर लादी न जायगी। लेकिन अहिन्दी भाषाए अपना स्वत्व कैसे पायेगी? वे राजकाज की भाषा कैसे बनेंगी? राजभाषा बनने के लिए भाषा का अपना एक राज्य चाहिए। अगर मद्रास प्रान्त में तमिल-तेलुगु-मलयालम भाषियों को बड़े पैमाने पर मिला दिया जाय तो उनकी राज्यभाषा अंग्रेजी होगी या हिन्दी, तमिल, तेलुगु, मलयालम में तो कोई हो नही सकती। कांग्रेसी नेताओं ने भाषावार राज्य निर्माण का बराबर विरोध किया, उसके विरुद्ध उन्होने सदा झूठा प्रचार किया। यद्यपि सविधान मे राज्यो को बहुत सीमित अधिकार दिये गये है और केन्द्र के पास शक्ति और अधिकारों की जरा भी कमी नही है, फिर भी प्रचार यही किया गया कि यह देश का विभाजन है! देश के वास्तविक विभाजन की ब्रिटिश योजना को सर आखो पर लेने वाले नेता इस जनतान्त्रिक माग को विभाजन कहने की जुर्रत करते थे। फिर माना उन्होने इसी तथाकथित विभाजन को! अर्थात् केन्द्र की सार्वभौम सत्ता के नीचे देश के मानचित्र मे भाषा के आधार पर तब्दीली हुई लेकिन काख कर, रो-झीक कर, न जाने कितनों का खून बहा कर! ऐसी हालत मे यह स्वाभाविक था कि जिसे हम पहले प्रान्तीयता कहते थे, वह जातिगत, प्रदेशगत अहकार सर उठाये। बम्बई मे इसके लक्षण दिखाई दिये किन्तु वे दबा दिये गये क्योंकि जातीय आन्दोलन मे मजदूर वर्ग शामिल था और वह सगठित और सशक्त था। असम मे उसके लक्षण दिखाई दिये और वहा एक भयकर ज्वालामुखी का विस्फोट हुआ। देश के विभाजन के समय जैसे हजारो की सख्या मे शरणार्थी दिखाई दिये थे, उससे मिलते-जुलते दृश्य देश की पूर्वी सीमा पर फिर दिखाई दिये। उस राजनीतिक पार्टी के दिवालियेपन की बात क्या की जाय जिसके हाथ मे असम का शासन-सूत्र था, जिसके प्रतिनिधियों के हाथ मे बगाल का शासन-सूत्र भी था, जिसके हाथ मे केन्द्र की प्रबल सत्ता भी थी, किन्तु उस पार्टी का निकम्मा राजनीतिक नेतृत्व अपाहिज बना बैठा रहा और हजारों स्त्री-पुरुष बेघरबार बना दिये गये।

भय केवल हिन्दी से अहिन्दी भाषियों को नहीं रहा; भय है बगालियों को असमिया से, मराठी भाषियों को गुजराती से, तेलुगुभाषियों को तमिल से, इत्यादि। और अंग्रेजी को गले लगाये रखने को सब तैयार है! इस परिस्थिति की जिम्मेदारी सबसे ज्यादा कांग्रेसी नेताओं पर है जो गाधी जी का नाम लेते नही थकते लेकिन काम बिल्कुल उनसे उल्टे करते है। गाधी जी का कहना

कि "सबसे पहला और ज़रूरी काम यह करना चाहिए कि भारत को जिन समृद्ध प्रान्तीय भाषाओं का वरदान मिला है, उन्हें फिर रायज किया जाय। यह दिमागी सुस्ती के अलावा और कुछ नहीं है कि हम यह दलील दें कि कचहरियों, स्कूलों और सेक्रेटेरियट में भी यह तब्दीली करने में कुछ समय, शायद कुछ वर्ष लग जायेंगे! बेशक बम्बई, मद्रास जैसे बहु-भाषाभाषी प्रान्तों में कुछ कठिनाई मालूम होगी जब तक भाषा के आधार पर प्रान्तों का पुनर्वितरण नहीं हो जाता। प्रान्तीय सरकारें ऐसा रास्ता निकाल सकती हैं जिसमें कि इन प्रान्तों की जनता यह अनुभव करने लगे कि अब जमाना उसका है।"[1]

गांधी जी के लिए भाषावार प्रान्त बनाना आवश्यक था क्योंकि इसी तरह जनता राजकाज में भाग ले सकती थी। वह भाषावार प्रान्त-निर्माण को देश का विभाजन न समझते थे, वह उसे उचित ही "रिडिस्ट्रीब्यूशन ऑव प्राविन्सेज" कहते थे। इस प्रान्त-निर्माण का भरसक विरोध किया कांग्रेसी नेताओं ने। फिर लोगों को क्यों न भय होता कि उनकी भाषाएं कभी अपने प्रदेश में राजभाषा न बनेंगी और यदि अंग्रेजी गयी तो उसका स्थान हिन्दी ले लेगी? इसके अलावा मारवाड़ी पूंजीपति सारे देश में फैले हुए हैं। ये हिन्दी प्रचार के लिए तो पैसा देते हैं लेकिन जिस प्रदेश में धंधा करते हैं, उसकी उपेक्षा करते हैं। कलकत्ता का बाजार मारवाड़ियों के कब्जे में होगा तो बंगाली पूंजीपति उनसे टक्कर लेने के लिए बंगाली जातीयता की जरूर दुहाई देंगे और अपने इस "बंगला भाषा-प्रेम" की लहर में वे अन्य वर्गों को भी बहा ले जायेंगे। बम्बई का बाजार गुजराती पूंजीपतियों के हाथ में होगा तो महागुजरात के आन्दोलन से गुजराती पूंजीपति को दिलचस्पी कम होगी लेकिन मराठी भाषी पूंजीपति गुजराती प्रतिद्वन्द्वी से टक्कर लेने के लिए महाराष्ट्र-जातीयता का झंडा जरूर ऊंचा करेगा। ऐसी स्थिति में केवल मजदूर वर्ग उनके हाथ से यह झंडा छीन कर अंध-राष्ट्रवाद के जहर से जनता को बचा सकता है, अपने सही जातीय अधिकारों के लिए न्यायोचित लड़ाई लड़ सकता है और मजदूर मात्र की एकता के आधार पर देश में अन्तर्जातीय एकता स्थापित कर सकता है। यह अन्तर्जातीय एकता ही राष्ट्रीय एकता का दृढ़ और अटूट आधार बन सकती है। पूंजीपति बाजार की तलाश में रहता है। दूसरा का प्रदेश हथियाने में उसे जरा भी संकोच नहीं होता। इसीलिए दो पड़ोसी प्रान्तों के पूंजीपति और उनके राजनीतिक प्रतिनिधि एक-दूसरे के विरुद्ध धुआंधार गंदा प्रचार करते हैं। उनके पत्र दूसरी भाषा बोलने वालों को एक कर

1. हरिजन, २१ सितम्बर १९४७, "रिपोर्ट ऑव दि आफिशियल लैंग्वेज कमीशन" में उद्धृत।

गालियां देते हैं, जातीय विद्वेष फैलाते हैं, और असम की-सी विभीषिका के लिए फिज़ा तैयार करते हैं। इसीलिए बगाल-असम में एक ही पार्टी का शासन होते हुए भी जातीय विद्वेष ने ऐसा उग्र रूप धारण किया और अभी तक बगाल और असम के नेता एक ही पार्टी के होते हुए भी एक ही बात नहीं कहते। इसके विपरीत, मजदूर वर्ग जानता है कि केवल राज्य की सीमाए बदलने से उसकी दशा में मौलिक परिवर्तन होने वाला नही है। उसकी मुख्य समस्या तो समाजवादी निर्माण से हल होने वाली है और यह समाजवादी निर्माण देश की जनता की एकता के बिना, सबसे पहले सारे देश के मजदूर वर्ग की एकता के बिना असभव है। अपने जीवन की परिस्थितियों से तथा वैज्ञानिक समाजवाद की शिक्षा से वह और उसके नेता—पूजीपतियों के विरुद्ध—अन्तर्जातीय, राष्ट्रीय एकता की ओर बढते है। जहा मजदूर वर्ग के हाथ में सत्ता है, जैसे सोवियत सघ में, वहा भाषा और जातीयता (या धर्म) को लेकर छुरे चलने, घर जलाने, हजारों नर-नारियों के बेघर-बार होने के समाचार नही मिलते। लेकिन सोवियत सघ की मिसाल देने पर कुछ नेता कहते हैं—कम्युनिस्टों को अपना देश प्रिय नही है, रूस ही इनकी मातृ-भूमि है। ऐसे राष्ट्रभक्त नेताओं से पूछा जा सकता है—साम्यवाद विदेशी है तो पूजीवाद क्या स्वदेशी है? पूजीवादी शोषण की व्यवस्था किस स्मृति ग्रथ में दी हुई है? इसमें क्या आपको सन्देह है कि पूजीवाद की अपेक्षा साम्यवाद भारतीय सस्कृति के अधिक निकट है? न निकट हो तो क्या बगाली-असमिया दगे भारत में होने के कारण सराहनीय और अनुकरणीय होगे और विभिन्न भाषा-भाषी जातियों की एकता सोवियत सघ में स्थापित होने के कारण विदेशी, अतः त्याज्य होगी? पूजी उधार लेते समय देशी-विदेशी का इतना ध्यान क्यों नही रहता?

भारत की जातीय और भाषा-समस्या प्रत्येक जाति को उसके प्रदेश में, सविधान के अन्तर्गत, प्रशासन के पूर्ण अधिकार देकर ही हल की जा सकती है। हमारे देश की परिस्थिति मे एक दृढ केन्द्रीय शासन के साथ-साथ प्रदेशों मे यथासभव विकेन्द्रीकरण भी आवश्यक है। इसके लिए यह जरूरी है कि किसी भाषा पर दूसरी भाषा न लादी जाय और हर भाषा को अपने क्षेत्र में राजकाज तथा सास्कृतिक कामों में इस्तेमाल किये जाने की सुविधा हो। इसके लिए यह आवश्यक नही है कि प्रत्येक भाषा का एक प्रान्त या राज्य बनाया ही जाय। सोवियत सघ मे सौ से ऊपर भाषाए बोली जाती है लेकिन वहा सोलह प्रजातत्र ही हैं। इन प्रजातन्त्रो का सगठन वहा की प्रमुख जातियो को केन्द्र मान कर किया गया है। इन प्रमुख जातियो की भाषाओं को ही प्रजा-तत्रों की राजभाषा बनाया गया है। शेष छोटी जातिया विभिन्न स्तरो के

स्वायत्त शासन वाले इलाकों में अपनी भाषाओं के माध्यम से राजकाज करती हैं। योजनाओं के अनुकूल आर्थिक निर्माण करने के लिए बड़ी इकाइयां आवश्यक होती हैं। इसलिए बहुत छोटे राज्यों की स्थापना वाञ्छनीय नहीं है। साथ ही जनता राजकाज में भाग ले, इसके लिए यह आवश्यक है कि उसे अपनी राजनीतिक-सांस्कृतिक कार्यवाही सम्पन्न करने के लिए अपनी भाषा का व्यवहार करने की सुविधा हो। ये दोनों उद्देश्य बृहत् राज्यों में स्वायत्त शासन वाले प्रदेश कायम करने से सिद्ध होते हैं। सोवियत संघ में स्वायत्त शासन वाले प्रदेशों के लोग अपनी भाषा के अलावा अपने प्रजातंत्र की भाषा भी सीखते हैं। भारत के हर जातीय प्रदेश में दूसरी जातियों के अल्पसंख्यक लोग रहते हैं। उन्हें अपनी भाषा में शिक्षा पाने की सुविधाएं मिलनी चाहिए किन्तु उन्हें अपने प्रदेश की राजभाषा भी सीखनी होगी। असम में बंगाली जन अल्पसंख्यक हैं, आदिवासी भी यहां रहते हैं। इन्हें अपने निश्चित क्षेत्रों में राजकाज, शिक्षा आदि के लिए अपनी भाषाओं के व्यवहार की सुविधा मिलनी चाहिए। साथ ही उन्हें असमिया को राजभाषा के रूप में स्वीकार करना चाहिए और उसे राजभाषा बनाने के आन्दोलन का विरोध न करके आवश्यक संशोधनों के साथ उस आन्दोलन का समर्थन करना चाहिए। पूंजीवादी रास्ता यह है कि असम प्रदेश में गैर-असमिया अल्पसंख्यकों को उन क्षेत्रों में भी अपनी भाषाओं के व्यवहार की सुविधा न दी जाय जहां वे दरअसल बहुसंख्यक हैं, उधर वे अल्पसंख्यक भी असमिया को राजभाषा के रूप में स्वीकार न करके अलगाव की बात करते रहें। दोनों में बराबर खींचतान रहेगी, भाषा और जातीयता को लेकर दंगे होंगे। इसके विपरीत समाजवादी रास्ता यह है कि अल्पसंख्यकों को, निश्चित क्षेत्रों में, अपनी भाषा में राजकाज करने और शिक्षा संस्थाएं चलाने का अधिकार दिया जाय और वे राज्य की मुख्य भाषा असमिया भी सीखें और उसे राजभाषा के रूप में मान्यता दें। इसी प्रकार कलकत्ता, बम्बई जैसे केन्द्रों में अल्पसंख्यकों के अधिकार सुरक्षित रहने चाहिए। यदि इन केन्द्रों में तथा अन्यत्र वहां की प्रमुख जाति की भाषा को राजभाषा न माना तो कलह सदा बनी रहेगी और बड़ी इकाइयों का निर्माण असंभव हो जायगा।

पूंजीवादी जनतंत्र की विशेषता यह है कि जनता वोट तो देती है, राजकाज में हिस्सा नहीं लेती। समाजवादी जनतंत्र की विशेषता यह है कि जनता अपने प्रतिनिधि ही नहीं चुनती वरन् शासन-कार्य में स्वयं भाग लेती है। इसीलिए सोवियत संघ में जनता की भाषाओं के व्यवहार पर इतना जोर है। मजदूर सभाओं, सोवियतों और अन्य जन-संस्थाओं द्वारा जनता—साधारण किसान और मजदूर—साक्षर और शिक्षित होने के कारण देश के राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन में सक्रिय भाग लेते हैं। पूंजीवादी देशों में

[illegible] है कि जब सरकार ने हिन्दी [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] जनता को [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] और विकास के मार्गों पर जनता के आगे [illegible]
[illegible] बड़े-बड़े [illegible], पूँजीपति
[illegible] राजनीतिक [illegible] का काम करती है।

यदि जनतन्त्र पूँजीपतियों के दल का नाम नहीं है तो उसके मतलब के लिए हमें भाषा का निर्णय करना होगा। यदि जनता अपनी मजदूर-सभाओं, पंचायतों, किसान-सभाओं आदि में संगठित हो, तो उसका काम पूँजीपतियों की पार्टियों के लिए वोट डालना न रहे। वह अपनी संस्थाओं से प्रतिनिधि खड़े करे और ग्राम-पंचायतों से लेकर लोकसभा तक के लिए अपने प्रतिनिधि भेजे। तब उसे अपनी आर्थिक और सांस्कृतिक प्रगति के लिए अपनी भाषा का व्यवहार करने के लिए भी पूर्ण अवसर और सुविधा मिलेगी। यदि इस भाषा-समस्या पर हम जनता के हितों की दृष्टि से विचार करें तो बहुत सी कठिन दिखने वाली समस्याएँ आसानी से हल हो जायेंगी। उदाहरण के लिए, पारिभाषिक शब्दावली की समस्या है। हिन्दी ही नहीं, भारत की प्रत्येक भाषा में विज्ञान, न्याय आदि के क्षेत्रों में ऐसी शब्दावली की कमी है जिसके प्रयोग द्वारा सुप्रीम कोर्ट अपना फैसला दे सके या श्री सी. वी. रमन अपना अनुसंधान कर सकें। पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण इस दृष्टि से आरम्भ किया जाता है कि उच्च कोटि के वैज्ञानिक अपनी रचनाओं में और अनुसंधान के लिए उसका उपयोग करेंगे, हाईकोर्ट में उसका व्यवहार होगा। यदि सारे देश में ग्राम पंचायतों, जिला बोर्डों, छोटी अदालतों, स्कूल-कालेजों और विधान सभाओं में जातीय भाषाओं का व्यवहार होने लगा हो, तो हम कहेंगे कि विज्ञान और न्याय की उच्चस्तरीय शब्दावली अब तुरत बननी चाहिए; इसके बिना हमारे प्रजातन्त्र-महल का एक कोना अधबना रहा जाता है। किन्तु अभी स्थिति यह है कि एक कोने पर लाखों खर्च किये जा रहे है, नींव और दीवारों का पता नहीं है। इस बहाने कि भारतीय भाषाएं अविकसित है, विभिन्न राज्यों में उन्हें राजकाज की भाषा नहीं बनाया जा रहा है। कहीं बनाया गया है तो नाममात्र के लिए; राज्य का ज्यादा काम अंग्रेजी में होता है। इसका कारण यह है कि देश के नेता लोग जनतन्त्र को जनता के लिए जरूरी नहीं समझते, उनकी समझ में जनता जरूरी है जनतन्त्र के लिए अर्थात् उन्हें वोट देने और शासन करने का

अवसर देने के लिए। उनके विरोधियों को यह मत था कि स्कूलों, अदालतों और सरकारी दफ्तरों में तुरन्त जातीय भाषा का चलन हो। वे कुछ साल रुकने के लिए भी तैयार न थे क्योंकि वे जानते थे कि जनता की आवश्यकताओं के विचार से उनकी भाषाएँ खूब विकसित हैं। सोवियत संघ में किसी भाषा के लिए नहीं कहा गया कि वह पिछड़ी हुई है, इसलिए उसे राजकाज के लिए इस्तेमाल न करना चाहिए, जब तक वह विकसित न हो जाय, तब तक उसकी जगह रूसी भाषा का व्यवहार करते जाना चाहिए। जारशाही रूस में जातीय उत्पीड़न बहुत ज्यादा था। इसलिए बाल्शेविक पार्टी ने यह नारा दिया था कि रूसी को राजभाषा के रूप में खत्म किया जाय। शिक्षण-संस्थाओं, अदालतों आदि में सब जगह गैर-रूसी जातियों की भाषाओं का व्यवहार होने लगा। वहां लोग उच्च विज्ञान की शब्दावली गढ़ने न बैठ गये और इस बहाने जातीय भाषाओं के विकास पर उन्होंने रोक न लगा दी। जिसे उच्च विज्ञान की शिक्षा पाना हो, वह रूसी पढ़े, रूसी विद्यालयों में जाय, लेकिन वैज्ञानिक शब्दावली के अभाव में जातीय भाषाओं को राजभाषा बनने से रोका न जायगा। औद्योगिक प्रगति होगी, साक्षरता का प्रसार होगा, नये विश्वविद्यालय कायम होंगे, वैज्ञानिक शब्दावली गढ़ी जायगी — ये सब काम होते रहेंगे और उन्हें पूरा होने में वर्षों लगेंगे, तब तक जनतंत्र की मूलाधार जनता राजकाज और सांस्कृतिक जीवन से तटस्थ न बैठी रहेगी, वह अपनी भाषा के माध्यम से उसमें भाग लेगी। इसी तरह भारत में, हाईकोर्ट के फैसले कुछ दिन तक अंग्रेजी में ही लिखे जायं, कोई हर्ज नहीं। मेडिकल और इंजीनियरिंग कालेजों में कुछ दिन तक अंग्रेजी में पढ़ाई होती रहे, कोई नुकसान नहीं। जिन संस्थाओं से जनता को आये दिन साबिका पड़ता है, उनमें उसकी भाषा का व्यवहार होता है या नहीं, मुख्य समस्या यह है। व्यापक पैमाने पर आज देश की जातीय भाषाएं तुरत राजभाषा बनायी जा सकती हैं, उन्हें विद्यालयों आदि में शिक्षा का माध्यम बनाया जा सकता है, उनके विकसित-अविकसित होने का सवाल नहीं उठता।

इस दृष्टिकोण से पंजाबी और राजस्थानी की समस्या पर विचार कीजिए। राजस्थान में राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन के उन सभी स्तरों पर राजस्थानी का ही व्यवहार होना चाहिए जिनका घनिष्ठ सम्बन्ध साधारण जनता से है। यह बिलकुल सम्भव है कि राजस्थान के विश्व-विद्यालयों का माध्यम हिन्दी हो क्योंकि दोनों के शब्द-भंडार में बहुत बड़ी समानता है। दर्शन, अर्थ-शास्त्र, विज्ञान आदि की पुस्तकें राजस्थानी में लिखी जायें तो निन्यानवे फीसदी शब्दावली वही होगी जो हिन्दी की होगी। इसलिए राजस्थानी व्याकरण-रूपों को मिलाकर उस हिन्दी शब्दावली को दुबारा छापने में अर्थ और समय का

मोहन सिह और अमृता प्रीतम के जमाने मे भी। आगे भी लिखा जायगा। अखबार निकालना कोई बहुत उच्चस्तरीय काम नही; कम से कम कवि से पत्रकार का दर्जा ऊचा नही है। लेकिन यह बिलकुल सम्भव है कि पजाब के अखबार ज्यादातर हिन्दी मे निकले, वहा का बहुत सा गद्य साहित्य हिन्दी मे रचा जाय, काव्य अधिकतर पजाबी मे हो।

कश्मीर मे उर्दू को राजभाषा बनाया गया है। उर्दू (या हिन्दी) का कश्मीरी से वही सम्बध नही है, जो हिन्दी का मराठी या बगला से है। हिन्दी-उर्दू जानने वालो के लिए वह उतनी ही दूर है जितनी दूर तेलुगु या तमिल है। ऐसी हालत मे उर्दू को राजभाषा बनाये रखना कश्मीरी के प्रति घोर अन्याय करना है। कश्मीरी इतनी स्वतत्र और समर्थ भाषा है कि उसमे निम्न स्तर से लेकर उच्चतम स्तर तक गद्य-पद्य का सारा काम हो सकता है। राजस्थान या पजाब की तरह वहा यह आवश्यक न होगा कि उच्चस्तरीय कामकाज हिन्दी मे हो। यदि बगला उच्चतम शिक्षा का माध्यम बन सकती है, तो कश्मीरी भी बन सकती है। जम्मू की भाषा डोगरी है जो पजाबी और हिन्दी से मिलती है। इस क्षेत्र मे राजभाषा न उर्दू होनी चाहिए, न कश्मीरी वरन् यह स्थान मिलना चाहिए डोगरी को जिसकी हिन्दी के सम्बध मे वही स्थिति है जो राजस्थानी की है, अर्थात निम्न-स्तरीय कार्य डोगरी मे होगे, उच्चस्तरीय कार्य अधिकतर हिन्दी मे होगे।

भाषाओ की निरपेक्ष और पूर्ण स्वाधीनता किसी भी देश मे सभव नही है। जारशाही रूस मे बोल्शेविक पार्टी ने उचित ही रूसी के अनिवार्य राजभाषा बनाये जाने का विरोध किया था। आज जो रूसी भाषा की स्थिति है, वह जारशाही रूस मे उसकी स्थिति से बुनियादी तौर से भिन्न है। यह भिन्नता इस बात मे है कि पहले अन्य भाषाओ मे राजकीय और सास्कृतिक काम करने की मनाही थी। आज उक्रैनी, उजबेक, जार्जियन आदि बडे प्रजातत्रो की राजभाषाए है। अन्य छोटी-छोटी जातिया जिनकी सख्या कुछ लाख तक सीमित है शिक्षा और राजकाज मे अपनी भाषाओ का उपयोग करती है। किन्तु सोवियत सघ की सभी भाषाओ मे उच्च कोटि की वैज्ञानिक पुस्तके नही है, न उन सभी का विश्वविद्यालयो मे उपयोग होता है। सोवियत सघ की कम्युनिस्ट पार्टी का मुखपत्र प्रावदा रूसी मे प्रकाशित होता है। जारशाही रूस और अब की स्थिति मे अन्तर यह है कि पहले गैर-रूसी भाषाए दबायी जाती थी और लोगो को रूसी सीखने के लिए मजबूर किया जाता था। अब उनकी भाषाओ के व्यवहार मे कोई रुकावट नही है और रूसी वे स्वेच्छा से सीखते है। सोवियत सघ की लगभग बीस करोड आबादी मे आधे रूसी है। इसलिए यह स्वाभाविक था कि आपस मे व्यवहार के लिए रूसी भाषा ही चुनी जाय। फिर

भी राष्ट्र संघ में बेलो-रूस और उक्रेन के प्रतिनिधि अपनी-अपनी भाषाओं में भाषण कर चुके हैं। यह बात ज़ारशाही रूस में कल्पनातीत थी। सोवियत संघ के भूतपूर्व राष्ट्रपति कालिनिन ने १९४३ में सोवियत सेना के राजनीतिक प्रचारकों से जो कुछ कहा था, उससे रूसी और ग़ैर-रूसी भाषाओं के परस्पर सम्बन्ध का पता अच्छी तरह चलता है। उन्होंने ग़ैर-रूसी सैनिकों द्वारा रूसी भाषा के अध्ययन पर जोर देते हुए कहा था, "रूसी जाने बिना तुम फौज में ठीक से काम नहीं कर सकते। सैनिक सेवा के कायदे-कानून रूसी में हैं। इसी भाषा में फौजी हुक्म लिखे जाते हैं और सैनिकों को आज्ञा दी जाती है। रूसी भाषा सोवियत संघ के सभी लोगों के परस्पर व्यवहार की भाषा है।" ग़ैर-रूसी जातियों की कठिनाइयों का जिक्र करते हुए उन्होंने कहा था, "शुरू में ग़ैर-रूसी जातियों के सैनिकों को रूसी की थोड़ी सी ही जानकारी होगी और वे स्वभावतः अपनी भाषाओं में सोचेंगे। इसलिए यदि आप कुछ ऐसी बात कहना चाहते हों जो उनके हृदय को छू ले, तो उसे उन्हीं की भाषा में कहिए और इससे आपके श्रोता आपकी बातें ज्यादा ध्यान से सुनेंगे। उनकी मातृभाषा सीधे उनके हृदय तक पहुंचेगी और आपके विचारों के उतार-चढ़ाव को उन तक पहुंचा देगी। यही कारण है कि ग़ैर-रूसी जातियों में काम करने वाले प्रचारक रूसी भाषा सीख लेने पर ग़ैर-रूसी जनों की मातृभाषा का व्यवहार करने की जिम्मेदारी से बरी नहीं हो जाते। रूसी सीखो लेकिन सैनिकों के हृदय को छूने के लिए खासकर शुरू के दिनों में, उनकी मातृभाषा का प्रयोग करो। यह बहुत अच्छा है कि हमारे प्रचारक उन्हीं जातियों से लिये जाते हैं जिनके सैनिक होते हैं।"[1]

इस तरह सभी भाषाओं को निरपेक्ष समानता का अधिकार न देकर बहुसंख्यकों की भाषा होने के नाते रूसी को केन्द्रीय भाषा का दर्जा दिया गया। स्विट्जरलैंड में जर्मन, फ्रांसीसी, इतालवी — सभी राजभाषाएं हैं। केन्द्रीय राजकाज इन सभी भाषाओं में हो सकता है। उस देश के एक निवासी ने मुझे बताया कि वहां के नागरिक इन तीनों भाषाओं को जानते हैं, इसलिए उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती। किसी भी बहुजातीय देश में केन्द्रीय भाषा की समस्या दो ही तरह से हल की जा सकती है। एक तरीका यह है कि अनेक भाषाओं में से किसी एक को केन्द्रीय कामकाज के लिए चुन लिया जाय। दूसरा तरीका यह है कि लोग उस देश की सभी भाषाओं को सीखें। स्विट्जरलैंड जैसे देश में यह सम्भव है। देश छोटा है; तीन-चार जातियों के लोग ही रहते हैं। इतालवी और फ्रांसीसी एक-दूसरे से बहुत मिलती-जुलती हैं। इसलिए जर्मन-भाषी लोग फ्रांसीसी या इतालवी में कोई एक सीख लें तो उनका

---

1. कालिनिन, ऑन कम्युनिस्ट एजूकेशन, पृष्ठ १२५—२६।

चल सकता है। थोड़े-से लोग दो-चार भाषाएँ सीख लें तो उनका काम चल
सकता है। इसलिए वहाँ भाषा-समस्या का केवल व्यावहारिक समाधान
सम्भव है। लेकिन सोवियत संघ में यह सम्भव नहीं था कि सभी नागरिक देश
की सौ से ऊपर भाषाएँ सीखें। यह आशा रखना एक अराजकतावादी मनोविकार
मात्र था। वर्तमान काल में राज्यसत्ता का गठन इस प्रकार होता है कि
केन्द्रीय भाषा के बिना काम चलता नहीं है। एक केन्द्रीय भाषा न होगी तो
एक से अधिक भाषाएँ उसके स्थान पर होंगी और सभी शिक्षित जनों को
उन्हें सीखना होगा।

भारत की स्थिति यह है कि यहाँ हिन्दी के अलावा अनेक पुरातन और
समृद्ध भाषाएँ है। वे पुरातन और समृद्ध न भी होतीं तो भी देश के नव-निर्माण
में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान होता। तमिल, तेलुगु, मराठी, बंगला आदि ऐसी
भाषाएँ हैं जिनमें उच्चतम शिक्षा, प्रदेश का राजकाज, उच्च न्यायालयों की
कार्यवाही आदि होनी चाहिए। पंजाबी, राजस्थानी, डोगरी, गढ़वाली आदि
ऐसी भाषाएँ हैं जिनमें निम्न-स्तरीय राजकाज, शिक्षा आदि का काम होना
चाहिए। विश्वविद्यालयों, उच्च न्यायालयों आदि के लिए हिन्दी का प्रयोग
करना व्यवहारिक होगा। इनके अलावा बहुत सी आदिवासी जातियों की
भाषाएँ हैं, जिनमें कहीं-कहीं थोड़ा बहुत शिक्षण-कार्य होता है लेकिन जिनमें
आगे चलकर जनता की राजकीय और सांस्कृतिक कार्यवाही काफी बड़े पैमाने
पर सम्पन्न होगी। यह सम्भव है कि उच्च शिक्षण और उच्चस्तरीय राजकाज
वगैरह हिन्दी में या इन भाषाओं की पड़ोसी किसी बड़ी जाति की भाषा में
हो। उदाहरण के लिए, डांग प्रदेश के निवासी अपनी भाषा के अलावा मराठी
या गुजराती का व्यवहार करेंगे। असम के पहाड़ी इलाकों के लोग अपनी
भाषाओं के अलावा उच्च शिक्षण आदि के लिए असमिया, बंगला या हिन्दी का
उपयोग करेंगे।

यद्यपि स्वाधीन भारत ज़ारशाही रूस की तरह जातियों का कारागार
नहीं है, फिर भी जातीय विद्वेष यहाँ तेजी से बढ़ रहा है और असम की घट-
नाओं से इस देश के अंधराष्ट्रवाद ने अपना एक रिकार्ड कायम किया है।
इसलिए नीति का तकाजा है कि छोटी-बड़ी जातियों को अपने-अपने प्रदेश में
अपनी भाषाओं के व्यवहार करने की अधिकतम सुविधा दी जाय और इन
जातियों के परस्पर व्यवहार तथा केन्द्रीय राजकाज के लिए हिन्दी का उपयोग
किया जाय। वर्तमान अंधराष्ट्रवाद की विशेषता यह है कि वह दूसरी भारतीय
भाषाओं के प्रति घृणा फैलाता है और अंग्रेजी को गले लगाता है। उसका एक
तर्क यह है कि हिन्दी तथा भारत की अन्य सभी भाषाएं दरिद्र हैं और अंग्रेजी
विश्वभाषा है। इसलिए 'सब तज, हरि भज;' अंग्रेजी को अपनाओ और हिन्दी

से पीछा छुडाओ। अंग्रेजी के बिना हमारा काम नही चल सकता। भारत की सभी भाषाएं अविकसित है। इन स्थापनाओ की सिद्धि के लिए कुछ विद्वान एक वैज्ञानिक तर्क का सहारा लेते हैं। भारत पराधीन था; देश का उत्पादन पिछडा हुआ था। इसलिए उत्पादन-व्यवस्था के अनुपात से भाषाएं भी पिछड़ी रह गयी।

यह तर्क ऊपर से देखने मे वैज्ञानिक लगता है। भाषा उत्पादन-वितरण के विकास के साथ समाज की नई-नई आवश्यकताएं पूरी करने का साधन बनती है। यदि किसी देश मे आधुनिक उद्योग-धन्धो का विकास नही हुआ, तो वहा की भाषा मे औद्योगिक शब्दावली भी न होगी, क्योंकि उसकी आवश्यकता ही न पडी थी। इस तरह की शब्दावली भाषा का एक अंग है। वह समग्र भाषा नही है। भाषा की अभिव्यजना-शक्ति इस पारिभाषिक शब्दावली पर निर्भर नही होती जिसका उपयोग सीमित क्षेत्रो मे विशेषज्ञ करते हैं, समस्त जनता को उससे साबिका पडे, यह आवश्यक नही है। यह शब्दावली गढी जा सकती है। भाषा गढी नही जा सकती, लेकिन पारिभाषिक शब्दावली गढी जा सकती है। चीन ने इस तरह की शब्दावली गढ ली है। औद्योगिक दृष्टि से चीन हमसे पिछडा हुआ था लेकिन अंग्रेजी के बिना उसका राजकीय और सास्कृतिक काम चलता है। रूस विज्ञान और उद्योग-धधो में पिछड़ा हुआ था लेकिन उसने रूसी की जगह अंग्रेजी या जर्मन को राजभाषा नही बनाया। यूगोस्लाविया, बलगारिया, पोलैंड, रूमानिया आदि विज्ञान और उद्योग-धधो मे भारत जैसे पिछडे थे लेकिन इन देशो की भाषाओं में राज-काज होता है। जापान ने जिस समय उद्योगीकरण आरंभ किया था, उस समय उसने अंग्रेजी को राजभाषा न बना लिया था। ऐसी स्थिति में भारतीय भाषाओ मे देश का राजकाज न हो, तो इसे नेताओं का प्रमाद ही मानना चाहिए।

किन्तु भाषा पारिभाषिक शब्दावली के अलावा भी बहुत कुछ है। वह मनुष्य के चिन्तन, भावनाओ और सवेदनाओ की अभिव्यजना का माध्यम है। भारत के प्राचीन गौरव और महात्मा गाधी के नाम पर जनता से वोट लिये जाते हैं, फिर उस जनता की भाषा को पिछड़ा हुआ कह कर उसे राजकाज से बाहर रखा जाता है! जब हम महान् बनना चाहते हैं तब वेद, उपनिषद, गौतम बुद्ध, शकर, रामानुज का नाम लेते है, रवीन्द्रनाथ और सुब्रह्मण्य भारती का नाम भी ले लेते हैं, तुलसीदास और प्रेमचद का नाम भी ले लेते हैं। लेकिन जब भारतीय भाषाओ की बात आती है तो उन्हे दरिद्र कह देते हैं। पारिभाषिक शब्दावली के बिना भाषा दरिद्र रहती है तो मध्ययुग में ग्रीक और लैटिन भी दरिद्र थी, आज की भारतीय भाषाएं भी

है। किन्तु यदि आधुनिक विज्ञान और उद्योग-धधो की शब्दावली के बिना भी संस्कृत, ग्रीक, लैटिन समृद्ध भाषाएं थी तो मानना होगा कि आधुनिक भाषाएं भी समृद्ध है। यदि भाषा की समृद्धि उत्पादन पर निर्भर होती, तो शेक्सपियर की भाषा को नितांत दरिद्र होना चाहिए और मैकमिलन और आइज़नहावर की भाषा को बहुत समृद्ध होना चाहिए। दान्ते मध्ययुग का अन्तिम और यूरोपीय नवजागरण का प्रथम कवि था। इतालवी को उससे अधिक किसने समृद्ध किया है? आज रवीन्द्रनाथ, प्रेमचन्द और भारती की भाषाओं को समृद्ध करने की बात की जाती है। कोश-निर्माता समझने लगे है कि वे कवियों, विचारकों और लेखकों की अपेक्षा भाषा को समृद्ध करने मे अधिक महत्वपूर्ण योग दे रहे हैं। उद्योगीकरण भले रुका रहे, विज्ञान मे भले प्रगति न कर पाये, अन्न भी अमरीका से उधार लेकर खाये लेकिन लाखो रुपये खर्च करके कोश-निर्माण द्वारा उद्योगीकरण और वैज्ञानिक प्रगति के लिए मार्ग प्रशस्त अवश्य करेंगे! शायद भारतीय भाषाएं दरिद्र है, इसलिए विदेश से ऋण लिये बिना उद्योगीकरण नही हो सकता। सौ साल से हमारे वैज्ञानिक अंग्रेज़ी का अभ्यास कर रहे है, फिर भी वैज्ञानिक प्रगति मे हम पिछड़े हुए क्यों हैं? रूस ने थोड़े ही समय मे अंग्रेज़ी भाषा के खास केन्द्र इगलैंड और अमरीका को वैज्ञानिक प्रगति मे कैसे पीछे छोड दिया? इस तथ्य पर अंग्रेज़ी-प्रेमियों को जरा ठहर कर विचार करना चाहिए।

अंग्रेज पहले तर्क दिया करते थे, आज भी पचीसो उपनिवेशों मे साम्राज्यवादी यही तर्क देते हैं, कि वहा की जनता स्वाधीनता के लिए तैयार नही है। उसी तर्क को भारत के अनेक नेता भाषा के बारे मे दोहराते है। उन अंग्रेज राजनीतिज्ञों के सामने श्रद्धा से सिर झुकाना चाहिए जिन्होंने अंग्रेज़ी के बदले यहा भारतीय भाषाओ मे शिक्षण कार्यादि चलाने पर जोर दिया था। १८५४ मे सर चार्ल्स वुड ने अपने शिक्षा-सम्बधी विवरण मे लिखा था, "यह न हमारी इच्छा है, न उद्देश्य है कि अंग्रेज़ी देशी भाषाओं का स्थान ले ले। विशाल आम जनता द्वारा समझी जानेवाली भाषाओं के व्यवहार और महत्व की ओर हम सदा सजग रहे है। न्याय-व्यवस्था मे और सरकारी हाकिमों तथा जनता के सम्पर्क मे फारसी के बदले हमने इन भाषाओं को प्रतिष्ठित किया है, न कि अंग्रेज़ी को। इसलिए यह अनिवार्य है कि शिक्षा की किसी भी सार्वजनिक व्यवस्था मे इनके अध्ययन पर खूब ध्यान दिया जाय। यूरप के समुन्नत ज्ञान का जो भी परिचय आम जनता को कराया जाय, वह इन्ही देशी भाषाओं मे किसी एक के माध्यम से सम्भव होगा। आम जनता अपने जीवन की परिस्थितियों के कारण उच्च शिक्षा नही पा सकती और उनसे यह आशा नही की जा सकती कि विदेशी भाषा सीखने की कठिनाइयो पर वह विजय

पायेगी ।''[1] सौ वर्ष पहले ऐसे अंग्रेज थे जो न्यायव्यवस्था और सरकारी
मे भारतीय भाषाओं का व्यवहार उचित और आवश्यक समझते थे। स
भारत के नेता उनके तर्क से सहमत नही है ! यद्यपि उनमे से अधिकां
बहुमूल्य चिन्तन से अंग्रेजी भाषा को ही समृद्ध करते आये हैं, फिर भी
मजाल तो देखिए — वे भारतीय भाषाओं की तरफ उंगली उठाकर कहें
तुम दरिद्र हो !

अग्रेजी अवश्य एक समृद्ध भाषा है। शेक्सपियर, मिल्टन और डा
जैसे मनीषियो ने उसमे अपनी रचनाए की हैं। यही भाषा इगलैंड मे
जाती है, सयुक्त राष्ट्र अमरीका, कनाडा और दक्षिण अफीका मे, न्यूजीलैंड
आस्ट्रेलिया मे और भारत जैसे ब्रिटेन के भूतपूर्व उपनिवेशों मे — कुछ वि
जनो द्वारा — बोली जाती है। इन सब देशो की औद्योगिक और वैज्ञा
प्रगति एक सी नही है। मुख्य बात है सामाजिक सगठन, सामाजिक वि
की मजिल। नीचे मे नीव पोली हो तो दीवाल पर अग्रेजी पलस्तर लगा
इमारत मजबूत थोडे ही हो जायगी।

अग्रेजी समृद्ध भाषा है, लेकिन उसका प्रसार उसकी समृद्धि के क
नही हुआ। उत्तरी अमरीका, अफीका, आस्ट्रेलिया आदि में लाखो आदमियो
अपनी जान से हाथ धोना पडा है, उनकी जमीन छीन ली गयी है, वहा
जनता को गुलाम बनाकर बेचा गया है और आज भी एक विशाल जनस
गुलामी की जजीरो मे जकडी हुई है। इस तरह अग्रेजी 'विश्वभाषा' ब
है। यूरोप मे फासीसी, जर्मन और रूसी भाषाओ का महत्व कम नहीं ह
लैटिन अमरीका के अनेक देश स्पेनी बोलते है। लगभग साठ करोड चीनी अ
भाषा का व्यवहार करते है। मारिओ पेइ नामक लेखक ने ससार की प्र
भाषाए बोलने वालो की यह सख्या दी है :

चीनी	५० करोड	इडोनेशियाई	८ करोड
अग्रेजी	२५ करोड	पुर्तगाली	६ करोड
हिन्दुस्तानी	१६ करोड	बगला	६ करोड
रूसी	१५ करोड	इतालवी	६ करोड
स्पेनी	१२ करोड	अरबी	५ करोड
जर्मन	१० करोड	जापानी	१० करोड
फासीसी	८ करोड[2]		

पाठक देखेंगे कि चीनी बोलने वालो की सख्या अग्रेजी बोलने वालो क

१. शासकीय भाषा कमीशन रिपोर्ट में उद्धृत, पृष्ठ [illegible]।
२. मारिओ पेइ, [illegible] १९५८, पृष्ठ [illegible]।

संख्या से दुगनी है। शायद इसीलिए चीन की जन-संख्या से कुछ अंग्रेजी भाषी विद्वानों को परेशानी होती है। जर्मन, रूसी, फ्रांसीसी भाषाएं अंग्रेजी से कम समृद्ध नहीं हैं। न उनके बोलने वालों की संख्या कुछ कम है। अंग्रेजी के बाद तीसरे नम्बर पर है हिन्दी। मारियो पेइ ने अपनी पुस्तक के पृष्ठ १५५ पर भारत का जो मानचित्र दिया है, उसमें बिहारी को हिन्दी से अलग दिखाया है। यदि भारत के उन सब लोगों को गिना जाय जो हिन्दी समझ लेते हैं, तो उनकी संख्या लगभग अंग्रेजी-भाषियों के बराबर निकलेगी, पाकिस्तान को मिलाकर ज्यादा भी हो तो ताज्जुब नहीं। अंग्रेजी विश्वभाषा है, यह दलील उन देशों के नेता देते हैं जहां ब्रिटेन का राज था। जहां फ्रांस या हालैंड का राज्य था, वहां इस 'विश्वभाषा' को पूछ नहीं है। भारत में अंग्रेजी की तरह वहां फ्रांसीसी और डच का आधिपत्य है। बात समृद्ध और विश्वभाषा की नहीं है, बात है गुलामी की। आप जिसके गुलाम थे, उसी की भाषा को अपने गले का तौक बनाये हुए हैं, वह चाहे विश्वभाषा हो, चाहे एक टापू की भाषा हो। फिलि-पिन, इंडोनेशिया, वियतनाम आदि ने अपनी भाषाओं को राजभाषा बनाया है। मारियो पेई के शब्दों में "जब मोरक्को, ट्यूनीशिया और अल्जीरिया फ्रांस से पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करेंगे, तब वहां लोकप्रिय अरबी राजभाषा बनेगी।"[1] जिस तरह इस युग की सामाजिक प्रगति का यह नियम है कि उपनिवेशों की जनता साम्राज्यवादी दासता से मुक्त हो, उसी तरह यह भी इस युग का नियम है कि उपनिवेशों की जनता पर जो विदेशी भाषाएं लादी गयी थीं, उनके स्थान पर स्वाधीन होने वाली जनता की अपनी भाषाएं प्रतिष्ठित हों। जरा पचास साल आगे की तरफ देखिए। कहां होगा ब्रिटिश साम्राज्य या कामनवेल्थ, कहां होगा पूंजीवादी दुनिया का अमरीकी अधिनायकत्व? एशिया, अफ्रीका और दक्खिनी अमरीका की जातियां नयी शक्ति से आगे बढ़ेंगी। यूरोप की भाषाओं से इनका एक नया सम्बन्ध कायम होगा। उस समय अंग्रेजी की वर्तमान स्थिति न रह जायगी। लोग आश्चर्य करेंगे कि पांच-छह हजार वर्ष की संस्कृति के देश भारत में कुछ ऐसे भी अंधे-बहरे थे जो समझते थे कि अंग्रेजी के बिना देश का काम ही न चलेगा!

अंग्रेजी भाषा समृद्ध है लेकिन उसकी समृद्धि की सीमाएं हैं। बहुत से भाव और विचार ऐसे हैं जिन्हें केवल हमारी भाषाएं व्यक्त कर सकती हैं। विदेश के अनेक उदार विचारक इस बात को स्वीकार करते हैं और वे भार-तीय शब्दों का प्रयोग करने में झिझकते नहीं हैं। प्रसिद्ध भाषाविद् ब्लूमफील्ड ने इस प्रकार हमारे "सन्धि" शब्द का प्रयोग किया है यथा—"दि फ्रेंच

1. मारियो पेइ, लैंग्वेज फौर एवी बॉडी, पृष्ठ १५६।

पर नहीं कही जा सकती। [illegible] की [illegible] [illegible] जापानी है, [illegible] के
[illegible] के प्रकाश में [illegible] जापानी जीवन और समाज का अध्ययन
करना [illegible] है। [illegible] [illegible] [illegible] जा सकता
है कि इसकी [illegible] यूरोपीय भाषाओं की तुलना में कम मजबूत है। यूरोप
की भाषाओं ने भी आधुनिक विज्ञान के क्षेत्र में अचानक उन्नति नहीं कर ली,
न एक साथ उन्नति कर ली है। बहुत-सी बातों में अंग्रेजी भाषा जर्मन से
पिछड़ी रही है। उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशक में जर्मन मनोविज्ञान-विशारद
विल्हेल्म वुण्ट ने मानवीय और पशु मनोविज्ञान पर एक पुस्तक लिखी थी।
उसके अनुवादकों ने अपनी कठिनाइयों का उल्लेख भूमिका में इस प्रकार किया
है, "मनोविज्ञान से सम्बन्धित अंग्रेजी की शब्दावली अभी बहुत अव्यवस्थित है,
इसलिए हमने किसी नीति का विचार न करके इसके शब्दों का सही-सही
अनुवाद करने का प्रयत्न किया है।"[1] अंग्रेजी की शब्दावली अव्यवस्थित थी,
लेकिन *अनुवादकों ने यह नहीं कहा कि अभी जर्मन से* काम चलाना चाहिए, जब
आगे चलकर हमारी शब्दावली व्यवस्थित हो जायगी तब हम अंग्रेजी का
व्यवहार करने लगेंगे।

यूरोपीय भाषाओं के बारे में एक भ्रान्त धारणा यह है कि उन सभी में
कोई अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली प्रचलित है। पारिभाषिक शब्दावली गढ़ने के
लिए इन भाषाओं के पास कोई एक निश्चित स्रोत नहीं है। वे लैटिन से
शब्द गढ़ सकती हैं। फ्रांसीसी, इतालवी आदि के लिए यह स्वाभाविक है
क्योंकि वे लैटिन परिवार की हैं। यूरोप की भाषाएँ ग्रीक के आधार पर शब्द
बनाती हैं क्योंकि यूरोप का प्राचीनतम साहित्य ग्रीक में है और वह बहुत
सम्पन्न भाषा रही है। जर्मन, रूसी आदि भाषाएँ बहुत से पारिभाषिक शब्द
अपनी धातुओं या मूल शब्द-भंडार के आधार पर बनाती हैं। उदाहरण के
लिए, रूसी धातु रोदीत्स्या का अर्थ है जन्म लेना। इससे रोद शब्द सगे
सम्बन्धियों, कबीले आदि के लिए प्रयुक्त होता है—ठीक हमारे जन शब्द की
तरह। रूसी में जल के लिए शब्द है वोदा जो हमारे उदक का सगोत्री है।
अपने मूल शब्द-भंडार के इस वोदा को उन्होंने धातु रोद से जोड़ा और
पारिभाषिक शब्द बनाया वोदोरोद। यह हुआ अंग्रेजी के हाइड्रोजन का
पर्यायवाची। हाइड्रोजन में न हाइड्रो अंग्रेजी का है, न जन उसका है। लेकिन
जिसके पास अपनी धातुएँ हैं और उपयुक्त मूल शब्द होंगे, वह ग्रीक या लैटिन
से क्यों उधार लेने जायगा ? रूसियों ने अपना शब्द बनाया वोदोरोद; उसी

1. विल्हेल्म वुण्ट, लेक्चर्स ऑन ह्यूमैन एण्ड एनिमल साइकॉलोजी, न्यूयार्क, अनुवादकों की भूमिका।

तरह जर्मनों ने अपना शब्द बनाया ह्वासेरस्टौफ। 'भाषा विज्ञान
लैटिन के आधार पर अंग्रेज़ी में शब्द चला 'लिंग्विस्टिक्स'। रूसी
'ज्ञान' के समकक्ष 'जनानिये' शब्द को जोड़ कर बना 'याजिकोज्न
जर्मन ने अपना शब्द बनाया 'स्प्राखविसेन-शाफ्ट' (या स्प्राखेनकुडे)।
में अपने घर की पूंजी तो कुछ यों ही है; ग्रीक और लैटिन से उधार म
उपनिवेशों में अंग्रेज़ी कह कर खपाया जाता है। यूरोप के लोग अंग्रे
इस पारिभाषिक शब्दावली को क्यों स्वीकार करने लगे?

धार्मिक कारणों से इंगलैंड में ग्रीक की अपेक्षा लैटिन अधिक पढ़ी
रही है। इसलिए ग्रीक शब्दों के आधार पर बनी शब्दावली अधिक गौरव
समझी जाती है। ग्रीक में ऍन्थ्रोपोस (मनुष्य) से बनाया हुआ ऍन्थ्रोपौलो
ग्रीक में जीव के समकक्ष शब्द ज़ोओस से बनाया हुआ जुओलौजी। हमारे
मानव, जीव आदि शब्द विद्यमान हैं; हम उनसे शब्द क्यों न बनायें? ये
ग्रीक शब्दों से कम गरिमामय है? फिर ज़ोओस ग्रीक होने से अधिक गौरवम
हो और जीव अधिक प्राचीन होने पर भी भारतीय होने से हीन हो — यह बात
तो कुछ युक्ति-संगत नहीं है। पारिभाषिक शब्दावली निर्माण में अनेक खामियाँ
है। ये खामियाँ भाषा की नहीं है, इनका सम्बंध है शब्दावली-निर्माण के मनुष्
से। इस तरह के निर्माण-कार्य में लगे हुए कुछ लोग समझते हैं कि जो शब्
लोकप्रिय हैं, वे पारिभाषिक नहीं हो सकते। प्रत्येक भाषा में ऐसे शब्द मिलते
हैं जो जन-साधारण में प्रचलित हैं, साथ ही पारिभाषिक भी हैं। केन्द्रीय शिक्षा-
मंत्रालय द्वारा चिकित्सा-शब्दावली में अंग्रेज़ी के ऐसे लोकप्रिय शब्द हैं, हिट,
फी, डार्क, रूम, चाइल्डहुड, ब्रश, रिजल्ट, रिपोर्ट, जैम, लेडीज़, ओनली,
इन्स्पेक्टर, इडियट, फार्म आदि। ये शब्द आमफहम हैं; इसलिए इन्हें कोई
पारिभाषिक शब्दावली में निकाल नहीं देता। दूसरी खामी यह है कि हिन्दी की
प्रवृत्ति, विशेषकर उसकी उच्चारण-पद्धति का ध्यान न रखकर भारी और
संयुक्ताक्षर वाले लम्बे शब्द गढ़े जाते हैं जिनकी तुलना में अंग्रेज़ी शब्द भी
बोलने में आसान होते हैं। यदि पारिभाषिक शब्द बोलने में सुगम हों —
विशेष रूप से अंग्रेज़ी का प्रतिशब्द उसके मुकाबले में ज़्यादा आसान न
हो — तो वे जल्दी स्वीकृत हो जायेंगे। पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण में
यही बात महत्त्व की नहीं है कि संस्कृत में किसी धातु और उपसर्ग का क्या
अर्थ था। यह भी देखना चाहिए कि हिन्दी में उनका क्या अर्थ लगाया
जायगा। वर्ना हिन्दी का पारिभाषिक शब्द अंग्रेज़ी से भी कठिन हो जायगा।
यह स्पष्ट है कि किसी भी विषय के पारिभाषिक शब्द बनाना केवल वैया-
करणों और भाषाविदों का काम नहीं है। इस काम में उस विषय के पंडितों
का सहयोग भी होना चाहिए। इन बातों पर ध्यान न देने के कारण हिन्दी

के कुछ पारिभाषिक शब्द हंसी-मजाक की चीज बन गए है। लेकिन पारि-
भाषिक शब्दावली में ऐसे भी बहुत से शब्द है जो बोलने में हिन्दी की प्रकृति
का उल्लघन नहीं करते और जिनके लिए विश्वास से कहा जा सकता है कि वे
अवश्य लोकप्रिय होगे। केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय द्वारा प्रकाशित कृषि-सम्बधी
शब्दावली से हम कुछ शब्द ले सकते है। अग्रेजी के "हनीड्यू" के लिए
"मधुरस" शब्द सार्थक और सरल दोनो है। अग्रेजी "एपिअरी" उच्चारण
में हिन्दी भाषियो के लिए सुगम नही है, उसकी तुलना मे "मधुवाटिका" कहने-
सुनने में अच्छा लगता है। "सेन्चुलेटेड" कठिन शब्द है, उसके लिए हिन्दी शब्द
"दातदार" बोलचाल की हिन्दी के अनुकूल है। उसे लोकप्रिय होने के कारण
पारिभाषिक शब्दो की पाति से बाहर नहीं किया गया। अग्रेजी के "ड्रिलो"
शब्द के लिए हिन्दी "सोराना" चुना गया है जिसे अधिकाश किसान समझते
है। भूसा, कुआ, बाग, हलवाहा, मोसम्मी, घोल, खलिहान, कोल्हू आदि प्रचलित
शब्दो को पारिभाषिक शब्दावली मे उचित स्थान दिया गया है। इसी तरह
भौतिकी (भौतिकी) मे नल, घट, डाट, धन, स्वर आदि प्रचलित शब्द रखे
गए है। दोलक, परिमाण, आतान, तुषार, चालक, सघात, घटक आदि
शब्द ऐसे है जो बोलने मे सुगम है और जिन्हे विद्यार्थी अग्रेजी प्रतिशब्दो
की अपेक्षा आसानी से व्यवहार करेंगे। किन्तु "कोणसंज्या" अग्रेजी के
"कोटेंजेंट" से उच्चारण में ज्यादा मुश्किल है। "सत्पात्र" की तुलना मे
अग्रेजी "कडक्टर" हिन्दी की ध्वनि प्रकृति के अधिक अनुकूल है। आशा की
जा सकती है कि इस तरह के शब्द छंट जायेंगे और उनका स्थान कुछ अधिक
सरल उच्चारण वाले शब्द लेंगे। यदि शब्द निर्माण करते समय किसी विषय
मे पहले से प्रचलित शब्दो का ध्यान रखा जाय, तो कोश-निर्माताओ का काम
इतना कठिन न रहे। साथ ही हिन्दी के अलावा अन्य भारतीय भाषाओ का
ध्यान रखना चाहिए, उनके विद्वानो का सहयोग प्राप्त करना चाहिए, उनके
पहले से प्रचलित पारिभाषिक शब्द हो तो उन पर विचार करना चाहिए और
हिन्दी मे खप सकें तो उन्हे वहा से ले लेना चाहिए। हिन्दी में काफी पारि-
भाषिक शब्दो का निर्माण हो चुका है। इनमे बहुत से अपने-अपने विषय की
हिन्दी पुस्तको मे व्यवहृत भी होते हैं। जहा तक राजकाज का सम्बध है,
इस विषय के शब्दो का निर्माण विज्ञान की शब्दावली बनाने से आसान है।
इसलिए विज्ञान मे चाहे हिन्दी का प्रयोग कुछ दिन रुका भी रहे, राजभाषा
के रूप मे हिन्दी का व्यवहार रुके, इसका कोई कारण नही है।

हिन्दी के केन्द्रीय भाषा बनने से कुछ लोगो को भय है कि उनकी भाषाओं
के उचित अधिकारो की हत्या होगी। इस सम्बध मे हम कह चुके हैं कि
विभिन्न प्रदेशो की भाषाओ को वहा की राज्यभाषा बनाना चाहिए। इससे

यहां की जनता अपने अनुभव से समझेगी कि उसकी भाषा को दबाया न
रहा। अन्य जातियों से सम्पर्क के लिए वह हिन्दी को अपनायेगी क्योंकि
लोग नित्यप्रति के जीवन में किसी भारतीय भाषा का व्यवहार करेंगे, वे अ
की तुलना में हिन्दी को अपने निकट पायेंगे। इसका कारण यही नहीं है
हिन्दी मे संस्कृत के बहुत से शब्द हैं और अहिन्दी भाषाओ मे भी संस्कृ
बहुत से शब्द हैं। भारतीय भाषाओं की समानता अनेक स्तरों पर है। तत
शब्दो का प्रयोग समानता का एक स्तर है। यह अवश्य ही काफी महत्वपू
स्तर है। भारत की प्रायः सभी भाषाएं संस्कृत से अपने पारिभाषिक श
बनाती हैं। इससे वे एक-दूसरे के निकट रहती हैं जबकि यूरोप की भाषाए
ग्रीक, लैटिन, जर्मन, स्लाव, फिन आदि स्रोतों से पारिभाषिक—और उच्च
स्तरीय सांस्कृतिक— शब्दावली बनाने के कारण एक-दूसरे से काफी दूर रहती
हैं। तत्सम शब्दो के अलावा भारत की प्रायः सभी भाषाओ मे तद्भव शब्दो का
प्रचुर प्रयोग होता है और इन शब्दो से जन-साधारण का सम्बध अधिक है।
भारतीय भाषाओ मे बहुत से प्राचीन शब्द ऐसे हैं जो संस्कृत मे नहीं हैं किन्तु
इन भाषाओ के मूल शब्द-भंडार में हैं। इनके सिवा बहुत से अरबी, फारसी,
अंग्रेजी आदि भाषाओं के शब्द इनके शब्द-भंडार मे घुल-मिल गये हैं। इसलिए
यदि कोई इस नीति पर चले कि हिन्दी को संस्कृत-गर्भित करने से वह सारे
भारत के लिए सुबोध हो जायगी, तो नतीजा यह होगा कि चौबेजी छब्बे होने
गये सो रह गये दुबे ही। सारे भारत में सुबोध होने के चक्कर मे वह अपने
क्षेत्र में भी दुर्बोध हो जायगी। प्रेमचद जैसे लेखक उत्तर और दक्षिण दोनो मे
लोकप्रिय हैं, इससे सिद्ध होता है कि सरल और मुहावरेदार भाषा की ही पूछ
ज्यादा होती है, महज संस्कृत-गर्भित होने से भाषा लोकप्रिय नहीं होती।

हिन्दी भाषा के अखिल भारतीय महत्व का कारण तत्सम शब्दावली —
प्रयोग नहीं है। इस महत्व का पहला कारण यह है कि यह भारत की
बड़ी जाति की भाषा है। दूसरा कारण यह है कि उत्तर भारत, बंगाल,
रात और महाराष्ट्र तक की भाषाओ और हिन्दी के शब्द-भंडार मे इत
ज्यादा समानता है कि लोग उसे आसानी से समझ लेते हैं। तीसरा का
यह है कि राजस्थान के व्यापारी और पूंजीपति भारत के विभिन्न प्रान्तो
फैले हुए हैं और साधारणतः वे हर जगह हिन्दी शिक्षा, प्रचार आदि में सहा
यता करते हैं। चौथा और सबसे महत्वपूर्ण कारण यह है कि हिन्दी भाषी
इलाके के मजदूर बम्बई, कलकत्ता जैसे बड़े-बड़े नगरो में भारी सख्या में
मिलते हैं। अंग्रेजों ने जब "बंगाल आर्मी" का सगठन किया था, तब बगाल
मे उन्होंने रुहेलखड और अवध के बहुत से लोगों को उसमे भर्ती किया था जो
जीविका की तलाश मे वहा पहले से ही मौजूद थे। यहां के खत्री अगरवाले

कि उन्होंने यह बिल्कुल ठीक लिखा था कि जैसे इंग्लैंड जाने वाले को लैटिन-ग्रीक या फ़ारसी के बदले अंग्रेजी सीखनी चाहिए, वैसे ही भारत जाने वालों को अरबी-फ़ारसी या संस्कृत के बदले हिन्दुस्तानी सीखनी चाहिए। उन्होंने हिन्दुस्तानी और फ़ारसी के बारे में कुछ बहुत मार्के की बातें कही हैं। १. देशी अदालतों की सामान्य भाषा हिन्दुस्तानी है यद्यपि कभी-कभी फ़ारसी का प्रयोग भी होता है। २. हिन्दुस्तानी में सभी राजनीतिक मसलों पर विचार किया जाता है और अन्त में इसमें उनका फ़ारसी में अनुवाद किया जाता है। ३. मालगुज़ारी का सारा काम (कुछ अपवाद छोड़कर) हिन्दुस्तानी में होता है। ४. देशी फ़ौज की आम ज़बान हिन्दुस्तानी है।"

जिस पुस्तक से[1] रोबक का पत्र उद्धृत किया गया है, उसी में एक पत्र मेटकाफ़ का दिया हुआ है। दिल्ली के असिस्टेंट रेजिडेंट सी टी मेटकाफ़ ने यह पत्र २१ अगस्त १८०६ को गिलक्राइस्ट के नाम लिखा था। उन्होंने हिन्दुस्तानी की शिक्षा गिलक्राइस्ट से ही पायी थी। इस भाषा के महत्व के बारे में अपने अनुभवों का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा था, "भारत के जिस हिस्से में भी मुझे काम करना पड़ा है, कलकत्ते से लेकर लाहौर तक, कुमाऊँ के पहाड़ों से लेकर नर्मदा तक, अफ़गानों, मराठों, राजपूतों, जाटों, सिखों और उन प्रदेशों के सभी कबीलों में जहां मैंने यात्रा की है, मैंने उस भाषा का आम व्यवहार देखा है जिसकी शिक्षा आपने मुझे दी। भाषा के बहुत से रूप और बोलियां प्रचलित हैं। अपनी बात समझाने या दूसरे की समझने के लिए अक्सर धीरज की आवश्यकता होती है। जिस तरह की ध्वनियां हमें सुननी होती हैं, हमारे कान उनके आदी नहीं होते। शुरू में यहां के लोग बात को बार-बार दोहराये बिना हमारे बोलने का तर्ज़ और ढंग समझ नहीं पाते। इस तरह की कठिनाइयों का सामना शायद ज्यादातर जगहों में करना पड़ेगा। लेकिन अपने अनुभव से और दूसरों से सुनी हुई बातों के बल पर मैं कन्याकुमारी से कश्मीर या आवा से सिन्धु के मुहाने तक इस विश्वास से यात्रा करने की हिम्मत कर सकता हूं कि मुझे हर जगह ऐसे लोग मिल जायेंगे जो हिन्दुस्तानी बोल सकते होंगे। मेरे कहने का मतलब यह नहीं है कि मुझे ऐसे लोग न मिलेंगे जो हिन्दुस्तानी न बोल पाते हों। हर कोई जानता है कि जिस विशाल प्रदेश का मैंने ज़िक्र किया है, उसमें बहुत सी भिन्न-भिन्न भाषाएं बोली जाती हैं। इन भाषाओं का न बोला जाना एक ताज्जुब की बात होती, लेकिन हिन्दुस्तानी ऐसी ज़बान है जो आम तौर से उपयोगी साबित होती है और मेरी

१. जे. बी. गिलक्राइस्ट, ए वोकेबुलरी, हिन्दुस्तानी एंड इंगलिश, इंगलिश एंड हिन्दुस्तानी; एडिनबरा।

समाज में गंवार की किसी भी भाषा से उसका व्यवहार
समाज में गंवार की किसी भी भाषा से उसका व्यवहार होता है।"

यह बात १८०६ की है। तब तक अंग्रेज सारे भारत के शासक न हुए थे। इसलिए अंग्रेजी भी तब तक विश्वभाषा न बनी थी। इसके विपरीत हिन्दी या हिन्दुस्तानी संसार की ऐसी भाषा थी जिसका व्यवहार किसी भी और जबान के मुकाबले ज्यादा होता था; कम-से-कम ऐसा समझने और कहने वाले अंग्रेज उस समय थे। गिलक्राइस्ट के उपर्युक्त कोश में यह भी दर्शनीय है कि हिन्दी-उर्दू के अलगाव का ध्यान नहीं रखा गया। "डिक्शनरी" का अर्थ लुगत और कोश दोनों दिया हुआ है। इसी तरह "ग्राउंड" का अर्थ है "जमीन, भूमि, धरती, पिरथमी।"

१८२२ में राजा राम मोहनराय ने कलकत्ते से "जामेजहां" नाम का साप्ताहिक पत्र हिन्दुस्तानी में निकाला जो बाद को फारसी में भी प्रकाशित होने लगा था। राजा राम मोहनराय, द्वारकानाथ ठाकुर आदि के प्रयत्न से मौण्टगोमरी मार्टिन के सम्पादन में "बंगदूत" नाम का साप्ताहिक पत्र प्रकाशित हुआ जो अंग्रेज़ी, बंगला, फारसी और हिन्दी चार भाषाओं में छपता था। १८४५ में जॉन शेक्सपियर नामक विद्वान ने हिन्दुस्तानी भाषा का व्याकरण और कोश प्रकाशित किया जो ऑनरेबल ईस्ट इंडिया कंपनी के डायरेक्टरों को समर्पित है। इसके परिचय में कहा गया है कि हिन्दुस्तानी भारत की आमफहम और व्यवहार में उपयोगी बोली है। यह दो लिपियों में लिखी जाती है; इसलिए पाठक को दोनों लिपियों का परिचय दिया गया है। कोश में उर्दू-फारसी के शब्द ज्यादा हैं लेकिन पौत्री, नापित, रक्त, बाराह, पूजी, गुफा, उदाहरन, सराप (शाप), अपमान, ईशान-कोन, लाभ, मितक (मृतक), अहकार, उच्चार, निर्मलता जैसे शब्द भी हैं। अँगूछा (अँगोछा), ठिठराहट, अपछरा, वंस, आसरा, चाप, करतूत, सूल, जोत जैसे अतत्सम लोक प्रचलित रूप खूब दिये हुए हैं। पुस्तक के अन्त में कुछ कहानियां दी हुई हैं जिनमें अठारहवीं कहानी में इस तरह के शब्द भी आये हैं: मनुष, सूर्वीर (शूरवीर), कायर, लज्जावान, निलज्ज, उपस्थित, निवेदन, आज्ञा, बखान, भांति, स्वामी, प्रसन्न, पारितोषिक इत्यादि। अगली दो कहानियों में द्रव्य, निदान, संसर्ग, सिद्ध, कविता, दण्डवत, वस्तु, दया, आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। अभी लिपि-भेद के बावजूद बोलचाल की भाषा का दो शैलियों में बँटवारा न हुआ था। इस शेक्सपियर के इस कोश की एक विशेषता और उल्लेखनीय है। इस

१. एल. एस. एस. ओ मैली, मॉडर्न इंडिया एंड दि वेस्ट, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, पृष्ठ २०२।

बहुत से ऐसे शब्द दिये हुए हैं जिन्हें आज पारिभाषिक शब्द कहा जायगा और यह मान लिया जायगा कि उनके पर्यायवाची हिन्दी में नहीं हैं। यह कोश वैज्ञानिकों के लिए नहीं बना; उसका उद्देश्य भारत आनेवाले अंग्रेज़ सिविलियनों को बोलचाल की भाषा से परिचित कराना भर है। लेकिन पृथ्वी-सम्बंधी शब्दों में ग्रैवेल, लोम, चाक, क्ले, क्लोड, प्यूटर, ज़िंक, लैपिस लज़ुली, मर्करी, सल्टपीटर, ऐलम, मैग्नेट, रूबी, एमेरैल्ड, सैफायर, टोपाज़, ऑर्पीमेंट, ब्लू विट्रिऑल, नैट्रॉन को हम साधारणतः पारिभाषिक शब्द कहेंगे। इनके लिए आपको पथरी, मिट्टी, खड़ी (खड़िया), चिकनी मिट्टी, ढेला, जस्त, दस्ता, लाजवर्द, पारा, शोरा, फिटकरी, चुम्बक, मानिक, पन्ना, नीलम, पुखराज, हरताल, तूतिया, सज्जी शब्द मिलेंगे। अब आप ठेठ लैटिन शब्द लीजिए जिनके लिए कोशकार को बोलचाल के अंग्रेज़ी शब्द नहीं मिले। बसिआ लतिफोलिया, मेसुआ फेरेआ, नौक्लिआ ओरिएंटालिस, बुटिआ फ्रोंडोसा, टैमेरिंडस इंडिका (तमर ए-हिंद के साथ फिर इंडिका लगा!), शोरेआ रोबुस्ता, फिकुस ग्लोमेरिआ — इन्हें आप अवश्य विशुद्ध पारिभाषिक शब्द मानेंगे। इनके लिए महुआ, नागकेसर, कदंब, पलास या ढाक, इमली, साल, गूलर आदि प्रचलित हिन्दी शब्दों को आप भले पारिभाषिक न मानें लेकिन यह तो मानना होगा कि यहां की धरती में जैसे वृक्षों की विविधता है, वैसे ही बोलचाल की भाषा में अंग्रेज़ी से ज्यादा उनके नाम भी हैं। इसी तरह फूलों और फलों के नाम हैं। धान्य, बीज आदि के नाम, पशु-पक्षियों व कीड़े-मकोड़ों के नाम, जो अब "पारिभाषिक" हो गये हैं, इस कोश में मिलते हैं। शरीर-सम्बंधी शब्द सेरम, बाइल, मैरो, टेंडन, नर्व, फाइबर, मेम्ब्रेन, आर्टरी, ग्लैंड, स्टर्नम, लैरिंक्स नेप ऑव दि नेक, स्प्लीन, किडनी, गाल-ब्लैडर, फिस्टुला, स्क्विन्सी, ड्रॉप्सी, आदि के लिए यहां ये शब्द मिलेंगे: पानी, पित, गूदा, पट्ठा, नस, रेशा, झिल्ली, रग, गिल्टी, कान का पर्दा, टेंटुआ, गुद्दी, तिल्ली, गुर्दा, पित्ता, नासूर, गुनर, जलंधर। पेशों के नाम, भोजनों के नाम (दही, सत्तू, घी, गुलगुला वगैरह के लिए अंग्रेज़ी में शब्द न होने से सम्पादक ने उनकी व्याख्या के लिए वाक्यांशों का सहारा लिया है), पोशाकों के नाम, इमारतों के नाम, सजावट के सामान देहात, हुनर और फौज से सम्बंधित शब्दों की लम्बी तालिका देखकर उस समय कोई न कहता कि हिन्दुस्तानी एक दरिद्र भाषा है। इसमें जल-सेना से सम्बंधित जो शब्द दिये हुए हैं, उन्हें अधिकांश शिक्षित हिन्दी-भाषी भूल चुके हैं। समुद्र हमसे दूर है और हम कभी जहाज बनाते थे और हमारे मल्लाह दूर-दूर तक प्रसिद्ध थे, यह अब याद करने की बातें हैं। अंग्रेज़ी भाषा में इस विषय के शब्द बहुत हैं। शेक्सपियर ने इस पृष्ठों में इस विषय की शब्द सूची दी है और अक्सर अंग्रेज़ी के एक शब्द के लिए यहां के दो या तीन-चार शब्द दिये हैं जैसे डेक के लिए

मस्तूल और दोल, मोट के. लिए किस्ती, नाव, तरनी, मछवा। कोई आश्चर्य
नहीं कि संस्कृत की सहायता लिये बिना ही बोलचाल की भाषा विदेशियों को
अंग्रेजी से कम समृद्ध न मालूम होती थी। ग्रियर्सन ने "दैट ग्रेट लिंगुआ
फ्रैंका — हिन्दी और हिन्दुस्तानी" के व्यापक प्रसार की चर्चा की थी। उनके
विचार से बोलचाल की हिन्दी मे तत्सम शब्दों की भर्ती बिल्कुल अनावश्यक थी
क्योंकि "देशज शब्दों का एक विशाल शब्द-भंडार उसके पास है और सूक्ष्म
विचार (ऍब्स्ट्रैक्ट टर्म्स) व्यक्त करने के लिए पूर्ण शब्दतंत्र है।" दर्शन और
अलंकार शास्त्र की हिन्दी पुस्तकों में उन्हें संस्कृत जैसा सूक्ष्म विवेचन मिला
था। "यद्यपि हिन्दी में ऐसा शब्द-भंडार है और ऐसी अभिव्यंजना शक्ति है डॉ.
अंग्रेजी से घटकर नहीं है, फिर भी" लोग तत्सम शब्दों से भरी हुई भाषा
लिखते हैं जो साधारण जनता की समझ में नहीं आती। लिंग्विस्टिक सर्वे का
प्रकाशन १९२७ मे हुआ था। बीसवीं सदी के आरम्भ तक ग्रियर्सन जैसे अंग्रेज
हिन्दी को अंग्रेजी से घटकर न मानते थे। डॉ. चाटुर्ज्या, श्री फ्रैंक ऐंटनी जैसे
महानुभावों से ग्रियर्सन की तुलना कीजिए। हिन्दी के पास "एनॉर्मस नेटिव
वोकैबुलरी" थी; उसके पास "ए कम्प्लीट अपरैटस फॉर द एक्सप्रेशन ऑव
ऐब्स्ट्रैक्ट टर्म्स" था। यह "वोकैबुलरी" और "पावर ऑव एक्सप्रेशन"
अंग्रेजी से घटकर नहीं थी, "नॉट इन्फीरियर टु इंग्लिश!"[1]

हिन्दी की अन्तर्जातीय लोकप्रियता का एक प्रमाण फिल्म जगत् से मिल
है। ऑफिशल लैंग्वेज कमीशन ने इसके कुछ आकड़े इकट्ठे किये थे। १९५
से १९५५ तक पाच वर्षों मे ३५ मिलीमीटर वाले कुल २,८३५ फिल्म बने।
इनमे १,५९७ फिल्म अकेले हिन्दी मे बने थे, शेष भारत की अन्य सभी
भाषाओं मे। इसी अवधि में १६ मिलीमीटर वाले २३६ फिल्म बने जिनमें
१२९ अकेले हिन्दी के थे। आधी से ज्यादा फिल्में हिन्दी में बनती हैं। और
फिल्म उद्योग के केन्द्र अहिन्दी राज्यों मे हैं।

ये थोड़े से तथ्य सिद्ध करते हैं कि हिन्दी का अन्तरप्रान्तीय व्यवहार
एक लम्बे विकास का परिणाम है। राष्ट्रीय आन्दोलन के संगठन और प्रसार
ने इस विकास-प्रक्रिया को और आगे बढ़ाया। किन्तु इस समय यह आन्दोलन
भी चला कि हिन्दी एक नितान्त दरिद्र भाषा है। "इस समय कोई भी
नागरी-हिन्दी अथवा उर्दू को अंग्रेजी का समकक्ष स्थान देने का स्वप्न भी नहीं
देख सकता।" कहां ग्रियर्सन और कहां उनके अनुयायी ये भारतीय भाषाविद्!
हिन्दी को अंग्रेजी के समकक्ष स्थान देने का स्वप्न देखना भी पाप है! प्रमाद
को बढ़ाने के लिए हिन्दी-अंग्रेजी मे कौन घट-बढ़ कर है, यही प्रश्न उठाना

१. लिंग्विस्टिक सर्वे, खंड १, पृष्ठ १३०।

भारी नहीं था, इसके साथ हिन्दी-अहिन्दी भाषाओ मे श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता का सवाल उठाया गया। "कोई भी महाराष्ट्रीय या बंगाली व्यक्ति इस बात का अनुभव नहीं करता कि अपनी मातृभाषा की अपेक्षा नागरी हिन्दी या उर्दू के माध्यम द्वारा उच्चतर संस्कृति की प्राप्ति हो सकती है।" जो लोग हिन्दी-उर्दू का व्यवहार करते है, वे "बंगला या गुजराती, पंजाबी या उड़िया, तमिल या तेलुगु, कन्नड या मराठी का व्यवहार करने वालो से अपनी किंचित् भी सांस्कृतिक या बौद्धिक श्रेष्ठता सिद्ध नही कर सकते।" इसकी एक प्रतिक्रिया होगी। हिन्दीभाषी अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करेंगे और अन्य अहिन्दी-भाषी अपनी भाषा के गुन गायेंगे। इस कोलाहल मे दो बातें हम भूल जायगे। पहली यह कि केन्द्रीय भाषा के इस विवाद से देश की वास्तविक भाषा-सम्बधी स्थिति पर पर्दा पड जाता है। केन्द्रीय भाषा के रूप मे तो अंग्रेज़ी रहती ही है, विभिन्न प्रदेशो में भी वहां की भाषाओ के हक छीन कर राज्य-भाषाओ के रूप मे अंग्रेज़ी जमी रहती है। सबसे पहली आवश्यकता यह है कि भारतीय भाषाएं अंग्रेज़ी की दासता से मुक्त हो। अभी कुछ महीने पहले (अगस्त १९६० में) जब राष्ट्रपति डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद तमिलनाद जाने वाले थे, तो वहा के कुछ लोगों ने काले झंडो से उनका स्वागत करने की धमकी दी थी। तमिलनाद की कम्युनिस्ट पार्टी ने इस तरह के प्रदर्शन का तीव्र विरोध करते हुए इस बात पर बहुत जोर दिया था कि तमिल भाषा को हिन्दी नही दबा रही वरन् इस समय उसका स्वत्व छीन रखा है अंग्रेज़ी ने। उसका यह विश्लेषण बिल्कुल सही है कि तमिलनाद मे यदि तमिल को राजभाषा बना दिया गया होता, तो इस कटु विवाद की नौबत न आती। लेकिन मद्रास मे "राज्य सरकार की इस घोषणा के बावजूद कि तमिल राजभाषा है, व्यवहार मे विधान सभा के भाषणो को छोड कर, अंग्रेज़ी ही राज्यभाषा बनी हुई है।" विद्यालयो के महन्त तमिल का प्रवेश निषिद्ध किये हुए हैं और अनेक कमीशनो की सिफारिशो पर ध्यान न देकर वे अंग्रेज़ी को ही शिक्षा का माध्यम बनाये हुए हैं। ऐसी स्थिति मे हिन्दी-तमिल विवाद अंग्रेज़ी को कायम रखने का साधन हो जाता है।

कौन भाषा घटकर है और कौन बढकर है, इस बहस मे हम दूसरी बात यह भूल जाते हैं कि इस देश की कोई भी भाषा — तमिल भी — नितान्त अलगाव की दशा मे फली फूली नही है। यूरोप की भाषाओ की तुलना मे ये भाषाएं एक-दूसरे के ज्यादा निकट रही हैं। शब्दावली से भी ज्यादा इनके साहित्य मे जो भावराशि मिलती है, वह किसी एक जाति के ही प्रयत्नो का फल नहीं है। वैदिक काल और उससे पहले से लेकर आज तक किसी भी प्रदेश की संस्कृति दूसरो के प्रभाव से बिलकुल मुक्त होकर नही पनपी। बीसवी सदी मे स्वाधीनता-संग्राम के दौरान नये राष्ट्रीय और प्रगतिशील विचारों

से इन सभी भाषाओं का साहित्य समृद्ध हुआ है। इन सभी भाषाओं के साहित्य का एक प्रमुख भाग दिन पर दिन वैज्ञानिक समाजवाद की विचारधारा से प्रभावित होता जा रहा है। पुरानी विरासत और नयी विचारधारा का असर सभी भाषाओं में विद्यमान है। इन सबके फलने-फूलने में ही भारत राष्ट्र का गौरव है। लेकिन यदि आपस का यह सम्बंध न देखकर एक-दूसरे की सहायता करने के बदले हम दूसरे सभी पौधे नोंच डालें और सबकी जगह सिर्फ अंग्रेज़ी का पौधा लगा दें तो हमारे बगीचे की शोभा क्या रह जायगी? इसलिए इस श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता के विवाद से जरा सावधान रहना चाहिए।

हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के बारे में एक प्रवाद यह फैलाया गया है कि वे केवल उधार लेना जानती हैं, उनमें अपनी रचना-क्षमता बिलकुल नहीं है। जिस तरह कुछ अंग्रेज़ी-भाषी भारतीय अपने देश के आगे हिन्दी को कुछ नहीं समझते — यद्यपि अंग्रेज़ी न उनकी मातृभाषा है, न पितृभाषा — उसी तरह कुछ संस्कृत-प्रेमी जन हिन्दी को देववाणी की चेरी समझते हैं, बड़े गर्व से इस बात की घोषणा भी करते हैं और यह भूल जाते हैं कि उनके देव-तुल्य पितृगण भले कभी देववाणी का व्यवहार करते रहे हों, आज मातृभाषा हिन्दी को चेरी कह कर वे अपने को ही चेरी-पुत्र घोषित करते हैं! यदि हिन्दी की बदौलत उनकी जीविका भी चलती हो तो उनके लिए यह और भी लज्जा की बात होगी। यदि हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाएं केवल उधार लेने वाली भाषाएं होतीं तो उनमें परस्पर कोई भेद न होता या नहीं के बराबर होता और उनमें तथा संस्कृत में भी बहुत कम भेद होता। किन्तु जहां भारतीय भाषाओं और संस्कृत में निकट का सम्बंध है, वहां उनमें यथेष्ट भेद भी है। इस भेद को ध्यान में रखना चाहिए। संस्कृत और हिन्दी की ध्वनि-प्रकृति, भाव-प्रकृति और शब्द-भंडार में जो अन्तर है, उसे भूल न जाना चाहिए। इसके अलावा हिन्दी में जो संस्कृत से मिलती-जुलती बहुत सी सामग्री दिखाई देती है, वह सब संस्कृत से उधार नहीं ली गयी वरन् हिन्दी और उस जैसी भाषाओं की स्वतन्त्र सामग्री है। इस पर हम पहले विचार कर चुके हैं। संस्कृत ने सबको बांटा ही नहीं है, दूसरों से लिया भी है। उत्तर-भारत की इस उर्वर भूमि में न जाने कितने भाषा-कुलों का मिश्रण हुआ है, और उनसे जिन वस्तुओं का नाम हम बराबर लेते हैं, उनके लिए भी, अन्य भाषाओं के विपरीत, हमारे यहां पर्यायवाची मूल शब्दों की भरमार है। फिर संस्कृत में किसी एक प्रदेश के लोगों ने ही रचना नहीं की। केरल से कश्मीर तक के विभिन्न भारतीय जनों ने इसे समृद्ध किया है। वे उसमें शब्द उधार लेते हैं तो क्या बुरा करते हैं? बल्कि वह सही सम्बन्ध ठीक और [illegible] है नहीं है जो हिन्दी का सम्बन्ध है रहा है। जिस प्रदेश में संस्कृत के मूल केन्द्र के

यही हिन्दी के केन्द्र भी स्थापित हुए। लेकिन ये संस्कृत-प्रेमी विद्वान् अंग्रेजी के लिए नहीं कहते कि वह ग्रीक और लैटिन की चेरी है और उनकी सरकारी फाइलों में उसका प्रयोग वर्जित होना चाहिए। प्राचीन गौरव का मूल्य यही होना चाहिए कि वह वर्तमान प्रगति में सहायता दे। इसलिए प्रत्येक संस्कृत-प्रेमी को — बालकृष्ण भट्ट, महावीर प्रसाद द्विवेदी, पद्मसिंह शर्मा, जयशंकर प्रसाद और किशोरीदास वाजपेयी के समान — हिन्दी-सेवी होना चाहिए। हिन्दी-सेवा का वर्तमान पवित्र कर्तव्य भुला कर यदि कोई हिन्दी की निन्दा करने के लिए संस्कृत के गुण गाता है, तो वह श्मशानवासी अघोरी के समान केवल शव-पूजा करता है, उसे संस्कृत के प्राणों का स्पर्श हुआ ही नहीं है।

हमारे देश में जैसे अभी साम्राज्यवादी शासन और सामन्ती व्यवस्था के अवशेष मौजूद हैं, वैसे ही सांस्कृतिक क्षेत्र में भी हमें इन दोनों के प्रभाव दिखाई देते हैं। देश के विभिन्न वर्गों का जैसा सांस्कृतिक दृष्टिकोण है, उसी के अनुकूल वे भाषा-समस्या का समाधान भी प्रस्तुत करते हैं। इनमें सबसे पहले वह वर्ग है जो साम्राज्यवादी व्यवस्था में अंग्रेजी शिक्षा के कारण ऊंची नौकरियां पा गया था और अब स्वाधीन भारत में वह उसी शिक्षा के आधार पर अपने लिए उन नौकरियों को बरकरार रखना चाहता है। इसमें विभिन्न प्रदेशों के उच्च मध्यवर्गीय शिक्षित लोग हैं जो समझते हैं कि अंग्रेजी के न रहने पर हिन्दी वाले बाजी मार ले जायेंगे। इनकी तो मातृभाषा हिन्दी है, दूसरों को उसे सीखना पड़ेगा। इस तरह के तर्क साम्राज्यवादी संस्कृति के अवशेषों को जाहिर करते हैं। अंग्रेज चले गये लेकिन अपनी संस्कृति के प्रभाव कुछ लोगों के मन पर छोड़ गये हैं। सामन्ती व्यवस्था के अवशेषों के अनुरूप भाषा के प्रति उन पंडितों का जड़ दृष्टिकोण है जो संस्कृत में अमरकोश और काव्यप्रकाश के अलावा बहुत कम बातें जानते हैं, जो नायिकाभेद और अलंकार-शास्त्र को भारतीय संस्कृति की चरम सिद्धि माने बैठे हैं, जो वर्तमान युग की आवश्यकताएं न समझ सकने के कारण यह नहीं जान पाते कि प्राचीन विरासत से क्या लेना चाहिए और क्या छोड़ना चाहिए, अर्थात् अपनी विरासत का वैज्ञानिक मूल्यांकन करने में वे एकदम असमर्थ हैं। इन्हीं के साथ वे पंडित भी हैं जो हिन्दी के विकास से बिलकुल अपरिचित हैं और इसलिए हिन्दी की प्रकृति को पहचाने बिना संस्कृत के धातु-प्रत्ययों के आधार पर अनर्गल शब्द-सूची बनाने में जुटे हुए हैं। इनके लिए हिन्दी-सेवा अर्थलाभ का विषय है, वैसे न वे हिन्दी जानते हैं, न हिन्दी से उन्हें प्रेम है।

इन दोनों तरह के लोगों से (दोनों प्रवृत्तियां एक ही विद्वान में भी मिल सकती हैं) अंग्रेजी-भक्त अधिक मुखर हैं। अंग्रेजी-भक्तों की निन्दा न करके डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने १९४८ के अन्तरराष्ट्रीय भाषाविद् सम्मेलन

(पैरिस) में यह प्रस्ताव रखा था कि संसार मे किसी भाषा के समझने-बोलने
वालों के विचार से हिन्दी का नंबर तीसरा है, इसलिए अंग्रेजी, फ्रांसीसी, स्पेनी,
रूसी और चीनी के साथ हिन्दी को भी राष्ट्र-संघ की "ऑफिशल" भाषा
मंजूर करना चाहिए। यह प्रस्ताव बहुत महत्वपूर्ण था। भारत जैसे देश की
एक भाषा राष्ट्र संघ मे अवश्य होनी चाहिए। जब तक वह वहा ऑफिशल
लेंग्वेज घोषित न की जाय, तब तक हमारे प्रतिनिधि वहां उसका व्यवहार
अवश्य कर सकते हैं। मिस्र देश के राष्ट्रपति नासर ने अभी उस दिन (२७
सितम्बर १९६० को) राष्ट्र सघ मे अपना भाषण अरबी मे दिया। यदि मिस्र
के प्रतिनिधि अरबी में बोल सकते हैं, तो भारत के प्रतिनिधि हिन्दी मे क्यों
नही बोल सकते? और जब तक भारत के प्रतिनिधि वहा हिन्दी मे न बोलें,
तब तक राष्ट्र-सघ को क्या पडी है कि वह हिन्दी को वहा की ऑफिशल
लेंग्वेज बनाये? यह तो वही बात हुई कि हिन्दी-भाषी प्रदेश में अभी हर स्तर
पर राजभाषा के रूप मे हिन्दी का चलन हुआ नही, लेकिन सारे भारत मे उसे
राष्ट्रभाषा के रूप मे चलाने को हम बेताब है। इस प्रसग में यह बात भी ध्यान
देने योग्य है कि राष्ट्र-संघ में अंग्रेजी को विश्वभाषा माना जाता तो अन्य भाषाओं
को उसके समकक्ष स्थान देने का सवाल न उठता। इन अन्य भाषाओ मे यूरोप
की भाषाएं ही नहीं हैं—जो उत्तरी दक्खिनी अमरीका मे भी बोली जाती हैं—
वरन् एशिया की एक भाषा चीनी भी है। चीनी भाषा को अपने विकास के लि
भारतीय भाषाओ की तुलना मे कोई बहुत अनुकूल परिस्थितिया सुलभ न
हुई। लेकिन लिपि और टाइपराइटर की कठिनाइया सामने न आईं; विश्वभा
अंग्रेजी की श्रेष्ठता का प्रश्न सामने न आया; यह समस्या पेश न हुई कि व
मान परिस्थितियों मे चीनी के विकसित हो जाने तक अंग्रेजी को ही चीन
और राष्ट्र सघ मे चीन के प्रतिनिधियो—की भाषा बने रहने दिया जाय।

डॉ. चाटुर्ज्या का प्रस्ताव उत्तम था और एक दिन वह अवश्य अम
लाया जायगा। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के प्रतिनिधि मॉस्को और पेकि
कम्युनिस्ट-सम्मेलनों मे हिन्दी भाषा का व्यवहार कर चुके हैं। राष्ट्
और देशभक्ति के इजारेदार अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलनो मे अक्सर अंग्रेजी
व्यवहार करते हैं। रूसियो के हिन्दी प्रेम के कारण ही वहां हिन्दी बोल
तो बात दूसरी है; असली कसौटी है कॉमनवेल्थ और राष्ट्र संघ—वहां हम
भाषा का प्रयोग करते हैं? एक बात समझ मे नही आती। डॉ चाटु
राष्ट्र संघ मे हिन्दी को ऑफिशल लेंग्वेज बनाने का समर्थन किया' किन्तु

१. इसकी चर्चा ऑफिशल लैंग्वेज कमीशन की रिपोर्ट में प्रकाशित
आत्मस्वीकृति-टिप्पणी मे उन्होंने स्वयं की है; पृष्ठ २७८।

है उन्होंने [illegible] हटाने का विरोध किया। उसके तर्क ध्यान देने योग्य हैं और वे इस प्रकार हैं। 'हिन्दी-भाषी क्षेत्रों के लोगों का विचार है कि हिन्दी अभी इतनी विकसित नहीं हुई कि अंग्रेजी की जगह ले ले। हिन्दी के कट्टर समर्थक भी इसकी कमियां मंजूर करते हैं। उच्चस्तरीय शब्दावली के मामले में इसकी कोई निश्चित नीति नहीं है। इसके विकास में हिन्दी भारत की दूसरी भाषाओं से बढ़कर नहीं है। हिन्दी सीखने वालों को लगता है कि उनकी भाषाएं इससे श्रेष्ठ हैं। खड़ी बोली हिन्दी की उम्र बहुत कम है। १८५० से पहले खड़ी बोली हिन्दी नाम की चीज का प्रायः अस्तित्व ही न था। पिछली शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उर्दू के आधार पर, ज्यादातर बंगला से उधार लिये हुए संस्कृत शब्दों को मिलाकर एक अनगढ़ सी भाषा रची जा रही थी। आर्य-समाज के आन्दोलन और राजनीतिक कारणों से हिन्दी-उर्दू का संघर्ष हुआ। महात्मा गांधी ने हिन्दी को बहुत महत्व दिया लेकिन १९२० के जमाने तक भारत की साहित्यिक भाषाओं के अभियान में खड़ी बोली हिन्दी पीछे घिसटने वाले सेनावरदार की तरह थी। इस बीच खड़ी बोली हिन्दी ने चार-पांच दशकों की साहित्य सम्पदा भी इकट्ठा ली। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से "वास्तव में ये भाषाएं हैं, न कि बोलियां, जैसे राजस्थानी, कोसली या अवधी और भोजपुरी, और मैथिली भी, जिसे पिछली दो पीढ़ियों में हिन्दी क्षेत्र के अन्तर्गत ले लिया गया है।" ब्रजभाषा और पहाड़ी हिन्दी की दूसरी बोलियों की बात अलग है, साहित्य के लिए उन्होंने खड़ी बोली को अपनाया, यह स्वाभाविक था। पहले गद्य उर्दू में लिखा जाता था। "हिन्दू या भारतीय राष्ट्रवाद" के प्रभाव में हिन्दी गद्य का विकास हुआ। "परिस्थिति यह थी ब्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी, राजस्थानी, गढ़वाली आदि भिन्न भाषाएं बोलने वाले उत्तर भारत के लोगों ने पहले उर्दू को (जहां भी अंग्रेजी मदर्से पहले खुले) और आगे चलकर खड़ी बोली हिन्दी को मंजूर किया क्योंकि उनकी अपनी भाषाओं में विकसित गद्य न था। शहरों के आधुनिक स्कूलों ने उन्हें जो भाषा दी, उसे उन्होंने अंगीकार किया। अब उन्होंने अपने मन में यह विश्वास पैदा कर लिया है कि वे स्कूल में खड़ी बोली लिखते और बोलते हैं, इसलिए वे 'हिन्दी भाषी लोग' हैं और उनकी घरेलू बोलियां 'हिन्दी की बोलियां' मात्र हैं। दरअसल वे हिन्दी के हित के लिए अपनी उन घरेलू भाषाओं का दमन कर रहे हैं जो उनकी सच्ची मातृभाषाएं हैं। हिन्दी तो ठीक-ठीक पश्चिमी-उत्तर प्रदेश और पूर्वी पंजाब और मध्य भारत, मध्य प्रदेश और राजस्थान के कुछ हिस्सों की भाषा है।" जो लोग घर में एक भाषा बोलते हैं और बाहर स्कूली भाषा का व्यवहार करते हैं, वे बंगला, मराठी आदि भाषाओं के प्रति उनके बोलने वालों के प्रेम का अन्दाज नहीं कर सकते। इसलिए राहुल सांकृत्यायन और बनारसी

द्वारा चतुर्वेदी ने हिन्दीकरण और तथाकथित बोलियों की भाषा का जो आन्दोलन चलाया, उसे विशेष समर्थन न मिला। जो लोग घर में यही बोली का व्यवहार करते हैं, वे फारसी-अरबी शब्दावली का प्रयोग ज्यादा करते हैं और उस संस्कृत-गर्भित हिन्दी से प्रसन्न नहीं हैं जिसे अब राजभाषा बनाया जा रहा है। अवधी, कौरवी, भोजपुरी और मैथिली के भी बोलने वाले अब हिन्दी को ठुकराने में लगे हैं। न वे हिन्दी की वास्तविक परम्परा से परिचित हैं, न संस्कृत परम्परा को अपनाते हैं। इससे हिन्दी का सहज विकास कुंठित हो जाता है। भाषा में अराजकता आ गयी है और इसे हिन्दी स्वरों का सामञ्जस्य नष्ट कर सारे भारत पर लादा जा रहा है। इसके जरिए अंग्रेजी को हटाया ही जा रहा है, शायद दूसरी भाषाओं के स्वच्छंद व्यवहार पर भी रोक लगायी जायगी। जिन लोगों की भाषाओं में हजार साल की साहित्य-सम्पदा है, वे इस थोपी हुई हिन्दी को क्यों स्वीकार करने लगे? माना कि आधुनिक हिन्दी में कुछ कहानियां और उपन्यास अच्छे निकल गये हैं, इतिहास और दर्शन की भी कुछ मौलिक पुस्तकें निकली हैं। लेकिन वैज्ञानिक साहित्य उसमें बहुत कम है। लेकिन तमिल, बंगला, उड़िया, कन्नड़ आदि भाषाएं बोलने वालों के लिए हिन्दी का — या उर्दू का ही — कोई सांस्कृतिक या बौद्धिक महत्व नहीं है। पुरानी अवधी, ब्रज और राजस्थानी में तुलसी, सूर और मीरा के भक्ति काव्य की बात दूसरी है। "अंग्रेजी में ज्ञानवर्धन और शक्ति का विराट साहित्य है। उसके सामने हिन्दी को तर्जीह नहीं दी जा सकती।" हिन्दी की अपेक्षा अंग्रेजी के ज्ञान से भारतवासी अपना बौद्धिक विकास ज्यादा अच्छी तरह कर सकते हैं!

यह तो हुआ हिन्दी-कीर्तन। अब अंग्रेजी-महात्म्य सुनिए। अंग्रेजी वह खिड़की है जिससे बाहर की हवा और रोशनी भीतर पहुंचती है। विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी कुछ वर्षों तक नहीं वरन् एक लम्बी अवधि तक रहेगी। विश्व संस्कृति एक है; यदि अंग्रेजी को विश्वविद्यालयों से निकाल दिया जाय तो हम इस विश्व संस्कृति तक पहुंच नहीं सकते। "अंग्रेजी के माध्यम से समस्त मानवता के लिए हम बौद्धिक ही नहीं, आध्यात्मिक भोजन भी प्राप्त कर सकते हैं।" स्कूल जाने वाले सभी विद्यार्थी अंग्रेजी न पढ़ें लेकिन जो लोग भारत के विकास का नेतृत्व करेंगे, उनके पास अंग्रेजी का यह अस्त्र अवश्य रहना चाहिए जिससे वे बाकी दुनिया के स्तर तक पहुंच सकें। इस तरह के शिक्षित जन आबादी में आधी की सदी भी न हो, तो भी प्रगति के मूल वाहक वही हैं। "आम जनता और मामूली आदमियों के लिए मातृभाषाएं हैं जो अंग्रेजी के सम्पर्क से लाभान्वित होंगी।" अंग्रेजी सीखने से मेधा अनुशासित और तीक्ष्ण होती है; इस दिशा में ढिलाई होने से चारों ओर बौद्धिक ह्रास हो रहा है। समस्त

नता का बौद्धिक उन्नयन अंग्रेज़ी पढ़े लोगों ने किया है; उन्होंने स्वाधीनता-ग्राम का संचालन किया है। इसलिए यह समझना कि अंग्रेजी पढ़े लोग आम नता से दूर जा पड़ते है, भ्रम है। "उच्च सस्कृति से जनता मे हमेशा तीव्र भाजन होता है। संस्कृत के विद्वान आम जनता से अपने को अलग और नसे श्रेष्ठ समझते है। यदि कभी हिन्दी सारे भारत के श्रेष्ठ जनो की भाषा ो गयी, तो अभी से लक्षण दिखाई दे रहे हैं कि हिन्दीदा लोगो मे यही भावना त्पन्न होगी और वे हिन्दी न जानने वालो के सामने अपने को श्रेष्ठ साबित रने की कोशिश करेंगे। हिन्दी क्षेत्रो मे अभी भी यह श्रेष्ठ बनने की भावना खी जा सकती है।" रेल, तार और टेलीविजन की तरह अंग्रेज़ी आधुनिक भ्यता की एक न्यामत है और उसके द्वारा देश की राजनीतिक और सास्कृतिक कता कायम हुई है और विज्ञान मे प्रगति सभव हुई है। हमारी भारतीय ाषाओ मे अन्तर्निहित शक्ति का विकास भी अंग्रेजी के माध्यम से हुआ है। 'अब तक अंग्रेज़ी विश्व सभ्यता की सामान्य भाषा लगभग बन चुकी है।" ब वह अंग्रेजो या अमरीकियो की ही भाषा नहीं है। इंडोनेशिया, जापान, चीन, रूस आदि मे अंग्रेजी सीखने को प्रमुखता दी जाती है। अफ्रीका का अधिकांश भाग अंग्रेजी के प्रभाव क्षेत्र मे है। उत्तरी अमरीका के प्रभाव से लैटिन अमरीका अंग्रेजी की ओर झुक रहा है। "हम—खास कर अहिन्दी क्षेत्रो के लोग—चाहते हैं कि अंग्रेजी रहे क्योंकि हम अपनी भाषाओ को प्यार करते है;" हम ज्ञान के मूल स्रोतों तक अंग्रेजी के माध्यम से पहुंचना चाहते हैं। अंग्रेजी को भारतीयता-विरोधी समझना सकुचित राष्ट्रीयता का द्योतक है। अंग्रेजी से देशभक्ति बढ़ेगी, घटेगी नहीं। भारत मे अंग्रेजी की परम्परा शुद्ध भारतवासियो की कायम की हुई है। "अंग्रेजी भाषा भारत की जनता पर कभी जबर्दस्ती लादी या थोपी नहीं गयी। (दि इगलिश लैंग्वेज बाज़ लेवर

से यह भूख शान्त नही हो सकती। जैसा कि गीता मे कहा गया है, यत्र योगेश्वरो कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः; तत्र श्रीविजयो भूतिर्ध्रुव नीतिर्मतिर्मम।

इसके अलावा एक बात और है—नौकरियों की। हिन्दी वाले मजे में रहेगे; जिन्हे हिन्दी सीखनी पड़ेगी, वे उनके मुकाबले मे नुकसान उठायेंगे। वह "अंग्रेज़ी एक तटस्थ (न्यूट्रल) भाषा है जो सबके लिए बराबर है;" वह विश्वभाषा और भारत की अन्तरप्रान्तीय भाषा है, इसलिए किसी एक भारतीय भाषा के मुकाबले में किसी दूसरी भारतीय भाषा को तर्जीह देने का सवाल ही नही उठता।

हिन्दी के विरुद्ध जो तर्क दिये जाते हैं, उन्हे हमने विस्तार से—यद्यपि साररूप मे ही—दे दिया है। हिन्दी के विरुद्ध और अंग्रेज़ी के पक्ष मे कौन-कौन सी दलीलें दी जा सकती है, अक्सर हम इसकी कल्पना भी नही कर सकते। न केवल हिन्दी-भाषियों को वरन् उन सभी लोगों को जो अंग्रेज़ी के स्थान पर अपनी भाषाओ की उन्नति चाहते है, ऊपर की बातों पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए। यह अंग्रेज़ी-प्रेम हिन्दी ही नही सभी भारतीय भाषाओं के आडे आता है; इसलिए उस पर सभी भारतीय भाषा-भाषियो को विचार करना चाहिए। ऊपर जिन बातों का साराश दिया गया है, उनमें सबसे आश्चर्यजनक स्थापना यह है कि अंग्रेज़ी भाषा कभी जनता पर जबर्दस्ती लादी नही गयी। भारत का कोई ऐसा प्रदेश नही है जहा इस बात के लिए आन्दोलन न हुआ हो कि स्कूलो-विद्यालयो मे शिक्षा का माध्यम वहा की प्रादेशिक भाषा होनी चाहिए। यह आन्दोलन बगाल मे भी चला और बंगाल के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में अंग्रेज़ी की जगह बगला को प्रतिष्ठित करने के लिए रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे मनीषियों ने भगीरथ प्रयत्न किया। अखिल भारतीय स्तर पर महात्मा गाधी ने इस बात का जोरदार आन्दोलन किया कि शिक्षा का माध्यम भारतीय भाषाएं होनी चाहिए। उन्होने जापान की मिसाल देकर बताया कि वहा के लोगों ने यूरोप की विद्या ग्रहण की है, अपनी भाषा के माध्यम से। उनका शिक्षण जापानी में होता है, न कि अंग्रेज़ी मे। राष्ट्रीय आन्दोलन की यह माग रही है कि शिक्षा संस्थाओ से लेकर न्यायालयो तक में जो सारा काम अंग्रेज़ी के माध्यम से होता है, वह बंद होना चाहिए और अंग्रेज़ी ने भारतीय भाषाओ के जो हक छीने हैं, वे उन्हें वापस मिलने चाहिए। तब हम कैसे मान लें कि अंग्रेज़ी यहां लादी न गयी थी और उसे गौरव-स्थान देने के लिए यहीं के देशभक्तों ने प्रयास किया था? भारतीय भाषाओं के अक्षुण्ण रहने का एक कारण यह बताया जाता है कि यहां राजनीतिक और गारा-निक कार्यों के लिए अंग्रेज़ी का व्यवहार होता था। दूसरी ओर यह भी दावा किया जाता है कि अंग्रेज़ी के इस सम्पर्क से भारतीय भाषाएं समृद्ध

हो गयी। अगर अंग्रेजी का यह अंतर्निहित सम्पर्क इतना लाभदायी था तो भारतीय भाषाओं की समृद्धि को स्वीकार कीजिए और निकालिए अंग्रेजी को विश्वविद्यालयों से। हिन्दी नहीं, बंगला को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाइये। लेकिन आप इसके पक्ष में नहीं हैं, अंग्रेजी का दामन छूटा नहीं कि आध्यात्मिक प्रगति भी रुक जायगी, वैज्ञानिक प्रगति का तो कहना ही क्या! अगर एक शताब्दी के निकट सम्पर्क से भारतीय भाषाएं अब तक दरिद्र बनी हुई हैं, तो इस सम्पर्क को जरा भी कम न करें और उनकी समृद्धि के लिए कोई और उपाय न निकालें?

अंग्रेजी से कुछ सीखना एक बात है; अंग्रेजी को अपने सामाजिक और सांस्कृतिक कार्यों का माध्यम बना लेना दूसरी बात है। जापानियों, चीनियों आदि ने अंग्रेजी से सीखा है लेकिन अपनी भाषाओं को अविकसित मानकर उन्होंने अंग्रेजी को राजभाषा नहीं बनाया। यहां के समाज सुधारक अंग्रेजी पढ़ने के विरुद्ध नहीं थे, अंग्रेजी को अपनी सांस्कृतिक भाषा बनाने के विरुद्ध थे। आज दलील क्या है? अंग्रेजी विश्व-संस्कृति की भाषा है, हमारी अन्तर्प्रान्तीय भाषा है, हमारी सांस्कृतिक एकता अंग्रेजी के ही द्वारा सुरक्षित है और रह सकती है। यदि रवीन्द्रनाथ, भारती, प्रेमचन्द आदि का यही दृष्टिकोण होता, तो वे देश की इस "सांस्कृतिक भाषा" को समृद्ध करने में अपना समय लगाते; उन्होंने भारतीय भाषाओं की जो सेवा की, वे न कर पाते। भारत में अंग्रेज विजयी हुए, इसलिए यूरोप का ज्ञान अंग्रेजी के माध्यम से आया। यदि यहां फ्रान्सीसी या पुर्तगाली विजयी होते तो हम उनकी भाषा को बाहर की हवा और रोशनी के लिए खिड़की बनाते। क्लाइव के ज़माने में कम्पनी के गोरे नौकरों को पुर्तगाली भाषा सीखनी होती थी क्योंकि वह अन्तर्जातीय व्यापार में काम आती थी। फ्रान्सीसी भाषा यूरोप में अन्तर्जातीय व्यवहार के काम आती थी और यदि यहां फ्रांस की विजय होती, तो हम उसी भाषा के गीत गाते। यदि हम स्वाधीन रहते तो शायद यूरोप की संस्कृति और विज्ञान के बारे में ज्यादा अच्छी जानकारी हासिल करते। अंग्रेजी के अनिवार्य रहने के कारण हमने यूरोप को अंग्रेजी चश्मे से देखा है, इसलिए यूरोप की कला, साहित्य, दर्शन और विज्ञान की जानकारी एकांगी और अधूरी है। अपने देश की भाषाओं और उनके साहित्य के बारे में तो हम उतना भी नहीं जानते जितना यूरोप की भाषाओं के बारे में जानते हैं। एशिया के पड़ोसी देशों के साहित्य और संस्कृति में जानने लायक कुछ है, यह हमारे दिमाग में ही नहीं आया। अंग्रेजी के माध्यम से विश्व-संस्कृति तक पहुंचना तो दूर, हम यूरोप की संस्कृति को भी ठीक-ठीक नहीं पहचान सकते, अपने घर और पड़ोसियों के बारे में गहरे अज्ञान-अंधकार में रहते हैं। यहां के लोगों ने अंग्रेजी से जो फायदा उठाया, वह अंग्रेजी लादने की नीति का प्रबल

विरोध करके उठाया। उन्होंने अंग्रेजी साहित्य में अभिव्यक्त स्वाधीनता और जनतंत्र के विचारों से प्रेरणा पायी और अपनी भाषा की सेवा करने मे लग गये। उन्होंने अंग्रेजी की उच्चता के सामने माथा टेक कर उसे अपनी सांस्कृतिक भाषा स्वीकार नहीं कर लिया। अंग्रेजी के माध्यम से हम तक दो तरह की संस्कृतियां पहुंचीं। एक संस्कृति शेक्सपियर, मिल्टन, शेली, बायरन, डारविन और शॉ की थी जो ब्रिटिश दासता के विरुद्ध और मानवीय मूल्यों के लिए हमे लड़ना सिखाती थी। इस संस्कृति से हमने यह भी सीखा कि जैसे अंग्रेज साहित्यकारों और मनीषियों ने लैटिन और फ्रांसीसी को अंग्रेजी से समृद्ध भाषा मानते हुए भी उन्हें अपने ऊपर हावी नहीं होने दिया वरन् अंग्रेजी के उत्कर्ष के लिए बराबर प्रयत्न करते रहे, वैसे ही हमे भी अंग्रेजी भाषा की गुलामी न करके अपनी भाषाओं की उन्नति के लिए लगातार प्रयत्न करना चाहिए। इसके विपरीत, अंग्रेजी के माध्यम से हम तक साम्राज्यवादी संस्कृति भी आयी है। यह संस्कृति गौरांग जातियों की श्रेष्ठता और काली जातियों की हीनता घोषित करती है। इस नस्ल-सिद्धान्त के अनुरूप यह नेटिवों के रहन-सहन, रीति-रवाज, भाषा, साहित्य सबसे घृणा करना सिखाती है। वह समाज सुधार का मतलब भारतीय संस्कृति के आन्तरिक मूल तत्वों का विकास नहीं मानती; समाज सुधार का मतलब है—अंग्रेजों की नकल! इस संस्कृति के जाने-माने प्रतिनिधि थे लार्ड मैकाले, कर्जन, किपलिंग जैसे लोग। यदि आप मैकाले का शिक्षा-सम्बंधी निबंध उठाकर पढ़ें तो आपको यह देख कर आश्चर्य होगा कि ये बातें जो हम आये दिन भाषा-विवाद के सिलसिले में सुना करते हैं, इन्हें विद्वान् मैकाले सवा सौ वर्ष पहले ही लिख गया था। मैकाले कम से कम मौलिकता का दावा कर सकता था, पर उसके राग की प्रतिध्वनि जिन डफलियों में गूंजती है, वे यह दावा भी कर सकने की स्थिति में नहीं हैं।

मैकाले के शब्दों को फिर से याद करना शिक्षाप्रद होगा। १८३५ में उसने लिखा था, "सब लोग इस बात से सहमत हैं कि भारत के इस भाग में नेटिव जो बोलियां बोलते हैं, उनमें साहित्यिक और वैज्ञानिक जानकारी की बातें नहीं हैं। इसके अलावा वे इतनी दरिद्र और अनगढ़ हैं कि जब तक उन्हें किसी और दिशा से समृद्ध न किया जाय, उनमें किसी महत्वपूर्ण ग्रंथ का अनुवाद करना भी संभव न होगा। सभी लोग इस बात से सहमत मालूम होते हैं कि जो लोग उच्च शिक्षा पा सकने की स्थिति में हैं, उनका बौद्धिक विकास किसी ऐसी भाषा द्वारा ही संभव है जो उनमें बोली न जाती हो।" आज भी तर्क यह दिया जाता है कि सभी भारतीय भाषाएं अंग्रेजी की तुलना में हेठी हैं, इसलिए सांस्कृतिक स्तर ऊंचा करने के लिए उच्च शिक्षा का माध्यम कोई अभारतीय भाषा ही होनी चाहिए। मैकाले के जमाने में भी यही तर्क

संस्कृति की प्रगति हो। मैकाले महोदय का विचार था कि "इसमें अत्युक्ति नहीं है कि संस्कृत भाषा में लिखे हुए समस्त ग्रन्थों से जो ऐतिहासिक ज्ञान प्राप्त हो सकता है, वह उन जानकारी से कम मूल्यवान है जो छोटे दर्जों की मामूली पाठ्यपुस्तकों के लिए प्रयुक्त है।" अरबी और सभी भारतीय भाषाओं को भी एक धक्के में बहा दीजिए। "प्राच्य विद्या-विशारदों में मुझे कोई ऐसा नहीं मिला जो यह न मानता हो कि किसी अच्छे यूरोपीय पुस्तकालय की एक अलमारी में अरबी और भारत के समूचे साहित्य से ज्यादा महत्वपूर्ण सामग्री मिल जाती।" इसके बाद यह न समझें कि यूरोप की दूसरी भाषाएं अंग्रेजी के मुकाबले में कहीं टक्कर ले सकती है। "यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि उस भाषा (अंग्रेजी) में जो साहित्य सुलभ है, वह संसार के समूचे साहित्य से अधिक मूल्यवान है।' यह हुई अंग्रेजी के विश्व संस्कृति-वाहन होने की बात। मैकाले यह भी मानता था कि भारत में हर किसी को अंग्रेजी नहीं पढ़ाई जा सकती। "अधिक से अधिक यह किया जा सकता है कि हम एक ऐसा वर्ग बनायें जो हमारे और करोड़ों शासित लोगों के बीच दुभाषिये का काम करे, यह वर्ग ऐसे लोगों का होगा जो खून और रंग में तो हिन्दुस्तानी होंगे लेकिन उनके शौक, उनके विचार, उनका नैतिक आचरण और बुद्धि—सब अंग्रेजी होंगे।" मैकाले ने बात साफ-साफ कही थी, इसलिए बेचारा बदनाम हो गया। उसके अनुयाई भी वही बात करते हैं, लेकिन उतना साफ कहने की उन्हें हिम्मत नहीं होती। आम जनता को राजकाज, शिक्षा और संस्कृति से क्या लेना-देना है ? सारे उच्चस्तरीय काम आधे फीसदी अंग्रेजीदां लोग सम्भालेंगे ! और आप यह न समझें कि मैकाले को भारतीय भाषाओं के पुनर्जीवन की चिन्ता न थी। पुनर्जीवित करने का यह काम उसने रूही मन के अंग्रेज और तन के हिन्दुस्तानियों को सौंपा था। "उस वर्ग पर हम यह भार छोड़ सकते हैं कि वह देश की बोलियों को परिष्कृत करे, पश्चिमी शब्दावली से विज्ञान के पारिभाषिक शब्द उधार लेकर इन बोलियों को समृद्ध करे और धीरे-धीरे उन्हें जनता तक ज्ञान पहुंचाने का योग्य साधन बनाये।" सवा सौ साल से मैकाले और उसके अनुयाई भारतीय भाषाओं को समृद्ध बनाने में लगे हैं लेकिन उनका यह काम अभी भी समाप्त नहीं हुआ। अंग्रेजों के चले जाने के तेरह साल बाद भी उनकी माग है कि यहां अनन्त काल तक पहले की ही तरह अंग्रेजी का राज बना रहे ! इस प्रसंग में वे मैकाले के तर्क दोहराते हैं लेकिन अपने गुरु का नाम भी नहीं लेते, यह उनकी परम कृतघ्नता है !

भारत के नवीन सांस्कृतिक जागरण में अंग्रेजी के महत्व को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर आंका जाता है। अंग्रेजी के माध्यम से प्राप्त विचारधारा इस जागरण की प्रमुख धारा नहीं रही। प्रमुख धारा के तत्व भारतीय ही रहे हैं। यहां

के कवियों और विचारकों पर शेली और ब्राउनिंग से अधिक प्रभाव उपनिषदों, रामायण, महाभारत, कालिदास, कबीर, चंडीदास, विद्यापति आदि का रहा है। इस प्रभाव के अलावा उन्होंने जातीय जीवन से साहित्य के लिए नये उपकरण प्राप्त किये हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर का उदाहरण लीजिए। बचपन में वे कीर्तिवास की रामायण, काशीराम की महाभारत, मधु कान के पद सुना करते थे। इनसे उनकी रसवृत्ति जाग्रत हुई। कुछ बड़े होने पर उन्होंने कालिदास का मेघदूत सुना और उसका प्रभाव उन पर आजीवन रहा। वाल्मीकि के काव्य पर "भाषा ओ छंद" नाम की उनकी रचना, मेघदूत तथा कालिदास सम्बंधी उनकी अनेक भावपूर्ण कविताएं, वैष्णव कवियों का अनुकरण (भानुसिंहेर पदावली) और उन पर कविता यह स्पष्ट करती है कि भारतीय साहित्य की किन धाराओं ने उनके कवि हृदय को सींचा था। देवेन्द्रनाथ ठाकुर उपनिषदों के परम भक्त थे। इस घरेलू प्रभाव के कारण रवीन्द्रनाथ आजीवन भारत और यूरोप के लिए भारतीय संस्कृति के संदेशवाहक रहे। उन्होंने अंग्रेज कवियों से मूर्ति विधान, काव्य रूपों आदि के बारे में प्रेरणा पायी लेकिन उनकी भावधारा का मूल उत्स इस देश की धरती में था। वह शेली से अधिक लालन फकीर जैसे बाउल गायकों से प्रभावित हुए थे। इसके अलावा "उत्तर पश्चिम के रहस्यवादी कवियों कबीर, मीरा, दादू, ज्ञानदास आदि की रचनाओं से रवीन्द्रनाथ का परिचय हुआ।"[1] भारतीय संस्कृति की इन तमाम अन्तर्धाराओं को समेट कर और उनमें अपनी मौलिक प्रतिभा का योग देकर उन्होंने बंगला और भारतीय काव्य को समृद्ध किया।

यह न भूलना चाहिए कि बीसवीं सदी में अंग्रेज़ी साहित्य स्वयं संकट-ग्रस्त रहा है। शेक्सपियर और मिल्टन को छोड़ दीजिए, शेली, बायरन के टक्कर का भी कोई कवि पिछले ६०-७० वर्षों में नहीं हुआ। डिकेन्स, स्कॉट और हार्डी के युग के बाद उपन्यास कला का वैभव क्षीण हुआ। शॉ अकेले विद्रोही वीर की तरह साम्राज्यवादी संस्कृति पर निरन्तर प्रहार करके शिव महान की कला का सृजन कर सके। बीसवीं सदी में अंग्रेज़ी के जितने कवि हुए हैं, उनमें एक भी रवीन्द्रनाथ की करुणा, प्रकृति प्रेम, सौन्दर्य सम्बंधी सूक्ष्म संवेदनाओं को छू नहीं पाता। शेली और बायरन के युग के बाद इंगलैंड ने वर्तमान काल में एक भी ऐसा कवि पैदा नहीं किया जिसमें सुब्रह्मण्यम् भारती के समान देशभक्ति और साम्राज्यवाद के प्रति तीव्र आक्रोश हो। अंग्रेज़ी में न आज और न कभी पहले ऐसा उपन्यासकार पैदा हुआ है जिसने किसानों के जीवन को इतनी गहराई और बारीकी से देखा और चित्रित किया हो जितनी गहराई और बारीकी

---

१. डॉ. सुकुमार सेन, 'हिस्ट्री ऑव बंगाली लिटरेचर', पृष्ठ २९५।

से प्रेमचन्द ने किया है। अंग्रेजी भाषा मे ही कोई चमत्कार होता, तो उसने दो चार शेली, शेक्सपियर और डिकेन्स इस युग मे भी पैदा कर दिये होते। लेकिन व्यक्तिवाद, निराशा और पराजय की भावनाएं, ऐन्द्रिय लिप्साएँ, अतृप्त आकांक्षाएं अनेक "आधुनिक" कलाकारो को इस बुरी तरह जकडे हुए है कि वे अपनी ही विरासत मे कुछ सीखने मे असमर्थ दीखते हैं। उनके दीन-हीन भारतीय अनुयाई अपनी कुंठा और विघटन का रोना रोते हुए दिखाई देते हैं। भाषाविदो को शायद साहित्य मे यह सब दिखाई नही देता या सभवत उसे देखकर वे आखें बंद कर लेते हैं।

अंग्रेजी भाषा अपने मे न प्रगतिशील है, न प्रतिक्रियावादी। उसमे भारत के पूंजीवादी अखबार भी निकलते हैं, कम्युनिस्ट पार्टी के और साम्प्रदायिक दलों के पत्र भी निकलते हैं। यदि अंग्रेजी मे कोई सांस्कृतिक एकता का जादू हो तो ये सब मिल जायें और एक-दूसरे की आलोचना करना छोड दें। रूसी भाषा का प्रयोग जार और पूंजीपति करते थे, उसी का प्रयोग लेनिन और बोल्शेविकों ने भी किया। संस्कृत मे वात्स्यायन का काम सूत्र भी है और अध्यात्म रामायण भी। किसी भाषा को सीखने मात्र से मुक्ति नही मिल जाती। इसलिए यह समझना कि अंग्रेजी सीखने से—यानी टूटी-फूटी अंग्रेजी में कुछ लिख लेने से—हम ज्यादा प्रगतिशील हो जायेंगे, अपने को धोखा देना है। देश में जो संकट और ह्रास के लक्षण दिखाई देते हैं, उनका कारण सामाजिक परिस्थितियां हैं। अन्य देशो मे भी ऐसे ही लक्षण दिखाई पड चुके हैं यद्यपि वहां अंग्रेजी-शिक्षा में ढिलाई का सवाल न था। किसी समय रूस का अभिजात वर्ग रूसी भाषा से घृणा करता था और फ्रान्सीसी को सांस्कृतिक भाषा की तरह इस्तेमाल करता था। यह वर्ग जनता से दूर जा पडा था और अन्त मे वह मिट गया। अंग्रेजी सीखना और बात है, उसे सीख कर लाभ उठाया जा सकता है; उसके साथ और उसके अलावा यूरोप की अन्य भाषाएं सीख कर और भी ज्यादा लाभ उठाया जा सकता है। लेकिन उसे सभी भारतीय भाषाओं के ऊपर केन्द्रीय और सांस्कृतिक भाषा बनाने से ऐसे वर्ग का ही सृजन होगा जो जनता से दूर होगा, जो अपने अंग्रेजी ज्ञान के बल पर—न कि ईमानदारी, देशभक्ति, कार्य-क्षमता के बल पर—शासन कार्य चलायेगा। इसमें देश को अपार हानि होगी और हो रही है। इस प्रसग मे रूस और चीन की मिसाल देकर अंग्रेजी का महत्व सिद्ध करना कमाल है। रूसियों और चीनियों ने क्या अंग्रेजी को अपनी राजभाषा बनाया है? क्या अंग्रेजी उनके विश्वविद्यालयों मे शिक्षा का माध्यम है? क्या वे अपना वैज्ञानिक कार्य अंग्रेजी मे करते हैं? रूस और चीन की मिसाल से बिलकुल उल्टा निष्कर्ष निकलता है। शिक्षा, राजकाज, संस्कृति—सभी क्षेत्रों में जनता की भाषा का व्यवहार होना चाहिए, न कि अंग्रेजी का।

रूस और चीन में अंग्रेज़ी जिस ढंग और उद्देश्य से सीखी जाती है, यदि उसी ढंग और उद्देश्य से यहां उसे लोग सीखें तो किसे आपत्ति होगी?

तात्पर्य यह कि बाहर की हवा और रोशनी के लिए और खिड़कियां दरवाजे भी हैं। आपके घर में भी कुछ रोशनी और हवा है जिससे आप बाहर भी उजाला कर सकते हैं। चारों तरफ घुटन और अंधेरा ही नहीं है। आध्यात्मिक भोजन के लिए भी भारत के लोग जिस दिन अंग्रेज़ी का मुंह देखेंगे, उस दिन उनके डूब मरने के लिए चुल्लु भर पानी काफी होगा। अंग्रेज़ी सीखिए-सिखाइए, लेकिन उसे विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम क्यों बनाते हैं? विश्वविद्यालयों के बारे में अनेक विशेषज्ञ समितियां वर्षों से यह सिफारिश करती आ रही हैं कि शिक्षा का माध्यम प्रादेशिक भाषाएं होनी चाहिए। वे दिन गये जब किसी देश के आधे फीसदी लोग बाकी जनता पर हुकूमत किया करते थे। अब जनता संगठित होकर अपना भाग्य-निर्माण खुद कर रही है। वह अपना राजकाज अपनी भाषाओं में चलायेगी। जनता का उन्नयन उन लोगों ने किया है जो देशी-विदेशी भाषाओं से विद्या सीखकर जनता में घुल-मिल गये हैं। अंग्रेज़ी से बहुत से लेखकों को प्रेरणा मिली है; यह प्रेरणा गलत ढंग की भी रही है; प्रेरणा का व्यापार एकतर्फा नहीं रहा। कुछ यूरोप ने भी यहां से पाया है। उच्च संस्कृति जनता का विभाजन नहीं करती, उसे संगठित और समर्थ बनाती है। अब विश्व मानवता के विकास की दिशा सामंतवाद या पूंजीवाद नहीं है। विकास की दिशा है—समाजवाद। अब यह नियम नहीं चल सकता कि मुट्ठी भर पढ़े-लिखे लोग संस्कृति के ठेकेदार बने रहें और बाकी जनता निरक्षरता और अज्ञान के गर्त में पड़ी हुई उनकी सेवा करती रहे। और यह कौन सा तर्क हुआ कि उच्च संस्कृति थोड़े से लोगों में ही सीमित रहेगी। यह वर्ग जनता से अलग होगा जैसे संस्कृत के विद्वान अपने को जनता से अलग समझते हैं, यह उच्च संस्कृति अंग्रेज़ी से प्राप्त होगी, फिर भी अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोग आम जनता से दूर न रहेंगे? एक तरफ अंग्रेज़ी जनतंत्र का पाठ पढ़ाती है, दूसरी तरफ हमें उच्च संस्कृति देकर जनता से अलग भी करती है! असली बात यह है कि अंग्रेज़ी के सहारे आप एक विशेषाधिकारी वर्ग बनाना चाहते हैं जो जनता पर हुकूमत करे लेकिन लोगों की आंखों में धूल झोंकने के लिए आप जनतंत्र की दुहाई भी देते जाते हैं। यदि भारत में राज्यसत्ता किसी सीमित-संकुचित वर्ग के हाथ में न रह कर आम जनता के हाथ में आती है, तो हिन्दी पढ़े-लिखे लोगों में यह भावना पैदा न होगी कि वे औरों से श्रेष्ठ हैं। हर प्रदेश का कारोबार वहां की भाषा में चलेगा; केन्द्रीय और सरकार सम्पर्क का कार्य ही हिन्दी के माध्यम से होगा। किसी जमाने में यहां के अल्पसंख्यक समुदायों के नेता अंग्रेज़ों के विशेष कृपापात्र होते थे। कारण यह था कि वे

हमेशा यह भय दिखाते थे कि अंग्रेजों के विदा होने पर बहुसंख्यक उन्हें खा जायेंगे। उसी तरह अब यह तर्क दिया जाता है—हिन्दी वाले हमें खा जायेंगे, इसलिए अंग्रेजी बनी रहे! नौकरियों में हिन्दी भाषियों को विशेष सुविधा न मिले, इसका बहुत सीधा उपाय है। "थ्री लैंग्वेज फॉर्मूला" पहले से विद्यमान है। नौकरी के लिए जो परीक्षाएं हों, उनमें परीक्षार्थी के लिए दो भारतीय भाषाओं और एक यूरोपीय भाषा का ज्ञान अनिवार्य कर दीजिए। रूस में यह नहीं होता लेकिन भारत में होना चाहिए। यह लज्जा की बात भी है कि भारत के शिक्षित जन मातृभाषा के अलावा देश की अन्य कोई भाषा न जानें।

कहा जाता है कि अंग्रेजी के द्वारा देश की राजनीतिक और सांस्कृतिक एकता कायम है। अंग्रेजी बोलने वाले अंग्रेजों ने ही भारत का बटवारा किया था न? अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों ने ही उसे स्वीकार किया था? फिर कहा रही राजनीतिक एकता? दिन पर दिन यह अंग्रेजी पढ़ा-लिखा शासक वर्ग जनता और उसकी संस्कृति से दूर होता जा रहा है और भीतर से टूट रहा है। अहिन्दी क्षेत्रों के जो लोग अंग्रेजी से चिपके रहना चाहते हैं, वे मातृभाषाओं की सेवा नहीं करते। उन्हें हर बात में अंग्रेजी अपनी मातृ-भाषाओं से श्रेष्ठ लगती है। इसलिए उसे वे केन्द्र में ही नहीं अपने यहां भी सबसे ऊंचे आसन पर बिठाये रखना चाहते हैं। आई० सी० एस्० के अलावा पी० सी० एस्० के लिए भी अंग्रेजी चलती थी न? इसलिए यह दावा है कि अंग्रेजी हर भारतीय भाषा से बढ़कर है, उससे वैज्ञानिक और आध्यात्मिक भोजन मिलता है, उसे विश्वविद्यालयों से कभी न हटाना चाहिए। इस तरह वे केन्द्र में ही नहीं अपने प्रदेश में भी अंग्रेजी का एकच्छत्र शासन चाहते हैं। अंग्रेजी के ये हिमायती हिन्दी से अधिक अपनी मातृ-भाषाओं का अहित कर रहे हैं। यदि वे अपने प्रदेशों के विद्यालयों आदि में अंग्रेजी के विशेषाधिकार रद्द कर दें, मातृ-भाषाओं को उचित स्वत्व दें, तो आम जनता उनको यह बहुत जल्दी सिखा दे कि अन्तर्जातीय सम्पर्क के लिए अंग्रेजी की अपेक्षा हिन्दी का व्यवहार श्रेयस्कर है। मातृ-भाषाओं की दुहाई देकर अंग्रेजी का प्रभुत्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। सबसे लचर दलील यह है कि अंग्रेजी भारतीय भाषाओं से अधिक समृद्ध है, इसलिए उसे स्वीकार करना चाहिए। बात इतनी आसान हो तो राष्ट्र संघ भाषाविदों की एक समिति बना दे जो इस बात का फैसला करे कि विश्व की समृद्धतम भाषा कौन सी है। बस, वही सब देशों की केन्द्रीय भाषा हो जाय। विश्व की एकता और दृढ़ हो जाय। मुश्किल यह है कि भाषा की समृद्धि भी परिवर्तनशील है। परसों तक जर्मनी के वैज्ञानिक सर्वश्रेष्ठ गिने जाते थे। आइनस्टाइन की भाषा जर्मन ही थी। कल अंग्रेजी भाषी अमरीकी विज्ञान में नम्बर एक होने का दावा करने लगे।

आज सोवियत संघ ने सब को पीछे छोड़ दिया है। इसलिए दस-दस साल में आप केन्द्रीय भाषा भी बदलते रहिए ! इंसान की बोली की नकल तोता भी कर लेता है लेकिन उसका ज्ञान तोतारटंत ही कहलाता है। अंग्रेजी बोलने से दिल जरूर अंग्रेज हो जाता है लेकिन दिमाग जहां का तहां बना रहता है। फिर भारत जैसे देश की गरीबी-भुखमरी दूर करने, बाढ़ की समस्याओं का सामना करने, उद्योग-धंधों का निर्माण करने, साझा खेती आन्दोलन चलाने आदि के लिए हिन्दी तथा अन्य भाषाओं में जितनी समृद्धि की आवश्यकता है, उतनी उनमें खूब है। अणुशक्ति की प्रयोगशाला में आप कुछ दिन तक अंग्रेजी और चलाते रहें, कोई कुछ न कहेगा और हम काले आदमी चाहे जितनी अंग्रेजी सीखें, अंग्रेजों की बराबरी तो कर नहीं सकते। फिर समृद्धतम भाषा को विशुद्धतम ढंग से बोलने वाले अंग्रेजों को ही अपने ऊपर शासन करने के लिए फिर से क्यों न बुला लिया जाय ?

जैसे अंग्रेजी और भारतीय भाषाओं की श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता का सवाल उठाना गलत है, वैसे ही हिन्दी और अन्य भाषाओं के बीच इस तरह का सवाल उठाना भी गलत है। यह गलत सवाल उठाने के लिए हिन्दी के विद्वान कम जिम्मेदार नहीं हैं। दूसरी भारतीय भाषाओं के साहित्य के बारे में प्रायः कुछ भी जानकारी न रखने वाले—विशेषकर हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कर्णधार—मौके-बे-मौके हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के उत्साह में अपनी गरिमा का डंका पीटते रहे हैं और अहिन्दी प्रदेशों की जनता के आत्मगौरव को ठेस पहुंचाते रहे हैं। इस पर यदि कोई कहे कि हमारी भाषा हिन्दी से घट कर नहीं है हिन्दी सीखकर हमारी संस्कृति और उच्च न हो जायगी, तो उसे हम दोष न देंगे। उससे यह अवश्य कहेंगे कि (१) भारत की विभिन्न जातियों में परस्पर सम्पर्क की आवश्यकता हमारे देश की परिस्थितियों ने पैदा की है; देश के नव निर्माण के लिए एक बड़े पैमाने पर इन जातियों के लोग एक-दूसरे के सम्पर्क में आ रहे हैं और इससे ज्यादा आगे चलकर आयेंगे, यह सम्पर्क सिर्फ आई. ए. एस्. वर्ग के अफसरों, वैज्ञानिकों, शिक्षाविदों में न होगा, वरन् श्रमिकों, विद्यार्थियों, छोटी नौकरियां करने वाले लोगों, व्यापारियों आदि में भी होगा ; (२) इस व्यापक अन्तर्जातीय सम्पर्क की समस्या को हमारे देश की जनता ने हिन्दी के माध्यम से हल किया है; मद्रास, बम्बई, कलकत्ता में कुछ भद्र जन आपस में अंग्रेजी बोल लेते हैं लेकिन निचले आर्थिक स्तर के लोग अन्तर्जातीय व्यवहार के लिए हिन्दी का ही प्रयोग करते हैं; समाज के निम्न धरातल पर साधारण जनता ने समस्या का यह समाधान प्राप्त कर लिया है. अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों को इस आधारभूत समाधान के विरुद्ध न जाना चाहिए; (३) हिन्दी उस जाति की भाषा है जो इस देश में संख्या में सबसे बड़ी है; राजस्थान,

पंजाब, हरयाना आदि के लोग हिन्दी आसानी से समझ लेते है, हिन्दीभाषी व्यापारियो और श्रमिको की काफी बड़ी तादाद हिन्दी को उसके क्षेत्र से बाहर दूर-दूर तक ले गयी है, (४) हिन्दी को केन्द्रीय भाषा बनाने का यह अर्थ नही है कि प्रादेशिक भाषाओ के हक मारे जायें; आपके विद्यालयों, न्यायालयो, विधान सभाओ आदि मे आपकी भाषा का ही व्यवहार होगा, हिन्दी अंग्रेजी का स्थान नहीं ले रही, अंग्रेजी का स्थान मूलत लेंगी देश-भाषाएं, हिन्दी इनके बीच की कड़ी भर है, (५) आपके हिन्दी सीखने से स्वय हिन्दी वाले आपकी भाषा सीखने की जिम्मेदारी से बच नही जाते, ऊंची नौकरियों के लिए हिन्दी भाषियो को तभी लेना चाहिए जब उन्हे एक अहिन्दी भाषा का भी अच्छा ज्ञान हो।

अंतिम बात है खड़ी बोली के विकास के सम्बध मे । १८५० के पहले खड़ी बोली का अस्तित्व न था, तो क्या भारत के पराधीन होते ही वह आसमान से टपक पड़ी ? उर्दू के आधार पर हिन्दी रची भी गयी हो तो इसमें बेजा क्या है ? उर्दू क्या खड़ी बोली से कोई भिन्न भाषा है ? हिन्दी-उर्दू एक ही खड़ी बोली की दो साहित्यिक शैलियां है, वे एक-दूसरे को प्रभावित न करें तो आश्चर्य की बात होगी। लेकिन हिन्दी गद्य का विकास उर्दू के आधार पर हुआ है या नही, यह लल्लूलाल और मीर अम्मन के गद्य का अन्तर देखकर समझ लीजिए। जहा तक बगला से संस्कृत शब्द का उधार लेने का सवाल है, यह सच भी हो तो इसमे दोष नही है। संस्कृत हमारे प्रदेश की ही भाषा थी, आपने उससे शब्द लिये, हमने उन्हे वापिस लिया, हिन्दी-बगला एक-दूसरे के निकट आयी, इससे तो परस्पर प्रेम बढ़ना चाहिए, न कि हिन्दी को अनगढ़ और सेमावरदार कह कर परस्पर द्वेष बढ़ाना चाहिए । हिन्दी ने चार-पाच बवानो की सम्पदा हथिया ली, यह काम बेजा किया। शायद रामचरित मानस, सूर सागर, मीरा, कबीर और विद्यापति के पदों का हिन्दी मे अनुवाद किया जाना तो ज्यादा अच्छा होता। लेकिन १८५० से बहुत पहले सूर, मीरा, तुलसी आदि की रचनाएं ब्रज, अवध, मिथिला आदि के जनपदो में लोकप्रिय हो गयी थी। अवधी की रचना अवध तक और ब्रज की रचना ब्रज तक सीमित नहीं रहीं, इसका कारण एक यह भी था कि इन जनपदो की बोलियों मे शब्द-भंडार की बहुत बड़ी समानता थी। व्याकरण का भेद था और व्याकरण की समानता भी थी। व्याकरण और शब्द-भंडार की दृष्टि से इनमे प्रत्येक बोली बगला, मराठी, सिन्धी आदि की तुलना मे खड़ी बोली के ज्यादा निकट थी। शब्द भंडार की समानता और आर्थिक विकास के केन्द्र उत्तर-पश्चिम मे होने के कारण अन्य जनपदो ने खड़ी बोली को अपना लिया । हिन्दी की विशेष सेवा खड़ी बोली के मूल क्षेत्र से भिन्न बुन्देलखण्ड, ब्रज, अवध, भोजपुरी प्रदेश और

मिथिला के जनपदो ने की हैं । इसका कारण इन जनपदवासियों मे जातीय चेतना का अभाव न था, न स्कूली भाषा के रूप में खड़ी बोली का प्रसार था। ब्रज भाषा कब स्कूलो की भाषा रही है ? बनारस के हरिश्चन्द्र और अवध के रत्नाकर उसमे क्यो कविता करते थे ? तुलसीदास ने किस स्कूल मे अवधी या ब्रज पढी थी कि एक ग्रन्थ अवधी मे, दूसरा ब्रज मे लिखा ? इसके अलावा हिन्दी के अनेक संस्थापकों, महाकवियो आदि को स्कूल मे उतने दिन शिक्षा पाने का सौभाग्य नही मिला जितने दिन महाकवि रवीन्द्रनाथ को मिला था। कौन भाषा है, कौन उसकी बोली है, यह फैसला करने मे हिन्दी वाले चूक गए हों तो आश्चर्य नहीं।

बडे-बड़े भाषाविद इस सम्बंध मे एक ही पृष्ठ पर विरोधी वक्तव्य दे जाते हैं। पहले कहा कि ब्रज भाषा बोलने वालों ने खडी बोली को स्वीकार किया तो यह स्वाभाविक था क्योकि वह पश्चिम की बोली थी। आगे चलकर अवधी भोजपुरी के साथ ब्रज को स्वतन्त्र भाषा मान लिया। डॉ. जयकान्त मिश्र की मैथिल साहित्य वाली पुस्तक की भूमिका मे मैथिली को भाषा और भोजपुरी को उसकी बोली बताया गया। ऑफिशल लैंग्वेज कमीशन रिपोर्ट की असहमति टिप्पणी मे दोनो को समान अधिकार वाली स्वतंत्र-भाषाएं कहा गया। "भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी" मे लिखा "आधुनिक खड़ी-बोली (नागरी-हिन्दी) मे अत्यन्त उच्च कोटि के कवियों की सख्या उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी है, उनमे से कुछ तो वास्तव मे विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न हैं। (साधुवाद ! साधुवाद !!) अब भी ब्रज और अवधी के पूजक 'हिन्दी' कविता लिखने वाले सज्जन निकल अवश्य आते हैं, परन्तु, इन बोलियों का (ध्यान दीजिए, बोलियो का) साहित्यिक जीवन एक प्रकार से शेष हो चुका है। जिनके घर की ये भाषाएं हैं, वे उस रूप में इनका थोड़ा-बहुत व्यवहार भले ही करते रहे हैं।" अर्थात् जनपदीय बोलियों के रूप में इनका उपयोग हो सकता है, साहित्य का माध्यम अब वे नहीं हैं। अब देखिए, हिन्दी ने दूसरो की सम्पदा छीनी है या इन स्वतंत्र भाषाओ ने स्वयं हिन्दी को वह सम्पदा सौंपी है। उपर्युक्त वाक्य के आगे लिखा है, "पंजाबी बोलने वालों ने (सिक्खो को छोडकर, जो कि अपनी वंशज पंजाबी भाषा एवं गुरुमुखी लिपि को बराबर पकडे हुए हैं), ब्रजभाषा, कनोजी, पूर्वी हिन्दी, बिहारी, राजस्थानी तथा अन्य कई भाषाएं एवं बोलियां बोलने वालों ने धीरे-धीरे शिक्षण के लिए एवं सार्वजनिक जीवन में अपनी मातृ-भाषाओं की जगह नागरी-हिन्दी या उर्दू को अपना लिया है।" हम उनसे क्या कहें, मत अपनाओ। हिन्दी भाषियों के जातीय प्रदेश का नाम रहा है हिन्दुस्तान। बिहार और उत्तर प्रदेश के लोग हिन्दुस्तानी हैं अर्थात् एक जाति के हैं, इसे हमसे ज्यादा बंगाली जानते हैं। इनकी भाषा एक, प्रदेश एक—इस तथ्य को जिस खूबसूरती से

भूमिका में डॉ. चाटुर्ज्या ने पेश किया है, उससे भी बचना है कि उनके वाक्यों को फिर उद्धृत कर दें। लिखा है, "हिन्दुस्तानी शब्द का अर्थ होता है 'हिन्दुस्तान की (भाषा)', और 'हिन्दुस्तान', यह शब्द, मुस्लिम काल में अपने सीमित अर्थ में पंजाब तथा बंगाल के बीच के उत्तर-भारतीय मैदान के लिए प्रयुक्त होता था। पूरबी हिन्दी तथा बिहारी बोलने वाला पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा बिहार का भाग, जो 'पूरब' कहलाता है, भी इसी 'हिन्दुस्तान या हिन्दुस्थान' का ही रूप लिया है। बंगाल में बंगला न बोलने वाले तथा बिहार या उत्तर प्रदेश के लोगों को 'हिन्दुस्थानी' अथवा 'पश्चिमी' कहा जाता है। परन्तु 'पंजाबी' या राजस्थान के निवासी 'मारवाड़ी' इन हिन्दुस्थानियों (या हिन्दुस्थानियों) से भिन्न गिने जाते हैं।" हम बंगाली बंधुओं से बिलकुल सहमत हैं। राजस्थान और पंजाब के लोग हिन्दी जाति के बाहर हैं, पूरब बिहार से लेकर ब्रज तक के लोग इस जाति के अंग हैं। यह जाति-निर्माण-प्रक्रिया मुगल काल से चली आ रही है। इस जातीय प्रदेश की सभी बोलियों के साहित्य को हम अपना जातीय साहित्य मानते हैं। उसे हिन्दी साहित्य कहते हैं तो यह उचित ही है।

असहमति-टिप्पणी में हमारी जातीय भाषा हिन्दुस्तानी (हिन्दी या खड़ी बोली) के लिए लिखा है कि १८५० से पहले उसका अस्तित्व न था। लेकिन "भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी" में तज़किरा कुछ दूसरा है। खुसरो "इस भाषा को बहुत अच्छी तरह जानते थे" और वह "हिंदवी हिन्दी को अरबी एवं फ़ारसी तक की समकक्ष मानते थे।" उनके पद्य "१४वीं शताब्दी के रचे हुए हैं, और इस दृष्टि से हिन्दी के कुछ प्राचीनतम नमूनों में से हैं।" यह तो हुई अस्तित्व की बात। अब साहित्य में उसके प्रयोग की बात देखिए। मुसलमानों को छोड़ दीजिए, "हिन्दू लोगों ने भी राजधानी एवं राज-दरबार में बढ़ती हुई बोली की उपेक्षा नहीं की। १५वीं शती में ही नवोदित हिन्दी ने काफी उन्नति कर ली थी और इसका प्रभाव अन्य प्रतिष्ठित उत्तर भारतीय साहित्यिक बोलियों पर पड़ चुका था।" उदाहरण के लिए, कबीर की भाषा "हिन्दी (हिन्दुस्थानी) तथा ब्रज का एक मिश्रित रूप है।" (इस मिश्रण के लिए क्या हम कबीर को दोष दें कि उन्होंने भोजपुरी जातीय चेतना का उचित परिचय न दिया और अपनी भाषा के रूपों को दूसरी भाषा के रूपों में घुलाने-मिलाने लगे?) पंजाब के कवियों और कबीर में इस तरह के मिश्रण से डॉ. चाटुर्ज्या ने यह निष्कर्ष निकाला है कि "हिन्दुस्थानी का साहित्य के लिए उपयोग पूर्णतया निश्चित हो चुका था।"

असहमति-टिप्पणी में डॉ. चाटुर्ज्या ने राजस्थानी को स्वतन्त्र भाषा माना है लेकिन "राजस्थानी भाषा" में लिखा है, "राजस्थानी की चर्चा चले, इसका

अध्ययन अध्यापन राजस्थानियों में पुनः स्थापित होवे, यह सबों का काम्य है। पर हिन्दी के स्थान पर यदि राजस्थानी शिक्षा की भाषा बना दी जाय तो मेरे विचार में ठीक नही होगा।" और भी—"हिन्दी से मुक्त होकर पूर्ण रूप से स्वाधीन भाषा बनना, मारवाड़ प्रान्त की एकमात्र साहित्यिक भाषा बनना, इसके लिए अब असम्भव है।"

अवधी और मैथिली का प्राचीन साहित्य समृद्ध है, इसलिए उन्हें स्वतंत्र भाषाए होना ही चाहिए, इस तर्क का खंडन करते हुए उन्होने लिखा है, "विस्तृत पुराना साहित्य रहने से भी कभी-कभी भाषाएं खड़ी हो नही पाती। ऐसे दृष्टान्त भारत के बाहर भी नजर आते है। फ्रान्स के दक्षिण में जो भाषा बोली जाती है, वह प्रवाँसाल भाषा व्याकरण की दृष्टि से उत्तर फ्रान्स की फ्रेंच या फ्रान्सीसी भाषा से पृथक् है। प्रवाँसाल में एक बड़ा प्राचीन साहित्य था।" प्रवाँसाल के कवि मिस्त्राल (१८३०-१९१४) को नोबेल पुरस्कार भी मिला, "पर इतना साहित्य गौरव रहते ही (भी) प्रवाँसाल आज फ्रेंच के काबू में आ गयी है; प्रवाँसाल बोलने वाले घर में अपनी बोली बोल लेते है, कभी कुछ-कुछ इसमे लिखते भी हैं, अपना प्राचीन साहित्य इनके शिक्षित लोग पढ़ते भी हैं, पर इनकी शिक्षा की भाषा, बाहरी जीवन की भाषा फ्रेंच हो चुकी है।" इसी प्रकार अवधी में तुलसीदास ने साहित्य रचा, मैथिली मे विद्यापति ने रचा— "पर अपना पुराना इतिहास इतना गौरवमय होते हुए भी ये दो भाषाएं अपनी गिरी हुई अवस्था सोचकर एक साथ गा रही हैं—'तेहि नो दिवसा गताः'— मानो कि वे दिवस नही लौटने के।" नही लौटने के तो इसके लिए क्या हिन्दी भाषियो पर दूसरों की सम्पदा हड़पने का आरोप लगाना उचित है?

किसी समय बंगाल के विद्वान् उड़िया और असमिया को बंगला की बोलिया कहते थे। डॉ. दिनेशचंद्र सेन ने लिखा है कि हालहेड ने जब प्रथम बंगला-व्याकरण लिखा, तब साहित्य मे भी विभिन्न ग्राम्य बोलियो का प्रयोग होता था। "बोलियों के इन भेदो को एक सामान्य व्याकरण द्वारा व्यवस्थित किया जा सकता था जिसमे असमिया, उड़िया और बंगला को एक ही गुट में रखा जाता।"[1] इसी तरह कुछ लोग पंजाबी को हिन्दी की बोली कहते है लेकिन सौभाग्य से कोई वारिसशाह को हिन्दी कवि नही कहता। इसके विपरीत जो बोलिया हिन्दी क्षेत्र के अन्तर्गत हैं, उनके साहित्य को हम हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत मानते हैं। हम डॉ चाटुर्ज्या का यह मत पहले उद्धृत कर चुके हैं कि राढ़, वरेन्द्र और बंग तीन बंगाल थे जो संस्कृति ही नही भाषा की दृष्टि से भी एक-दूसरे मे उतने ही भिन्न थे जितने असम और उड़ीसा हैं। लेकिन डॉ

१. दिनेशचंद्र सेन, हिस्ट्री ऑव बेंगाली लिटरेचर, पृष्ठ २५।

चाटुर्ज्या ने ठीक ही लिखा है कि बोलियों के इस भेद के बावजूद राजनीतिक और सामाजिक कारणों से बंगाल में भाषागत एकता उत्पन्न हुई। इन बोलियों की अपनी साहित्य-परम्परा थी और आधुनिक बंगाल से उतनी ही भिन्न थी जितनी दक्षिण और उत्तर-पश्चिम की साहित्य-परम्परा। दिनेशचंद्र सेन के शब्दों में "चटगाँव, त्रिपुरा और सिल्हट की जनता का भी अपना प्राचीन साहित्य है जिस पर उनकी देशी बोलियों की छाप है। वह अब हमारे साहित्य का मूल्यवान अंश है किन्तु वह शैली और रूप में बर्दवान और बांकुरा के प्राचीन साहित्य से उसी प्रकार नहीं मिलता जिस प्रकार असमिया और उड़िया साहित्य नहीं मिलते।"[1] बर्दवान और चटगाँव के पुराने साहित्य को बंगला साहित्य के अन्तर्गत लेना दूसरे की सम्पदा हथियाना नहीं है। कोई विद्यापति को बंगला कवि कहे तो अवश्य अनुचित होगा। इसी तरह हम सूर, मीरा, तुलसी को हिन्दी कवि कहते हैं, कासिमशाह को हिन्दी कवि कहें तो अनुचित होगा। प्रत्येक बड़ी जाति के समान बंगाली जाति का निर्माण भी संस्कृति और बोली में यथेष्ट भिन्नता रखने वाले कबीलों और लघुजातियों के विलयन से हुआ है। विजयचंद्र मजुमदार के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं, "बंगला का विकास कैसे हुआ, अस्सी हजार वर्गमीलों के विशाल प्रदेश में अलग रहकर अपनी इकाइयां बनाये रखने को उत्सुक कबीलों और जातियों में बंगला कैसे प्रमुख भाषा बनी, इसका इतिहास रोचक है।"[2] उस रोचक इतिहास को हिन्दी के सिलसिले में भी याद रखना चाहिए।

हिन्दी जनपदों के लोग एक-दूसरे की बातें आसानी से समझ लेते हैं। सूर-तुलसी ब्रज और अवध के बाहर लोकप्रिय रहे। ब्रिटेन में बर्न्स इस प्रकार स्कॉटलैंड के बाहर लोकप्रिय नहीं रहा। अंग्रेज काव्य प्रेमी गेलिक शब्दकोष या पाद टिप्पणियों के बिना उसकी भाषा नहीं समझ सकते। वेल्श के साहित्य को अंग्रेज विशेषज्ञ ही समझते हैं। वेल्श और अंग्रेजी दो भिन्न प्रकृति और कुलों की भाषाएं हैं। ब्रिटेन में जहां-जहां अंग्रेजी का प्रसार हुआ है, वहां बोलियों और भाषाओं का यह भेद अंग्रेजी-प्रेमियों को क्यों नहीं दिखाई देता? संयुक्त राष्ट्र अमरीका के लिए यह गलत दावा किया जाता है कि वहां सबकी मातृभाषा अंग्रेजी है। "उत्तरी और दक्खिनी अमरीका में लाखों जर्मन जाकर बस गये हैं, इसलिए यूनाइटेड स्टेट्स, आर्जेन्टीना, ब्राजील और चिली के बहुत से समाजों में परम्परागत भाषा जर्मन का प्रयोग होता रहा है।"[3] लेकिन जर्मन

1. दिनेशचंद्र सेन, हिस्ट्री ऑव बंगाली लिटरेचर, पृष्ठ ११२।
2. विजयचंद्र मजुमदार, दि हिस्ट्री ऑव दि बंगाली लैंग्वेज, पृष्ठ ९।
3. मारिओ पेइ, पृष्ठ ३७।

में वह फूली-फली और उसमें महत्वपूर्ण साहित्य रचा गया। जातीय भाषा के रूप में उसका विकास बराबर होता रहा और पिछले सौ वर्षों में उसके साहित्य ने अदम्य वेग से प्रगति की है। हम अवधी, व्रज और मैथिली के साहित्य को ही हिन्दी साहित्य नहीं मानते, उर्दू साहित्य की सम्पदा पर भी अधिकार जमाना उचित समझते हैं और उतने ही प्रेम से हिन्दी की सम्पदा उर्दू वालों को भेंट करते है। हम उर्दू को हिन्दी की एक शैली कहते है। हिन्दी-उर्दू की क्रियाएं, मूल व्याकरण रूप आदि एक है; साधारण जनों की बोलचाल में हिन्दी-उर्दू का भेद नहीं होता। विजयचन्द्र मजुमदार ने हिन्दी-उर्दू को एक भाषा मानते हुए बहुत पहले लिखा था, "इस तथाकथित उर्दू भाषा का सारा ढांचा हिन्दी का है, हिन्दी नियमों के अनुसार क्रियाओं के रूप सभी कालों में सर्वनामों को जोड़कर बनाये जाते हैं। लोग यह भूल जाते हैं कि शब्द उधार लेने से कोई भाषा अपना रूप बदल कर दूसरी नहीं हो जाती। फिर भी वे उर्दू को दूसरी भाषा मान बैठते हैं।"[1]

आप कन्याकुमारी के समुद्र तट पर खड़े हों तो हिन्द महासागर की सुनील जलराशि अरब और बंगाल सागरों के श्वेत हरिताभ जलों को अपने में समेटती दिखाई देगी। दूर-दूर से आनेवाली विभिन्न रंगों की अन्तर्धाराएं विराट् महा समुद्र में मिलकर एक हो जाती हैं। हिन्दी-भाषियों की जातीय संस्कृति भी ऐसी ही है। उसमें व्रज, अवधी और मैथिली का समृद्ध प्राचीन साहित्य है। उसमें दकनी और समूचे उर्दू साहित्य की धारा आकर मिल जाती है। उसमें भारतेन्दु, प्रेमचन्द, प्रसाद, निराला आदि आधुनिक युग के साहित्य-सर्जकों की प्रखर सरस्वती भी आकर मिली है। यह संगम प्रयाग और कन्या-कुमारी से कम पवित्र नहीं है। इसकी विविधता और समृद्धि सुलभ नहीं है। इससे अपरिचित रहने का अर्थ है, देश के कम से कम एक तिहाई जनों की संस्कृति से अनभिज्ञ रहना। इसके प्रति विद्वेष फैलाना देश के लिए घातक होगा। देश की सभी अहिन्दी भाषाओं को अपने-अपने प्रदेशों में पूर्ण स्वत्व प्राप्त होने चाहिए। अहिन्दी जातियों के सन्तोष और समृद्धि के वातावरण में ही हिन्दी भाषी जाति अपने साहित्य और संस्कृति की पूर्ण उन्नति कर सकती है।

देश की एकता, देश के नव-निर्माण, अखिल भारतीय राजनीतिक नेतृत्व के लिए हिन्दी का व्यवहार आवश्यक है। अहिन्दी भाषियों का भय अकारण नहीं है। उनकी भाषाओं को अपने-अपने प्रदेश में राज्य भाषा बनाने के लिए जोरदार आन्दोलन होना चाहिए। भाषावार राज्यों के निर्माण का विरोध करके कांग्रेसी नेतृत्व ने काफी हद तक यह भय उत्पन्न किया है। इसका यह अर्थ

---

१. हिस्ट्री ऑव दि बँगाली लैंग्वेज, पृष्ठ १५।

किसी भी बहुजातीय देश में केन्द्रीय भाषा के लिए या तो कोई एक भाषा चुनी जायगी या शिक्षित जनों को वे सभी भाषाएं सीखनी होंगी जिनमें केन्द्रीय राजकाज होगा। छोटे देशों में एक से अधिक राज्य भाषाएं रखना सम्भव है, भारत जैसे बहुजातीय देश में यह सम्भव नहीं है। हिन्दी विभिन्न प्रदेशों के बीच कई सौ बरसों से परस्पर सम्पर्क का माध्यम बनी हुई है। उस प्रक्रिया को आगे बढ़ाना चाहिए। भारतीय भाषाएं समृद्ध नहीं हैं इसलिए उनके स्थान पर अंग्रेजी ही बनी रहनी चाहिए — यह तर्क साम्राज्यवादियों की इस दलील से मिलता है कि उपनिवेशों की जनता आजादी के लिए तैयार नहीं है, इसलिए उसे समुन्नत और विकसित होने का अवसर देने के लिए वे उस पर शासन कर रहे हैं। सवा सौ साल पहले वालों ने अंग्रेजी पढ़कर यहां की भाषाओं को समृद्ध करने की बात कही थी, सवा सौ साल तक उन्हें और समृद्ध किया जाय तो भी अंग्रेजी-प्रेमी यही कहेंगे कि अभी अंग्रेजी की तुलना में ये भाषाएं कम समृद्ध हैं। इस अन्याय का अन्त होना चाहिए। यह धारणा गलत है कि आधुनिक साहित्य का उत्थान मूलतः अंग्रेजी की प्रेरणा से हुआ है। आधुनिक साहित्य के मूल रचनात्मक तत्व हमारे जीवन से उत्पन्न हुए हैं और भारतीय हैं। भाषा सीखने से ही कोई उसके साहित्य का स्वामी नहीं हो जाता। सामाजिक प्रगति अंग्रेजी के ज्ञान-अज्ञान पर निर्भर नहीं है, उसका आधार जनता की राजनीतिक चेतना, उसका संगठन और नेतृत्व है। हर भाषा की अपनी विशेषता होती है, कुछ बातों में भारतीय भाषाएं अंग्रेजी से अधिक समृद्ध हैं। यह कहना गलत है कि हमारी भाषाएं केवल उधार लेती हैं, रचती कुछ नहीं हैं। इन भाषाओं के व्यवहार द्वारा देश की विशाल जनता नये समाज का निर्माण करेगी। आधे फीसदी अंग्रेजी पढ़े लोग देश के भाग्यविधाता नहीं

मे वह फूली-फली और उसमे महत्वपूर्ण साहित्य रचा गया। जातीय
रूप मे उसका विकास बराबर होता रहा और पिछले सौ वर्षों मे उसके
ने अदम्य वेग से प्रगति की है। हम अवधी, ब्रज और मैथिली के साहि
ही हिन्दी साहित्य नही मानते, उर्दू साहित्य की सम्पदा पर भी अधिकार ज
उचित समझते हैं और उतने ही प्रेम से हिन्दी की सम्पदा उर्दू वालो को
करते हैं। हम उर्दू को हिन्दी की एक शैली कहते है। हिन्दी-उर्दू की क्रि
मूल व्याकरण रूप आदि एक है, साधारण जनो की बोलचाल मे हिन्दी-उर्दू
भेद नही होता। विजयचन्द्र मजुमदार ने हिन्दी-उर्दू को एक भाषा मानते
बहुत पहले लिखा था, "इस तथाकथित उर्दू भाषा का सारा ढाचा हिन्दी
है, हिन्दी नियमो के अनुसार क्रियाओ के रूप सभी कालों मे सर्वनामों
जोडकर बनाये जाते है। लोग यह भूल जाते हैं कि शब्द उधार लेने से कोई
भाषा अपना रूप बदल कर दूसरी नही हो जाती। फिर भी वे उर्दू को दूसरी
भाषा मान बैठते हैं।"[1]

आप कन्याकुमारी के समुद्र तट पर खडे हो तो हिन्द महासागर की
सुनील जलराशि अरब और बंगाल सागरो के श्वेत हरिताभ जलो को अपन
में समेटती दिखाई देगी। दूर-दूर से आनेवाली विभिन्न रगो की अन्तर्धारा
विराट् महा समुद्र मे मिलकर एक हो जाती है। हिन्दी-भाषियो की जातीय
संस्कृति भी ऐसी ही है। उसमे ब्रज, अवधी और मैथिली का समृद्ध प्राचीन
साहित्य है। उसमे दकनी और समूचे उर्दू साहित्य की धारा आकर मिल जाती
है। उसमें भारतेन्दु, प्रेमचन्द, प्रसाद, निराला आदि आधुनिक युग के साहित्य-
सर्जको की प्रखर सरस्वती भी आकर मिली है। यह संगम प्रयाग और कन्या-
कुमारी से कम पवित्र नही है। इसकी विविधता और समृद्धि सुलभ नही
इससे अपरिचित रहने का अर्थ है, देश के कम से कम एक तिहाई जनो
संस्कृति से अनभिज्ञ रहना। इसके प्रति विद्वेष फैलाना देश के लिए घात
होगा। देश की सभी अहिन्दी भाषाओं को अपने-अपने प्रदेशो मे पूर्ण स्वतन्त्र प्रा
होने चाहिए। अहिन्दी जातियो के सन्तोष और समृद्धि के वातावरण मे ही
हिन्दी भाषी जाति अपने साहित्य और संस्कृति की पूर्ण उन्नति कर सकती है।

देश की एकता, देश के नव-निर्माण, अखिल भारतीय राजनीतिक नेतृत्व
के लिए हिन्दी का व्यवहार आवश्यक है। अहिन्दी भाषियो का भय अकारण
नहीं है। उनकी भाषाओ को अपने-अपने प्रदेश मे राज्य भाषा बनाने के लि
जोरदार आन्दोलन होना चाहिए। भाषावार राज्यों के निर्माण का विरोध
करके कांग्रेसी नेतृत्व ने काफी हद तक यह भय उत्पन्न किया है। इसका यह अर्थ

1. हिस्ट्री ऑव दि बंगाली लैंग्वेज, पृष्ठ १५।

रामविलास शर्मा

सामाजिक अन्तर्विरोध और भाषा का विकास

भाषा संस्कृति के विकास का महत्त्वपूर्ण साधन है। भाषा द्वारा हम अपनी संस्कृति [illegible] करते हैं; स्वयं भाषा भी संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अंग है। संस्कृति है क्या? इसका उत्तर कठिन नहीं है। मनुष्य ने अपने सामाजिक विकास-क्रम में प्रकृति को अपने अनुकूल बनाने, [illegible] जीवन-यापन की सामग्री पाने, और फिर उस सामग्री से अपने को परिस्थितियों के अनुकूल ढालने के लिए अनेक भौतिक उपकरण बनाये हैं। उसने अनेक अस्त्रों और आयुधों का आविष्कार किया है, जीवन-रक्षा के लिए उनका व्यवहार किया है। इन सब उपकरणों को हम भौतिक संस्कृति कहते हैं। इस प्रकार की भौतिक संस्कृति के बिना मनुष्य सामाजिक प्राणी नहीं बन सकता, वह उत्पादन और वितरण की नयी व्यवस्थाओं से गुजरता हुआ विकास की नयी मंजिलें पार नहीं कर सकता। संस्कृति सामाजिक और प्राकृतिक परिवेश पर विजय पाने का एक साधन है। उसमें मनुष्य के भाव, विचार, संस्कार, भावनाएँ सभी शामिल हैं। भाषा भी ऐसी ही संस्कृति है। वह पत्थर, लकड़ी या धातुओं के बने हुए आयुधों जैसी स्थूल नहीं है, उसका स्तर अधिक सूक्ष्म है किन्तु वह कोई अतीन्द्रिय व्यापार नहीं है। भाषा बोली जाती है, सुनी जाती है, लिखी जाती है, वह मन और इन्द्रियों का व्यापार है। उसके अर्थ का आधार यह भौतिक जगत् है, मनुष्य की काल-सापेक्ष और देश-सापेक्ष सत्ता है, मनुष्य का दूसरे मनुष्यों से, बाह्य जगत् से, सम्बन्ध है।

भौतिकवादी विचारधारा की एक स्थापना यह है कि किसी भी सामाजिक व्यवस्था का अर्थतन्त्र उसका आधार है और संस्कृति उसका मानसिक प्रतिबिम्ब है, वह अर्थतन्त्र के आधार पर बनी हुई ऊपरी इमारत है। जब आधार बदलता है, तब यह ऊपर की इमारत भी बदल जाती है। यदि भाषा संस्कृति का अंग हो तो आर्थिक व्यवस्था के बदलने पर वह भी बदल जाय। ऐसा होता नहीं है। रूस में पूंजीवादी व्यवस्था थी तब भी रूसी बोली जाती

कुछ लोग भाषाओं के अन्तर भेद और उनके विकास का कारण व्यक्तियों का ध्वनिभेद मानते है। व्यक्तियों मे ध्वनिभेद होता है, हर व्यक्ति की आवाज की विशेषता होती है जिससे वह पहचाना जाता है। किन्तु भाषा व्यक्तिगत इकाई नही है। न किसी व्यक्ति ने अकेले भाषा रची है, न केवल अपने लिए भाषा का प्रयोग करता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, यह तथ्य सबसे ज्यादा स्पष्ट भाषा के क्षेत्र मे दिखाई देता है। भाषा समाज के सभी सदस्यो के ध्वनिभेद, ध्वनि-भेद को समेट कर एक व्यापक स्तर पर समन्वय स्थापित करती है। इस समन्वय के बिना मनुष्य आपस मे विचारो का आदान-प्रदान नही कर सकते, एक-दूसरे की बात समझे बिना मिलकर श्रम नही कर सकते, वे एक समाज के सदस्य हो ही नही सकते। महत्वपूर्ण बात यह नही है कि कोई व्यक्ति मोटी आवाज मे बोलता है या बारीक आवाज मे, उसकी आवाज मन्द्र सप्तक के धैवत तक पहुचती है या तार सप्तक के पचम तक। ये सब बातें गौण है। मुख्य बात यह है कि उसकी बात को दूसरे लोग समझते है या नही। यदि समझते है तो वह ध्वनि-क्रिया के किन्ही स्थूल सामाजिक मानदडो के अनुकूल बोलता है, उन मानदडो से आवाज का भेद उसके श्रोताओं के लिए नगण्य है। शब्दो के चयन, उनकी सजावट और व्यवहार मे मनुष्य

अपनी व्यक्तिगत रुचि का परिचय देता है लेकिन इससे वह नयी भाषा का सृजन नहीं करता। बहुत से बहुत अपने प्रयत्न से वह इस भाषा में नये शब्द भाषा को दे जाएगा, ये शब्द भी भाषा की उस ध्वनि-प्रकृति के अनुरूप होंगे जिसकी सृष्टि उसने स्वयं नहीं की।

भाषाओं में परिवर्तन और विकास के कारणों का पता व्यक्ति के शरीर-के अध्ययन से नहीं लग सकता। उनके कारण सामाजिक होते हैं और सामाजिक विकास के अध्ययन से ही उनका पता लगता। कहा जाता है कि भाषा के परिवर्तन और विकास के अपने नियम हैं। वास्तव में भाषा-विज्ञान समाजशास्त्र का अंग है और वह इसी रूप में कुछ देशों में पढ़ाया भी जाता है। उसके नियम समाज-निरपेक्ष नहीं हैं। कौन सी ध्वनियां कहां से, किस तरह से उत्पन्न होती हैं, यह शरीर-विज्ञान का विषय है। भाषा की भाव-प्रकृति का सम्बन्ध मनुष्य की चिन्तन-प्रक्रिया से है, इसलिए यह दर्शन का विषय है। इसी प्रकार अर्थ-विचार आदि विषय भी विशुद्ध भाषा-विज्ञान के विषय नहीं हैं। तात्पर्य यह नहीं है कि भाषा-विज्ञान नाम का अलग विज्ञान नहीं है या हो नहीं सकता। जोर इस बात पर देना है कि भाषा के विभिन्न तत्वों का अध्ययन सामाजिक विकास के सन्दर्भ में ही हो सकता है।

भाषा-विकास के मूल कारणों में प्रयत्न-लाघव एक कारण बताया जाता है। सिद्धान्त यह है कि कम से कम शक्ति लगे और अपना काम निकल जाय। शायद इसी तरह बोलने में भी मनुष्य अपनी श्रमशक्ति बचाना चाहता हो। राजनीतिक नेताओं के व्याख्यान सुनिए। 'निज कवित्त केहि लाग न नीका' के नियम को वे गद्य पर लागू करते हैं। जो बात पांच मिनट में कही जा सकती है, उसके लिए पचास मिनट तक स्वरयन्त्र का संचालन करते हैं। बोलना भी एक तरह का व्यायाम है। कुछ स्त्रियां जब तक दो-तीन घंटे इस तरह का दैनिक व्यायाम नहीं कर लेतीं तब तक उनका भोजन नहीं पचता। प्रयत्न-लाघव के बदले प्रयत्न की दीर्घता ही उन्हें प्रिय होती है। माना कि कुछ लोग मास्टर साहब को मास्साब या माट्साब कहते हैं। यह व्यक्तिगत प्रयत्न-लाघव का प्रश्न नहीं है। हिंदी के पछाहीं क्षेत्रों में शब्द के बीच में आने वाले ह का उच्चारण बहुत हल्का होता है या उसका लोप हो जाता है। झांसी-आगरे में "क्या कहते हैं" लगभग "क्या कैने एँ" के रूप में सुनाई देता है। उधर पूरब में ह पूरी तरह उच्चरित होता है। उधर आम तौर से आप "मास्टर साहेब" सुनेंगे। इसी तरह बंगाल में धीरेन्द्र का धीरेन् हो जाता है तो पंजाब में धीरेन्दर भी सुनाई देगा। यह भेद समझ में आयेगा दोनों प्रदेशों की भाषाओं की ध्वनि-प्रकृति का भेद जानने से। यदि प्रयत्न-लाघव का ही सवाल होता तो पंजाब और बंगाल दोनों जगह धीरेन् ही सुनाई देता।

सकता था। वर्ण-विपर्यय का कोई सामान्य नियम हो तो भाषा में अराजकता फैल जाय। जिसका मन चाहे वह वर्णों का हेरफेर करता रहे। लेकिन सैकड़ों शब्दों में यह वर्ण-विपर्यय नहीं होता, इसका क्या कारण है? कारण यह है कि वे शब्द भाषा विशेष की ध्वनि-प्रकृति के अनुकूल पड़ते हैं अथवा असंस्कृत समझे जाने के भय से जिह्वा प्रतिकूल दिशा में भी घूमने का कष्ट करती है। नहाने को अवध मे हनान या हनाय कहते है। स्नान मे स के ह-रूप धारण करने पर हनान शब्द ही बनेगा। पूरब मे महाप्राण ह के उच्चारण मे लोगो को कोई कठिनाई नही होती, यह उनका प्रिय वर्ण है। पश्चिम मे ह को अल्प-प्राण करने या उसका लोप करने की प्रवृत्ति है। ह को शब्द के बीच मे डालकर उसे अल्प-उच्चरित करने मे सुविधा होती है। सम्भवतः हनाना मे ना-ना की आवृत्ति भी कानो को अच्छी न लगती थी, इन वर्णों को जरा दूरी पर रखने के लिए बीच में ह रख दिया गया। अवधी के क्रियारूपो मे 'न' का व्यवहार नही होता; संज्ञा हनान छोड़कर क्रियारूपों मे 'न' की आवृत्ति का प्रश्न न था। अब खड़ी बोली हिन्दी के सांस्कृतिक प्रभाव के कारण नहाय जैसा रूप अवध में भी प्रचलित हो गया है। संस्कृत चिह्न, ब्राह्मण को हिन्दी भाषी चिन्ह, ब्राम्हण बोलते है क्योंकि ह्न, ह्म जैसे ध्वनि-रूप हमारी भाषा में नहीं हैं। इसी प्रकार यास्क, वयस्क, कनिष्क, शुष्क जैसे रूप हिन्दी में नहीं हैं। फलतः फारसी में शुष्क खुश्क हुआ और हिन्दी में हुआ सूखा। अंग्रेजी का डेस्क हिन्दी भाषी बच्चो के उच्चारण मे डेक्स हो जाता है, स्क जैसा ध्वनि-रूप उन्हें अपनी भाषा की प्रकृति के विपरीत लगता है।

ध्वनि-लोप का नियम यह है कि "जब दो ध्वनियाँ या समान अ[illegible] पास ही पास आते है तब प्रयत्न-लाघव से अनजान मे ही उनमे से एक का [illegible] हो जाता है।"[1] हिन्दी मे काका, मामा, दादा, चाचा जैसे शब्द खूब प्रचलित है[illegible] संस्कृत में शुश्रूषा, श्वशुर, मधुर, पिपीलिका जैसे शब्दो में, [illegible], [illegible] जै[illegible] क्रियारूपों मे, तात, पाप, नाना, लाल, [illegible], जैसे [illegible] शब्दो मे हम एक [illegible] की आवृत्ति देख सकते है। खड़ी बोली के टटेरा, ससुराल, [illegible], [illegible] चचेरा, ससार जैसे शब्दो मे — जहा दो से अधिक वर्ण है — हम उसी तर[illegible] की आवृत्ति देखते है। लेकिन हिन्दी मे दो सकार एक साथ न आएँगे, [illegible] जैसा रूप हिन्दी की ध्वनि-प्रकृति को असह्य होगा। इसी प्रकार [illegible] जैसे वर्णों की आवृत्ति भी हिन्दी मे न मिलेगी। भाषा के [illegible] ध्वनि-रूपों का अध्ययन किये बिना ध्वनि-लोप के [illegible] [illegible]।

शब्दों का उच्चारण करने में अपनी ध्वनि-प्रकृति के अनुकूल हम एक-आधा स्वर-व्यंजन अपनी ओर से भी जोड़ देते हैं यथा स्कूल, स्टेशन को इस्कूल, इस्टेशन आदि कहते हैं। पंजाब के लोगों को स्कूल, स्कूल का अर्द्ध-सकार बोलने में कष्ट होता है, इसलिए वे उसे पूर्ण करके सकूल और सकूल कर देते हैं। नियम यह हुआ कि भाषा अपनी ध्वनि-प्रकृति के अनुकूल दूसरों की ध्वनियों में संशोधन कर लेती है। अरबी के ज्वाद की ध्वनि भारतीय ध्वनियों से इतनी भिन्न थी कि वह उर्दू में भी ज्वाद हो गयी। अंग्रेजी के थिन्क में थ की ध्वनि भारतवासियों के लिए कठिन पड़ती है, इसलिए अधिकांश अंग्रेजी-शिक्षित जन उसे थ ही कहते हैं। बंगला में शकार किन्तु हिन्दी क्षेत्र में सकार, ब्रज-अवधी में नकार किन्तु पंजाबी-राजस्थानी में णकार इसी कारण हैं। सवाल प्रयत्न की लघुता और दीर्घता का न होकर अभ्यास और स्वभाव का है। संस्कृति के अन्य तत्व भी उच्चारण को प्रभावित करते हैं। बंगाल में दन्त्य स वाले संस्कृत-फारसी शब्दों का शकारमय उच्चारण असंस्कृत नहीं माना जाता, हिन्दी क्षेत्रों में संस्कृत-फारसी के शकारमय शब्दों का सकारोच्चार असंस्कृत माना जाता है। इसलिए पढ़े-लिखे लोगों को श-स, क्ष-छ, य-ज, ण-न आदि का भेद करना सिखाया जाता है। दूसरी ओर अकारान्त व्यंजनों का उच्चारण हम इस तरह करते हैं मानो वे हलन्त हों। हमारे प्रदेश में यह असंस्कृत होने का लक्षण नहीं माना जाता, दक्षिण में इस तरह का उच्चारण भ्रष्ट माना जायगा। सांस्कृतिक कारणों से इस तरह का उच्चारण-भेद होता है। प्रयत्न-लाघव से इसका वास्ता नहीं है।

एक सिद्धान्त वर्ण-विपर्यय का माना गया है। अवध के गांवों के कुछ लोग मतलब को मतवल कहते हैं। यहां अनुसन्धान यह करना चाहिए कि लब के बदले अवध का किसान बल क्यों कहने लगता है। अवध का किसान अपने दैनिक जीवन में इस तरह के शब्दों का बराबर व्यवहार करता है पानी, पुत्तु, पहिती (दाल), प्यारब (पेरना), ब्यार, बैल, बिगही, पगहो, माह, फागु, भातु, भादों आदि। अवधी किसान की सहज वृत्ति यह है कि वह ओठों की क्रिया पहले सम्पन्न करना चाहता है, जिह्वा, तालु अपना काम बाद में करते हैं। संस्कृत के माता, पिता जैसे नित्य-व्यवहार के शब्द लीजिए। आरम्भ के वर्ण ओष्ठ्य हैं। किसी हिन्दी भाषी से कहिए कि वह जल्दी-जल्दी तप्-तप्-तप् कहे, फिर उससे पत्-पत् कहलाइये। आप देखेंगे कि उसे पत्-पत् कहने में सरलता होती है। किसी के भागने की आवाज अवध के किसान को भद्-भद् सुनाई देती है, दभ्-दभ् कहने में उसे महान् कष्ट होगा। जो बच्चे जलेबी को जबेली कहते हैं, वे उसी मतवल वाली ध्वनि-प्रकृति का अनुसरण करते हैं। यदि यह ध्वनि-प्रकृति का सवाल न होता तो मतलब को तमलब भी कहा जा

सकता था। वर्ण-विपर्यय का कोई सामान्य नियम हो तो भाषा में अराजकता फैल जाय। जिसका मन चाहे वह वर्णों का हेरफेर करता रहे। लेकिन सँ शब्दों में यह वर्ण-विपर्यय नहीं होता; इसका क्या कारण है? कारण यह है वे शब्द भाषा विशेष की ध्वनि-प्रकृति के अनुकूल पड़ते हैं अथवा असंस्कृत सम जाने के भय से जिह्वा प्रतिकूल दिशा में भी घूमने का कष्ट करती है। नह को अवध में हनान या हनाय कहते हैं। स्नान में स के ह-रूप धारण करने हनान शब्द ही बनेगा। पूरब में महाप्राण ह के उच्चारण में लोगों को क कठिनाई नहीं होती, यह उनका प्रिय वर्ण है। पश्चिम में ह को अल्प-प्राण कर या उसका लोप करने की प्रवृत्ति है। ह को शब्द के बीच में डालकर उ अल्प-उच्चरित करने में सुविधा होती है। सम्भवतः हनाना में ना-ना व आवृत्ति भी कानों को अच्छी न लगती थी; इन वर्णों को जरा दूरी पर रखने लिए बीच में ह रख दिया गया। अवधी के क्रियारूपों में 'न' का व्यवहा नहीं होता, संज्ञा हनान छोड़कर क्रियारूपों में 'न' की आवृत्ति का प्रश्न था। अब खड़ी बोली हिन्दी के सांस्कृतिक प्रभाव के कारण नहाय जैसा रू अवध में भी प्रचलित हो गया है। संस्कृत चिह्न, ब्राह्मण को हिन्दी भाषी चिन्ह ब्राम्हण बोलते हैं क्योंकि ह्न, ह्म जैसे ध्वनि-रूप हमारी भाषा में नहीं हैं। इसी प्रकार यास्क, वयस्क, कनिष्क, शुष्क जैसे रूप हिन्दी में नहीं हैं। फलतः फ़ारसी में शुष्क खुश्क हुआ और हिन्दी में हुआ सूखा। अंग्रेजी का डेस्क हिन्दी भाषी बच्चों के उच्चारण में डेक्स हो जाता है, स्क जैसा ध्वनि-रूप उन्हें अपनी भाषा की प्रकृति के विपरीत लगता है।

ध्वनि-लोप का नियम यह है कि "जब दो ध्वनियां या समान अक्षर पास ही पास आते हैं तब प्रयत्न-लाघव से अनजान में ही उनमें से एक का लोप हो जाता है।"[1] हिन्दी में काका, मामा, दादा, चाचा जैसे शब्द खूब प्रचलित हैं। संस्कृत में शुश्रूषा, श्वशुर, ककुद, पिपीलिका जैसे शब्दों में, पपात, लुलुभे जैसे क्रियारूपों में, तात, पाप, नाना, लाल, शश, जैसे द्विवर्ण शब्दों में हम एक वर्ण की आवृत्ति देख सकते हैं। खड़ी बोली के ठठेरा, ससुराल, कोशिश, पपीता, चचेरा, करार जैसे शब्दों में — जहां दो से अधिक वर्ण हैं — हम उसी तरह की आवृत्ति देखते हैं। लेकिन हिन्दी में दो णकार एक साथ न आयेंगे, वणण जैसा रूप हिन्दी की ध्वनि-प्रकृति को असह्य होगा। इसी प्रकार ञ, क्ष, ञ, ट जैसे वर्णों की आवृत्ति भी हिन्दी में न मिलेगी। भाषा के स्वीकृत-अस्वीकृत ध्वनि-रूपों का अध्ययन किये बिना ध्वनि-लोप के सिद्धान्त से कोई सहायता नहीं मिलती।

---

1 बाबूराम सक्सेना, सामान्य भाषा विज्ञान, पृष्ठ ३६।

समीकरण-सिद्धान्त यह है कि "जब दो किंचित् विभिन्न ध्वनियां पास-पास आती हैं तो प्रयत्न-लाघव से वह दोनों सम हो जाती हैं।"[1] लग्न से लग्ग बना, अर्थात् 'न' पुरोगमन करके ग-रूप हो गया। यह पुरोगामी समीकरण हुआ। भक्त से भत्त बना, यहां अन्त्य वर्ण त ने 'क' को अपनी ओर खींचा और वह त-रूप हो गया। यह पश्चगामी समीकरण हुआ। संस्कृत में यत्न, विघ्न, चक्र जैसे शब्दों में समीकरण क्यों नहीं होता? बोलचाल की हिन्दी में ये जतन, बिघन, चक्कर रूप क्यों धारण करते हैं? हिन्दी में लग्गी, सुन्दर, खम्भा, धन्धा, चन्दे, मन्दे जैसे रूपों में समीकरण क्यों नहीं होता? लट्ठा, कट्ठा, बग्घी, पत्थर जैसे शब्दों पर ध्यान दें तो मालूम होगा कि दो महाप्राण अक्षरों के निकट आने की संभावना होने पर पहले को अल्पप्राण रूप में ही दूसरे महाप्राण के साथ संयुक्त करेंगे। समीकरण द्वारा पथ्थर, कठ्ठा, बघ्घी जैसे रूप हिन्दी प्रकृति के अनुकूल नहीं होते। डा. बाबूराम सक्सेना ने समीकरण की एक मिसाल दी है — दश् और दम् से दष्टम्। यहां श तालव्य ध्वनि है और त दन्त्य है। यहां न श त बना, न त श बना। फिर यह समीकरण कैसे हुआ? वास्तव में यहां हमारे पूर्वजों की मूर्धन्यीकरण की वृत्ति ने श और त दोनों को बदल कर ष्ट कर दिया। समीकरण से इस परिवर्तन का कोई सम्बन्ध नहीं है।

विषमीकरण नियम के अनुसार "कभी-कभी पार्श्ववर्ती सम ध्वनियों के उच्चारण में असुविधा जान पड़ती है तब प्रयत्न-लाघव के लिए उनको विषम (परस्पर भिन्न) कर लेते हैं, यथा सं. पक्व > प्रा. पिक्क, सं. मुकुट > प्रा. मउड, हि. मौर, सं. मुकुल > प्रा. मउल > बौर, श्रथ् धातु से सं. शब्द श्रिथिर बनना चाहिए पर उससे श्लिथिल के द्वारा शिथिल हुआ, सं. अष्टमी > हि. अट्ठिमी।" बात स्पष्ट नहीं हुई। पक्व में कौन सी समध्वनियां पार्श्ववर्ती हैं? क्व में क कण्ठ्य ध्वनि है, व दन्त्योष्ठ्य है। यदि पिक्क से पक्व बनता तो बात भी थी। मुकुट में भी दो समध्वनियां पास-पास नहीं हैं। यदि मु और कु के उ स्वरों को पार्श्ववर्ती मानें तो दोनों के बीच में क् तो आ जाता है। मुकुट के समान कुटुम्ब, पुष्प, कुसुम, मुकुर, कुमुद जैसे शब्द हैं। ये शब्द इस नियम के अपवाद क्यों हैं? श्रिथिर के दो रकारों के बीच स्वरयुक्त थ वर्ण बैठा है। विषमीकरण के नियम से श्रिथिर का श्रिथिल या श्लिथिर होना चाहिए था लेकिन पहला 'र' गायब ही हो गया और दूसरे र के स्थान पर ल आ गया। ऐसी मिसालें हजारों हैं जहां समध्वनियों का पास-पास प्रयोग होता है। विषमीकरण को भाषा-परिवर्तन का नियम नहीं माना जा सकता।

---

1. सामान्य भाषा विज्ञान, पृष्ठ २७।

गाता था। वर्ण-विपर्यय का कोई सामान्य नियम हो तो भाषा में अराजकता फैल जाय। जिसका मन चाहे वह वर्णों का हेरफेर करता रहे। लेकिन सैकड़ों शब्दों में यह वर्ण-विपर्यय नहीं होता, इसका क्या कारण है? कारण यह है कि वे शब्द भाषा विशेष की ध्वनि-प्रकृति के अनुकूल पड़ते हैं अथवा असंस्कृत समझे जाने के भय से जिह्वा प्रतिकूल दिशा में भी घूमने का कष्ट करती है। नहाने को अवध में हनान या हनाब कहते हैं। स्नान में स के ह-रूप धारण करने पर हनान शब्द ही बनेगा। पूरब में महाप्राण ह के उच्चारण में लोगों को कोई कठिनाई नहीं होती, यह उनका प्रिय वर्ण है। पश्चिम में ह को अल्प-प्राण करने या उसका लोप करने की प्रवृत्ति है। ह को शब्द के बीच में डालकर उसे अल्प-उच्चरित करने में सुविधा होती है। सम्भवतः हनाना में ना-ना की आवृत्ति भी कानों को अच्छी न लगती थी, इन वर्णों को जरा दूरी पर रखने के लिए बीच में ह रख दिया गया। अवधी के क्रियारूपों में 'न' का व्यवहार नहीं होता, यथा हनान छोड़कर क्रियारूपों में 'न' की आवृत्ति का प्रश्न न था। अब खड़ी बोली हिन्दी के सांस्कृतिक प्रभाव के कारण नहाय जैसा रूप अवध में भी प्रचलित हो गया है। संस्कृत चिह्न, ब्राह्मण को हिन्दी भाषी चिन्ह ब्राम्हण बोलते हैं क्योंकि ह्न, ह्म जैसे ध्वनि-रूप हमारी भाषा में नहीं हैं। इसी प्रकार यास्क, वयस्क, कनिष्क, शुष्क जैसे रूप हिन्दी में नहीं हैं। फलतः फ़ारसी में शुष्क सुश्क हुआ और हिन्दी में हुआ सूखा। अंग्रेजी का डेस्क हिन्दी भाषी बच्चों के उच्चारण में डेक्स हो जाता है, स्क जैसा ध्वनि-रूप उन्हें अपनी भाषा की प्रकृति के विपरीत लगता है।

ध्वनि-लोप का नियम यह है कि "जब दो ध्वनियां या समान अक्षर पास ही पास आते हैं तब प्रयत्न-लाघव से अनजान में ही उनमें से एक का लोप हो जाता है।"[1] हिन्दी में काका, मामा, दादा, चाचा जैसे शब्द खूब प्रचलित हैं। संस्कृत में शुश्रूषा, श्वशुर, ककुद, पिपीलिका जैसे शब्दों में, पपात, लुलुभे जैसे क्रियारूपों में, तात, पाप, नाना, लाल, शश, जैसे द्विवर्ण शब्दों में हम एक वर्ण की आवृत्ति देख सकते हैं। खड़ी बोली के ठठेरा, ससुराल, कोशिश, पपीता, चचेरा, करार जैसे शब्दों में — जहां दो से अधिक वर्ण हैं — हम उसी तरह की आवृत्ति देखते हैं। लेकिन हिन्दी में दो णकार एक साथ न आयेंगे; व्रणण जैसा रूप हिन्दी की ध्वनि-प्रकृति को असह्य होगा। इसी प्रकार ञ, क्ष, ज्ञ, ट जैसे वर्णों की आवृत्ति भी हिन्दी में न मिलेगी। भाषा के स्वीकृत-अस्वीकृत ध्वनि-रूपों का अध्ययन किये बिना ध्वनि-लोप के सिद्धान्त से कोई सहायता नहीं मिलती।

---

१. बाबूराम सक्सेना, सामान्य भाषा विज्ञान, पृष्ठ २६।

समीकरण-सिद्धान्त यह है कि "जब दो किंचित् विभिन्न ध्वनियां पास-पास आती हैं तो प्रयत्न-लाघव से वह दोनों सम हो जाती है।"[1] लग्न से लग्ग बना, अंतिम 'न' पुरोगमन करके तन्रूप हो गया। यह पुरोगामी समीकरण हुआ। भक्त से भत्त बना, यहां अन्त्य वर्ण त ने 'क' को अपनी ओर खींचा और वह तन्रूप हो गया। यह पश्चगामी समीकरण हुआ। संस्कृत में यत्न, विघ्न, चक्र जैसे शब्दों में समीकरण क्यों नहीं होता ? बोलचाल की हिन्दी में ये जतन, बिघन, चक्कर रूप क्यों धारण करते हैं ? हिन्दी में लम्बी, सुन्दर, गम्भा, चन्दा, चढ़ने, मढ़ने जैसे रूपों में समीकरण क्यों नहीं होता ? लट्ठा, इच्छा, बग्घी, पत्थर जैसे शब्दों पर ध्यान दें तो मालूम होगा कि दो महाप्राण अक्षरों के निकट आने की संभावना होने पर पहले को अल्पप्राण रूप में ही दूसरे महाप्राण के साथ संयुक्त करेंगे। समीकरण द्वारा पथ्थर, छछा, बघ्घी जैसे रूप हिन्दी प्रकृति के अनुकूल नहीं होते। डॉ॰ बाबूराम सक्सेना ने समीकरण की एक मिसाल दी है — दश् और दस् से दष्टम्। यहां श तालव्य ध्वनि है और त दन्त्य है। यहां न श त बना, न त श बना। फिर यह समीकरण कैसे हुआ ? वास्तव में यहां हमारे पूर्वजों की मूर्धन्यीकरण की वृत्ति ने श और त दोनों को बदल कर ष्ट कर दिया। समीकरण से इस परिवर्तन का कोई सम्बन्ध नहीं है।

विषमीकरण नियम के अनुसार "कभी-कभी पार्श्ववर्ती सम ध्वनियों के उच्चारण में असुविधा जान पड़ती है तब प्रयत्न-लाघव के लिए उनको विषम (परस्पर भिन्न) कर लेते हैं, यथा सं॰ पक्व > प्रा॰ पिक्क, सं॰ मुकुट > प्रा॰ मउड़, हि॰ मौर, सं॰ मुकुल > प्रा॰ मउल बौर, श्रथ् धातु से सं॰ शब्द श्रिथिर बनना चाहिए पर उससे श्रिथिल के द्वारा शिथिल हुआ, सं॰ अष्टमी > हि॰ अट्ठिमी।" बात स्पष्ट नहीं हुई। पक्व में कौन सी समध्वनियां पार्श्ववर्ती हैं ? क्व में क कंठ्य ध्वनि है, व दन्त्योष्ठ्य है। यदि पिक्क से पक्व बनता तो बात भी थी। मुकुट में भी दो समध्वनियां पास-पास नहीं हैं। यदि मु और कु के उ स्वरों को पार्श्ववर्ती मानें तो दोनों के बीच में क् तो आ जाता है। मुकुट के समान कुटुंब, पुरुष, कुसुम, मुकुर, कुमुद जैसे शब्द हैं। ये शब्द उस नियम के अपवाद क्यों हैं ? श्रिथिर के दो रकारों के बीच स्वरयुक्त थ वर्ण बैठा है। विषमीकरण के नियम से श्रिथिर का श्रिथिल या श्लिथिर होना चाहिए था लेकिन पहला 'र' गायब ही हो गया और दूसरे र के स्थान पर ल आ गया। ऐसी मिसालें हजारों हैं जहां समध्वनियों का पास-पास प्रयोग होता है। विषमीकरण को भाषा-परिवर्तन का नियम नहीं माना जा सकता।

---

1 सामान्य भाषा विज्ञान, पृष्ठ २७।

सकता था। वर्ण-विपर्यय का कोई सामान्य नियम हो तो भाषा में अराजकता फैल जाय। जिसका मन चाहे वह वर्णों का हेरफेर करता रहे। लेकिन सैकड़ों शब्दों में यह वर्ण-विपर्यय नहीं होता, इसका क्या कारण है ? कारण यह है कि वे शब्द भाषा विशेष की ध्वनि-प्रकृति के अनुकूल पड़ते हैं अथवा असस्कृत समझे जाने के भय से जिह्वा प्रतिकूल दिशा में भी घूमने का कष्ट करती है। नहाने को अवध में हनान या हनाब कहते है। स्नान में स के ह्-रूप धारण करने पर हनान शब्द ही बनेगा। पूरब में महाप्राण ह के उच्चारण में लोगो को कोई कठिनाई नही होती; यह उनका प्रिय वर्ण है। पश्चिम में ह को अल्प-प्राण करने या उसका लोप करने की प्रवृत्ति है। ह को शब्द के बीच में डालकर उसे अल्प-उच्चरित करने में सुविधा होती है। सम्भवत. हनाना में ना-ना की आवृत्ति भी कानो को अच्छी न लगती थी; इन वर्णों को जरा दूरी पर रखने के लिए बीच में ह् रख दिया गया। अवधी के क्रियारूपो में 'न' का व्यवहार नही होता, सज्ञा हनान छोड़कर क्रियारूपों में 'न' की आवृति का प्रश्न न था। अब खड़ी बोली हिन्दी के सास्कृतिक प्रभाव के कारण नहाय जैसा रूप अवध में भी प्रचलित हो गया है। सस्कृत चिह्न, ब्राह्मण को हिन्दी भाषी चिन्ह ब्राम्हण बोलते है क्योंकि ह्न, ह्म जैसे ध्वनि-रूप हमारी भाषा में नही हैं। इसी प्रकार यास्क, वयस्क, कनिष्क, शुष्क जैसे रूप हिन्दी में नही हैं। फलतः फारसी में शुष्क खुश्क हुआ और हिन्दी में हुआ सूखा। अंग्रेजी का डेस्क हिन्दी भाषी बच्चो के उच्चारण में डेक्स हो जाता है, स्क जैसा ध्वनि-रूप उन्हे अपनी भाषा की प्रकृति के विपरीत लगता है।

ध्वनि-लोप का नियम यह है कि "जब दो ध्वनियां या समान अक्षर पास ही पास आते है तब प्रयत्न-लाघव में अनजान में ही उनमे से एक का लोप हो जाता है।"[1] हिन्दी में काका, मामा, दादा, चाचा जैसे शब्द खूब प्रचलित हैं। सस्कृत में शुश्रूषा, श्वशुर, ककुद, पिपीलिका जैसे शब्दों में, पपात, लुलुभे जैसे क्रियारूपों में, तात, पाप, नाना, लाल, शश, जैसे द्विवर्ण शब्दों में हम एक वर्ण की आवृत्ति देख सकते है। खड़ी बोली के ठठेरा, ससुराल, कोशिश, पपीता, चचेरा, करार जैसे शब्दो में — जहा दो से अधिक वर्ण है — हम उसी तरह की आवृत्ति देखते हैं। लेकिन हिन्दी में दो णकार एक साथ न आयेंगे; कण्ण जैसा रूप हिन्दी की ध्वनि-प्रकृति को असह्य होगा। इसी प्रकार ङ, ध, ञ, ट जैसे वर्णों की आवृत्ति भी हिन्दी में न मिलेगी। भाषा के स्वीकृत-अस्वीकृत ध्वनि-रूपों का अध्ययन किये बिना ध्वनि-लोप के सिद्धान्त में कोई सत्यता नहीं मिलती।

---

1. बाबूराम सक्सेना, सामान्य भाषा विज्ञान, पृष्ठ ३६।

समीकरण-सिद्धान्त यह है कि “जब दो निकट विभिन्न ध्वनिया पास-पास आती है तो प्रयत्न-लाघव से वह दोनों सम हो जाती है।”[1] लग्न से लग्ग बना, अंतिम ‘न’ पुरोगमन करके ग-रूप हो गया। यह पुरोगामी समीकरण हुआ। भक्त से भत्त बना, यहा अन्त्य वर्ण त ने ‘क’ को अपनी ओर खींचा और वह त-रूप हो गया। यह पश्चगामी समीकरण हुआ। संस्कृत में यत्न, विघ्न, चक्र जैसे शब्दों में समीकरण क्यों नहीं होता? बोलचाल की हिन्दी में ये जतन, बिघन, चक्कर रूप क्यों धारण करते है? हिन्दी में लग्गी, सुन्दर, सम्भा, चन्दा, चखने, सकने जैसे रूपों मे समीकरण क्यों नही होता? लट्ठा, ठट्ठा, बग्घी, पत्थर जैसे शब्दों पर ध्यान दे तो मालूम होगा कि दो महाप्राण अक्षरों के निकट आने की सम्भावना होने पर पहले को अल्पप्राण रूप में ही दूसरे महाप्राण के साथ संयुक्त करेंगे। समीकरण द्वारा पथ्थर, ठठ्ठा, बघ्घी जैसे रूप हिन्दी प्रकृति के अनुकूल नहीं होते। डॉ॰ बाबूराम सक्सेना ने समीकरण की एक मिसाल दी है — दश् और दम् से दष्टप्। यहा श तालव्य ध्वनि है और त दन्त्य है। यहा न श त बना, न त श बना। फिर यह समीकरण कैसे हुआ? वास्तव में यहा हमारे पूर्वजों की मूर्धन्यीकरण की वृत्ति ने श और त दोनों को बदल कर ष्ट कर दिया। समीकरण से इस परिवर्तन का कोई सम्बंध नहीं है।

विषमीकरण नियम के अनुसार “कभी-कभी पार्श्ववर्ती सम ध्वनियों के उच्चारण में असुविधा जान पड़ती है तब प्रयत्न-लाघव के लिए उनको विषम (परस्पर भिन्न) कर लेते है, यथा सं॰ पक्व > प्रा॰ पिक्क, सं॰ मुकुट > प्रा॰ मउड़, हि॰ मौर, सं॰ मुकुल > प्रा॰ मउल बौर, श्रथ् धातु से सं॰ शब्द श्रिथिर बनना चाहिए पर उससे श्लिथिल के द्वारा शिथिल हुआ, सं॰ अष्टमी > हि॰ अट्ठिमी।” बात स्पष्ट नहीं हुई। पक्व में कौन सी समध्वनिया पार्श्ववर्ती है? क्व में क कण्ठ्य ध्वनि है, व दन्त्योष्ठ्य है। यदि पिक्क से पक्व बनता तो बात भी थी। मुकुट मे भी दो समध्वनिया पास-पास नहीं है। यदि मु और कु के उ स्वरों को पार्श्ववर्ती माने तो दोनों के बीच मे क् तो आ जाता है। मुकुट के समान कुटुंब, पुरुष, कुसुम, मुकुर, कुमुद जैसे शब्द है। ये शब्द उस नियम के अपवाद क्यों है? श्रिथिर के दो रकारों के बीच स्वरयुक्त थ वर्ण बैठा है। विषमीकरण के नियम से श्रिथिर का श्रिथिल या श्लिथिर होना चाहिए था लेकिन पहला ‘र’ गायब ही हो गया और दूसरे र के स्थान पर ल आ गया। ऐसी मिसाले हजारों है जहा समध्वनियों का पास-पास प्रयोग होता है। विषमीकरण को भाषा-परिवर्तन का नियम नहीं माना जा सकता।

---

1 सामान्य भाषा विज्ञान, पृष्ठ ३३।

सकता था। वर्ण-विपर्यय का कोई सामान्य नियम हो तो भाषा में अराजकता फैल जाय। जिसका मन चाहे वह वर्णों का हेरफेर करता रहे। लेकिन सैकड़ो शब्दों में यह वर्ण-विपर्यय नहीं होता, इसका क्या कारण है? कारण यह है कि वे शब्द भाषा विशेष की ध्वनि-प्रकृति के अनुकूल पड़ते है अथवा असंस्कृत समझे जाने के भय से जिह्वा प्रतिकूल दिशा मे भी घूमने का कष्ट करती है। नहाने को अवध मे हनाम या हनाव कहते है। स्नान मे स के ह-रूप धारण करते पर हनान शब्द ही बनेगा। पूरब मे महाप्राण ह के उच्चारण मे लोगों को कोई कठिनाई नही होती, यह उनका प्रिय वर्ण है। पश्चिम में ह को अल्प-प्राण करने या उसका लोप करने की प्रवृत्ति है। ह को शब्द के बीच में डालकर उसे अल्प-उच्चरित करने मे सुविधा होती है। सम्भवतः हनाना मे ना-ना की आवृत्ति भी कानो को अच्छी न लगती थी, इन वर्णों को जरा दूरी पर रखने के लिए बीच मे ह रख दिया गया। अवधी के क्रियारूपो में 'न' का व्यवहार नही होता; संज्ञा हनान छोड़कर क्रियारूपों मे 'न' की आवृत्ति का प्रश्न न था। अब खड़ी बोली हिन्दी के सास्कृतिक प्रभाव के कारण नहाय जैसा रूप अवध मे भी प्रचलित हो गया है। सस्कृत चिह्न, ब्राह्मण को हिन्दी भाषी चिन्ह ब्राम्हण बोलते है क्योंकि ह्न, ह्म जैसे ध्वनि-रूप हमारी भाषा मे नही हैं। इसी प्रकार यास्क, वयस्क, कनिष्क, शुष्क जैसे रूप हिन्दी मे नही हैं। फलतः फ़ारसी मे शुष्क खुश्क हुआ और हिन्दी मे हुआ सूखा। अंग्रेजी का डेस्क हिन्दी भाषी बच्चों के उच्चारण मे डेक्स हो जाता है, स्क जैसा ध्वनि-रूप उन्हे अपनी भाषा की प्रकृति के विपरीत लगता है।

ध्वनि-लोप का नियम यह है कि "जब दो ध्वनियां या समान अक्षर पास ही पास आते है तब प्रयत्न-लाघव मे अनजान मे ही उनमे से एक का लोप हो जाता है।"[1] हिन्दी मे काका, मामा, दादा, चाचा जैसे शब्द खूब प्रचलित हैं। संस्कृत में शुश्रूषा, श्वशुर, ककुद, पिपीलिका जैसे शब्दो मे, पपात, तुतुषे जैसे क्रियारूपो मे, तात, पाप, नाना, लाल, शश, जैसे द्विवर्ण शब्दो मे हम एक वर्ण की आवृत्ति देख सकते है। खड़ी बोली के ठठेरा, ससुराल, कोशिश, पसीना, चचेरा, करार जैसे शब्दो मे — जहा दो से अधिक वर्ण है — हम उसी तरह की आवृत्ति देखते हैं। लेकिन हिन्दी मे दो णकार एक साथ न आयेंगे, बाणण जैसा रूप हिन्दी की ध्वनि-प्रकृति को असह्य होगा। इसी प्रकार श, ष, ञ, ङ जैसे वर्णों की आवृत्ति भी हिन्दी मे न मिलेगी। भाषा के स्वीकृत-अस्वीकृत ध्वनि-रूपों का अध्ययन किये बिना ध्वनि-लोप के सिद्धान्त मे कोई सहायता नही मिलती।

---

१. बाबूराम सक्सेना, सामान्य भाषा विज्ञान, पृष्ठ ३६।

समीकरण-सिद्धान्त यह है कि "जब दो किंचित् विभिन्न ध्वनियां पास-पास आती हैं तो प्रयत्न-लाघव से वह दोनों सम हो जाती हैं।"[1] लग्न से लग्ग बना, अन्तिम 'न' पुरोगमन करके ग-रूप हो गया। यह पुरोगामी समीकरण हुआ। भक्त से भत्त बना, यहां अन्त्य वर्ण त ने 'क' को अपनी ओर खींचा और वह त-रूप हो गया। यह पश्चगामी समीकरण हुआ। संस्कृत में यत्न, विघ्न, चक्र जैसे शब्दों में समीकरण क्यों नहीं होता? बोलचाल की हिन्दी में ये जतन, बिघन, चक्कर रूप क्यों धारण करते हैं? हिन्दी में लग्गी, मुग्दर, सम्भा, चन्दा, चढ्ने, मल्ने जैसे रूपों में समीकरण क्यों नहीं होता? लट्ठा, इच्छा, बग्घी, पत्थर जैसे शब्दों पर ध्यान दें तो मालूम होगा कि दो महाप्राण अक्षरों के निकट आने की संभावना होने पर पहले को अल्पप्राण रूप में ही दूसरे महाप्राण के साथ संयुक्त करेंगे। समीकरण द्वारा पथ्थर, इछ्छा, बघ्घी जैसे रूप हिन्दी प्रकृति के अनुकूल नहीं होते। डॉ. बाबूराम सक्सेना ने समीकरण की एक मिसाल दी है — दश् और दम से दष्टम्। यहां श तालव्य ध्वनि है और त दन्त्य है। यहां न श त बना, न त श बना। फिर यह समीकरण कैसे हुआ? वास्तव में यहां हमारे पूर्वजों की मूर्धन्यीकरण की वृत्ति ने श और त दोनों को बदल कर ष्ट कर दिया। समीकरण से इस परिवर्तन का कोई सम्बंध नहीं है।

विषमीकरण नियम के अनुसार "कभी-कभी पार्श्ववर्ती सम ध्वनियों के उच्चारण में असुविधा जान पड़ती है तब प्रयत्न-लाघव के लिए उनको विषम (परस्पर भिन्न) कर लेते हैं, यथा सं. पक्व > प्रा. पिक्क, सं. मुकुट > प्रा. मउड़, हि. मौर, सं. मुकुल > प्रा. मउल बौर, श्रथ् धातु से सं. शब्द श्रिथिर बनना चाहिए पर उससे श्रिथिल के द्वारा शिथिल हुआ, सं. अष्टमी > हि. अट्ठिमी।" बात स्पष्ट नहीं हुई। पक्व में कौन सी समध्वनियां पार्श्ववर्ती हैं? क्व में क कण्ठ्य ध्वनि है, व दन्त्योष्ठ्य है। यदि पिक्क से पक्व बनता तो बात भी थी। मुकुट में भी दो समध्वनियां पास-पास नहीं हैं। यदि मु और कु के उ स्वरों को पार्श्ववर्ती मानें तो दोनों के बीच में क् तो आ जाता है। मुकुट के समान कुटुंब, पुरुष, कुसुम, मुकुर, कुमुद जैसे शब्द हैं। ये शब्द उस नियम के अपवाद क्यों हैं? श्रिथिर के दो रकारों के बीच स्वरयुक्त थ वर्ण बैठा है। विषमीकरण के नियम से श्रिथिर का श्रिथिल या श्लिथिर होना चाहिए था लेकिन पहला 'र' गायब ही हो गया और दूसरे र के स्थान पर ल आ गया। ऐसी मिसालें हजारों हैं जहां समध्वनियों का पास-पास प्रयोग होता है। विषमीकरण को भाषा-परिवर्तन का नियम नहीं माना जा सकता।

---

1 सामान्य भाषा विज्ञान, पृष्ठ ३१।

गरता था। वर्ण-विपर्यय का कोई सामान्य नियम हो तो भाषा में अराजकता फैल जाय। जिसका मन चाहे वह वर्णों का हेरफेर करता रहे। लेकिन सैकड़ों शब्दों में यह वर्ण-विपर्यय नहीं होता; इसका क्या कारण है? कारण यह है कि वे शब्द भाषा विशेष की ध्वनि-प्रकृति के अनुकूल पड़ते हैं अथवा असंस्कृत समझे जाने के भय से जिह्वा प्रतिकूल दिशा में भी घूमने का कष्ट करती है। नहाने को अवध में हनान या हनाव कहते हैं। स्नान में स के ह-रूप धारण करने पर हनान शब्द ही बनेगा। पूरब में महाप्राण ह के उच्चारण में लोगों को कोई कठिनाई नहीं होती, यह उनका प्रिय वर्ण है। पश्चिम में ह को अल्प-प्राण करने या उसका लोप करने की प्रवृत्ति है। ह को शब्द के बीच में डालकर उसे अल्प-उच्चरित करने में सुविधा होती है। सम्भवतः स्नाना में ना-ना की आवृत्ति भी कानों को अच्छी न लगती थी; इन वर्णों को जरा दूरी पर रखने के लिए बीच में ह रख दिया गया। अवधी के क्रियारूपों में 'न' का व्यवहार नहीं होता, संज्ञा स्नान छोड़कर क्रियारूपों में 'न' की आवृत्ति का प्रश्न न था। अब खड़ी बोली हिन्दी के सांस्कृतिक प्रभाव के कारण नहाय जैसा रूप अवध में भी प्रचलित हो गया है। संस्कृत चिह्न, ब्राह्मण को हिन्दी भाषी चिन्ह ब्राम्हण बोलते हैं क्योंकि ह्न, ह्म जैसे ध्वनि-रूप हमारी भाषा में नहीं हैं। इसी प्रकार यास्क, वयस्क, कनिष्क, शुष्क जैसे रूप हिन्दी में नहीं हैं। फलतः फ़ारसी में शुष्क खुश्क हुआ और हिन्दी में हुआ सूखा। अंग्रेजी का डेस्क हिन्दी भाषी बच्चों के उच्चारण में डेक्स हो जाता है, स्क जैसा ध्वनि-रूप उन्हें अपनी भाषा की प्रकृति के विपरीत लगता है।

ध्वनि-लोप का नियम यह है कि "जब दो ध्वनियां या समान अक्षर पास ही पास आते हैं तब प्रयत्न-लाघव से अनजान में ही उनमें से एक का लोप हो जाता है।"[1] हिन्दी में काका, मामा, दादा, चाचा जैसे शब्द खूब प्रचलित हैं। संस्कृत में शुश्रूषा, श्वशुर, ककुद, पिपीलिका जैसे शब्दों में, पपात, लुलुभे जैसे क्रियारूपों में, तात, पाप, नाना, लाला, शश, जैसे द्विवर्ण शब्दों में हम एक वर्ण की आवृत्ति देख सकते हैं। खड़ी बोली के ठठेरा, ससुराल, कोशिश, पपीता, चचेरा, करार जैसे शब्दों में — जहां दो से अधिक वर्ण हैं — हम उसी तरह की आवृत्ति देखते हैं। लेकिन हिन्दी में दो णकार एक साथ न आयेंगे, वणण जैसा रूप हिन्दी की ध्वनि-प्रकृति को असह्य होगा। इसी प्रकार ञ, ङ, ञ, ङ जैसे वर्णों की आवृत्ति भी हिन्दी में न मिलेगी। भाषा के स्वीकृत-अस्वीकृत ध्वनि-रूपों का अध्ययन किये बिना ध्वनि-लोप के सिद्धान्त से कोई सहायता नहीं मिलती।

---

१. बाबूराम सक्सेना, सामान्य भाषा विज्ञान, पृष्ठ २६।

समीकरण-सिद्धान्त यह है कि ."जब दो किंचित् विभिन्न ध्वनियां पास-पास आती हैं तो प्रयत्न-लाघव से वह दोनों सम हो जाती है।"[1] लग्न से लग्ग बना, अंतिम 'न' पुरोगमन करके ग-रूप हो गया। यह पुरोगामी समीकरण हुआ। भक्त से भत्त बना; यहां अन्त्य वर्ण त ने 'क' को अपनी ओर खींचा और वह त-रूप हो गया। यह पश्चगामी समीकरण हुआ। संस्कृत में यत्न, विघ्न, चक्र जैसे शब्दों में समीकरण क्यों नहीं होता? बोलचाल की हिन्दी में ये जतन, बिघन, चक्कर रूप क्यों धारण करते हैं? हिन्दी में लक्ष्मी, मुद्गर, गम्भा, चन्दा, चल्ते, मल्ते जैसे रूपों में समीकरण क्यों नहीं होता? लड़का इच्छा, बघी, पत्थर जैसे शब्दों पर ध्यान दें तो मालूम होगा कि दो महाप्राण अक्षरों के निकट आने की संभावना होने पर पहले को अल्पप्राण रूप में ही दूसरे महाप्राण के साथ संयुक्त करेंगे। समीकरण द्वारा पथ्थर, इछ्छा, बघ्घी जैसे रूप हिन्दी प्रकृति के अनुकूल नहीं होते। डॉ. बाबूराम सक्सेना ने समीकरण की एक मिसाल दी है — दस् और दम् से दष्टप। यहां स मूर्धन्य ध्वनि है और त दन्त्य है। यहां न स त बना, न त स बना। फिर यह समीकरण कैसे हुआ? वास्तव में यहां हमारे पूर्वजों की मूर्धन्यीकरण की प्रवृत्ति ने स और त दोनों को बदल कर ष्ट कर दिया। समीकरण से इस परिवर्तन का कोई सम्बन्ध नहीं है।

सकता था। वर्ण-विपर्यय का कोई सामान्य नियम हो तो भाषा में अराजकता फैल जाय। जिसका मन चाहे वह वर्णों का हेरफेर करता रहे। लेकिन सैकड़ों शब्दों में यह वर्ण-विपर्यय नहीं होता, इसका क्या कारण है? कारण यह है कि वे शब्द भाषा विशेष की ध्वनि-प्रकृति के अनुकूल पड़ते है अथवा असंस्कृत समझे जाने के भय से जिह्वा प्रतिकूल दिशा में भी घूमने का कष्ट करती है। नहाने को अवध में हनान या हनाब कहते हैं। स्नान में स के ह-रूप धारण करने पर हनान शब्द ही बनेगा। पूरब में महाप्राण ह के उच्चारण में लोगों को कोई कठिनाई नहीं होती, यह उनका प्रिय वर्ण है। पश्चिम में ह को अल्प-प्राण करने या उसका लोप करने की प्रवृत्ति है। ह को शब्द के बीच में डालकर उसे अल्प-उच्चरित करने में सुविधा होती है। सम्भवतः हनाना में ना-ना की आवृत्ति भी कानों को अच्छी न लगती थी; इन वर्णों को जरा दूरी पर रखने के लिए बीच में ह रख दिया गया। अवधी के क्रियारूपों में 'न' का व्यवहार नहीं होता, संज्ञा हनान छोड़कर क्रियारूपों में 'न' की आवृत्ति का प्रश्न न था। अब खड़ी बोली हिन्दी के सांस्कृतिक प्रभाव के कारण नहाब जैसा रूप अवध में भी प्रचलित हो गया है। संस्कृत चिह्न, ब्राह्मण को हिन्दी भाषी चिन्ह ब्राम्हण बोलते हैं क्योंकि ह्न, ह्म जैसे ध्वनि-रूप हमारी भाषा में नहीं हैं। इसी प्रकार यास्क, वयस्क, कनिष्क, शुष्क जैसे रूप हिन्दी में नहीं है। फलतः फारसी में शुष्क खुश्क हुआ और हिन्दी में हुआ सूखा। अंग्रेजी का डेस्क हिन्दी भाषी बच्चों के उच्चारण में डेक्स हो जाता है, स्क जैसा ध्वनि-रूप उन्हें अपनी भाषा की प्रकृति के विपरीत लगता है।

ध्वनि-लोप का नियम यह है कि "जब दो ध्वनियां या समान अक्षर पास ही पास आते हैं तब प्रयत्न-लाघव में अनजान में ही उनमें से एक का लोप हो जाता है।"[1] हिन्दी में काका, मामा, दादा, चाचा जैसे शब्द खूब प्रचलित हैं। संस्कृत में शुश्रूषा, श्वशुर, ककुद, पिपीलिका जैसे शब्दों में, पपात, लुलुभे जैसे क्रियारूपों में, तात, पाप, नाना, लाल, शश, जैसे द्विवर्ण शब्दों में हम एक वर्ण की आवृत्ति देख सकते हैं। खड़ी बोली के ठठेरा, ससुराल, कोशिश, पसीना, चचेरा, करार जैसे शब्दों में — जहां दो से अधिक वर्ण हैं — हम उसी तरह की आवृत्ति देखते हैं। लेकिन हिन्दी में दो णकार एक साथ न आयेंगे; बाणाण जैसा रूप हिन्दी की ध्वनि-प्रकृति को असह्य होगा। इसी प्रकार ङ, ढ, ञ, ट जैसे वर्णों की आवृत्ति भी हिन्दी में न मिलेगी। भाषा के स्वीकृत-अस्वीकृत ध्वनि-रूपों का अध्ययन किये बिना ध्वनि-लोप के सिद्धान्त में कोई सचाई नहीं मिलती।

1. बाबूराम सक्सेना, सामान्य भाषा विज्ञान, पृष्ठ ३६।

समीकरण-सिद्धान्त यह है कि "जब दो विभिन्न ध्वनियां पास-पास आती हैं तो प्रयत्न-लाघव से वह दोनों सम हो जाती हैं।"[1] लग्न से लग्ग बना, अंतिम 'न' पुरोगमन करके तद्रूप हो गया। यह पुरोगामी समीकरण हुआ। भक्त से भत्त बना, यहां अन्त्य वर्ण त ने 'क' को अपनी ओर खींचा और वह तद्रूप हो गया। यह पश्चगामी समीकरण हुआ। संस्कृत में यत्न, विघ्न, चक्र जैसे शब्दों में समीकरण क्यों नहीं होता? बोलचाल की हिन्दी में ये जतन, बिघन, चक्कर रूप क्यों धारण करते हैं? हिन्दी में लक्ष्मी, मुग्दर, गाम्भा, बन्दा, चढ्ने, मढ्ने जैसे रूपों में समीकरण क्यों नहीं होता? लट्ठा, इच्छा, बग्घी, पत्थर जैसे शब्दों पर ध्यान दें तो मालूम होगा कि दो महाप्राण अक्षरों के निकट आने की संभावना होने पर पहले को अल्पप्राण रूप में ही दूसरे महाप्राण के साथ संयुक्त करेंगे। समीकरण द्वारा पथ्थर, इछ्छा, बघ्घी जैसे रूप हिन्दी प्रकृति के अनुकूल नहीं होते। डा. बाबूराम सक्सेना ने समीकरण की एक मिसाल दी है — दश् और दम् से दष्टम। यहां श तालव्य ध्वनि है और त दन्त्य है। यहां न श न बना, न त श बना। फिर यह समीकरण कैसे हुआ? वास्तव में यहां हमारे पूर्वजों की मूर्धन्यीकरण की वृत्ति ने श और त दोनों को बदल कर ष्ट कर दिया। समीकरण से इस परिवर्तन का कोई सम्बंध नहीं है।

विषमीकरण नियम के अनुसार "कभी-कभी पार्श्ववर्ती सम ध्वनियों के उच्चारण में असुविधा जान पड़ती है तब प्रयत्न-लाघव के लिए उनको विषम (परस्पर भिन्न) कर लेते हैं, यथा स. पक्व > प्रा. पिक्क, स. मुकुट > प्रा. मउड्, हि. मौर, स. मुकुल > प्रा. मउल > बौर, श्रथ् धातु से स. शब्द श्रिथिर बनना चाहिए पर उससे श्रिथिल के द्वारा शिथिल हुआ, स. अष्टमी > हि. अट्ठिमी।" बात स्पष्ट नहीं हुई। पक्व में कौन सी समध्वनियां पार्श्ववर्ती हैं? क्व में क कंठ्य ध्वनि है, व दन्त्योष्ठ्य है। यदि पिक्क से पक्व बनता तो बात भी थी। मुकुट में भी दो समध्वनियां पास-पास नहीं हैं। यदि मु और कु के उ स्वरों को पार्श्ववर्ती मानें तो दोनों के बीच में क् तो आ जाता है। मुकुट के समान कुटुब, पुरुष, कुसुम, मुकुर, कुमुद जैसे शब्द हैं। ये शब्द इस नियम के अपवाद क्यों हैं? श्रिथिर के दो रकारों के बीच स्वरयुक्त थ वर्ण बैठा है। विषमीकरण के नियम से श्रिथिर का श्रिथिल या श्लिथिर होना चाहिए था लेकिन पहला 'र' गायब ही हो गया और दूसरे र के स्थान पर ल आ गया। ऐसी मिसालें हजारों हैं जहां समध्वनियों का पास-पास प्रयोग होता है। विषमीकरण को भाषा-परिवर्तन का नियम नहीं माना जा सकता।

---

1. सामान्य भाषा विज्ञान, पृष्ठ ३७।

सकता था। वर्ण-विपर्यय का कोई सामान्य नियम हो तो भाषा में अराजकता फैल जाय। जिसका मन चाहे वह वर्णों का हेरफेर करता रहे। लेकिन सैकड़ों शब्दों में यह वर्ण-विपर्यय नहीं होता, इसका क्या कारण है? कारण यह है कि वे शब्द भाषा विशेष की ध्वनि-प्रकृति के अनुकूल पड़ते हैं अथवा असंस्कृत समझे जाने के भय से जिह्वा प्रतिकूल दिशा में भी घूमने का कष्ट करती है। नहाने को अवध में हनान या हनाब कहते हैं। स्नान में स के ह-रूप धारण करने पर हनान शब्द ही बनेगा। पूरब में महाप्राण ह के उच्चारण में लोगों को कोई कठिनाई नहीं होती, यह उनका प्रिय वर्ण है। पश्चिम में ह को अल्प-प्राण करने या उसका लोप करने की प्रवृत्ति है। ह को शब्द के बीच में डालकर उसे अल्प-उच्चरित करने में सुविधा होती है। सम्भवतः हनाना में ना-ना की आवृत्ति भी कानों को अच्छी न लगती थी; इन वर्णों को जरा दूरी पर रखने के लिए बीच में ह रख दिया गया। अवधी के क्रियारूपों में 'न' का व्यवहार नहीं होता, संज्ञा हनान छोड़कर क्रियारूपों में 'न' की आवृत्ति का प्रश्न न था। अब खड़ी बोली हिन्दी के सांस्कृतिक प्रभाव के कारण नहाय जैसा रूप अवध में भी प्रचलित हो गया है। संस्कृत चिह्न, ब्राह्मण को हिन्दी भाषी चिन्ह ब्राम्हण बोलते हैं क्योंकि ह्न, ह्म जैसे ध्वनि-रूप हमारी भाषा में नहीं हैं। इसी प्रकार यास्क, वयस्क, कनिष्क, शुष्क जैसे रूप हिन्दी में नहीं हैं। फलतः फ़ारसी में शुष्क खुश्क हुआ और हिन्दी में हुआ सूखा। अंग्रेजी का डेस्क हिन्दी भाषी बच्चों के उच्चारण में डेक्स हो जाता है, स्क जैसा ध्वनि-रूप उन्हें अपनी भाषा की प्रकृति के विपरीत लगता है।

ध्वनि-लोप का नियम यह है कि "जब दो ध्वनियां या समान अक्षर पास ही पास आते हैं तब प्रयत्न-लाघव से अनजान में ही उनमें से एक का लोप हो जाता है।"[1] हिन्दी में काका, मामा, दादा, चाचा जैसे शब्द खूब प्रचलित हैं। संस्कृत में शुश्रूषा, श्वशुर, ककुद, पिपीलिका जैसे शब्दों में, पपात, लुलुभे जैसे क्रियारूपों में, तात, पाप, नाना, लाल, शश, जैसे द्विवर्ण शब्दों में हम एक वर्ण की आवृत्ति देख सकते हैं। खड़ी बोली के ठठेरा, ससुराल, कौशिश, पपीता, चचेरा, करार जैसे शब्दों में — जहां दो से अधिक वर्ण हैं — हम उसी तरह की आवृत्ति देखते हैं। लेकिन हिन्दी में दो णकार एक साथ न आयेंगे; वरुणण जैसा रूप हिन्दी की ध्वनि-प्रकृति को असह्य होगा। इसी प्रकार ञ, क्ष, ञ, ट जैसे वर्णों की आवृत्ति भी हिन्दी में न मिलेगी। भाषा के स्वीकृत-अस्वीकृत ध्वनि-रूपों का अध्ययन किये बिना ध्वनि-लोप के सिद्धान्त से कोई सहायता नहीं मिलती।

---

१. बाबूराम सक्सेना, सामान्य भाषा विज्ञान, पृष्ठ ३६।

विषमीकरण नियम के अनुसार कभी-कभी पार्श्ववर्ती सम ध्वनियों के उच्चारण में असुविधा जान पड़ती है तब प्रयत्न लाघव के लिए उनको विषम (परस्पर भिन्न) कर देते हैं, जैसे सं० [illegible] प्रा० [illegible] में मुकुट > प्रा० मउड़, हि० मौर, सं० मुकुल > प्रा० मउल > बौर, भ्रम् धातु से सं० शब्द शिथिर बनना चाहिए पर उसमें [illegible] के द्वारा शिथिल हुआ, सं० अष्टमी > हि० अठिमी।" बात स्पष्ट नहीं हुई। [illegible] में कौन सी समध्वनियाँ पार्श्ववर्ती हैं? [illegible] ध्वनि है, व दन्त्योष्ठ्य है। यदि [illegible] से [illegible] बनता तो बात भी थी। मुकुट में भी दो समध्वनियाँ पास-पास नहीं हैं। यदि मु और कु के उ स्वरों को पार्श्ववर्ती मान लें तो दोनों के बीच में क् तो आ जाता है। मुकुट के समान कुटुंब, पुष्प, कुसुम, मुकुर, कुमुद जैसे शब्द हैं। ये शब्द उस नियम के अपवाद क्यों हैं? शिथिर के दो रकारों के बीच स्वरयुक्त थ वर्ण बैठा है। विषमीकरण के नियम से शिथिर का शिथिल या श्लथिर होना चाहिए था लेकिन पहला 'र' गायब ही हो गया और दूसरे र के स्थान पर ल आ गया। ऐसी मिसालें हजारों हैं जहाँ समध्वनियों का पास-पास प्रयोग होता है। विषमीकरण को भाषा-परिवर्तन का नियम नहीं माना जा सकता।

---

1. सामान्य भाषा विज्ञान, पृष्ठ ३७।

सकता था। वर्ण-विपर्यय का कोई सामान्य नियम हो तो भाषा में अराजकता फैल जाय। जिसका मन चाहे वह वर्णों का हेरफेर करता रहे। लेकिन सैकड़ों शब्दों में यह वर्ण-विपर्यय नहीं होता; इसका क्या कारण है? कारण यह है कि वे शब्द भाषा विशेष की ध्वनि-प्रकृति के अनुकूल पड़ते हैं अथवा असंस्कृत समझे जाने के भय से जिह्वा प्रतिकूल दिशा में भी घूमने का कष्ट करती है। नहाने को अवध में हनान या हनाव कहते हैं। स्नान में स के ह-रूप धारण करने पर हनान शब्द ही बनेगा। पूरब में महाप्राण ह के उच्चारण में लोगों को कोई कठिनाई नहीं होती, यह उनका प्रिय वर्ण है। पश्चिम में ह को अल्प-प्राण करने या उसका लोप करने की प्रवृत्ति है। ह को शब्द के बीच में डालकर उसे अल्प-उच्चरित करने में सुविधा होती है। सम्भवतः हनाना में ना-ना की आवृत्ति भी कानों को अच्छी न लगती थी, इन वर्णों को जरा दूरी पर रखने के लिए बीच में ह रख दिया गया। अवधी के क्रियारूपों में 'न' का व्यवहार नहीं होता, संज्ञा हनान छोड़कर क्रियारूपों में 'न' की आवृत्ति का प्रश्न न था। अब खड़ी बोली हिन्दी के सांस्कृतिक प्रभाव के कारण नहाय जैसा रूप अवध में भी प्रचलित हो गया है। संस्कृत चिह्न, ब्राह्मण को हिन्दी भाषी चिन्ह ब्राम्हण बोलते हैं क्योंकि ह्न, ह्म जैसे ध्वनि-रूप हमारी भाषा में नहीं हैं। इसी प्रकार यास्क, नमस्क, कनिष्क, शुष्क जैसे रूप हिन्दी में नहीं हैं। फलतः फारसी में शुष्क खुश्क हुआ और हिन्दी में हुआ सूखा। अंग्रेजी का डेस्क हिन्दी भाषी बच्चों के उच्चारण में डैक्स हो जाता है, स्क जैसा ध्वनि-रूप उन्हें अपनी भाषा की प्रकृति के विपरीत लगता है।

ध्वनि-लोप का नियम यह है कि "जब दो ध्वनियां या समान अक्षर पास ही पास आते हैं तब प्रयत्न-लाघव में अनजान में ही उनमें से एक का लोप हो जाता है।"[1] हिन्दी में काका, मामा, दादा, चाचा जैसे शब्द खूब प्रचलित हैं। संस्कृत में शुश्रूषा, श्वशुर, ककुद, पिपीलिका जैसे शब्दों में, पपात, लुलुभे जैसे क्रियारूपों में, तात, पाप, नाना, लाल, शश, जैसे द्विवर्ण शब्दों में हम एक वर्ण की आवृत्ति देख सकते हैं। खड़ी बोली के ठठेरा, ससुराल, कोशिश, पपीता, चचेरा, करार जैसे शब्दों में — जहां दो से अधिक वर्ण हैं — हम उसी तरह की आवृत्ति देखते हैं। लेकिन हिन्दी में दो णकार एक साथ न आयेंगे; कणण जैसा रूप हिन्दी की ध्वनि-प्रकृति को असह्य होगा। इसी प्रकार ञ, ङ, ञ, ड़ जैसे वर्णों की आवृत्ति भी हिन्दी में न मिलेगी। भाषा के स्वीकृत-अस्वीकृत ध्वनि-रूपों का अध्ययन किये बिना ध्वनि-लोप के सिद्धान्त से कोई सहायता नहीं मिलती।

---

१. बाबूराम सक्सेना, सामान्य भाषा विज्ञान, पृष्ठ ३६।

समीकरण-सिद्धान्त यह है कि "जब दो किंचित् विभिन्न ध्वनियां पास-पास आती हैं तो प्रयत्न-लाघव से वह दोनों सम हो जाती है।"[1] लग्न से लग्ग बना, अंतिम 'न' पुरोगमन करके ग-रूप हो गया। यह पुरोगामी समीकरण हुआ। भक्त से भत्त बना, यहां अन्त्य वर्ण त ने 'क' को अपनी ओर खींचा और वह त-रूप हो गया। यह पश्चगामी समीकरण हुआ। संस्कृत में यत्न, विघ्न, चक्र जैसे शब्दों में समीकरण क्यों नहीं होता? बोलचाल की हिन्दी में ये जतन, बिघन, चक्कर रूप क्यों धारण करते हैं? हिन्दी में लम्बी, सुन्दर, सम्भा, चन्दा, चलते, मलने जैसे रूपों में समीकरण क्यों नहीं होता? लट्ठा, इच्छा, बाघी, पत्थर जैसे शब्दों पर ध्यान दें तो मालूम होगा कि दो महाप्राण अक्षरों के निकट आने की संभावना होने पर पहले को अल्पप्राण रूप में ही दूसरे महाप्राण के साथ संयुक्त करेंगे। समीकरण द्वारा पथ्थर, इछ्छा, बघ्घी जैसे रूप हिन्दी प्रकृति के अनुकूल नहीं होते। डॉ. बाबूराम सक्सेना ने समीकरण की एक मिसाल दी है—दश् और दस् से दष्टम्। यहां श तालव्य ध्वनि है और त दन्त्य है। यहां न श त बना, न त श बना। फिर यह समीकरण कैसे हुआ? वास्तव में यहां हमारे पूर्वजों की मूर्धन्यीकरण की प्रवृत्ति ने श और त दोनों को बदल कर ष्ट कर दिया। समीकरण से इस परिवर्तन का कोई सम्बन्ध नहीं है।

विषमीकरण नियम के अनुसार "कभी-कभी पार्श्ववर्ती सम ध्वनियों के उच्चारण में असुविधा जान पड़ती है तब प्रयत्न-लाघव के लिए उनको विषम (परस्पर भिन्न) कर लेते हैं, यथा सं. पक्व > प्रा. पिक्क, सं. मुकुट > प्रा. मउड, हि. मौर, सं. मुकुल > प्रा. मउल > बौर, श्रथ् धातु से सं. शब्द श्रिथिर बनना चाहिए पर उसमें शिथिल के द्वारा शिथिर हुआ, सं. अष्टमी > हि. अट्ठिमी।" बात स्पष्ट नहीं हुई। पक्व में कौन सी समध्वनियां पार्श्ववर्ती हैं? क्व में क कण्ठ्य ध्वनि है, व दन्त्योष्ठ्य है। यदि पिक्क से पक्व बनता तो बात भी थी। मुकुट में भी दो समध्वनियां पास-पास नहीं हैं। यदि मु और कु के उ स्वरों को पार्श्ववर्ती मानें तो दोनों के बीच में क् तो आ जाता है। मुकुट के समान कुटुम्ब, पुष्प, कुसुम, मुकुर, कुमुद जैसे शब्द हैं। ये शब्द उस नियम के अपवाद क्यों हैं? श्रिथिर के दो रकारों के बीच स्वरयुक्त थ वर्ण बैठा है। विषमीकरण के नियम से श्रिथिर का श्रिथिल या शिथिर होना चाहिए था लेकिन पहला 'र' गायब ही हो गया और दूसरे र के स्थान पर ल आ गया। ऐसी मिसालें हजारों हैं जहां समध्वनियों का पास-पास प्रयोग होता है। विषमीकरण को भाषा-परिवर्तन का नियम नहीं माना जा सकता।

---

1. सामान्य भाषा विज्ञान, पृष्ठ २७।

सकता था। वर्ण-विपर्यय का कोई सामान्य नियम हो तो भाषा में अराजकता फैल जाय। जिसका मन चाहे वह वर्णों का हेरफेर करता रहे। लेकिन सैकड़ों शब्दों में यह वर्ण-विपर्यय नहीं होता, इसका क्या कारण है? कारण यह है कि वे शब्द भाषा विशेष की ध्वनि-प्रकृति के अनुकूल पड़ते हैं अथवा असंस्कृत समझे जाने के भय से जिह्वा प्रतिकूल दिशा में भी घूमने का कष्ट करती है। नहाने को अवध में ह्नान या ह्नाव कहते हैं। स्नान में स के ह्-रूप धारण करने पर ह्नान शब्द ही बनेगा। पूरब मे महाप्राण ह् के उच्चारण में लोगों को कोई कठिनाई नही होती, यह उनका प्रिय वर्ण है। पश्चिम मे ह् को अल्प-प्राण करने या उसका लोप करने की प्रवृत्ति है। ह को शब्द के बीच से डालकर उसे अल्प-उच्चरित करने में सुविधा होती है। सम्भवतः ह्नाना में ना-ना की आवृत्ति भी कानो को अच्छी न लगती थी, इन वर्णों को जरा दूरी पर रखने के लिए बीच में ह् रख दिया गया। अवधी के क्रियारूपो मे 'न' का व्यवहार नही होता; संज्ञा ह्नान छोड़कर क्रियारूपो मे 'न' की आवृत्ति का प्रश्न न था। अब खड़ी बोली हिन्दी के सास्कृतिक प्रभाव के कारण नहाय जैसा रूप अवध मे भी प्रचलित हो गया है। सस्कृत चिह्न, ब्राह्मण को हिन्दी भाषी चिन्ह ब्राम्हण बोलते है क्योंकि ह्न, ह्म जैसे ध्वनि-रूप हमारी भाषा में नहीं हैं। इसी प्रकार यास्क, वयस्क, कनिष्क, शुष्क जैसे रूप हिन्दी मे नही हैं। फलतः फारसी में शुष्क खुश्क हुआ और हिन्दी में हुआ सूखा। अंग्रेजी का डेस्क हिन्दी भाषी बच्चो के उच्चारण मे डेक्स हो जाता है, स्क जैसा ध्वनि-रूप उन्हें अपनी भाषा की प्रकृति के विपरीत लगता है।

ध्वनि-लोप का नियम यह है कि "जब दो ध्वनिया या समान अक्षर पास ही पास आते हैं तब प्रयत्न-लाघव मे अनजान में ही उनमे से एक का लोप हो जाता है।"[1] हिन्दी मे काका, मामा, दादा, चाचा जैसे शब्द खूब प्रचलित हैं। सस्कृत मे शुश्रूषा, श्वशुर, ककुद, पिपीलिका जैसे शब्दो मे, पगात, लुलुभे जैसे क्रियारूपो मे, तात, पाप, नाना, लाल, शश, जैसे द्विवर्ण शब्दो मे हम एक वर्ण की आवृत्ति देख सकते हैं। खड़ी बोली के ठठेरा, ससुराल, कोशिश, पसीना, चचेरा, करार जैसे शब्दो मे — जहा दो से अधिक वर्ण है — हम उसी तरह की आवृत्ति देखते हैं। लेकिन हिन्दी मे दो णकार एक साथ न आयेंगे, कणण जैसा रूप हिन्दी की ध्वनि-प्रकृति को असह्य होगा। इसी प्रकार ङ, ढ, ञ, ट जैसे वर्णों की आवृत्ति भी हिन्दी मे न मिलेगी। भाषा के स्वीकृत-अस्वीकृत ध्वनि-रूपों का अध्ययन किये बिना ध्वनि-लोप के सिद्धान्त मे कोई सफाई नही मिलती।

---

१ बाबूराम सक्सेना, सामान्य भाषा विज्ञान, पृष्ठ ३६।

सकता था। वर्ण-विपर्यय का कोई सामान्य नियम हो तो भाषा में अराजकता फैल जाय। जिसका मन चाहे वह वर्णों का हेरफेर करता रहे। लेकिन सैकड़ो शब्दो मे यह वर्ण-विपर्यय नही होता, इसका क्या कारण है? कारण यह है कि वे शब्द भाषा विशेष की ध्वनि-प्रकृति के अनुकूल पडते हैं अथवा असंस्कृत समझे जाने के भय मे जिह्वा प्रतिकूल दिशा में भी घूमने का कष्ट करती है। नहाने को अवध मे हनान या हनाब कहते हैं। स्नान में स के ह-रूप धारण करने पर हनान शब्द ही बनेगा। पूरब में महाप्राण ह् के उच्चारण मे लोगो को कोई कठिनाई नही होती, यह उनका प्रिय वर्ण है। पश्चिम मे ह को अल्प-प्राण करने या उसका लोप करने की प्रवृत्ति है। ह को शब्द के बीच में डालकर उसे अल्प-उच्चरित करने मे सुविधा होती है। सम्भवतः हनाना में ना-ना की आवृत्ति भी कानो को अच्छी न लगती थी; इन वर्णों को जरा दूरी पर रखने के लिए बीच मे ह् रख दिया गया। अवधी के क्रियारूपो मे 'न' का व्यवहार नही होता; सज्ञा हनान छोड़कर क्रियारूपो मे 'न' की आवृत्ति का प्रश्न न था। अब खड़ी बोली हिन्दी के सास्कृतिक प्रभाव के कारण नहाय जैसा रूप अवध मे भी प्रचलित हो गया है। संस्कृत चिह्न, ब्राह्मण को हिन्दी भाषी चिन्ह, ब्राम्हण बोलते हैं क्योंकि ह्न, ह्म जैसे ध्वनि-रूप हमारी भाषा मे नही हैं। इसी प्रकार यास्क, वयस्क, कनिष्क, शुष्क जैसे रूप हिन्दी मे नही हैं। फलतः फारसी मे शुष्क खुश्क हुआ और हिन्दी मे हुआ सूखा। अंग्रेजी का डेस्क हिन्दी भाषी बच्चो के उच्चारण मे डेक्स हो जाता है, स्क जैसा ध्वनि-रूप उन्हे अपनी भाषा की प्रकृति के विपरीत लगता है।

ध्वनि-लोप का नियम यह है कि "जब दो ध्वनिया या समान अक्षर पास ही पास आते हैं तब प्रयत्न-लाघव मे अनजान में ही उनमे से एक का लोप हो जाता है।"[1] हिन्दी मे काका, मामा, दादा, चाचा जैसे शब्द खूब प्रचलित हैं। संस्कृत मे शुश्रूषा, श्वशुर, ककुद, पिपीलिका जैसे शब्दो मे, पपात, तुतुभे जैसे क्रियारूपों मे, तात, पाप, नाना, लाल, शश, जैसे द्विवर्ण शब्दो मे हम एक वर्ण की आवृत्ति देख सकते है। खड़ी बोली के ठठेरा, ससुराल, कोशिश, पसीना, चचेरा, करार जैसे शब्दों मे — जहा दो से अधिक वर्ण हैं — हम उसी तरह की आवृत्ति देखते हैं। लेकिन हिन्दी मे दो णकार एक साथ न आयेंगे, कणण जैसा रूप हिन्दी की ध्वनि-प्रकृति को असह्य होगा। इसी प्रकार ञ, ङ, ञ, ड़ जैसे वर्णों की आवृत्ति भी हिन्दी मे न मिलेगी। भाषा के स्वीकृत-अस्वीकृत ध्वनि-रूपों का अध्ययन किये बिना ध्वनि-लोप के सिद्धान्त मे कोई सहायता नहीं मिलती।

---

1. बाबूराम सक्सेना, सामान्य भाषा विज्ञान, पृष्ठ ३६।

समीकरण-सिद्धान्त यह है कि "जब दो किंचित् विभिन्न ध्वनियां पास-पास आती हैं तो प्रयत्न-लाघव से वह दोनों सम हो जाती हैं।"[1] लग्न से लग्ग बना, अन्तिम 'न' पुरोगमन करके ग-रूप हो गया। यह पुरोगामी समीकरण हुआ। भक्त से भत्त बना, यहां अन्त्य वर्ण त ने 'क' को अपनी ओर खींचा और वह त-रूप हो गया। यह पश्चगामी समीकरण हुआ। संस्कृत में यत्न, विघ्न, चक्र जैसे शब्दों में समीकरण क्यों नहीं होता? बोलचाल की हिन्दी में ये जतन, विघन, चक्कर रूप क्यों धारण करते हैं? हिन्दी में लम्बी, सुन्दर, गम्भा, चन्दा, चल्ने, मल्ने जैसे रूपों में समीकरण क्यों नहीं होता? लट्ठा, इच्छा, बग्घी, पत्थर जैसे शब्दों पर ध्यान दें तो मालूम होगा कि दो महाप्राण अक्षरों के निकट आने की संभावना होने पर पहले को अल्पप्राण रूप में ही दूसरे महाप्राण के साथ संयुक्त करेंगे। समीकरण द्वारा पथ्थर, इछ्छा, बघ्घी जैसे रूप हिन्दी प्रकृति के अनुकूल नहीं होते। डॉ॰ बाबूराम सक्सेना ने समीकरण की एक मिसाल दी है—दश् और दम् से दष्टम्। यहां श तालव्य ध्वनि है और त दन्त्य है। यहां न श त बना, न त श बना। फिर यह समीकरण कैसे हुआ? वास्तव में यहां हमारे पूर्वजों की मूर्धन्यीकरण की वृत्ति ने श और त दोनों को बदल कर ष्ट कर दिया। समीकरण से इस परिवर्तन का कोई सम्बंध नहीं है।

विषमीकरण नियम के अनुसार "कभी-कभी पार्श्ववर्ती सम ध्वनियों के उच्चारण में असुविधा जान पड़ती है तब प्रयत्न-लाघव के लिए उनको विषम (परस्पर भिन्न) कर लेते हैं, यथा सं॰ पक्व > प्रा॰ पिक्क, सं॰ मुकुट > प्रा॰ मउड़, हि॰ मौर, सं॰ मुकुल > प्रा॰ मउल > बौर, श्रथ् धातु से सं॰ शब्द श्रिथिर बनना चाहिए पर उसमें श्रिथिल के द्वारा शिथिल हुआ, सं॰ अष्टमी > हि॰ अट्ठिमी।" बात स्पष्ट नहीं हुई। पक्व में कौन सी समध्वनियां पार्श्ववर्ती हैं? क्व में क कंठ्य ध्वनि है, व दन्त्योष्ठ्य है। यदि पिक्क से पक्व बनता तो बात भी थी। मुकुट में भी दो समध्वनियां पास-पास नहीं हैं। यदि मु और कु के उ स्वरों को पार्श्ववर्ती मानें तो दोनों के बीच में क् तो आ जाता है। मुकुट के समान कुटुंब, पुरुष, कुसुम, मुकुर, कुमुद जैसे शब्द हैं। ये शब्द उस नियम के अपवाद क्यों हैं? श्रिथिर के दो रकारों के बीच स्वरयुक्त थ वर्ण बैठा है। विषमीकरण के नियम से श्रिथिर का श्रिथिल या श्लिथिर होना चाहिए था लेकिन पहला 'र' गायब ही हो गया और दूसरे र के स्थान पर ल आ गया। ऐसी मिसालें हजारों हैं जहां समध्वनियों का पास-पास प्रयोग होता है। विषमीकरण को भाषा-परिवर्तन का नियम नहीं माना जा सकता।

---

1. सामान्य भाषा विज्ञान, पृष्ठ ३७।

सकता था। वर्ण-विपर्यय का कोई सामान्य नियम हो तो भाषा में अराजकता फैल जाय। जिसका मन चाहे वह वर्णों का हेरफेर करता रहे। लेकिन सैकड़ो शब्दों में यह वर्ण-विपर्यय नहीं होता, इसका क्या कारण है? कारण यह है कि वे शब्द भाषा विशेष की ध्वनि-प्रकृति के अनुकूल पड़ते है अथवा असंस्कृत समझे जाने के भय से जिह्वा प्रतिकूल दिशा में भी घूमने का कष्ट करती है। नहाने को अवध मे हनान या हनाब कहते है। स्नान मे स के ह-रूप धारण करने पर हनान शब्द ही बनेगा। पूरब मे महाप्राण ह के उच्चारण मे लोगो को कोई कठिनाई नही होती, यह उनका प्रिय वर्ण है। पश्चिम मे ह को अल्प-प्राण करने या उसका लोप करने की प्रवृत्ति है। ह को शब्द के बीच मे डालकर उसे अल्प-उच्चरित करने मे सुविधा होती है। सम्भवतः हनाना मे ना-ना की आवृत्ति भी कानो को अच्छी न लगती थी, इन वर्णों को जरा दूरी पर रखने के लिए बीच मे ह रख दिया गया। अवधी के क्रियारूपो मे 'न' का व्यवहार नही होता; संज्ञा हनान छोड़कर क्रियारूपो मे 'न' की आवृत्ति का प्रश्न न था। अब खड़ी बोली हिन्दी के सांस्कृतिक प्रभाव के कारण नहाय जैसा रूप अवध मे भी प्रचलित हो गया है। संस्कृत चिह्न, ब्राह्मण को हिन्दी भाषी चिन्ह ब्राम्हण बोलते है क्योंकि ह्न, ह्म जैसे ध्वनि-रूप हमारी भाषा मे नहीं हैं। इसी प्रकार यास्क, वयस्क, कनिष्क, शुष्क जैसे रूप हिन्दी मे नहीं है। फलतः फारसी मे शुष्क खुश्क हुआ और हिन्दी में हुआ सूखा। अंग्रेजी का डेस्क हिन्दी भाषी बच्चो के उच्चारण मे डेक्स हो जाता है, स्क जैसा ध्वनि-रूप उन्हे अपनी भाषा की प्रकृति के विपरीत लगता है।

ध्वनि-लोप का नियम यह है कि "जब दो ध्वनिया या समान अक्षर पास ही पास आते है तब प्रयत्न-लाघव मे अनजान मे ही उनमे से एक का लोप हो जाता है।"[1] हिन्दी मे काका, मामा, दादा, चाचा जैसे शब्द खूब प्रचलित हैं। संस्कृत मे शुश्रूषा, श्वशुर, ककुद, पिपीलिका जैसे शब्दों मे, पपात, लुलुभे जैसे क्रियारूपों मे, तात, पाप, नाना, लाल, शश, जैसे द्विवर्ण शब्दो मे हम एक वर्ण की आवृत्ति देख सकते है। खड़ी बोली के ठठेरा, ससुराल, कोकिश, पपीता, चचेरा, करार जैसे शब्दो मे — जहा दो से अधिक वर्ण हैं — हम उसी तरह की आवृत्ति देखते है। लेकिन हिन्दी मे दो णकार एक साथ न आयेंगे; णणण जैसा रूप हिन्दी की ध्वनि-प्रकृति को असह्य होगा। इसी प्रकार ञ, ष, ङ, ड़ जैसे वर्णों की आवृत्ति भी हिन्दी मे न मिलेगी। भाषा के स्वीकृत-अस्वीकृत ध्वनि-रूपों का अध्ययन किये बिना ध्वनि-लोप के सिद्धान्त मे कोई सहायता नही मिलती।

---

१ बाबूराम सक्सेना, सामान्य भाषा विज्ञान, पृष्ठ २६।

सकता था। वर्ण-विपर्यय का कोई सामान्य नियम हो तो भाषा मे अराजकता फैल जाय। जिसका मन चाहे वह वर्णो का हेरफेर करता रहे। लेकिन सैकडो शब्दो मे यह वर्ण-विपर्यय नही होता, इसका क्या कारण है? कारण यह है कि वे शब्द भाषा विशेष की ध्वनि-प्रकृति के अनुकूल पड़ते हैं अथवा असंस्कृत समझे जाने के भय से जिह्वा प्रतिकूल दिशा मे भी घूमने का कष्ट करती है। नहाने को अवध मे हनान या हनाव कहते हैं। स्नान मे स के ह-रूप धारण करने पर हनान शब्द ही बनेगा। पूरब मे महाप्राण ह के उच्चारण मे लोगो को कोई कठिनाई नही होती, यह उनका प्रिय वर्ण है। पश्चिम मे ह को अल्प-प्राण करने या उसका लोप करने की प्रवृत्ति है। ह को शब्द के बीच मे डालकर उसे अल्प-उच्चरित करने मे सुविधा होती है। सम्भवतः हनाना मे ना-ना की आवृत्ति भी कानो को अच्छी न लगती थी, इन वर्णों को जरा दूरी पर रखने के लिए बीच मे ह रख दिया गया। अवधी के क्रियारूपो में 'न' का व्यवहार नही होता; संज्ञा हनान छोडकर क्रियारूपो मे 'न' की आवृत्ति का प्रश्न न था।) अब खड़ी बोली हिन्दी के सांस्कृतिक प्रभाव के कारण नहाय जैसा रूप अवध में भी प्रचलित हो गया है। संस्कृत चिह्न, ब्राह्मण को हिन्दी भाषी चिन्ह ब्रामहण बोलते है क्योकि ह्न, ह्म जैसे ध्वनि-रूप हमारी भाषा मे नही हैं। इसी प्रकार यास्क, वयस्क, कनिष्क, शुष्क जैसे रूप हिन्दी मे नहीं हैं। फलतः फारसी मे शुष्क खुश्क हुआ और हिन्दी मे हुआ सूखा। अंग्रेजी का डेस्क हिन्दी भाषी बच्चो के उच्चारण मे डेक्स हो जाता है, स्क जैसा ध्वनि-रूप उन्हें अपनी भाषा की प्रकृति के विपरीत लगता है।

ध्वनि-लोप का नियम यह है कि "जब दो ध्वनियां या समान अक्षर पास ही पास आते है तब प्रयत्न-लाघव से अनजान मे ही उनमे से एक का लोप हो जाता है।"[1] हिन्दी मे काका, मामा, दादा, चाचा जैसे शब्द खूब प्रचलित हैं। संस्कृत मे शुश्रूषा, श्वशुर, ककुद, पिपीलिका जैसे शब्दो मे, पपात, लुलुभे जैसे क्रियारूपो मे, तात, पाप, नाना, लाल, शश, जैसे द्विवर्ण शब्दो मे हम एक वर्ण की आवृत्ति देख सकते है। खडी बोली के ठठेरा, ससुराल, कोशिश, पपीता, चचेरा, करार जैसे शब्दो मे — जहा दो से अधिक वर्ण हैं — हम उसी तरह की आवृत्ति देखते हैं। लेकिन हिन्दी मे दो णकार एक साथ न आयेगे; वणण जैसा रूप हिन्दी की ध्वनि-प्रकृति को असह्य होगा। इसी प्रकार ङ, ढ, ञ, ट जैसे वर्णो की आवृत्ति भी हिन्दी में न मिलेगी। भाषा के स्वीकृत-अस्वीकृत ध्वनि-रूपों का अध्ययन किये बिना ध्वनि-लोप के सिद्धान्त से कोई सहायता नहीं मिलती।

---

१. बाबूराम सक्सेना, सामान्य भाषा विज्ञान, पृष्ठ ३६।

... नहीं है।

विषमीकरण नियम के अनुसार "कभी-कभी पार्श्ववर्ती सम ध्वनियों के उच्चारण में असुविधा जान पड़ती है तब प्रयत्न-लाघव के लिए उनको विषम (परस्पर भिन्न) कर लेते हैं, यथा सं. पक्व > प्रा. पिक्क, सं. मुकुट > प्रा. मउड, हि. मौर, सं. मुकुल > प्रा. मउल > बौर, श्रथ् धातु से सं. शब्द श्रिथिर बनना चाहिए पर उससे श्रिथिल के द्वारा शिथिल हुआ, सं. अष्टमी > हि. अट्ठिमी।" बात स्पष्ट नहीं हुई। पक्व में कौन सी समध्वनियां पार्श्ववर्ती हैं? क्व में क कंठ्य ध्वनि है, व दन्त्योष्ठ्य है। यदि विकार से पक्क बनना तो बात भी थी। मुकुट में भी दो समध्वनियां पास-पास नहीं हैं। यदि मु और कु के उ स्वरों को पार्श्ववर्ती मानें तो दोनों के बीच में क् तो आ जाता है। मुकुट के समान कुटुंब, पुरुष, कुसुम, मुकुर, कुमुद जैसे शब्द हैं। ये शब्द उस नियम के अपवाद क्यों हैं? श्रिथिर के दो रकारों के बीच स्वरयुक्त थ वर्ण बैठा है। विषमीकरण के नियम से श्रिथिर का श्रिथिल या श्लिथिर होना चाहिए था लेकिन पहला 'र' गायब ही हो गया और दूसरे र के स्थान पर ल आ गया। ऐसी मिसालें हजारों हैं जहां समध्वनियों का पास-पास प्रयोग होता है। विषमीकरण को भाषा-परिवर्तन का नियम नहीं माना जा सकता।

---

1 सामान्य भाषा विज्ञान, पृष्ठ २३।

सकता था। वर्ण-विपर्यय का कोई सामान्य नियम हो तो भाषा में अराजकता फैल जाय। जिसका मन चाहे वह वर्णों का हेरफेर करता रहे। लेकिन सैकड़ों शब्दों में यह वर्ण-विपर्यय नहीं होता, इसका क्या कारण है? कारण यह है कि वे शब्द भाषा विशेष की ध्वनि-प्रकृति के अनुकूल पड़ते हैं अथवा असस्कृत समझे जाने के भय से जिह्वा प्रतिकूल दिशा में भी घूमने का कष्ट करती है। नहाने को अवध में हनान या हनाव कहते है। स्नान में स के ह-रूप धारण करने पर हनान शब्द ही बनेगा। पूरब में महाप्राण ह के उच्चारण में लोगों को कोई कठिनाई नहीं होती, यह उनका प्रिय वर्ण है। पश्चिम में ह को अल्प-प्राण करने या उसका लोप करने की प्रवृत्ति है। ह को शब्द के बीच में डालकर उसे अल्प-उच्चरित करने में सुविधा होती है। सम्भवतः हनाना में ना-ना की आवृत्ति भी कानों को अच्छी न लगती थी, इन वर्णों को जरा दूरी पर रखने के लिए बीच में ह रख दिया गया। अवधी के क्रियारूपों में 'न' का व्यवहार नहीं होता, सज्ञा हनान छोड़कर क्रियारूपों में 'न' की आवृत्ति का प्रश्न न था। अब खड़ी बोली हिन्दी के सास्कृतिक प्रभाव के कारण नहाय जैसा रूप अवध में भी प्रचलित हो गया है। सस्कृत चिह्न, ब्राह्मण को हिन्दी भाषी चिन्ह ब्रामहण बोलते है क्योंकि ह्न, ह्म जैसे ध्वनि-रूप हमारी भाषा में नहीं हैं। इसी प्रकार यास्क, वयस्क, कनिष्क, शुष्क जैसे रूप हिन्दी में नहीं हैं। फलतः फारसी में शुष्क खुश्क हुआ और हिन्दी में हुआ सूखा। अंग्रेजी का डेस्क हिन्दी भाषी बच्चों के उच्चारण में डेक्स हो जाता है, स्क जैसा ध्वनि-रूप उन्हें अपनी भाषा की प्रकृति के विपरीत लगता है।

ध्वनि-लोप का नियम यह है कि "जब दो ध्वनियां या समान अक्षर पास ही पास आते हैं तब प्रयत्न-लाघव में अनजान में ही उनमें से एक का लोप हो जाता है।"[1] हिन्दी में काका, मामा, दादा, चाचा जैसे शब्द खूब प्रचलित हैं। संस्कृत में शुश्रूषा, श्वशुर, ककुद, पिपीलिका जैसे शब्दों में, पपात, लुलुभे जैसे क्रियारूपों में, तात, पाप, नाना, लाल, शश, जैसे द्विवर्ण शब्दों में हम एक वर्ण की आवृत्ति देख सकते हैं। खड़ी बोली के ठठेरा, ससुराल, कोशिश, पपीता, चचेरा, करार जैसे शब्दों में — जहां दो से अधिक वर्ण हैं — हम उसी तरह की आवृत्ति देखते हैं। लेकिन हिन्दी में दो णकार एक साथ न आयेंगे; षषाण जैसा रूप हिन्दी की ध्वनि-प्रकृति को असह्य होगा। इसी प्रकार ञ, ङ, ञ, ट जैसे वर्णों की आवृत्ति भी हिन्दी में न मिलेगी। भाषा के स्वीकृत-अस्वीकृत ध्वनि-रूपों का अध्ययन किये बिना ध्वनि-लोप के सिद्धान्त में कोई सफलता नहीं मिलती।

---

1. बाबूराम सक्सेना, सामान्य भाषा विज्ञान, पृष्ठ २६।

विषमीकरण नियम के अनुसार कभी-कभी पार्श्ववर्ती सम ध्वनियों के उच्चारण में असुविधा जान पड़ती है तब प्रयत्न लाघव के लिए उनको विषम (परस्पर भिन्न) कर देते हैं, यथा सं. पक्व > प्रा. पिक्क, सं. मुकुट > प्रा. मउड़, हि. मौर, सं. मुकुल > प्रा. मउल > हि. बौर, श्रथ् धातु से सं. शब्द श्रिथिर बनना चाहिए पर उसमें विपर्यय के द्वारा शिथिल हुआ, सं. अष्टमी > हि. आठमी।" बात स्पष्ट नहीं हुई। पक्व में कौन सी समध्वनियाँ पार्श्ववर्ती हैं? पक्व में क व दो ध्वनि हैं, व दन्त्योष्ठ्य है। यदि पिक्क से पक्व बनता तो ध्यान भी था। मुकुट में भी दो समध्वनियाँ पास-पास नहीं हैं। यदि मु और कु के उ स्वरों को पार्श्ववर्ती मानें तो दोनों के बीच में क् तो आ जाता है। मुकुट के समान कुटुंब, कुमुद, कुसुम, मुकुर, कुमुद जैसे शब्द हैं। ये शब्द उस नियम के अपवाद क्यों हैं? श्रिथिर के दो रकारों के बीच स्वरयुक्त थ वर्ण बैठा है। विषमीकरण के नियम से श्रिथिर का श्रिथिल या श्लिथिर होना चाहिए था लेकिन पहला 'र' गायब ही हो गया और दूसरे र के स्थान पर ल आ गया। ऐसी मिसालें हजारों हैं जहाँ समध्वनियों का पास-पास प्रयोग होता है। विषमीकरण को भाषा-परिवर्तन का नियम नहीं माना जा सकता।

---

1. सामान्य भाषा विज्ञान, पृष्ठ २७।

सकता था। वर्ण-विपर्यय का कोई सामान्य नियम हो तो भाषा में अराजकता फैल जाय। जिसका मन चाहे यह वर्णों का हेरफेर करता रहे। लेकिन सैकड़ो शब्दों में यह वर्ण-विपर्यय नहीं होता, उसका क्या कारण है? कारण यह है कि वे शब्द भाषा विशेष की ध्वनि-प्रकृति के अनुकूल पड़ते हैं अथवा असंस्कृत समझे जाने के भय से जिह्वा प्रतिकूल दिशा में भी घूमने का कष्ट करती है। नहाने को अवध में हनान या हनाय कहते हैं। स्नान में स के ह-रूप धारण करने पर हनान शब्द ही बनेगा। पूरब में महाप्राण ह के उच्चारण में लोगों को कोई कठिनाई नहीं होती, यह उनका प्रिय वर्ण है। पश्चिम में ह को अल्प-प्राण करने या उसका लोप करने की प्रवृत्ति है। ह को शब्द के बीच में डालकर उसे अल्प-उच्चरित करने में सुविधा होती है। सम्भवतः हनाना में ना-ना की आवृत्ति भी कानों को अच्छी न लगती थी; इन वर्णों को जरा दूरी पर रखने के लिए बीच में ह रख दिया गया। अवधी के क्रियारूपों में 'न' का व्यवहार नहीं होता, सभा हनान छोड़कर क्रियारूपों में 'न' की आवृत्ति का प्रश्न न था। अब खड़ी बोली हिन्दी के सांस्कृतिक प्रभाव के कारण नहाय जैसा रूप अवध में भी प्रचलित हो गया है। संस्कृत चिह्न, ब्राह्मण को हिन्दी भाषी चिन्ह ब्राम्हण बोलते हैं क्योंकि ह्न, ह्म जैसे ध्वनि-रूप हमारी भाषा में नहीं हैं। इसी प्रकार यास्क, वयस्क, कनिष्क, शुष्क जैसे रूप हिन्दी में नहीं हैं। फलतः फ़ारसी में शुष्क खुश्क हुआ और हिन्दी में हुआ सूखा। अंग्रेजी का डेस्क हिन्दी भाषी बच्चों के उच्चारण में डेक्स हो जाता है, स्क जैसा ध्वनि-रूप उन्हें अपनी भाषा की प्रकृति के विपरीत लगता है।

ध्वनि-लोप का नियम यह है कि "जब दो ध्वनियां या समान अक्षर पास ही पास आते हैं तब प्रयत्न-लाघव से अनजान में ही उनमें से एक का लोप हो जाता है।"[1] हिन्दी में काका, मामा, दादा, चाचा जैसे शब्द खूब प्रचलित हैं। संस्कृत में शुश्रूषा, श्वशुर, ककुद, पिपीलिका जैसे शब्दों में, पपात, लुलुभे जैसे क्रियारूपों में, तात, पाप, नाना, लाल, शश, जैसे द्विवर्ण शब्दों में हम एक वर्ण की आवृत्ति देख सकते हैं। खड़ी बोली के ठठेरा, ससुराल, कोशिश, पपीता, चचेरा, करार जैसे शब्दों में — जहां दो से अधिक वर्ण हैं — हम उसी तरह की आवृत्ति देखते हैं। लेकिन हिन्दी में दो णकार एक साथ न आयेंगे, वणण जैसा रूप हिन्दी की ध्वनि-प्रकृति को असह्य होगा। इसी प्रकार ञ, ङ, ञ, ङ जैसे वर्णों की आवृत्ति भी हिन्दी में न मिलेगी। भाषा के स्वीकृत-अस्वीकृत ध्वनि-रूपों का अध्ययन किये बिना ध्वनि-लोप के सिद्धान्त से कोई सहायता नहीं मिलती।

---

1. बाबूराम सक्सेना, सामान्य भाषा विज्ञान, पृष्ठ ३६।

भाषा के विकास का एक कारण वाक्-यन्त्र की विभिन्नता बतायी गयी है। "किसी भी दो व्यक्ति का वाक्-यन्त्र ठीक-ठीक एक ही प्रकार का नहीं होता, इस कारण किसी एक ध्वनि का उच्चारण भी दो व्यक्ति एक तरह नहीं कर सकते। एक से दूसरे में और दूसरे से तीसरे में कुछ न कुछ अन्तर अवश्य पड़ेगा। ये ही छोटे-छोटे अन्तर कुछ दिन में जब बड़े हो जाते हैं तो स्पष्ट हो जाते हैं। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे कोई बच्चा कल से आज कितना बड़ा हो गया या बढ़ गया इसका अनुमान हम नहीं लगा सकते पर एक दो वर्ष बाद उस थोड़े-थोड़े बढ़ने का अनुभव हम कर लेते हैं।"[1] वाक् यन्त्र की विभिन्नता के कारण हम व्यक्ति विशेष की आवाज़ पहचान लेते हैं और दूसरे की आवाज से वह भिन्न है, यह भी समझ लेते हैं। किन्तु एक ही जाति के लोग लाखों प्रकार के भिन्न स्वर यन्त्र रखते हुए भी एक-दूसरे की बात समझ लेते हैं। बूढ़े और बच्चे एक-दूसरे की बात समझते हैं, विभिन्न प्रदेशों के लोग एक-दूसरे की बात समझते हैं। यदि शारीरिक गठन से भाषा में भिन्नता उत्पन्न हो तो समाज में अराजकता छा जाय, कोई किसी की बात न समझे या फिर समाज का गठन स्वर-यन्त्रों के हिसाब से हो, लोग ऐसा साथी ढूंढ़े जिसका स्वर-यन्त्र उन्हीं के अनुकूल प्रकृत होता हो। स्वर-यन्त्रों की यह विभिन्नता सदा रही है किन्तु मानव जाति छोटे समूहों से वृहत्तर संगठनों की ओर बढ़ती रही है, स्वर-यन्त्रों की भिन्नता इसमें बाधक नहीं हुई। जिस स्वर-यन्त्र से अंग्रेजी बोली जा सकती है, उसी से हिन्दी-संस्कृत भी बोली जा सकती है। किन स्वर-यन्त्रों से कौन सी भाषा के बोल फूटते हैं, यह स्वर-यन्त्रों के गठन पर नहीं, मनुष्य के सामाजिक परिवेश पर निर्भर होता है। यदि किसी समाज में न कोई आन्तरिक परिवर्तन हो, न कोई बाह्य प्रभाव पड़े, तो उसकी भाषा ज्यों की त्यों बनी रहे। जैसे अन्तरिक्ष में जाने वाला मानव बूढ़ा नहीं होता, वैसे ही धरती के आकर्षण से मुक्त भाषा भी कभी न बदले। भाषा बदलती है तो सामाजिक कारणों से, न कि इसलिए कि स्वर-यन्त्रों में भिन्नता है। जिन पंडितों के पूर्वजों ने क़ैन-ग़ाफ़ की ध्वनियाँ स्वप्न में भी न सुनी थीं, वे मुगल-काल में सांस्कृतिक कारणों से उनके उच्चारणों में अरबों और ईरानियों के कान काटने लगे थे। इसी प्रकार अंग्रेजी की अनेक ध्वनियों को सही निकाल लेने पर कुछ शिक्षाशास्त्री परम प्रसन्न होते हैं, इसलिए नहीं कि उनका स्वर यन्त्र अभारतीय बन जाता है बल्कि इसलिए कि सामाजिक-सांस्कृतिक कारणों से ऐसी ध्वनियों का उच्चारण उन्हें श्रेष्ठता प्रदान करता है। उदाहरण-रूप में बताया गया है कि "ऋ और लृ तथा ष और ण के उच्चारण इसी प्रकार धीरे धीरे लुप्त हुए होंगे।" लेकिन

[1] भोलानाथ तिवारी, भाषा विज्ञान, १९५१, पृ० १८०।

इसी तरह और "नियम" है। "संयुक्ताक्षरों के बोलने में विशेष प्रयत्नशील रहने की जरूरत होती है। इस असुविधा को हटाने के लिए मन अपने आप उस संयोग को, बीच में और कोई ध्वनि लाकर, दूर कर देता है और दो व्यंजनों के संयोग को दूर करने के लिए एक छोटा सा स्वर ला देता है।"[1] उदाहरण दिये हैं, संस्कृत रत्न से प्राकृत रदण, संस्कृत कृष्णा से प्राकृत कसण; भक्त से भगत, इन्द्र से इंदर, प्रसाद से परसाद। संयुक्ताक्षरों का उच्चारण सहज है या श्रमसाध्य, इसका कोई अटल नियम नहीं है। अंग्रेजी में सैकड़ों शब्द संयुक्ताक्षर वाले हैं, हिन्दी भाषी इस प्रवृत्ति की विपरीत दिशा में चलते हैं। भक्त से भगत रूप बनता है। प्रकट का प्रगट रूप भी प्रचलित है यद्यपि क्त की तरह क-ट संयुक्त नहीं है। दो व्यंजनों के बीच स्वरागम की बात सामान्य नियम नहीं है। तैरना को यदि कुछ लोग तेहरना कहते हैं, तो यह ह-प्रेम के कारण। दर्शन का दरसन पूरब में न सुनाई देगा; ब्रज में मध्यवर्ती र के लोप की प्रवृत्ति है। इसीलिए 'का कल्ल ओ" (का कर लओ) जैसे वाक्य सुनने को मिलते हैं। आरंभ में ध्वनि लगना जैसे स्नान, स्कूल आदि के पहले — यह भी भाषा की प्रकृति पर निर्भर है। स्टेशन को लोग टेसन भी कहते हैं। पंजाब में स्वरहीन स को सस्वर कर देते हैं। इस "अग्रागम" नियम के उदाहरण-स्वरूप सकूल, सटेशन शब्द भी दिये गये हैं। किन्तु यहां मूल शब्द के पहले क्या जोड़ा गया ? अ स्वर आया प्रथम व्यंजन के बाद। अन्य अनेक उदाहरणों के समान यह भी गलत है। एक अन्य नियम यह है कि "बोलते समय एक ही विचार के वाचक दो शब्द कभी-कभी एक साथ मस्तिष्क में उपस्थित हो जाते हैं और परिणामस्वरूप दोनों के सम्मिश्रण से (जिसमें एक का अभाव और दूसरे का अतिमात्र होता है) एक नया ही शब्द बन जाता है।" उदाहरण दिया है, ईश्वर शब्द का जो दिस्नइ तथा दंगरइ के मेल से बना बताया गया है। देस और दिस् दो अलग धातुएं हैं। उन्हें जबर्दस्ती मिलाया गया है। हिन्दी से एक मिसाल दी है : फिर और पुनि के मेल से शब्द बना फिन। डॉ भोलानाथ तिवारी ने लिखा है कि (पूरब में) बच्चे कभी-कभी दादा को नुपका कहते हैं। फिर का फिन रूप भी उसी प्रवृत्ति के कारण है। समानार्थी दो शब्दों का साथ-साथ प्रयोग तो हिन्दी प्रवृत्ति के अनुरूप है। मार-धाड़, मान-मर्यादा, लड़ाई-झगड़ा, बोली-बानी, धरम-ईमान, पेड़-पौधे, बाजार-हाट, काम-काज — ये जोड़े साबित करते हैं कि समानार्थी शब्दों के दिमाग में आने पर यहां का समाज नागरिक प्रयत्नशीलता की चिन्ता न करके उन दोनों को शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की अनुमति दे देता है।

---

१. सामान्य भाषा विज्ञान, पृष्ठ ३६।

'मेरठवाले भी कहीं-कहीं इन शब्दों को बिगाड़ कर बोलते हैं।' बेटी का बिट्टी, चाची का चच्ची होने से अन्तर नहीं पड़ता। बिट्टी-चच्ची कहने वाले बेटी-चाची भी बोलते हैं। "डोगरा का लिल्लो और कुमारी का कम्मो प्यार के ही प्रसाद हैं।" सौभाग्य से भाषा-विज्ञान के प्रेमी प्यार के आवेश में मन्ना को मन्नो और विज्ञान को विज्जो नहीं कहते। 'कुछ लोग अपने को कुलीन दिखाने के प्रयत्न में केना (कहना), रेना (रहना) आदि बोलते हैं।' इस ध्वनि-भेद का कारण कुलीनता नहीं है। हिन्दी-भाषी क्षेत्र में पश्चिम के लोग हकार का अल्प उच्चारण करते हैं और पूरब के लोग उस पर यथेष्ट जोर देते हैं जिससे यह सिद्ध नहीं होता कि उनकी मनोवृत्तियां दूसरे ढंग की हैं।

"एक राष्ट्र जाति या वर्ग दूसरे के सम्पर्क में आता है तो विचार-विनिमय के साथ ध्वनि-विनिमय भी होता है।"[1] यह बात सही है लेकिन विनिमय किस ढंग का होता है, होता है या नहीं होता यह सब सामाजिक परिस्थितियों पर निर्भर है। अमरीका में जो नीग्रो बसे हुए हैं, उनकी कितनी ध्वनियों ने अंग्रेजी में प्रवेश पाया है? "भारोपीय भाषा में ट-वर्ग नहीं था। अनार्यों के प्रभाव से भारत में आने पर आर्यों के ध्वनि-समूह में उसका प्रवेश हो गया।" जर्मन और अंग्रेजी पर किन ट-वर्ग भाषी अनार्यों का प्रभाव पड़ा था?

भाषा-विकास के जो भौगोलिक कारण बताये गये हैं, वे सर्वाधिक मनोरंजक हैं। "यदि कोई जाति किसी स्थान से हटकर अधिक ठंडे स्थान पर बस जाती है तो उसमें विवृत ध्वनियों का विकास नहीं होता और जो विवृत रहती हैं, उनका भी संवृत की ओर झुकाव होने लगता है। गर्म देश में जाने पर ठीक इसके उलटा घटित होता है।"[2] सर्दी के मारे शायद मुंह खुलता नहीं है, इसलिए झुकाव संवृत ध्वनियों की ओर होता है। गर्म देशों के लोग मुंह बाये घूमते हैं, इसलिए विवृत ध्वनियां निकालने में उनके मुख-विवर को विशेष कष्ट नहीं होता। भारत में सौभाग्य से हिमालय की चोटियां भी हैं और लू के झोंकों में झुलसते हुए मैदान भी। यदि भौगोलिक कारणों से ध्वनि-भेद निश्चित होते तो पहाड़ों के लोग ई-ई ऊ-ऊ करते और मैदानों के लोग आ-आ करते। हिन्दी का उ स्वर संवृत है या विवृत? डॉ॰ धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार "यह संवृत् ह्रस्व पश्च स्वर है।" ऊ—"यह संवृत् दीर्घ पश्च स्वर है।" ई—"यह संवृत् दीर्घ अग्र स्वर है।" इ—"यह संवृत् ह्रस्व अग्र स्वर है।" मैदानी भाषा हिन्दी में संवृत स्वरों की कमी तो नहीं मालूम होती। भाषाओं के वर्गीकरण पर ध्यान देने से भी यह सिद्ध होता है कि भौगोलिक परिस्थितियों के अनुकूल

---

1. भाषा विज्ञान, पृष्ठ १९१।
2. उप., पृष्ठ १९१-९२।

यह विभाजन नहीं हुआ। फिनलेंड, नार्वे, उत्तरी रूस और साइबेरिया में वर्फ पड़ती है लेकिन भाषाएं भिन्न परिवारों की हैं। 'आर्य' भाषा परिवार यूरोप से एशिया तक फैला हुआ है। भारत का ही द्रविड परिवार उत्तरी आर्य परिवार से काफी भिन्न है। भाषा के शब्द-भंडार आदि पर भौगोलिक परिस्थितियों का प्रभाव अवश्य पड़ता है किन्तु गर्मी-सर्दी से ध्वनियों का विभाजन हो तो भाषाओं का ध्वनिगत वर्गीकरण बड़ी सरलता से प्राकृतिक परिस्थितियों के अनुकूल किया जा सके।

संवृत-विवृत स्वरों के लिए प्राकृतिक ही नहीं मनोवैज्ञानिक परिस्थितियां भी जिम्मेदार जान पड़ती हैं। "यदि किसी कमी के कारण अप्रसन्नता और दुःखपूर्ण वातावरण रहा तो सामान्यतः लोग धीरे से बोलते हैं। ऐसी दशा में भी संवृत की ओर झुकाव रहता है।" यों भी कह सकते हैं कि ठंडे देशों के लोग गर्मी के लिए तरसते रहते हैं, इसलिए प्राकृतिक और मनोवैज्ञानिक कारणों के समन्वय से ये संवृत ध्वनियां ही करते हैं! "इसी प्रकार यदि समाज में युद्ध का वातावरण रहा तो बोलने की गति बढ़ जाती है। अधिकतर शब्दों के कुछ ही भाग पर जोर दिया जाता है। कुछ लोगों का कहना है कि युद्ध के समय भाषा के परिवर्तन की गति बहुत अधिक हो जाती है।" यूरोप में दो महायुद्ध हुए, फिर भी अंग्रेजी, जर्मन या रूसी में कोई मौलिक परिवर्तन हो गये हों, ऐसा देखने-सुनने में नहीं आया।

लिखने में गड़बड़ी होने से भी शायद भाषा में परिवर्तन हो जाता है। "मध्य युग में ख में 'इ' 'व' का संदेह होने से उसके स्थान पर ष का प्रयोग चला। कुछ दिन में ऐसा हुआ कि ष का उच्चारण ही ख हो गया।" माना कि इस ष-लेखन के प्रभाव से वर्षा, भाषा, पाषंड आदि बरखा, भाखा, पाखंड बन गये लेकिन फारसी में शुष्क का खुश्क कैसे हो गया? जो लोग वर्षा को बरखा कहते हैं, वे साधारणतः ऐसे हैं जिन्होंने पोथी में न ख के दर्शन किये हैं, न ष के। इस तरह के ध्वनि-परिवर्तनों के लिए कोई और सबल कारण खोजना चाहिए। होता अधिकतर यह है कि लिखावट एक होने पर भी लोग उसका उच्चारण अपनी भाषा या बोली की ध्वनि-प्रकृति के अनुसार करते हैं। हिन्दी कहना, रहना, पहले आदि का पूर्वी-पछाहीं उच्चारण — पढ़े-लिखे जनों में भी — इसी कारण है। विभिन्न प्रदेशों के संस्कृत-पंडितों का उच्चारण-भेद भी प्रसिद्ध है।

"शब्दों की असाधारण लम्बाई" भी परिवर्तन का एक कारण है। "'उपाध्याय' 'झा' का रूप धारण करने को अपनी लम्बाई के कारण ही बाध्य हुए हैं। (और तिवारी?) जयरामजी की का जैराम हो गया है। स्टेशनों पर चाय वाले 'चाय गरम' को 'चारम' कहते ... कारण संक्षिप्त रूप

भी चल पड़े है।" उपाध्याय को संक्षिप्त करने के लिए अन्य ध्वनि
ओर जाने की जरूरत क्या थी ? अध्याय, स्वाध्याय, आय जैसे रूपों में भी
चल सकता था। मध्य से मांझ जैसे रूप बने, यह भी देखिए। जहा तक
वालों का सम्बन्ध है, भाषा पर अभी उनका इतना प्रभाव नहीं पड़ा कि
से गरम और चाय का लोप हो जाय और लोग चा के साथ रम पीने
इसके अलावा चाय वालों की बिरादरी में काफी पक्का न होने से
सघोष ग लुप्त सा हो जाता है, किन्तु पूर्वी स्टेशनों पर चाह गरम भी सुना
सकता है। लेकिन यह सिद्धान्त कुछ मौजू नहीं है। "असाधारण
चाय में है, न गरम में !

एक ही शब्द में कुछ व्यंजन बली माने जाते हैं, अन्य बलहीन। "
वर्गों के प्रथम चार स्पर्श व्यंजन" बली हैं। "पांच अनुनासिक अन्तस्थ
ऊष्म" बलहीन हैं। "जिन शब्दों में बलहीन व्यजन अधिक हो उनमें
परिवर्तन अधिक शीघ्रता से होता है। फ्रांसीसी विद्वान वेन्द्रिये के अनुसार
शब्द विशेष में अपने स्थान विशेष के कारण कुछ ध्वनियां बलहीन हो जा
हैं। बली से उनका युद्ध आरम्भ होता है और अंत में बली ध्वनि पराजित
बलहीन को निकाल देती है। इसका कारण कदाचित् यह है कि बलहीन व्यंज
का उच्चारण अधिक अनिश्चित होता है।"[1] डारविन का जीवन-संघर्ष
समर्थ की विजय का सिद्धान्त इतना व्यापक है कि शब्द-शब्द में हम उसे
होते देख सकते हैं। जहा तक हिन्दी का सम्बन्ध है—य, र, ल, व अन्तस्थ ध्वनि
कहलाती हैं। म, न आदि अनुनासिक व्यजन हैं। ऊष्म ध्वनियों में
हकार है। कितनी ध्वनियों ने परिवर्तित होकर ह रूप लिया है, यह हम
देख चुके हैं। श्री किशोरीदास वाजपेयी के शब्दों को फिर दोहरा दें 'भा
के विकास में ह वर्ण का जो स्थान है, अन्य किसी वर्ण का नहीं।'
फलकाना, लखन-बिलखात (तुलसीदास), फलाना, तमतमाना
भनभाना, मामला, लहलहाना, बहलाना, उमाहना आदि सैकड़ों मिसालें दी
सकती हैं जिनसे मालूम होता है कि ये तथाकथित बलहीन ध्वनियां अपने
पड़ोसियों की जरा भी परवाह न करके बड़ी आनबान से हिन्दी शब्दों
दामगिर्दों में जमी हुई हैं। भाषाओं की अपनी-अपनी ध्वनि-प्रकृति होती है,
इसलिए बलहीन व्यंजनों के घिसने और अन्तर्धान होने का कोई विशेष नियम
नहीं है। जैसे ध्वनियों में बलहीन की पराजय का कोई नियम नहीं है, वैसे
ध्वनियों के अपने-आप घिसने का कोई नियम नहीं है। यह कहना सही नहीं
कि "प्रयोग में आने पर जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु घिसती है उसी प्रकार

1. भाषा विज्ञान

पद विभाजन नहीं हुआ। [illegible] [illegible] और [illegible] में बड़े पड़ते हैं लेकिन अत्यन्त भिन्न परिवारों की हैं; 'मार्क' भाषा परिवार [illegible] से [illegible] [illegible] हुआ है। भारत का ही द्रविड़ परिवार [illegible] परिवार से काफी भिन्न है। भाषा के [illegible] प्रकार आदि पर भौगोलिक परिस्थितियों का प्रभाव अवश्य पड़ता है किन्तु अभी नहीं से वर्णों का विकास हो तो भाषाओं का वर्गीकरण भौगोलिक [illegible] से प्राकृतिक परिस्थितियों के अनुरूप किया जा सके।

ध्वनि विकृत होने के लिए शारीरिक ही नहीं मनोवैज्ञानिक परिस्थितियाँ भी जिम्मेदार बन पड़ती हैं। "यदि किसी कमी के कारण अज्ञानता और दुःखपूर्ण वातावरण रहा तो साधारणतः लोग धीरे से बोलते हैं। ऐसी दशा में भी मधुर की ओर झुकाव रहता है।" यों भी कह सकते हैं कि ठंडे देशों के लोग सर्दी के लिए तत्पर रहते हैं, इसलिए शारीरिक और मनोवैज्ञानिक कारणों के सम्मिलन से वे मधुर स्वरित ही करते हैं! "इसी प्रकार यदि समाज में युद्ध का वातावरण रहा तो बोलने की गति बढ़ जाती है। अधिकतर शब्दों के कुछ ही भाग पर जोर दिया जाता है। कुछ लोगों का कहना है कि युद्ध के समय भाषा के परिवर्तन की गति बहुत अधिक हो जाती है।" यूरोप में दो महायुद्ध हुए, फिर भी अंग्रेजी, जर्मन या रूसी में कोई मौलिक परिवर्तन हो गये हों, ऐसा देखने-सुनने में नहीं आया।

लिखने में गड़बड़ी होने से भी शायद भाषा में परिवर्तन हो जाता है। "मध्य युग में ष से 'ख' 'ष' का संदेह होने से उसके स्थान पर ष का प्रयोग चला। कुछ दिन में ऐसा हुआ कि ष का उच्चारण ही ख हो गया।" माना कि इस सम्मेलन के प्रभाव से वर्षा, भाषा, पाखंड आदि बरखा, भाखा, पाखंड बन गये लेकिन फारसी में मुख का मुख कैसे हो गया? जो लोग वर्षा को बरखा कहते हैं, वे साधारणतः ऐसे हैं जिन्होंने पोथी में न स के दर्शन किये हैं, न ष के। इस तरह के ध्वनि-परिवर्तनों के लिए कोई और सबल कारण खोजना चाहिए। होता अधिकतर यह है कि लिखावट एक होने पर भी लोग उसका उच्चारण अपनी भाषा या बोली की ध्वनि-प्रकृति के अनुसार करते हैं। हिन्दी गहना, रहना, पहले आदि का पूर्वी-पछाहीं उच्चारण—पढ़े-लिखे जनों में भी—इसी कारण है। विभिन्न प्रदेशों के संस्कृत-पंडितों का उच्चारण-भेद भी प्रसिद्ध है।

"शब्दों की असाधारण लम्बाई" भी परिवर्तन का एक कारण है। "'उपाध्याय' 'झा' का रूप धारण करने को अपनी लम्बाई के कारण ही बाध्य हुए हैं। (और तिवारी?) जयरामजी की का जैराम हो गया है। स्टेशनों पर चाय वाले 'चाय गरम' को 'चारम' कहते हैं। इसी कारण मजिस्ट्र

[illegible] है। [illegible]
वर्णों के प्रथम भाग [illegible] है। 'दात अनुनासिक अवस्था और उष्म' बलहीन है। "जिन शब्दों में बलहीन व्यंजन अधिक हों उनमें ध्वनि परिवर्तन अधिक शीघ्रता से होता है। भाषाओं के विकास के इतिहास के आधार को देखने से अपने स्थान विशेष के कारण कुछ ध्वनियां बलहीन हो जाती हैं। वर्णों में उनका युद्ध आरम्भ होता है और अन्त में बली ध्वनि पराजय करके बलहीन को निकाल देती है। इसका कारण कदाचित् यह है कि बलहीन व्यंजनों का उच्चारण अधिक अनिश्चित होता है।"[1] डार्विन का जीवन-संघर्ष और समर्थ की विजय का सिद्धान्त इतना व्यापक है कि शब्द-शब्द में हम उसे घटित होते देख सकते हैं। जहां तक हिन्दी का सम्बन्ध है —य, र, ल, व अन्तस्थ ध्वनियां कहलाती हैं। म, न आदि अनुनासिक व्यंजन हैं। ऊष्म ध्वनियों में प्रसिद्ध हकार है। कितनी ध्वनियों ने परिवर्तित होकर ह रूप लिया है, यह हम पहले देख चुके हैं। श्री किशोरीदास वाजपेयी के शब्दों को फिर दोहरा दें, "भाषा के विकास में ह वर्ण का जो स्थान है, अन्य किसी वर्ण का नहीं।" ललकारना, ललचाना, विलाप-विलखात (तुलसीदास), ललाना, नमतमाना, मनाना, मलयाना, मसमसा, लहलहाना, चहचहाना, उमाहना आदि सैकड़ों मिसालें दी जा सकती हैं जिनसे मालूम होता है कि ये तथाकथित बलहीन ध्वनियां अपने समर्थ पड़ोसियों की जरा भी परवाह न करके बड़ी आनबान से हिन्दी शब्दों में शताब्दियों से जमी हुई हैं। भाषाओं की अपनी-अपनी ध्वनि-प्रकृति होती है, इसलिए बलहीन व्यंजनों के घिसने और अन्तर्धान होने का कोई निरपेक्ष नियम नहीं है। जैसे ध्वनियों में बलहीन की पराजय का कोई नियम नहीं है, वैसे ही ध्वनियों के अपने-आप घिसने का कोई नियम नहीं है। यह कहना सही नहीं है कि "प्रयोग में आने पर जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु घिसती है उसी प्रकार शब्द

---

1. भाषा विज्ञान, पृष्ठ १९३।

यह विभाजन नही हुआ। फिनलैंड, नार्वे, उत्तरी रूस और साइबेरिया मे बर्फ पडती है लेकिन भाषाएं भिन्न परिवारों की हैं। 'आर्य' भाषा परिवार यूरोप से एशिया तक फैला हुआ है। भारत का ही द्रविड परिवार उत्तरी आर्य परिवार से काफी भिन्न है। भाषा के शब्द-भंडार आदि पर भौगोलिक परिस्थितियों का प्रभाव अवश्य पडता है किन्तु गर्मी-सर्दी से ध्वनियो का विभाजन हो तो भाषाओ का ध्वनिगत वर्गीकरण बड़ी सरलता से प्राकृतिक परिस्थितियों के अनुकूल किया जा सके।

सवृत-विवृत स्वरों के लिए प्राकृतिक ही नहीं मनोवैज्ञानिक परिस्थितियां भी जिम्मेदार जान पडती हैं। "यदि किसी कमी के कारण अप्रसन्नता और दुःखपूर्ण वातावरण रहा तो सामान्यतः लोग धीरे से बोलते है। ऐसी दशा में भी सवृत की ओर झुकाव रहता है।" यों भी कह सकते है कि ठंडे देशों के लोग गर्मी के लिए तरसते रहते हैं, इसलिए प्राकृतिक और मनोवैज्ञानिक कारणो के समन्वय से वे संवृत ध्वनिया ही करते हैं! "इसी प्रकार यदि समाज में युद्ध का वातावरण रहा तो बोलने की गति बढ़ जाती है। अधिकतर शब्दों के कुछ ही भाग पर जोर दिया जाता है। कुछ लोगो का कहना है कि युद्ध के समय भाषा के परिवर्तन की गति बहुत अधिक हो जाती है।" यूरोप मे दो महायुद्ध हुए, फिर भी अंग्रेज़ी, जर्मन या रूसी मे कोई मौलिक परिवर्तन हो गये हो, ऐसा देखने-सुनने मे नही आया।

लिखने मे गडबडी होने से भी शायद भाषा मे परिवर्तन हो जाता है। "मध्य युग मे ख मे 'र' 'व' का सदेह होने से उसके स्थान पर ष का प्रयोग चला। कुछ दिन में ऐसा हुआ कि ष का उच्चारण ही ख हो गया।" माना कि इस ष-लेखन के प्रभाव से वर्षा, भाषा, पाषंड आदि बरखा, भाखा, पाखंड बन गये लेकिन फारसी मे शुष्क का खुश्क कैसे हो गया? जो लोग वर्षा को बरखा कहते हैं, वे साधारणतः ऐसे हैं जिन्होने पोथी मे न ख के दर्शन किये हैं न ष के। इस तरह के ध्वनि-परिवर्तनों के लिए कोई और सबल कारण खोजना चाहिए। होता अधिकतर यह है कि लिखावट एक होने पर भी लोग उसका उच्चारण अपनी भाषा या बोली की ध्वनि-प्रकृति के अनुसार करते हैं। हिन्दी कहना, रहना, पहले आदि का पूर्वी-पछाहीं उच्चारण—पढ़े-लिखे जनों में भी—इसी कारण है। विभिन्न प्रदेशों के संस्कृत-पंडितों का उच्चारण-भेद भी प्रसिद्ध है।

"शब्दों की असाधारण लम्बाई" भी परिवर्तन का एक कारण है। "'उपाध्याय' 'झा' का रूप धारण करने को अपनी लम्बाई के कारण ही बाध्य हुए हैं। (और तिवारी?) जयरामजी की का जैराम हो गया है। स्टेशनों पर चाय वाले 'चाय गरम' को 'चारम' कहते हैं। इसी कारण मास्टर का

यह विभाजन नहीं हुआ। फिनलैंड, नार्वे, उत्तरी रूस और साइबेरिया में बर्फ पड़ती है लेकिन भाषाएं भिन्न परिवारों की हैं। 'आर्य' भाषा परिवार यूरोप से एशिया तक फैला हुआ है। भारत का ही द्रविड़ परिवार उत्तरी आर्य परिवार से काफी भिन्न है। भाषा के शब्द-भंडार आदि पर भौगोलिक परिस्थितियों का प्रभाव अवश्य पड़ता है किन्तु गर्मी-सर्दी से ध्वनियों का विभाजन हो तो भाषाओं का ध्वनिगत वर्गीकरण बड़ी सरलता से प्राकृतिक परिस्थितियों के अनुकूल किया जा सके।

संवृत-विवृत स्वरों के लिए प्राकृतिक ही नहीं मनोवैज्ञानिक परिस्थितियां भी जिम्मेदार जान पड़ती हैं। "यदि किसी कमी के कारण अप्रसन्नता और दुःखपूर्ण वातावरण रहा तो सामान्यतः लोग धीरे से बोलते हैं। ऐसी दशा में भी संवृत की ओर झुकाव रहता है।" यों भी कह सकते हैं कि ठंडे देशों के लोग गर्मी के लिए तरसते रहते हैं, इसलिए प्राकृतिक और मनोवैज्ञानिक कारणों के समन्वय से वे संवृत ध्वनियां ही करते हैं! "इसी प्रकार यदि समाज में युद्ध का वातावरण रहा तो बोलने की गति बढ़ जाती है। अधिकतर शब्द के कुछ ही भाग पर जोर दिया जाता है। कुछ लोगों का कहना है कि युद्ध के समय भाषा के परिवर्तन की गति बहुत अधिक हो जाती है।" यूरोप में दो महायुद्ध हुए, फिर भी अंग्रेजी, जर्मन या रूसी में कोई मौलिक परिवर्तन हो गये हों, ऐसा देखने-सुनने में नहीं आया।

लिखने में गड़बड़ी होने से भी शायद भाषा में परिवर्तन हो जाता है। "मध्य युग में ख में 'र' 'व' का संदेह होने से उसके स्थान पर ष का प्रयोग चला। कुछ दिन में ऐसा हुआ कि ष का उच्चारण ही ख हो गया।" माना कि इस ष-लेखन के प्रभाव से वर्षा, भाषा, पाषंड आदि बरखा, भाखा, पाखंड बन गये लेकिन फारसी में शुष्क का खुश्क कैसे हो गया? जो लोग वर्षा को बरखा कहते हैं, वे साधारणतः ऐसे हैं जिन्होंने पोथी में न ख के दर्शन किये हैं, न ष के। इस तरह के ध्वनि-परिवर्तनों के लिए कोई और सबल कारण खोजना चाहिए। होता अधिकतर यह है कि लिखावट एक होने पर भी लोग उसका उच्चारण अपनी भाषा या बोली की ध्वनि-प्रकृति के अनुसार करते हैं। हिन्दी कहना, रहना, पहले आदि का पूर्वी-पछाहीं उच्चारण — पढ़े-लिखे जनों में भी — इसी कारण है। विभिन्न प्रदेशों के संस्कृत-पंडितों का उच्चारण-भेद भी प्रसिद्ध है।

"शब्दों की असाधारण लम्बाई" भी परिवर्तन का एक कारण है। "'उपाध्याय' 'झा' का रूप धारण करने को अपनी लम्बाई के कारण ही बाध्य हुए हैं। (और तिवारी?) जयरामजी की का जैराम हो गया है। स्टेशनों पर चाय वाले 'चाय गरम' को 'चारम' कहते हैं। इसी कारण संक्षिप्त रूप

[illegible] में कुछ [illegible] बलहीन। [illegible] वर्णों के [illegible] करती है। "ताल अनुनासिक [illegible] और ऊष्म [illegible] बलहीन है।" "जिन शब्दों में बलहीन व्यंजन [illegible] ध्वनि परिवर्तन अधिक [illegible] से होता है। फ्रांसीसी विद्वान वेन्द्रिये के आधार तो शब्द विशेष में अपने स्थान विशेष के कारण कुछ ध्वनियाँ बलहीन हो जाती हैं। वर्णों में इनका युद्ध आरम्भ होता है और अन्त में बली ध्वनि पराजय करके बलहीन को निकाल देती है। इसका कारण कदाचित् यह है कि बलहीन व्यंजनों का उच्चारण अधिक अनिश्चित होता है।"[1] डारविन का जीवन-संघर्ष और समर्थ की विजय का सिद्धान्त इतना व्यापक है कि शब्द-शब्द में हम उसे घटित होते देख सकते हैं। जहाँ तक हिन्दी का सम्बन्ध है—य, र, ल, व अन्तस्थ ध्वनियाँ कहलाती हैं। म, न आदि अनुनासिक व्यंजन हैं। ऊष्म ध्वनियों में प्रसिद्ध हकार है। किन्हीं ध्वनियों ने परिवर्तित होकर ह रूप लिया है, यह हम पहले देख चुके हैं। श्री किशोरीदास वाजपेयी के शब्दों को फिर दोहरा दें, "भाषा के विकास में ह वर्ण का जो स्थान है, अन्य किसी वर्ण का नहीं।" ललकारना, कलपाना, कलपान-बिलखान (तुलसीदास), झल्लाना, तमतमाना, मनाना, भरमाना, मापना, लहलहाना, बहलाना, उलाहना आदि सैकड़ों मिसालें दी जा सकती हैं जिनसे मालूम होता है कि ये तथाकथित बलहीन ध्वनियाँ अपने समर्थ पड़ोसियों की ज़रा भी परवाह न करके बड़ी आनबान से हिन्दी शब्दों में शताब्दियों से जमी हुई हैं। भाषाओं की अपनी-अपनी ध्वनि-प्रकृति होती है, इसलिए बलहीन व्यंजनों के घिसने और अन्तर्धान होने का कोई निरपेक्ष नियम नहीं है। जैसे ध्वनियों में बलहीन की पराजय का कोई नियम नहीं है, वैसे ही ध्वनियों के अपने-आप घिसने का कोई नियम नहीं है। यह कहना सही नहीं है कि "प्रयोग में आने पर जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु घिसती है उसी प्रकार शब्द

१. भाषा विज्ञान, पृष्ठ १९३।

यह विभाजन नहीं हुआ। फिनलैंड, नार्वे, उत्तरी रूस और साइबेरिया में बर्फ पड़ती है लेकिन भाषाएं भिन्न परिवारों की हैं। 'आर्य' भाषा परिवार यूरोप से एशिया तक फैला हुआ है। भारत का ही द्रविड परिवार उत्तरी आर्य परिवार से काफी भिन्न है। भाषा के शब्द-भंडार आदि पर भौगोलिक परिस्थितियों का प्रभाव अवश्य पड़ता है किन्तु गर्मी-सर्दी से ध्वनियों का विभाजन हो तो भाषाओं का ध्वनिगत वर्गीकरण बड़ी सरलता से प्राकृतिक परिस्थितियों के अनुकूल किया जा सके।

सवृत-विवृत स्वरों के लिए प्राकृतिक ही नहीं मनोवैज्ञानिक परिस्थितियां भी जिम्मेदार जान पड़ती हैं। "यदि किसी कमी के कारण अप्रसन्नता और दुःखपूर्ण वातावरण रहा तो सामान्यतः लोग धीरे से बोलते हैं। ऐसी दशा में भी सवृत की ओर झुकाव रहता है।" यों भी कह सकते हैं कि ठंडे देशों के लोग गर्मी के लिए तरसते रहते हैं, इसलिए प्राकृतिक और मनोवैज्ञानिक कारणों के समन्वय से वे सवृत ध्वनियां ही करते हैं! "इसी प्रकार यदि समाज में युद्ध का वातावरण रहा तो बोलने की गति बढ़ जाती है। अधिकतर शब्दों के कुछ ही भाग पर जोर दिया जाता है। कुछ लोगों का कहना है कि युद्ध के समय भाषा के परिवर्तन की गति बहुत अधिक हो जाती है।" यूरोप में दो महायुद्ध हुए, फिर भी अंग्रेजी, जर्मन या रूसी में कोई मौलिक परिवर्तन हो गये हों, ऐसा देखने-सुनने में नहीं आया।

लिखने में गडबडी होने से भी शायद भाषा में परिवर्तन हो जाता है। "मध्य युग में ख में 'र' 'व' का संदेह होने से उसके स्थान पर ष का प्रयोग चला। कुछ दिन में ऐसा हुआ कि ष का उच्चारण ही ख हो गया।" मानो कि इस ष-लेखन के प्रभाव से वर्षा, भाषा, पाषंड आदि बरखा, भाखा, पाखंड बन गये लेकिन फारसी में शुष्क का खुश्क कैसे हो गया? जो लोग वर्षा को बरखा कहते हैं, वे साधारणतः ऐसे हैं जिन्होंने पोथी में न ख के दर्शन किये हैं, न ष के। इस तरह के ध्वनि-परिवर्तनों के लिए कोई और सबल कारण खोजना चाहिए। होता अधिकतर यह है कि लिखावट एक होने पर भी लोग उसका उच्चारण अपनी भाषा या बोली की ध्वनि-प्रकृति के अनुसार करते हैं। हिन्दी कहना, रहना, पहले आदि का पूर्वी-पछाहीं उच्चारण—पढ़े-लिखे जनों में भी—इसी कारण है। विभिन्न प्रदेशों के संस्कृत-पंडितों का उच्चारण-भेद भी प्रसिद्ध है।

"शब्दों की असाधारण लम्बाई" भी परिवर्तन का एक कारण है। "'उपाध्याय' 'झा' का रूप धारण करने को अपनी लम्बाई के कारण ही बाध्य हुए हैं। (और तिवारी?) जयरामजी की का जैराम हो गया है। स्टेशनों पर चाय वाले 'चाय गरम' को 'चारम' कहते हैं। इसी कारण मजिस्ट्रेट

यह विभाजन नही हुआ। फिनलेंड, नार्वे, उत्तरी रूस और साइबेरिया में बर्फ पडती है लेकिन भाषाएं भिन्न परिवारो की हैं। 'आर्य' भाषा परिवार यूरोप मे एशिया तक फैला हुआ है। भारत का ही द्रविड परिवार उत्तरी आर्य परिवार से काफी भिन्न है। भाषा के शब्द-भंडार आदि पर भौगोलिक परिस्थितियो का प्रभाव अवश्य पडता है किन्तु गर्मी-सर्दी से ध्वनियों का विभाजन हो तो भाषाओ का ध्वनिगत वर्गीकरण बड़ी सरलता से प्राकृतिक परिस्थितियों के अनुकूल किया जा सके।

संवृत-विवृत स्वरो के लिए प्राकृतिक ही नही मनोवैज्ञानिक परिस्थितियां भी जिम्मेदार जान पडती हैं। "यदि किसी कमी के कारण अप्रसन्नता और दुःखपूर्ण वातावरण रहा तो सामान्यतः लोग धीरे से बोलते है। ऐसी दशा मे भी संवृत की ओर झुकाव रहता है।" यों भी कह सकते है कि ठंडे देशो के लोग गर्मी के लिए तरसते रहते हैं, इसलिए प्राकृतिक और मनोवैज्ञानिक कारणो के समन्वय से वे संवृत ध्वनिया ही करते हैं! "इसी प्रकार यदि समाज में युद्ध का वातावरण रहा तो बोलने की गति बढ जाती है। अधिकतर शब्दों के कुछ ही भाग पर जोर दिया जाता है। कुछ लोगों का कहना है कि युद्ध के समय भाषा के परिवर्तन की गति बहुत अधिक हो जाती है।" यूरोप में दो महायुद्ध हुए, फिर भी अंग्रेजी, जर्मन या रूसी मे कोई मौलिक परिवर्तन हो गये हों, ऐसा देखने-सुनने मे नही आया।

लिखने मे गड़बड़ी होने से भी शायद भाषा मे परिवर्तन हो जाता है। "मध्य युग में ख मे 'र' 'व' का संदेह होने से उसके स्थान पर ष का प्रयोग चला। कुछ दिन में ऐसा हुआ कि ष का उच्चारण ही ख हो गया।" माना कि इस ष-लेखन के प्रभाव से वर्षा, भाषा, पाषंड आदि बरखा, भाखा, पाखंड बन गये लेकिन फारसी मे शुष्क का खुश्क कैसे हो गया? जो लोग वर्षा को बरखा कहते हैं, वे साधारणतः ऐसे हैं जिन्होंने पोथी मे न ख के दर्शन किये हैं, न ष के। इस तरह के ध्वनि-परिवर्तनों के लिए कोई और सबल कारण खोजना चाहिए। होता अधिकतर यह है कि लिखावट एक होने पर भी लोग उसका उच्चारण अपनी भाषा या बोली की ध्वनि-प्रकृति के अनुसार करते हैं। हिन्दी कहना, रहना, पहले आदि का पूर्वी-पछाहीं उच्चारण—पढ़े-लिखे जनो मे भी—इसी कारण है। विभिन्न प्रदेशो के संस्कृत-पंडितो का उच्चारण-भेद भी प्रसिद्ध है।

"शब्दो की असाधारण लम्बाई" भी परिवर्तन का एक कारण है। "'उपाध्याय' 'झा' का रूप धारण करने को अपनी लम्बाई के कारण ही बाध्य हुए हैं। (और तिवारी ?) जयरामजी की का जैराम हो गया है। स्टेशनों पर चाय वाले 'चाय गरम' को 'चारम' कहते हैं। इसी कारण मजिस्ट्रेट का

भी चल पड़ते हैं।" उपाध्याय को संक्षिप्त करने के लिए अन्य ध्वनि झा की ओर जाने की जरूरत क्या थी? अध्याय, ध्याय, आय जैसे रूपों से भी काम चल सकता था। मन्द से मांझ जैसे रूप बने, यह भी देखिए। जहां तक चाय वालों का सम्बन्ध है, भाषा पर अभी उनका इतना प्रभाव नहीं पड़ा कि हिन्दी में गरम और चाय का लोप हो जाय और लोग चा के साथ रम पीने लगें। इसके अलावा चाय वालों की बिरादरी में काफी एका न होने से पछांह में तो चाय—गरम लुप्त सा हो जाता है, किन्तु पूर्वी स्टेशनों पर चाह गरम भी सुना जा सकता है। लेकिन यह मिसाल कुछ मौजूं नहीं है। "असाधारण लम्बाई" न चाय में है, न गरम में।

एक ही शब्द में कुछ व्यंजन बली माने जाते हैं, अन्य बलहीन। "पञ्च वर्गों के प्रथम चार स्पर्श व्यंजन" बली हैं। "पांच अनुनासिक अन्तस्थ और ऊष्म" बलहीन हैं। "जिन शब्दों में बलहीन व्यंजन अधिक हों उनमें ध्वनि परिवर्तन अधिक शीघ्रता से होता है। फ्रांसीसी विद्वान वेन्द्रियें के अनुसार तो शब्द विशेष में अपने स्थान विशेष के कारण कुछ ध्वनियां बलहीन हो जाती हैं। यहीं से उनका युद्ध आरम्भ होता है और अंत में बली ध्वनि पराजय करके बलहीन को निकाल देती है। इसका कारण कदाचित् यह है कि बलहीन व्यंजनों का उच्चारण अधिक अनिश्चित होता है।"[1] डारविन का जीवन-संघर्ष और समर्थ की विजय का सिद्धान्त इतना व्यापक है कि शब्द-शब्द में हम उसे घटित होते देख सकते हैं। जहां तक हिन्दी का सम्बन्ध है—य, र, ल, व अन्तस्थ ध्वनियां कहलाती हैं। म, न आदि अनुनासिक व्यंजन हैं। ऊष्म ध्वनियों में प्रसिद्ध हकार है। कितनी ध्वनियों ने परिवर्तित होकर ह रूप लिया है, यह हम पहले देख चुके हैं। श्री किशोरीदास वाजपेयी के शब्दों को फिर दोहरा दें "भाषा के विकास में ह वर्ण का जो स्थान है, अन्य किसी वर्ण का नहीं।" ललकारना, ललचाना, ललान-बिललात (तुलसीदास), ललाना, ममनमाना मनाना, मिमाना, मामला, लहलहाना, बहलाना, उलाहना आदि सैकड़ों मिसालें दी जा सकती हैं जिनसे मालूम होता है कि ये तथाकथित बलहीन ध्वनियां अपने समर्थ पड़ोसियों की जरा भी परवाह न करके बड़ी आनबान से हिन्दी शब्दों में शताब्दियों से जमी हुई हैं। भाषाओं की अपनी-अपनी ध्वनि-प्रकृति होती है, लेकिन बलहीन व्यंजनों के घिसने और अन्तर्धान होने का कोई निश्चित नियम नहीं है। जैसे ध्वनियों में बलहीन की पराजय का कोई नियम नहीं है, वैसे ही ध्वनियों के अपने-आप घिसने का कोई नियम नहीं है। यह कहना सही नहीं है कि "प्रयोग में आने पर जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु घिसती है उसी प्रकार शब्द

[1] भाषा विज्ञान, पृष्ठ १९३।

भी।" इसका क्या कारण है कि ऋग्वेद के बहुत से शब्द अब तक ज्यों के त्यों चले आते हैं जबकि अन्य बहुत से शब्द बदल गये हैं या अब हम उनका सही उच्चारण भी नहीं कर सकते। ऋक् ऐसा ही एक शब्द है जिसकी आरंभिक ऋ ध्वनि हमारी बोलियों में ग्रहण नहीं की गयी। दूसरी ओर जन, रथ, पथ, देवी, वीर, इन्द्र, राजा, उषा, रक्षा, पुरोहित, नूतन, कवि, पिता, पुत्र, नर, मित्र, समुद्र, पशु, प्रजा, विश्व, स्वयं, द्वार, चन्द्र, सूर्य आदि सैकड़ों शब्द वैदिक काल — और उससे पहले — से अब तक हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में व्यवहृत होते चले आ रहे हैं। कहा जा सकता है कि सूर्य सूरज हो गया है। लेकिन सूर्य का प्रयोग वर्जित तो नहीं है। स्वयं, द्वार, सूर्य, आदि को शिक्षित जनों की भाषा का अंग मानें तो भी राजा, कवि, पिता, रथ आदि तो आम जनता के शब्द हैं। इनके न घिसे जाने का कारण क्या है? प्रत्येक भाषा में अनेक प्रकार की ध्वनि-प्रकृतियों के मिश्रण के चिह्न हम पहले देख चुके हैं। इनका विश्लेषण करना दुस्साध्य है। सरल समाधान है घिसाई का सिद्धान्त। घिसाई के बदले जो शब्द और भी बृहदाकार धारण करते हैं, उनकी बात अलग है।

भाषा-विकास का एक कारण यह बताया गया है कि "कविता में मात्रा या तुक के लिए" कवि लोग मनमाना ध्वनि-परिवर्तन कर देते हैं। ये परिवर्तन भाषा की ध्वनि-प्रकृति द्वारा नियंत्रित रहते हैं। ऐसा न हो तो पुरानी कविता "नयी कविता" बन जाय, साधारण लोगों की समझ में न आए। तुलसीदास ने रघुनाथा, परिनामा, अवलम्बा, थोरा, सगाई, समारू, [illegible] जैसे रूपों का प्रयोग किया है। इससे बोलचाल की भाषा में उनका चलन नहीं हो गया। सादृश्य वाला सिद्धान्त यह है। "कुछ शब्द किसी दूसरे के सादृश्य के कारण अपनी ध्वनियों का परिवर्तन कर लेते हैं। [illegible] के सादृश्य पर [illegible] में अनुनासिकता आ गयी है। संस्कृत में द्वादश के सादृश्य पर [illegible] भी एकादश हो गया।" जिस के अनुकरण पर [illegible] नहीं हुआ। [illegible] के समान [illegible] ने अपना रूप नहीं बदला। द्वादश और एकादश के सादृश्य का एक कारण बतलाने की आवश्यकता है। इसी आवश्यकता से सिद्धान्त का प्रवर्तन हुआ था। आदि, मध्य, अन्त्य स्वरों और व्यंजनों के लोप का भी कोई सामान्य नियम नहीं है। अनेक भाषाओं में इस तरह के लोप का कोई सामान्य नियम निकालना तो कठिन है ही, एक ही भाषा में इस तरह के सर्वव्यापी नियम नहीं मिलते। इसका कारण यह है कि [illegible] [illegible] ने एक दूसरे को [illegible] [illegible] किया है, [illegible] [illegible] हुआ है कि एक ही भाषा में [illegible] [illegible] [illegible] हैं। [illegible]

नियम नहीं है, वैसे ही ध्वनियों के आगम के भी निश्चित नियम नहीं है। वर्ण-विपर्यय, समीकरण, विषमीकरण, जैसे "नियम" किसी भाषा-विशेष की ध्वनियों का वर्णन करने में सहायक भर होते हैं, वे भाषा-विकास के सिद्धान्त नहीं हैं।

अर्थ-विचार के प्रसंग में अर्थ का विकास तीन दिशाओं में बताया गया है: अर्थ-विस्तार, अर्थ-संकोच और अर्थादेश। तैल का अर्थ था तिल का सार, अब सरसों से लेकर मिट्टी के तेल तक उसका प्रयोग होता है।[1] अंग्रेजी के ओयल का सम्बन्ध ओलेआ (ओलिव) वृक्ष से है। अब हर तरह का तेल आयल है। स्याही शब्द स्याह से बना है। लोग अब लाल स्याही भी कहते हैं। शिक्षित उर्दू भाषी लाल रोशनाई कहेंगे। कल्य शब्द आनेवाले कल के लिए था, हिन्दी में वह बीते हुए कल के लिए भी आता है। मराठी में हिन्दी कल के लिए संस्कृत के समान दो शब्द हैं उद्या और काल। अर्थ-विकास का यह नियम मराठी काल पर क्यों नहीं लागू हुआ, हिन्दी कल पर ही उसने अपना प्रभाव क्यों दिखाया? अर्थ-विस्तार जैसा कोई नियम नहीं है, भाषा के शब्द-भंडार और सामाजिक आवश्यकताओं पर निर्भर है कि अर्थ-विस्तार होता है या नहीं। अर्थ संकोच का उदाहरण है सर्प जिसका अर्थ है रेंगनेवाला। इसी प्रकार मृग का अर्थ पशु विशेष हो गया है; मलयालम् में उसका मूल अर्थ पशु बना हुआ है। तमिल में पशु का अर्थ है गाय जब कि हिन्दी में उसका अर्थ व्यापक है। मलयालम् के समान तमिल में भी पशु के लिए मिरुहम् (मृगम्) प्रचलित है। "अर्थादेश से मतलब अर्थ में इतना अधिक अन्तर होने से है कि मौलिक अर्थ नष्ट हो जाय और दूसरा अर्थ उसकी जगह आ जाय।"[2] उदाहरण दिया है मुनि से बना मौन — मुनियों का आचरण। हिन्दी में अर्थ है चुप रहना। एक बार श्री हरिशंकर शर्मा आगरे से हरदुआगंज जा रहे थे। गहरे रंग की टोपी लगाये थे। बस पर चढ़े तो एक किसान ने उन्हें कांग्रेसी नेता समझकर कहा — आओ पन जी (त का पूर्ण उच्चारण कीजिए)। यहाँ "पनजी" शब्दों में अर्थादेश हुआ। उसने "आओ चन्द्रभान गुप्तजी" नहीं कहा, इसलिए इस नाम में अर्थादेश नहीं हुआ। अर्थ-विस्तार की तरह अर्थ संकोच और अर्थ-विस्तार का कोई नियम नहीं है। परिस्थिति, भाषा का शब्द भंडार, सामाजिक आवश्यकताएँ — इन पर उपर्युक्त नियमों का लागू होना निर्भर है।

अर्थ-परिवर्तन का एक कारण बताया गया है, "बल का अपसरण। बलहीन ध्वनियों के दबाये जाने और लुप्त होने के समान "किसी शब्द के अर्थ

१ बाबूराम सक्सेना, सामान्य भाषा विज्ञान, पृष्ठ १०१।
२ वही, पृष्ठ १०२।

के प्रधान पक्ष से हटकर बल यदि दूसरे पर आ जाता है तो धीरे-धीरे वही अर्थ प्रधान हो जाता है और प्रधान अर्थ बिल्कुल लुप्त हो जाता है।"[1] उदाहरण दिया है गोस्वामी शब्द का। गोस्वामी — बहुत सी गायों का स्वामी — धनी और माननीय — अंत में, माननीय धार्मिक व्यक्ति, गोस्वामी इस अर्थ का वाचक हुआ। इस अंतिम अर्थ में न गौ पर बल है, न स्वामित्व पर। प्रधान पक्ष छोड कर अर्थ गौण पक्ष से सम्बद्ध नहीं हुआ। उसने एक नया अर्थ देना आरंभ किया। स्वामित्व के जब नये रूप प्रकट हुए और गोस्वामित्व का विशेष महत्व न रह गया, तब गोस्वामी के मूल अर्थ से बिल्कुल भिन्न अर्थ जनता की आवश्यकतानुसार उसमें आरोपित कर दिया गया। नवीन अर्थ एक संसर्ग-क्रम का ही परिणाम था — गायों का स्वामी, इसलिए धनी, फिर माननीय और धार्मिक (ईश्वर के लिए भी प्रयुक्त); स्वामित्व और ऐश्वर्य से उसका संसर्ग नहीं छूटा। सामाजिक कारणों से स्वामित्व के रूप बदले, शब्द का अर्थ भी बदला। दूसरा उदाहरण "जुगुप्सा" शब्द का दिया गया है। गुप्-गाय का पालन करना — आगे चलकर केवल पालने के लिए उसका प्रयोग होने लगा; "पालन छिपा कर किया जाता है अत: इसमें छिपाने का भाव आने लगा"। यह बात स्पष्ट नहीं है कि किस युग और प्रदेश में पालने की क्रिया गोपनीय समझी जाती थी जिससे गुप में तो छिपाने और अन्त में घृणा का भाव उत्पन्न हुआ किन्तु लालन-पालन, पालनहार, आदि से यह भाव बहुत दूर रहा।

अब "पीढी-परिवर्तन" में अर्थ का परिवर्तित होना देखिए। "पीढी-परिवर्तन के समय जब पुरानी पीढ़ी चिता की ओर चल पड़ती है और नयी पीढी मुकुलित होने लगती है तो प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्तन होने लगता है।" दुर्भाग्य से नयी पीढ़ी के अवतरण का कोई दिन निश्चित नहीं है, न पुरानी पीढ़ी के चितारोहण का ही मुहूर्त निश्चित है। मरने-जीने का क्रम नित्य ही चलता रहता है। नयी-पुरानी पीढ़ियों में इस तरह की सीमा रेखा नहीं बन पाती कि भाषा में परिवर्तन की नौबत आ जाय। "आवश्यक नहीं है कि नयी पीढ़ी प्रत्येक शब्द को उतनी गहराई तक समझे। इसी न समझने में नया अर्थ विकसित हो जाता है।" समझ और नासमझी मनुष्य की सामाजिक स्थिति और उसकी संस्कृति पर भी निर्भर है। यदि बुढ़ापे और जवानी के हिसाब से अर्थ-परिवर्तन हो तो कुछ दिनों में भाषा बिल्कुल ही बदल जाय और एक शताब्दी के लोग दूसरी शताब्दी के लोगों की भाषा कभी समझ ही न पायें।

दूसरी भाषाओं से शब्द ग्रहण करने पर उनमें अर्थ-परिवर्तन होता है, नहीं भी होता। एक ही भाषा के बोलने वाले बिखर जाय तो उनकी शब्दावली

---

1. भोलानाथ तिवारी

जायगा।"[1] प्रथम वाक्य में नाक सिकोड़ने की क्रिया दूसरे वाक्य के आरम्भिक अंश में दोहरायी गयी। इस प्रकार की आवृत्ति का सम्बंध चाहे संस्कृत होने से हो, चाहे असंस्कृत होने से, एक बात स्पष्ट है कि इस तरह के भेद से भाषा परिवर्तित नहीं होती। दूसरी भाषाओं के प्रभाव से वाक्य रचना प्रभावित होती है, यह ठीक है। यह भी सम्भव है कि वह बिल्कुल प्रभावित न हो। "बल का प्रदर्शन" करने के लिए शायद ही कोई "जाता हूँ मैं घर" कहता हो। हो सकता है कि उदाहरण गलत हो, सिद्धान्त सही हो। किन्तु इस तरह का हेरफेर शैलीगत भेद ही कहलायेगा, उससे भाषा का ढांचा नहीं बदलेगा। "बोलने वालों की मानसिक स्थिति में परिवर्तन" से वाक्य-रचना में भेद हो सकता है। किन्तु जब तक सारे समाज की ऐसी मनोदशा न हो जाय कि पुरानी वाक्य-रचना पद्धति से काम ही न चले, तब तक भाषा में परिवर्तन न होगा। यह कहना तो बिल्कुल गलत है कि "युद्धकालीन व्याख्यानों में वाक्य घुमे-फिरे न होकर सीधे अधिक होते हैं।" सीधे वाक्य बोलने वाले लोग अक्सर शांति-प्रेमी होते हैं। लच्छेदार वाक्यों से जनता को ठगने का काम जैसा युद्धकाल में होता है, वैसा दूसरे समय कम होता है। फिर सभी युद्ध एक से नहीं होते; स्वाधीनता के लिए लड़ने वालों की वही मनोवृत्ति नहीं होती जो दूसरों को गुलाम बनाने वालों की होती है। पुन. प्रश्न यह है कि यूरोप के महायुद्धों से क्या वहां की भाषाओं ने अपनी वाक्य-रचना पद्धति बदल दी है।

अभी तक चर्चा हुई भाषा के विकास के कारणों की। इस विकास में बाधक कारणों पर भी दृष्टिपात कर लें। कहा गया है कि भौगोलिक कारणों से यदि किसी भाषा के बोलने वालों तक बाहर के लोग पहुंच न सकें तो उसमें परिवर्तन कम होगा। यह नियम सही है किन्तु संसार की कोई भी भाषा नितान्त अकेलेपन में नहीं पनपी, इसलिए यह नियम अनावश्यक है। उदाहरण रूप में कहा गया है, "भारोपीय परिवार की आइसलैंडिक भाषा इसी कारण अन्यों की अपेक्षा कम विकसित हुई है।"[2] आइसलैंडिक भाषा के लेखक को नोबेल पुरस्कार मिल चुका है। ऐसी भाषा के कम विकसित होने का कोई प्रमाण नहीं दिया गया। भाषा के विकास को रोकने का एक कारण खाद्याभाव बताया गया है जिससे "लोगों का अधिक समय भोजन के पीछे चला जाता है, अत. अन्य समस्याओं पर विचार करने का समय नहीं रहता।" मानो फुर्सत में सूत कातने की तरह लोग शब्द गढ़ते रहते हों। कामकाज बहुत रहता है तो उन्हें इसकी फुर्सत नहीं मिलती। भाषा में अटपटापन न आये, इसलिए लोग

१. भाषा विज्ञान, पृष्ठ ५।
२. उप., पृष्ठ ३४।

उन्हें संशोधित रूप को ही अपनाते हैं। ' [illegible] भाषाओं के विकास में बाधक होते हैं।' इनके मत में इस [illegible] विचार सदा अमान्य ही? यदि संशोधित रूपों को न माना जाए [illegible] तो भाषा का उनका प्रयोग गलत ही हुआ है। इसी प्रकार अशुद्ध [illegible] समाज में होने के रूप में भी [illegible] शिक्षित भाषा के [illegible] भाषा का प्रयोग करते हैं और इस प्रकार भाषा का विकास [illegible] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी रूप को स्वीकार किया। उससे हिन्दी का [illegible] विकास रुक गया? यदि हिन्दी में आवे-जावे करा-किया [illegible] या आदि के रूपों में (बोलने और लिखने में) स्थिरता आ जाए, कुछ रूप शुद्ध और अन्य अशुद्ध मान लिये जाएं तो इससे विकास रुकेगा नहीं भाषा की उपयोगिता और बढ़ जाएगी।

भाषा का विकास क्यों होता है, यह जानने से पहले इस बात पर मन स्थिर करना चाहिए कि विकास होता भी है या नहीं। भाषा में परिवर्तन होता है, इस बात से सभी विद्वान् सहमत हैं किन्तु इस परिवर्तन की कोई दिशा भी है या नहीं, इस बारे में मतभेद है। डॉ बाबूराम सक्सेना ने यह दार्शनिक युक्ति दी है, "प्रति क्षण प्रति निमिष वस्तु में परिवर्तन होता रहता है, कोई चीज स्थिर नहीं है। यही भारतीय क्षणिकवाद का अटल सिद्धान्त है जो 'इद सर्व क्षणिक जगत्या जगत्' द्वारा प्रकट है।" क्षणिकवाद भारतीय दर्शन की एक धारा है, एकमात्र धारा नहीं है। भारतीय विचारकों ने अनेकान्तवाद जैसे उदात्त चिन्तन के भी अनेक तत्त्व दिये हैं। संसार स्थिर है, परिवर्तनशील भी। संसार को एक ही दृष्टिकोण से देखना गलत है। यदि संसार में कोई चीज स्थिर न हो तो समाज के सदस्य एक-दूसरे की बात न समझें, बाप-बेटे में बातचीत होना कठिन हो जाय। लेकिन कुछ शताब्दियों के बाद यह सम्भव है कि नव सन्तति अपने बाप-दादों की बात न समझे। संसार की अन्य प्रक्रियाओं की तरह भाषा को भी संश्लिष्ट प्रवाह के रूप में देखना चाहिए, उसकी सापेक्ष स्थिरता और प्रवहमानता के कारणों का पता लगाने का प्रयत्न करना चाहिए। डॉ सक्सेना का मत है कि भाषा में परिवर्तन ही नहीं विकास भी होता है किन्तु विकास को वे उन्नति-अवनति से परे मानते हैं। उनके अनुसार भाषा के परिवर्तन को "कोई उन्नति, कोई अवनति के नाम से पुकारते हैं, कोई कहते हैं कि अमुक रूप घिसकर ऐसा हो गया, कोई कहते हैं कि अमुक रूप ने बढ़कर ऐसी शकल ग्रहण कर ली। इन सारे परिवर्तनों को विकास कहना चाहिए:—
[illegible] इतवार हुआ और एकादश ग्यारह। इसी प्रकार
[illegible] तथा भक्त से भगत का विकास हुआ। विकास
[illegible] नहीं उठता, वह अवश्यम्भाविता का परि-

जायगा।"[1] प्रथम वाक्य में नाक सिकोड़ने की क्रिया दूसरे वाक्य के आरम्भिक अंश में दोहरायी गयी। इस प्रकार की आवृत्ति का सम्बंध चाहे संस्कृत होने से हो, चाहे असंस्कृत होने से, एक बात स्पष्ट है कि इस तरह के भेद से भाषा परिवर्तित नहीं होती। दूसरी भाषाओं के प्रभाव से वाक्य रचना प्रभावित होती है, यह ठीक है। यह भी सम्भव है कि वह बिल्कुल प्रभावित न हो। "बल का प्रदर्शन" करने के लिए शायद ही कोई "जाता हूँ मैं घर" कहता हो। हो सकता है कि उदाहरण गलत हो, सिद्धान्त सही हो। किन्तु इस तरह का हेरफेर शैलीगत भेद ही कहलायेगा, उससे भाषा का ढाँचा नहीं बदलेगा। "बोलने वालों की मानसिक स्थिति में परिवर्तन" से वाक्य-रचना में भेद हो सकता है। किन्तु जब तक सारे समाज की ऐसी मनोदशा न हो जाय कि पुरानी वाक्य-रचना पद्धति से काम ही न चले, तब तक भाषा में परिवर्तन न होगा। यह कहना तो बिल्कुल गलत है कि "युद्धकालीन व्याख्यानों में वाक्य घुमे-फिरे न होकर सीधे अधिक होते हैं।" सीधे वाक्य बोलने वाले लोग अक्सर शांति-प्रेमी होते हैं। लच्छेदार वाक्यों से जनता को ठगने का काम जैसा युद्धकाल में होता है, वैसा दूसरे समय कम होता है। फिर सभी युद्ध एक से नहीं होते; स्वाधीनता के लिए लड़ने वालों की वही मनोवृत्ति नहीं होती जो दूसरों को गुलाम बनाने वालों की होती है। पुनः प्रश्न यह है कि यूरोप के महायुद्धों से क्या वहाँ की भाषाओं ने अपनी वाक्य-रचना पद्धति बदल दी है।

अभी तक चर्चा हुई भाषा के विकास के कारणों की। इस विकास में बाधक कारणों पर भी दृष्टिपात कर लें। कहा गया है कि भौगोलिक कारणों से यदि किसी भाषा के बोलने वालों तक बाहर के लोग पहुँच न सकें तो उसमें परिवर्तन कम होगा। यह नियम सही है किन्तु संसार की कोई भी भाषा नितान्त अकेलेपन में नहीं पनपी, इसलिए यह नियम अनावश्यक है। उदाहरण रूप में कहा गया है, "भारोपीय परिवार की आइसलैंडिक भाषा इसी कारण अन्यों की अपेक्षा कम विकसित हुई है।"[1] आइसलैंडिक भाषा के लेखक को नोबेल पुरस्कार मिल चुका है। ऐसी भाषा के कम विकसित होने का कोई प्रमाण नहीं दिया गया। भाषा के विकास को रोकने का एक कारण खाद्याभाव बताया गया है जिससे "लोगों का अधिक समय भोजन के पीछे चला जाता है, अतः अन्य समस्याओं पर विचार करने का समय नहीं रहता।" मानो फुर्सत में सूत कातने की तरह लोग शब्द गढ़ते रहते हों। कामकाज बहुत रहता है तो उन्हें इसकी फुर्सत नहीं मिलती। भाषा में अटपटापन न आये, इसलिए लोग

---

१. भाषा विज्ञान, पृष्ठ ५।

जिसके लिए होता है उस समय बाह्य अन्तर्विरोध मुख्य थे। शिकार भूमि, जलाशय, कन्दमूल आदि के इस्तेमाल, वन-उपवन आदि के लिए विभिन्न मानव-समुदायों में संघर्ष होता था। श्रम द्वारा जब मनुष्य ने सम्पत्ति अर्जित की, तब छोटे-बड़े का भेद उत्पन्न हुआ। समस्त समाज के सामूहिक श्रम के बदले वर्ग-विशेष ने श्रम का भार सम्भाला, एक वर्ग इस श्रम का फल भोगने लगा। इस प्रकार सामाजिक अन्तर्विरोध उत्पन्न हुए। यह विकास का दूसरा कारण हुआ। इस आन्तरिक संघर्ष से बाह्य अन्तर्विरोध खत्म नहीं हुए, वरन और तीव्र हो गये। सम्पत्तिशाली वर्ग दूसरी जातियों का श्रमफल लूटने के लिए युद्ध करने लगे और यह क्रिया आज तक जारी है। भीतर और बाहर — दोनों तरह — के अन्तर्विरोधों का प्रभाव समाज के विकास पर पड़ता है। भाषा का विकास भी इन दोनों तरह के अन्तर्विरोधों को सामने रखकर समझा जा सकता है।

मनुष्य की आर्थिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक आवश्यकताएँ बदलती रहती हैं, इसलिए यह बिल्कुल संभव है कि किसी काल विशेष में भाषा उनकी पूर्ति का माध्यम न बन सके। इसलिए यह कहना ठीक नहीं है कि अपने-अपने समय के लिए सभी भाषाएँ अच्छी हैं। अपने समय के लिए प्राचीन ग्रीक भी अच्छी थी और वे अन्य भाषाएँ भी अच्छी रही होंगी जिनका हम नाम भी नहीं जानते। जिस समय भारत में संस्कृत अन्तर्जातीय व्यवहार की भाषा थी, उस समय यहाँ अन्य भाषाएं भी बोली जाती थीं लेकिन उनमें साहित्य न रचा गया, इसलिए उनके अस्तित्व की कल्पना करने में भी लोगों को कठिनाई होती है। पूंजीवादी ब्रिटेन और पूंजीवादी फ्रांस का अर्थतंत्र मूलतः एक सा रहा है लेकिन शिष्ट शब्दावली के लिए — उच्चस्तरीय संस्कृति के माध्यम के लिए — ब्रिटिश अभिजात-वर्ग फ्रान्स का मुखापेक्षी रहा है। रूस में भी अभिजात वर्ग था, फ्रान्स में भी अभिजात वर्ग था। फिर भी यह वर्ग अपने समय के लिए रूसी अच्छी न मानकर अक्सर फ्रांसीसी भाषा का व्यवहार करता था। इसके अतिरिक्त एक ही प्रदेश के लोग विभिन्न युगों में जब सामाजिक विकास की मंजिलें पार करते हैं, तब वे पहले से बाद की सामाजिक व्यवस्था का ही अन्तर नहीं देखते, भाषा का अन्तर भी देखते हैं। आदिम साम्यवाद की अवस्था में जो भाषाएं काम आती रही होंगी, वे सामन्ती अवस्था की भाषाओं से कम विकसित रही होंगी, क्योंकि सामन्ती व्यवस्था में मनुष्य की सामाजिक आवश्यकताएं और ज्ञान पहले से बढ़ जाते हैं। कुछ समाज-शास्त्रियों का मत है कि "जिन जातियों का उत्पादन कौशल बिल्कुल पिछड़ा हुआ है और लोग अशिक्षित हैं, उनकी भाषाएं भी तथाकथित सभ्य जनों की भाषा से देखने में कम विकसित या ज्यादा पिछड़ी

हुई नहीं मालूम होती।"[1] किसी जाति को दबाकर रखा जाए, उसे सामाजिक उन्नति का मौका न दिया जाए, तो इसका प्रभाव भाषा पर अवश्य पड़ेगा। सामाजिक दमन और बाधाओं का विरोध करते हुए प्रतिकूल परिस्थितियों में भी कोई जाति अपनी भाषा का विकास कर ले, यह बात दूसरी है।

भाषा सामाजिक विकास का एक अंग है, समाज के साथ भाषा भी विकसित होती है किन्तु उसके सभी अंगों में बराबर परिवर्तन होता चले, यह आवश्यक नहीं है। भाषा, बात, भाई, डर, विकार — ये अनेक ध्वनि-प्रयोग एक-दूसरे से मिलते-जुलते हैं। इनमें कौन रूप अधिक विकसित है, कौन कम, इसकी कोई विशेष कसौटी नहीं है। अधिक से अधिक हम यह कह सकते हैं कि अमुक रूप हमारी भाषा की ध्वनि प्रकृति के अनुकूल है या प्रतिकूल। ध्वनि के अलावा व्याकरण-रूप है। हम पहले देख चुके हैं कि व्याकरण-रूपों का भी विकास हुआ है। कुछ भाषा विज्ञानी मानते हैं कि भाषाएं पहले संश्लिष्ट थीं, उनका विकास विश्लेषणात्मक रूपों की ओर हुआ है। इस विचार का कोई प्रामाणिक आधार नहीं है। न यह कहा जा सकता है कि विश्लेषणात्मक भाषाएं अपनी अभिव्यंजना शक्ति में संश्लिष्ट भाषाओं से आगे बढ़ी हुई हैं। व्याकरण-रूपों में कौन पद्धति अधिक विकसित है, कौन कम यह कहना कठिन है। किन्तु कुछ भाषाओं में अपने धातु प्रत्ययों से नये शब्द गढ़ने की क्षमता होती है, कुछ में नहीं होती, या कम होती है। फ्रान्ज बोआस ने ठीक लिखा है, "साफ-सुथरे व्युत्पत्ति-शास्त्र वाली भाषाएं जो आसानी से नये समास-पद बना सकती हैं शब्द उधार लेने नहीं दौड़ेंगी क्योंकि वे सरलता से व्याख्यात्मक शब्द बना लेती हैं।"[2] यह एक महत्वपूर्ण भेद है। इससे भाषा परमुखापेक्षी नहीं रहती। इस बारे में भी कुछ लोग तर्क कर सकते हैं कि उधार से काम चले तो धातु-प्रत्ययों की चिन्ता क्यों की जाय। उधार से काम चलाइए बशर्ते कि दूसरों के माल को अपना कह कर आप दूसरों पर रोब न जमायें।

व्याकरण-रूपों के विकसित होने में समय लगता है। सभी भाषाएं अपने समस्त व्याकरण-रूप लेकर तुरत प्रकट नहीं हो गयीं। बोआस का यह मत ठीक नहीं मालूम होता कि "व्याकरण सम्बंधी गठन के मूल तत्व सब भाषाओं में मिलते हैं। यथा, श्रोता और अन्य पुरुष के भेद तथा देश, काल और रूप की धारणाएं सभी भाषाओं में मिलती हैं।"[3] वर्तमान काल में भाषाएं देखकर ऐसा लगता है कि व्याकरण के मूल रूप सनातन और सर्वव्यापी हैं। मूल व्याकरण

---

१. बील्स और होइयर, ॲन इन्ट्रोडक्शन टु ॲन्थ्रोपौलोजी, पृष्ठ ५०८।
२. बोआस, जेनेरल ॲन्थ्रोपोलौजी, पृष्ठ १३६।
३. बोआस, दि माइंड ऑव प्रिमिटिव मैन, पृष्ठ १६५।

समानान्तर बोली जाने वाली उसी के परिवार की भाषाओं के प्रभाव से ग्रीक या लैटिन की वाक्य-रचना, रूप-विकार आदि पूरी तरह बदल नही गये। यदि आप मानते हो कि यूरोप मे आने वाले आर्यों का प्रभाव भारतीय भाषाओ पर पड़ा, तो भी स्वीकार करना होगा कि इस प्रभाव से भारतीय भाषाओ की भाव-प्रकृति बदल नही गयी। ज्यादा से ज्यादा कुछ शब्द ही हमारी भाषाओं मे आ मिले होंगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि वाह्य अन्तर्विरोधो मे भाषा के सभी तत्व समान गति से नही बदलते, सबसे ज्यादा परिवर्तन शब्द-भंडार मे होता है।

भाषा का कोई भी तत्व अपरिवर्तनशील नही है। भाषा परिवर्तित ही नही, पूरी तरह नष्ट भी हो सकती है। अमरीका के अधिकांश नीग्रो इसका प्रमाण हैं। उनमें से कुछ अब भी अपने थोडे से प्राचीन शब्द बचाये है और उन्हे अंग्रेजी मे मिला कर बोलते है लेकिन ये अपवाद है। किसी समाज की भाषा मे बाह्य प्रभावों से कितना परिवर्तन होता है, यह उस प्रभाव की शक्ति पर निर्भर है, साथ ही समाज के गठन, उसके प्रतिरोध, उसके सदस्यो के भाषा-प्रेम पर भी निर्भर है। स्वाधीनताप्रेमी समर्थ जातिया पराधीन होने पर भी संघर्ष करती रहती है और अपनी भाषा की रक्षा करती हैं। ससार की जातियां एक-दूसरे की सस्कृति से लाभ उठायें, इससे अच्छा और क्या होगा ? इसी तरह उनकी भाषाओ में सम्पर्क बढे, शब्दों का आदान-प्रदान हो, वे उन्नत और समृद्ध हों, यह वांछनीय है। किन्तु सामन्तवाद और पूजीवाद के अन्तर्गत जातियो मे समानता और भाईचारा कम रहता है, दूसरो को गुलाम बनाने और उन पर शासन करने की प्रवृत्ति अधिक रहती है। ऐसी स्थिति मे भाषाओ का आदान-प्रदान समानता और सहयोग के आधार पर नही होता; उसका आधार होता है शोषण, दमन और पराजय। इस तरह का सम्पर्क अवांछनीय है और उससे भाषा को समृद्ध न होने देना ही अच्छा है। कहा जाता है कि ब्रिटेन के आदि निवासी केल्ट थे। इन पर जर्मन भाषी ऐंगल और सैक्सन जनों ने विजय पायी। अब अंग्रेजी मे इन आदिवासियों के केवल एक दर्जन के लगभग शब्द मिलते है। इनमें गधे का पर्यायवाची "ऐस" शब्द है जो अपने स्थान से टस से मस नही हुआ। भाषाविद् यस्पर्सन के अनुसार "ब्रिटेन जनो (आदिवासियो) का समूल नाश नही किया गया वरन् वे सैक्सन विजेताओं मे घुल गये। उनकी सभ्यता और भाषा गायब हो गयी लेकिन नस्ल बनी रही।"[1] यस्पर्सन का मत है कि विजित जाति प्रयत्न करती थी कि विजेताओं की भाषा ही बोले। इसलिए उसने अंग्रेजी अपनायी और अपने शब्द छोड़

1. यस्पर्सन, ग्रोथ एण्ड स्ट्रक्चर ऑव दि इंगलिश लैंग्वेज, १९४१, पृष्ट ३५।

प्रदान कोई विशुद्ध भाषागत हवाई चीज नही है। उसमे सांस्कृतिक मूल्य निहित होते है। आदान-प्रदान दोनों पक्षों के सामाजिक सम्बंधो पर निर्भर होता है। कोई अंग्रेज इस बात पर गर्व नही कर सकता कि पशुओ के नाम — ऑक्स, काउ, काफ, शीप, स्वाइन, बोर, डीअर — तो अंग्रेजी हैं लेकिन उनके मांस के नाम — बीफ, वील, मटन, पोर्क, बेकन, ब्रॉन, वेनीसन — फ्रान्सीसी हैं। इसका कारण यह हो सकता है कि गाय-बैल चराने का काम अंग्रेज करते थे, उनका मांस भक्षण करते थे फ्रासीसी अथवा यह कि फ्रास के लोग पाकशास्त्र मे अधिक निपुण थे, इसलिए डिनर और सपर की तरह खाद्य पदार्थों के नाम भी फ्रासीसी रखे गये। जो भी कारण हो, इन शब्दो का व्यवहार अंग्रेजों की सास्कृतिक पराधीनता ही सिद्ध करता है। यदि इसी तरह के अंग्रेजी शब्द भी फ्रास पहुच गये होते तो इस आदान-प्रदान को सराहनीय कहा जाता।

इस पराधीनता के लिए इगलैंड के सभी लोग जिम्मेदार न थे। शासन की बागडोर सामन्तो के हाथ मे थी। ये लोग जन-साधारण से अपने को ऊंचा साबित करने के लिए फ्रासीसी शब्दो का अधाधुन्ध प्रयोग करते थे। "लेकिन निम्न वर्ग अंग्रेजी और अपनी भाषा को मजबूती से पकड़े हुए हैं।"[1] *अंग्रेजी भाषा के जो पुराने तत्व अब तक सुरक्षित हैं, उनके लिए श्रेय मिलना* चाहिए इगलैण्ड की गरीब अशिक्षित जनता को। भद्र जन फ्रान्सीसी शब्दों के साथ उनके विदेशी उच्चारण की भी नकल करते थे। साधारण अंग्रेज जनता ने इन शब्दो का रूप बदल डाला। आज भी शिक्षित लोग मोटर रखने के स्थान को — फ्रासीसी उच्चारण की नकल करते हुए — गराज कहते हैं, मोटर ड्राइवरो ने उसे गैरिज कर दिया है। लेकिन जहा तक सम्पत्तिशाली वर्गों का सम्बध है, उन्होने अंग्रेजी भाषा के तन और मन दोनो को फ्रासीसी बनाने मे कुछ भी उठा नही रखा। जर्मनी फ्रास का पडोसी है किन्तु जर्मन भाषा मे इतने फ्रासीसी शब्द क्यो नही आये? इसलिए कि जर्मन शासक वर्ग इतना जातीयता-भ्रष्ट और चरित्रहीन नही था जितना अंग्रेज शासक वर्ग। वैसे वहा के राजा भी फ्रासीसी बोलने मे कभी गर्व का अनुभव करते थे किन्तु जर्मन जनता ने फ्रासीसी शब्दो को भीतर घुस-पैठने की पूरी छूट न दी थी। जर्मन मे जो फ्रासीसी शब्द आये उनका अनुपात अंग्रेजी मे आये हुए फ्रासीसी शब्दो से बहुत कम है। इस प्रकार किसी भाषा का शब्द-भडार उसे बोलने वालो के जातीय चरित्र का द्योतक होता है।

दान्ते और चौसर के युग में यूरोपीय नवजागरण आरम्भ हुआ। नयी

१. तेरहवीं-चौदहवीं सदी के लेखक रॉबर्ट ऑव ग्लौस्टर के शब्द, यस्पर्सन द्वारा उद्धृत, पृष्ठ ८७।

है।" यस्पर्सन की टिप्पणी है, "शब्द ऐसी भौतिक वस्तु नहीं है जिनका अन्न, वस्त्र या रुपये-पैसों की तरह ढेर लगा दिया जाय और जब जरूरत पड़े तब उसमें से माल निकाल लिया जाय। शब्द को अपना बनाने के लिए उसे सीखना होता है, अपना बनाने का अर्थ है उसका व्यवहार कर सकना। उसे सीखने और उसका व्यवहार करने में मेहनत पड़ती है। कुछ शब्दो का व्यवहार सरल होता है, कुछ का कठिन होता है। इसलिए महत्व इसी बात का नही है कि तुम्हारी भाषा मे शब्दो की संख्या कितनी है। उनके गुणो पर भी विचार करना चाहिए, विशेषकर इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि वे जिन विचारो के प्रतीक हैं, उन्हें वे सरलता से व्यक्त कर सकते हैं या नही और दूसरे शब्दों से उनकी पटरी बैठती है या नही। इस दृष्टि से विचार करने पर बहुत से लैटिन शब्दों में खामियां दिखाई देती हैं। इससे अंग्रेजी भाषियो के सामने अन्य असुविधाएं भी आती हैं जैसा कि आगे हम देखेंगे। क्लासिकल भाषाओं के पक्ष में यह दलील दी जा सकती है कि उनसे देशी भाषाओं के शब्द-भंडार की दरारें भरी जाती हैं। उनके बिना कुछ विचार प्रकट ही नही किये जा सकते। इसके विरोध मे यह कहा जा सकता है कि मूल भाषा की अपनी रचना-क्षमता को कम करके न आंकना चाहिए। बाहर से आये हुए अधिकांश, शायद सभी, शब्दो के लिए देशी भाषा में उचित पर्यायवाची मिल जाते या नये शब्द गढ़ लिये जाते। प्राचीन अंग्रेजी मे मितव्ययिता का रुझान था, नये विचारो के लिए देशी भाषा-तत्वो के आधार पर कितनी आसानी से नये शब्द गढ़ लिये जाते थे, यह हम देख चुके है। लेकिन धीरे-धीरे अंग्रेजी-भाषियों की यह आदत ही छूट गयी कि पहले अपनी भाषा की तरफ देखें और नये शब्दो की खोज मे विदेश यात्रा करने से पहले भरसक अपनी भाषा का उपयोग करें। जिन लोगों को सारी शिक्षा लैटिन के माध्यम से मिली थी और जिनका चिन्तन-मनन इतना अधिक लैटिन मे होता था कि आज हम उसकी कल्पना भी नही कर सकते, उन्हें विद्वत्तापूर्ण या सूक्ष्म विषयो पर अपनी भाषा की अपेक्षा लैटिन मे लिखना सरल मालूम होता था। जब वे इन्ही विषयो पर अंग्रेजी मे लिखने की कोशिश करते थे, तब सबसे पहले लैटिन शब्द ही उनके दिमाग मे आते थे। मानसिक आलस्य और अपनी क्षणिक सुविधा के विचार से वे लैटिन शब्दो को बनाये रखते थे, केवल उनका रूप-विकार अंग्रेजी के ढंग पर कर देते थे। उन्हें न अपने पाठकों की सुविधा का ध्यान था, जो क्लासिकल भाषाओं से अपरिचित थे, न आने वाली पीढ़ियों की चिन्ता थी, जिन्हें अपनी भाषा का निरादर करके उन्होंने विदेशी शब्द और मुहावरे रटने के लिए बाध्य किया। वे भाषा के गलत मोड़ों को भले ही न सुधार पाते हों — वे खोज सदा की तरह आज भी [illegible]

आपकी इच्छा हो तो इन सारी गुत्थियों को हिंदी में उतार लीजिए और उससे भाषा को समृद्ध कर डालिए।

जेस्पर्सन ने इस तरह के शब्दों के प्रयोग को जनतंत्र-विरोधी कहा है। भाषाशास्त्री को मजबूर होकर राजनीतिक शब्दावली का सहारा लेना पड़ा है। लिखा है, "जिन शब्दों की हम चर्चा कर रहे हैं, उनके बारे में सबसे खराब बात यह कही जा सकती है कि वे कठिन हैं। इस कठिनता से उनकी जनतंत्र-विरोधी विशेषता उत्पन्न होती है। इनमें बहुत से शब्द न व्यवहार में आयेंगे, न समझे जायेंगे, उनका व्यवहार करेंगे तो वही लोग जिन्हें क्लासिक भाषाओं की शिक्षा मिली है। (यहां पादटिप्पणी में लिखा है : 'कभी-कभी विद्वान स्वयं उनका अर्थ नहीं समझते।' उदाहरण के लिए कुछ शब्द दिये हैं जिनका अर्थ कोशों में गलत दिया हुआ है।) साधारण शब्द-भंडार और इन शब्दों में आम तौर से कोई विचार-संसर्ग नहीं रहता, न स्मृति की सहायता करने के लिए धातु-प्रत्ययों आदि में कोई समानता होती है। यहां वे अदृश्य सूत्र नहीं हैं जिनसे विभिन्न शब्द मानव-मन में गूंथ दिये जाते हैं। भाषा में इन शब्दों की बड़ी संख्या होने से वर्ग भेद उत्पन्न होते हैं, अथवा कहना चाहिए कि और बढ़ जाते हैं जिससे कि मनुष्य की संस्कृति का मूल्यांकन बहुत कुछ इस मानदंड के अनुसार होता है कि वह भाषण-लेखन में कहां तक इन कठिन शब्दों का सही प्रयोग कर सकता है। अवश्य ही मनुष्य का मूल्य आंकने के लिए यही वह सर्वोच्च मानदंड नहीं है जिसकी हम कल्पना कर सकें। संसार की किसी भाषा के साहित्य में हास्य के इतने ज्यादा आलंबन केवल इस कारण नहीं रचे गये कि वे 'बड़े' शब्दों का गलत प्रयोग करते हैं या उनका उच्चारण ग़लत करते हैं जितने अंग्रेज़ी में रचे गये हैं। शेक्सपियर के डोगबेरी और मिसेज क्विक्ली, फील्डिंग की मिसेज स्लिपस्लोप, स्मोलेट की विनिफ्रेड जेन्किन्स, शेरिडन की मिसेज मैलाप्रॉप, डिकेन्स का वेलर (बड़ावाला), शिलाबेर की मिसेज पार्टिंगटन, और तमाम चाकर-मजदूर वगैरह, जिनका उपन्यासों और नाटकों में मज़ाक उड़ाया गया है, मुकदमे में गवाह बनकर मुद्दई की तरफ से अदालत के सामने यह कह सकते हैं कि इंगलैंड के शिक्षित-वर्ग ने भाषा को जरूरत से ज्यादा उलझा दिया है और इस प्रकार जनता के सभी वर्गों में शिक्षा-प्रसार को रोका है।"[1]

समाज में वर्ग पहले से ही होते हैं। भाषा में कठिन और अस्वाभाविक शब्दों के प्रयोग से वे नहीं बनते किन्तु इन शब्दों को गढ़ने और उनका व्यवहार करने के बारे में वर्गों की अपनी नीति होती है। इंगलैंड के उच्च वर्ग

---

१. रॉबर्ट ऑव ग्लौस्टर के शब्द।

पर-मुखापेक्षी रहे। अपनी जातीय सम्पत्ति को ठुकरा कर मँगनी के रंग-रोगन से घर सजाते रहे। इस प्रवृत्ति को जनतन्त्र-विरोधी कहना बिल्कुल सही है। यह आदान प्रदान अस्वाभाविक और हानिकारक है, दरअसल उसमे आदान ही अधिक है, प्रदान कम है। कोई आश्चर्य नही कि मिल्टन के शिक्षक को कहना पड़ा था कि क्लासिक भाषाओ (ग्रीक और लैटिन, विशेषकर लैटिन) की शिक्षा ने अंग्रेजो का जितना अहित किया है, उतना डेन और नार्मन आक्रमणकारियो ने ध्वंस और क्रूरता ने भी न किया था।[1]

अंग्रेजी ने लैटिन और ग्रीक से जो शब्द लिये, उन्हे सम्मानप्रद आसन दिया। "हाउस" अगर मामूली घर है तो "मैन्शन" प्रासाद है। किन्तु अपने उपनिवेशो से उसने जो शब्द लिये, वे अधिकतर निम्न स्थान के हकदार हुए। इनमे एक है पंडित। जब कोई विद्वत्ता के नाम पर मूर्खता का प्रदर्शन करता है, तभी इस शब्द का प्रयोग होता है। बाबू शब्द इतना लोकप्रिय हुआ कि मोटी, गैर मुहावरेदार अंग्रेजी का नाम ही बाबू इगलिश पड गया। "ठग" ने भी यथेष्ट प्रसिद्धि पायी। मूल शब्द ही निम्नस्तर का था, अंग्रेजी मे पहुँचकर उसमे भी नीचे गिर गया। अंग्रेज ठगो का मुकाबला हिन्दुस्तानी ठग भला कब कर सकते है? पक्का, कुली, दरबार, महाराजा, पर्दा, जनाना, आदि शब्द जो भारत से अंग्रेजी मे गये है, वे अक्सर उपनिवेशो के सन्दर्भ मे ही प्रयुक्त होते हैं। ब्रिटेन की महारानी के "दरबार" के लिए इस शब्द का प्रयोग न होगा, न ब्रिटेन के सम्राट् को कोई "महाराजा" कहेगा। लेकिन फ्रांसीसी शब्द सौवरेन का प्रयोग करके अंग्रेजी-भाषी जन गौरव का अनुभव करेंगे। उपनिवेशो की जनता और उसकी भाषा को अंग्रेज हेठी निगाह से देखते थे, यह उधार लिये हुए शब्दो का प्रयोग सूचित करता है। इस प्रकार सामाजिक सम्बन्ध शब्दो के आदान-प्रदान पर, गौरव या घृणा के सन्दर्भ मे उनके प्रयोग पर असर डालते है।

किसी समाज के बाह्य अन्तर्विरोध भाषा की स्थिति पर किस तरह का प्रभाव डालते हैं, यह उस समाज की आन्तरिक स्थिति पर निर्भर है। यदि ब्रिटेन का सामन्त-वर्ग अधिक दृढता से नार्मन आक्रमणकारियो का सामना करता या उसे अपनी जातीय संस्कृति और भाषा से अधिक प्रेम होता, तो वह इस आत्मघाती ढंग से अंग्रेजी का फ्रांसीसीकरण न होने देता। यदि भारत का सामन्त वर्ग अधिक सगठित होता और आपस मे न लड़कर सारी शक्ति तुर्क आक्रमणकारियो का विरोध करने मे लगाता, तो यहा फारसी

---

1 रॉबर्ट ऑव ग्लौस्टर के शब्द।

राजभाषा न बनती और संभवतः साहित्यिक हिन्दी के विकास में उतनी बाधाएं न पड़तीं। इंगलैंड पर नार्मन प्रभुत्व एक शताब्दी से भी कम समय तक रहा। यहां फारसी लगभग छः सौ साल तक राजभाषा रही, उसके बाद अंग्रेजी आ धमकी। फिर भी अंग्रेजी या फारसी के शब्द उस तरह हिन्दी में नहीं घुस आये जिस तरह अंग्रेजी में फ्रांसीसी शब्द भर गये थे। इसका कारण यह है कि जातीय या सांस्कृतिक उत्पीड़न के खिलाफ यहां की जनता ज्यादा जम कर लड़ी और उसमें अपनी जातीय संस्कृति के लिए प्रबल अभिमान था। तुर्की में एक प्रत्यय है "ची" इससे मशालची, अफीमची जैसे शब्द बने हैं। किसी सम्मान सूचक सन्दर्भ में इस प्रत्यय का उपयोग नहीं होता। तुर्की भाषा का शब्द "उर्दू" हमारे यहां एक भाषा के लिए प्रयुक्त होने लगा। इस नये रूप में वह अलगाव का सूचक रहा। तुर्क हिन्दुस्तानियों में घुल-मिल कर एक हो गये। यहां की राजभाषा फारसी रही। भारतीय भाषाओं पर विशेष प्रभाव पड़ा फारसी का। फारसी के माध्यम से बहुत से अरबी शब्द आये; आगे चलकर अरबी के भाषा-तत्वों से उर्दू में नये शब्द भी रचे जाने लगे। फारसी में ऐसे शब्द भी आये जो संस्कृत के थे, वे अपने फारसी रूप में प्रचलित हुए। चौसर और शेक्सपियर की अंग्रेजी में लैटिन और फ्रांसीसी स्रोतों से आये हुए शब्दों की तुलना में सूर, तुलसी, कबीर और जायसी की रचनाओं में फारसी-अरबी शब्दों की संख्या बहुत ही कम है।

हिन्दी में अरबी-फारसी की ध्वनियां बदल गयी हैं। ज्वाद का उच्चारण स-रूप में होता है। अलिफ और ऐन की ध्वनियों में भेद नहीं किया जाता। गैन, गाफ, काफ आदि की ध्वनियां हिन्दी में प्रचलित नहीं हुईं। ज़ और ख़ की ध्वनियां पढ़े-लिखे लोगों की भाषा में सुनाई देती है, जनपदीय बोलियों में कहीं उनका अस्तित्व नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि फारसी-अरबी के ध्वनि-तंत्र का प्रभाव जनसाधारण की बोलचाल पर प्रायः नहीं पड़ा। जहां तक शब्द-रचना का सम्बंध है, दार, ख़ाना, बाज़ आदि कुछ तत्व हिन्दी में प्रयुक्त होते हैं। इनमें बाज के साथ घृणा-सूचक भाव जुड़ गया है, पतंगबाज, जगबाज, रंडीबाज इत्यादि। सम्मान सूचक शब्दों के साथ फारसी प्रत्ययों का व्यवहार कम होता है। शब्द निर्माण के लिए हिन्दी अपने और संस्कृत के तत्वों का सहारा अधिक लेती है। वाक्य-रचना में उर्दू लेखक कहीं-कहीं फारसी पद्धति का अनुसरण करते हैं। हिन्दी पर वह प्रभाव बिल्कुल नहीं है। इसके विपरीत अंग्रेजी भाषा समय-समय पर लैटिन वाक्य-विन्यास से काफी प्रभावित होती रही है। अंग्रेजी शब्दों के अक्षरविन्यास (स्पेलिंग) में जो अराजकता दिखाई देती है, उसका बहुत कुछ श्रेय फ्रांसीसी प्रभाव को है। यूरोप की किसी भाषा में ऐसी अराजकता नहीं है। हिन्दी में स्थिति

अपनी भाषा से प्रेम ब्रिटेन की तुलना मे यहा ज्यादा था, इसीलिए दो तरह की नीतिया और उनके दो तरह के परिणाम दिखाई देते हैं।

फारसी का अधिक प्रभाव पडा है हमारे शब्द-भंडार पर। फारसी स्वय अरबी से बहुत प्रभावित थी। इस कारण अरबी के बहुत से शब्द हिन्दी मे प्रचलित हो गये हैं। इनमें सज्ञा, विशेषण, क्रिया-विशेषण सभी तरह के शब्द हैं। सबसे कम हैं क्रियाए जो उंगलियो पर गिनी जा सकती हैं। सर्वनाम यही के रहे। फिर भी अरबी और फारसी के सैकडो शब्द हमारे मूल शब्द-भडार का अग बन गये हैं। आदमी, जानवर, इशारा, आसान, लेकिन, बिल्कुल, अगर, अलबत्ता, असल, बाद, इजारा, आसामी, अस्तबल, अदालत, बालिग, कतल, फिदा, गजब, गुलाम, गल्ला, सलाह, तरह, तरीका, कफन, लायक जैसे काफी शब्द हिन्दी और उसकी बोलियों मे प्रचलित है। इनमें कुछ शब्द ऐसे हैं जिनके हिन्दी पर्यायवाची नही हैं या हैं तो उनका व्यवहार नही होता। कुछ शब्द ऐसे हैं जिनका व्यवहार शहरो मे होता है, गावो में नही होता। अधिकाश फारसी के शब्द ऐसे हैं जिनके पर्यायवाची हिन्दी शब्द भी हैं। कही-कही अब भी यह होड़ देखी जाती है कि फारसी का शब्द अधिक प्रचलित होगा या उसका समकक्ष हिन्दी शब्द। हिन्दी की विशेषता यह है कि उसके अपने शब्द बहुत कम अपदस्थ हुए हैं। साधारणतः उसके अपने शब्द फारसी बिरादरान से कम गौरवपूर्ण नही हैं। धरती, आकाश, मनुष्य, देश, भाषा, सम्राट् जैसे शब्द, जमीन, आसमान, इन्सान, मुल्क, जबान, बादशाह से कम गौरवास्पद नही हैं। उर्दू के वे लेखक जो हिन्दी शब्दो से घृणा करते थे, उनके व्यवहार को देहातीपन की निशानी समझते थे स्वय एक सकुचित दायरे मे बद होकर रह गये, वे हिन्दी भाषा के मूल प्रवाह को रोकने या बदलने मे बिल्कुल असमर्थ रहे। बहुत कम ऐसे शब्द हैं जो फारसी से आये हैं और यहां के शब्दो से अधिक सम्मानप्रद आसन पा गये हैं। फिर भी ऐसे शब्द हैं और वे यहा फारसी के पूर्ण आधिपत्य की सूचना देते हैं। दिल्ली 'शहर' है; 'नगर' उसके मुहल्लो के नाम के साथ लगता है। 'घर' तो गरीब का भी होता है, 'मकान' खाते-पीते लोगो के ही होते हैं। इसी तरह हुजूर और साहब को अतिशय सम्मान मिला है। अग्रेजो के जाने के बाद हुजूर का रवाज कम होता जा रहा है। साहब की जगह सक्षिप्त 'जी' — मास्टर जी, सरदार जी — अधिक सुनने मे आता है। इसका कारण प्रयत्नलाघव नही, बदले हुए सामाजिक सम्बध हैं।

हमारे यहा अग्रेजी के बहुत से शब्द आये हैं। इनमें अधिकतर शब्द ऐसे हैं जिनके लिए यहा शब्द न थे — स्टेशन, रेल, मोटर, फुट, इच, मील (पहले अग्रेज भी यहा आकर कोस ही लिखते थे लेकिन अब यह नाप गावो मे ही रह गयी है। इसलिए मील का प्रचार है। अब उसे किलोमीटर हटा दे तो दूसरी

व्यक्तिगत सम्पत्ति और वर्ग-भेद के जन्म के बाद जातियों और उनकी भाषाओं में परस्पर संघर्ष होना साधारण नियम सा रहा है। अंग्रेजों ने उत्तरी अमरीका पर अधिकार किया, वहां के आदिवासियों से उनकी भूमि छीनी। आदिवासियों की भाषाओं से उन्होंने कुछ वृक्षों, झाड़ियों, सागपात, भोजन आदि के नाम ग्रहण किये। सबसे अधिक आदिवासी भाषाओं के चिन्ह रह गये हैं स्थानों के नाम पर जो यह सूचित करते हैं कि उनके असली मालिक कौन थे। अमरीकी आदिवासी विजित थे, उनकी भाषाओं का प्रभाव भी अमरीकी अंग्रेजी पर कम पड़ा। टॉमस पाइल्स नामक लेखक ने अमरीकी अंग्रेजी पर आदिवासी प्रभाव का उल्लेख करते हुए लिखा है, "यदि हम इस बात पर ध्यान दें कि अन्त में अमेरिकन इंडियनों की स्थिति एक विजित जाति की हो गयी तो हमें आश्चर्य न होना चाहिए कि अमरीकी अंग्रेजी में इंडियन शब्द इससे अधिक नहीं हैं। यदि हम स्थानों के नाम छोड़ दें — जिनकी संख्या बहुत ज्यादा है, संयुक्त राज्य के आधे से ज्यादा राज्यों के नाम इंडियन हैं और नदियों, झीलों, पहाड़ों, शहरों और नगरों में भी एक बहुत बड़ी संख्या के नाम इंडियन हैं — तो हमारे शब्द-भंडार पर इंडियन प्रभाव बहुत क्षुद्र माना जायगा।"[1] इस प्रक्रिया के विपरीत ग्रीक, लैटिन, संस्कृत, रूसी आदि में हमें काफी समानता और उससे भी अधिक भिन्नता दिखाई देती है जिससे सिद्ध होता है कि इन भाषाओं में कभी बड़े पैमाने पर मिश्रण हुआ था।

अमरीका के गौरांग आक्रमक अफ्रीका से गुलाम लाये या उन्होंने ऐसे गुलाम खरीदे। इन दासों की भाषाएं खत्म हो गयीं, उन्होंने दस्युओं की भाषा सीखी। भाषा के आन्तरिक विकास के नियमों का क्या हुआ? भाषा के बोलने वालों का समाज छिन्न-भिन्न हो गया, तब भाषा भी खत्म हो गयी। विभिन्न बोलियों के नीग्रो आपस में किसी एक सामान्य भाषा का विकास न कर सके जो उन्हें मिलाती और गौरांग प्रभुओं की भाषा के मुकाबले में उनकी जातीय एकता का प्रतीक बनती। पाइल्स के अनुसार केवल जार्जिया और दक्खिनी कैरोलीना के समुद्रतटवासी नीग्रो ऐसी अंग्रेजी बोलते हैं जो मूल अफ्रीकी भाषाओं से इतनी ज्यादा प्रभावित है कि अमरीका के अन्य भागों के काले या गोरे उनकी भाषा समझ ही नहीं पाते। इसका कारण यह है कि वे यातायात के साधनों से दूर भौगोलिक अलगाव की दशा में रहते आये हैं। "उनमें से अधिकांश का गौरांग जनों से कोई सम्पर्क नहीं रहा, उनमें से कुछ ने गोरों की शकल भी जब तब ही देखी है।"[2] इनकी भाषा की ध्वनियां अमरीकी अंग्रेजी की ध्वनियों से भिन्न

---

१ टॉमस पाइल्स, वर्ड्स एंड वेज ऑफ अमेरिकन इंगलिश, पृष्ठ ३०।
२ उप., पृष्ठ ३९।

ये बाह्य अन्तर्विरोध अनेक पेचीदा सामाजिक कारणों का परिणाम होते है। तुर्क या अंग्रेज अकारण भारत नही आये। किन्तु सामाजिक विकास के किसी नियम से यह सिद्ध नही किया जा सकता कि उनका यहा आना अनिवार्य था। अंग्रेजी पर लैटिन और फ्रासीसी का असर पड़े, हिन्दी पर अरबी-फारसी का असर पडे, यह भी अनिवार्य नही था। किन्तु सामन्ती समाज की भाषा — चाहे वह शुद्ध हो, चाहे मिश्रित और प्रभावित हो — उस व्यवस्था की सीमाओं के भीतर ही किसी संस्कृति का वाहन होगी, यह नियम निश्चित है।

आदिम साम्यवादी व्यवस्था के समाज मे अपने अन्तर्विरोध नही होते। सामूहिक श्रम की प्रथा के अनुकूल श्रमफल का स्वामित्व भी सामूहिक होता है। ऐसी स्थिति मे समाज का मुख्य अन्तर्विरोध प्रकृति से होता है या अन्य मानव-समूहो से। उत्पादन का तरीका विकसित न होने से समाज के आन्तरिक संघर्ष के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप मे कोई विशेष सामग्री नही होती। किन्तु सामूहिक श्रम के लिए सामाजिक सगठन आवश्यक होता है. आहार-प्राप्ति, रक्षा, सन्तानोत्पत्ति आदि के आवश्यक कार्यों के लिए मनुष्य ध्वनि-प्रतीकों का उपयोग करता है। इससे दो परिणाम निकलते हैं। पहला यह कि मनुष्यो का आपसी सघर्ष विकास के लिए अनिवार्य नही है। कम से कम एक ही आदिम समाज मे यह आन्तरिक सघर्ष नही होता, दो आदिम समाजो मे हो तो हो। समाज का जन्म सहयोग से हुआ है न कि सघर्ष से। साथ ही यदि प्रकृति से मानव का सघर्ष न होता तो परस्पर सहयोग भी अनिवार्य न होता। इस प्रकार सहयोग और सघर्ष, इन दो विरोधी और परस्पर सम्बद्ध ध्रुवो के सहारे सामाजिक विकास होता है। वर्गयुक्त समाज का इतिहास जितना वर्गों के सघर्ष का इतिहास है, उतना ही उनके सहयोग का इतिहास भी है। भले ही यह सहयोग जोर-जबर्दस्ती से प्राप्त किया गया हो, लेकिन इसी सहयोग के बल पर सम्पत्तिशाली वर्ग सभ्यता का निर्माण करते हैं। इस नमूने विकासक्रम मे प्रकृति से मानव का अन्तर्विरोध कम नहीं होता वरन् सामाजिक अन्तर्विरोधो को हल करने के लिए यह प्रकृति पर और भी विजय पाने के लिए प्रयत्नशील होता है। तीर-कमान और तलवार से काम चलते न देख कर वह बारूद का नुस्खा ढूढ निकालता है और जब बारूद से काफी आतिशबाजी का लुत्फ उठा लेता है, तब अणु को विच्छिन्न कर उसमे निहित शक्ति को निकाल लाता है। दो समाजो के अन्तर्विरोधो को हल करने के लिए वह इस शक्ति को काम में ला चुका है और फिर उसे काम मे लाने की तैयारी मे है। इस प्रकार बाह्य अन्तर्विरोध दो तरह के हुए, पहला प्रकृति से अन्तर्विरोध, दूसरा दो समाजों का अन्तर्विरोध। ये दोनो ही भाषा के विकास को अब तक प्रभावित करते रहे हैं।

सभ्यता के आगमन से पहले उसने दर्शन, व्याकरण और शब्द-भंडार की दृष्टि से इतनी समृद्ध भाषा-सम्पत्ति अर्जित कर ली थी कि उसके बाद का सारा भाषा-विकास चमत्कार-शून्य और एक अति साधारण मानव-क्रिया जैसा लगता है।

हम पिछले अध्यायों में देख चुके हैं कि मनुष्य जो भी ध्वनि करता है, उसकी सभी विशेषताएं महत्वपूर्ण नहीं होतीं। ब्लूमफील्ड ने निपीव् शब्द की मिसाल दी थी जिसमें प का उच्चारण व-वत् हो जाता था किन्तु इस शब्द का व्यवहार करने वाले अमरीकी आदिवासियों के लिए व-प का भेद गौण था, मुख्य बात थी ओंठों के बंद होने और खुलने की क्रिया। जर्मन कवि गेटे ने अभिनेताओं की आलोचना की थी कि वे कुछ अघोष और सघोष ध्वनियों का भेद न कर पाते थे। आज भी प्रत्येक सभ्य देश में ध्वनि की गौण विशेषताएं खत्म नहीं हुईं। इन गौण विशेषताओं में बड़ी तरलता है। ध्वनि की जो विशेषता महत्वपूर्ण नहीं है, उसका चाहे जैसे प्रयोग कीजिए, भाषा के व्यवहार में कोई रुकावट नहीं पड़ती। किन्तु ध्वनि की मुख्य विशेषताएं स्पष्ट और निश्चित होनी चाहिए। छोटे-छोटे समूहों में जब तक मानव विभक्त रहा, वह ध्वनि-विशेषताओं में कोई मानदंड स्थिर न कर सका। लेकिन जब वह गणों, गणसंघों, लघुजातियों और महाजातियों में संगठित हुआ तब उसे परिनिष्ठित भाषा की आवश्यकता पड़ी और वह ध्वनियों के स्पष्ट और निश्चित रूपों की ओर बढ़ा। अनिश्चित या भिन्न रूप खत्म नहीं हो गये लेकिन विकास की एक दिशा दिखाई देने लगी। ध्वनियों के उच्चारण में मनुष्य अव्यक्त से व्यक्त, अस्पष्ट से स्पष्ट, अनिश्चित से निश्चित रूपों की ओर बढ़ा है। इसे भाषा-विकास का व्यापक सिद्धान्त मानना चाहिए। यह विकास है, परिवर्तन मात्र नहीं।

ध्वनि की तरलता के समान हम अनेक शब्दों में अर्थ की तरलता भी पाते हैं। तात का अर्थ क्या है? पिता और पुत्र दोनों। तात की तुलना में पिता और पुत्र शब्दों के अर्थ निश्चित हैं। गंगा शब्द नदीवाचक है। कश्मीर से लेकर बंगाल तक और चीन से लेकर दक्खिन एशियाई देशों तक यह शब्द मिलता है। उत्तर भारत में गंगा कहने से एक नदी विशेष का ज्ञान होता है। सिन्धु शब्द नदियों के लिए प्रयुक्त होता था, समुद्र के लिए भी। अब वह एक नदी विशेष के लिए ही—तथा सामान्य अर्थ में समुद्र मात्र के लिए—प्रयुक्त होता है। पशु किसी भी जानवर को कह सकते हैं। तमिल में उसका विशेष अर्थ है गाय। मृग का मूल अर्थ था पशु जो मलयालम में सुरक्षित है, हिन्दी और संस्कृत में उसका अर्थ है पशु विशेष। बाइबिल का अर्थ है पुस्तक। आगे चलकर कुछ भाषाओं में वह पुस्तक विशेष के लिए सीमित हो गया। देव, देवी, देवता शब्द सभी प्रकाशमान जीवों-पदार्थों के लिए प्रयुक्त न होकर अमरों

के लिए प्रयुक्त होने लगे। ईश्वर प्रत्येक ऐश्वर्यशाली के लिए प्रयुक्त न होकर परम पिता के लिए सीमित हुआ। सामान्य से विशेष अर्थ की ओर, अनिश्चित और व्यापक अर्थ से निश्चित और सीमित अर्थ की ओर प्रगति — इसे हम भाषा-विकास का दूसरा नियम कह सकते हैं।

हम यह भी देखते हैं कि विशेष वस्तु का नाम सामान्य अर्थ में प्रयुक्त होने लगता है। मीरजाफर, क्विजलिंग आदि शब्द विश्वासघाती के लिए प्रयुक्त होते हैं। मनुष्य सादृश्य खोजता है, उपमा और रूपक के बिना उसका काम नहीं चलता, अपने साथी मानवों के गुणों का वर्णन करने के लिए वह उल्लू, गधा जैसे पशु-पक्षियों के नाम भी लेता है। वास्तव में यहां अर्थ की तब्दीली नहीं है। अर्थ निश्चित है। गधे के गुण या मीरजाफर और क्विजलिंग के गुणों को अन्य व्यक्तियों में देखकर उन्हें भी उन नामों से अभिहित किया गया है। प्रसार वस्तुओं में हुआ — उनकी संख्या बढ़ी — न कि अर्थ में। इसके विपरीत पशु, मृग, गधा आदि शब्द के अर्थ में ही परिवर्तन हुआ है। इसलिए हम कह सकते हैं कि सामान्य की तुलना में विशेष के लिए अर्थ का सीमित होना भाषा-विकास का एक नियम है।

उनकी सामान्य विशेषता देखकर उसके लिए गुणवाचक संज्ञा का निर्माण मूर्त से अमूर्त की ओर उसी प्रगति द्वारा सम्भव होता है।

हम देखते हैं कि भाषा मे कुछ शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं जैसे आख, नयन, नेत्र, चक्षु; कुछ शब्द एक से अधिक अर्थों के बोधक हैं जैसे दर्शन, वश, जबान। कुछ शब्द अपना मूल अर्थ खो देते है और नया अर्थ ग्रहण कर लेते है जैसे कुल। इसका कारण क्या है? भाषा सीमित है। ध्वनि-संकेतों की संख्या असीम नही है। मनुष्य की तुलना मे ससार असीम है। किसी भी अवस्था के मानवीय ज्ञान की तुलना मे भावी अर्जनीय ज्ञान का विस्तार अधिक होता है। इस प्रकार हम भाषा को ज्ञात और ज्ञातव्य के सतत अन्तर्विरोध की स्थिति में पाते है। भाषा की प्रगति का यह चिरन्तन कारण है। यदि मनुष्य को पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाय, वह अपने अन्तर्जगत् और बाह्य जगत् का पूर्ण स्वामी बन जाय, वह यह कहने की स्थिति में हो जाय कि "पाकर तुम्हे फिर और कुछ पाना न रहता शेष है", तो फिर भाषा का विकास भी रुक जाय। समाधिलीन योगियों को भाषा की आवश्यकता नहीं होती। आवश्यकता होती है साधारण श्रमरत मानवो को। उनकी आवश्यकताएं बदलती है, उनका ज्ञानक्षेत्र विस्तृत होता है, इसलिए भाषा मे भी विकास होता है।

विकास-प्रक्रिया किसी भी क्षेत्र मे सीधी और अविछिन्न नही होती। भाषा-क्षेत्र मे भी विकास का मार्ग विषम होता है, पूर्वकाल के बहुत से अच्छे गुण छूट जाते है, जो नये गुण उत्पन्न होते हैं, वे सभी लाभकारी नही होते। अनेक युगो मे भाषा के परिवर्तन देखकर ही हम उन्हे विकास का नाम देते है। विकास का अर्थ यह न लगाना चाहिए कि भाषा मे प्रत्येक परिवर्तन हर अवस्था मे प्रगति का बोधक होता है। नितान्त ह्रासशून्य विशुद्ध विकास किसी क्षेत्र मे नही होता, भाषा के क्षेत्र मे भी नही होता।

एक ही शब्द अनेक अर्थों का बोधक इसलिए होता है कि कहने को बहुत है, शब्द कम है। आप दर्शन के पंडित हैं; आपके दर्शन से चित्त प्रसन्न होता है। दोनो वाक्यो मे दर्शन का अर्थ वाक्य के सन्दर्भ से मालूम होता है। शब्द और अर्थ का सम्बंध जड और अपरिवर्तनशील होता तो एक शब्द के दो अर्थ न होते। वाक्य से अलग शब्द का अर्थ पूर्ण रूप से निश्चित नहीं होता। वाक्य के सन्दर्भ मे वह सूक्ष्म अर्थ-भेद का द्योतक होता है। शब्द की सार्थकता वाक्य में ही है। जिसे हम शब्द कहते हैं, चीनी भाषा मे उसके दो, तीन, चार अर्थ तक स्वर भेद से किये जा सकते हैं। धैवत में बोले तो एक अर्थ, पचम मे बोले तो दूसरा अर्थ। इस पद्धति से ध्वनि-संकेतो मे मितव्ययता होती है। परिस्थितियां बदलने पर जो शब्द अनावश्यक हो जाते हैं, उन्हें

हम नया अर्थ प्रदान करते हैं। एक ही अर्थ के वाचक दो शब्द मिल गये तो उनमें हम अर्थ-भेद कर देते हैं। आंख, नयन, नेत्र का अर्थ एक है, इनका प्रयोग भिन्न सन्दर्भों में होता है। नेत्र-चिकित्सक, गिरा अनैन नैन बिनु बानी, आंखें चार होना — ये भिन्न सन्दर्भों की मिसालें हैं। मनुष्य शब्द की प्रतिमा बना कर उसे पूजता नहीं है। पहले किसी शब्द का अर्थ क्या था, इसकी चिन्ता न करके आवश्यकता पड़ने पर वह उसे नये अर्थ से जोड़ देता है। ये अर्थ परिवर्तनशील बाह्य जगत् और मनुष्य के अन्तर्जगत् से उत्पन्न होते हैं। हम समझते हैं कि अर्थ शब्द से उत्पन्न होता है। वास्तव में अर्थ की सत्ता है जीवन में, जीवन के परिवेश में, उससे हम शब्द — ध्वनि संकेत विशेष — का सम्बन्ध स्थापित किया करते हैं। यह सम्बन्ध परिवर्तनशील है। भाषा का अर्थ-बोध निरन्तर बढ़ता रहता है क्योंकि मनुष्य का ज्ञान-क्षेत्र विस्तृत होता जाता है, उसकी सामाजिक और सांस्कृतिक आवश्यकताएं बदलती और बढ़ती हैं। अमरीकी भाषाविद् एडवर्ड सपीर ने यह मत प्रकट किया है कि भाषा के सांचे हमारे देखने-समझने और व्यवहार करने के तरीके पहले से निश्चित कर देते हैं।[1] मनुष्य अपने देखने-समझने का ढंग एक-सा रखे तो इस परिवर्तनशील संसार में वह मिट जाय। उसे मजबूर होकर अपने व्यवहार के तरीके बदलने पड़ते हैं, अपने देखने-समझने का ढंग बदलना पड़ता है। इस मजबूरी का असर उसकी भाषा के सांचों पर भी पड़ता है। उसे ये सांचे बदलने पड़ते हैं। भाषा-विकास का यह एक सनातन और अटल कारण है।

आदिम समाज व्यवस्था के मानव के लिए जितना महत्व चन्द्रमा का था, उतना सूर्य का नहीं। मनुष्य का जन्म कैसे होता है, मनुष्य और वनस्पतियों के जीवन का स्रोत क्या है, इन प्रश्नों का उत्तर देने में चन्द्रमा मुख्य सूत्र बना। शुक्ल और कृष्ण पक्षों में चन्द्रमा के घटने-बढ़ने की क्रिया अट्ठाइस दिन में समाप्त होती है। टॉमसन ने इस बात की ओर ध्यान दिलाया है कि लगभग इसी अवधि में स्त्रियों के मासिक धर्म का समय भी आता है। आदिम व्यवस्था का मानव रक्तस्राव को जीवनी शक्ति का चिह्न मानता था। अनेक देशों में यह प्रथा रही है कि कीड़ों-मकोड़ों से खेती की रक्षा करने के लिए नग्न रजस्वलाएं खेतों को पार करें। मासिक धर्म की अवधि से सम्बद्ध होने के कारण चन्द्रमा प्रजनन क्रिया का देवता भी बना। टॉमसन ने लिखा है कि आदिम समाज-व्यवस्था में बोली जाने वाली भाषाओं में चन्द्रमा साधारणतः पुल्लिंग होता है; स्लाव और जर्मन भाषाओं और एक समय लैटिन

१. 'सेलेक्टेड राइटिंग्स ऑव एडवर्ड सपीर इन लंग्वेज, कल्चर, एंड पर्सनैलिटी; डेविड जी. मैंडेल बॉम द्वारा सम्पादित, पृष्ठ १०।

तया ग्रीक में यह पुल्लिंग था। संस्कृत में यह नपुंसक लिंग है। संभव है पितृसत्ताक व्यवस्था कायम होने के समय इस प्रतिद्वंदी के प्रति ईर्ष्याभाव से पितरों ने उसे क्षयग्रस्त होने का शाप दे दिया हो। लोक-संस्कृति में आज भी यह चन्दा मामा है। मामा क्यों? इसलिए कि अनेक मातृसत्ताक समाजों में भाई-बहन के ब्याह की प्रथा रही है। चन्द्रमा सन्तान देने वाला है, इसलिए वह मामा और पिता एक साथ था। पितृसत्ताक समाज में विवाह-प्रथा के बदलने पर वह संस्कारवश मामा कहा जाता रहा; माता से उसका अन्य सम्बंध लोक स्मृति में खो गया। चन्द्रमा औषधियों का स्वामी है; वह प्राणि-जगत् में पुनर्जीवन का प्रतीक है। "सभी आदिम समाजों में मृत्यु के बाद पुनर्जीवन के विश्वास के साथ चन्द्रमा जुड़ा हुआ है। इस प्रकार उसका संसर्ग इसी कोटि के अन्य प्रतीकों — जैसे सर्प — के साथ होता है।"[1] नाग लिंगोपासना से सम्बद्ध होता है। उसने पैराडाइज़ में ईव को बहकाया; अनेक प्रजनन-सम्बंधी लोक-रीतियों में उसकी उपासना की जाती है। जल भी प्रजनन से सम्बद्ध किया गया है। संभवतः तीर्थ शब्द का मूल अर्थ जल ही था; मलयालम में अब भी उसका वही अर्थ है (पवित्र जल)। तीर्थ में देवियां स्नान करती हैं, सन्तान प्राप्ति के लिए। मैंने सुना है कि व्रज में अनेक ऐसे पोखर हैं जिनके बारे में यह प्रचार है कि उनमें स्नान करने से गर्भ रह जाता है और यहां गर्भ रहने के लिए पानी रहना, इस मुहावरे का इस्तेमाल भी किया जाता है। टॉमसन का कहना है कि नाग अक्सर पोखरों और झरनों के पास पाये जाते हैं, इसलिए वे झरनों से सम्बद्ध हो गये हैं। हमारे यहां शेषनाग सहस्र फनों पर पृथ्वी को धारण किये हैं। अब जरा कश्मीर के वेरीनाग जैसे स्थानों का स्मरण कीजिए। नाग शब्द झरनों के लिए प्रयुक्त होता था; जल से सर्पों का सम्बंध कायम हुआ। इसलिए नाग शब्द सर्प के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। शेष नामक झरना शेषनाग में परिवर्तित हो गया! चन्द्रमा, सर्प, जल — तीनों का सम्बंध जुड़ा प्रजनन क्रिया से। स्वभावतः शिव जी के मस्तक पर चन्द्रमा है, जटाओं में गंगा और गले में सर्प हैं! वे लिंग रूप में पूजे जाते हैं!

भाषा पर इस चिन्तन-प्रक्रिया का प्रभाव यह पड़ा कि चन्द्रदेव मामा बने। उन्हें औषधियों का स्वामी कहा गया। उनसे अमृत तो झरता ही है। वह बच्चे को दूध पिलाने और उसे दीर्घजीवी बनाने आते हैं; अवध में माताएं गोद के बच्चों से कहती हैं: चन्दा मामा आओ, दही कमोरवा लाओ; बच्चा के मुंह मा सुटुक कइ जाओ। सर्प और जल के संसर्ग से नाग शब्द के दो

---

१. टॉमसन, स्टडीज़ इन एन्शेन्ट ग्रीक सोसायटी, पृष्ठ २१३।

कई हुए — अंग्रेजी में मून का अर्थ मापना, संस्कृत-हिन्दी में मास । जल और समुद्र के सम्बन्ध में सैंधव शब्द के दो अर्थ हुए – [illegible] में मूल अर्थ जल, संस्कृत-हिन्दी आदि में पवित्र धार्मिक स्नान । समय का विभाजन चन्द्रमा की गति के आधार पर किया गया । इसलिए अनेक भाषाओं में चन्द्रमा का नाम महीने के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्द के साथ जुड़ा हुआ है । अंग्रेजी में चन्द्रमा के लिए शब्द है मून और महीने के लिए मंथ । संस्कृत शब्द हैं चन्द्रमस् और मास । मेरा अनुमान है कि चन्द्रमा एक ही अर्थ के वाचक चन्द्र और मस् शब्दों से बना है (शादी-ब्याह के जोड़े की तरह) । मास में चन्द्रवाचक शब्द "मा" है । मन को मनन-चिन्तन करने वाले जनों ने मस् को मन्स किया । लैटिन में मास के लिए शब्द है मेन्सिस् । ग्रीक में चन्द्रमा के लिए एक शब्द है मीन (जो टॉमसन के अनुसार पुल्लिंग था) । मीन का अर्थ था चन्द्रमा, आगे चलकर उसका अर्थ रह गया महीना । चन्द्रमा मन का देवता है । मन के "म" में वही मस् वाला "म" है । लैटिन में "मेन्स" का अर्थ है मन; मेन्स चिन्तन की देवी भी है । अंग्रेजी में उसी मूल तत्व से माइन्ड बना । चन्द्रमा के प्रभाव से दिमाग खराब होता है, यह मान कर अंग्रेजी में लूना से लूनेटिक शब्द बना, पागलपन के लिए ।

सामाजिक परिस्थितियां चिन्तन की सीमाएं निश्चित करती हैं, लेकिन चिन्तन स्वयं प्रत्येक अवस्था में सामाजिक परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब नहीं होता । कौशल और विज्ञान में पिछड़े होते से मनुष्य ने चन्द्रमा से प्रजनन का सम्बंध जोड़ा । इससे क्या चन्द्रमा आर्थिक ढांचे का प्रतिबिम्ब हो गया ? वह आर्थिक ढांचे का प्रतिबिम्ब नहीं है । साथ ही चन्द्रमा से सम्बन्धित कल्पनाएं समाज निरपेक्ष नहीं हैं । सामाजिक परिस्थितियों के प्रभाव से मनुष्य अपने चिन्तन की सीमाओं में भाषा कैसे रचता है, इसके उदाहरण चन्द्रमा से सम्बंधित शब्द हैं । सपीर का कहना था कि भाषा के सांचे हमारे देखने-समझने और व्यवहार करने के तरीके पहले से निश्चित कर देते हैं । ऊपर के उदाहरणों में हम इससे ठीक उल्टी क्रिया होते देखते हैं — हमारे देखने-समझने और व्यवहार करने के तरीके ही भाषा के सांचों को बनाने-बिगाड़ने और बदलते हैं । प्रजनन-सम्बंधी धारणाओं से मास, मेन्सिस, मथ आदि शब्दों का निर्माण हुआ । ये शब्द मनुष्य के चिन्तन के लिए बेड़ियां नहीं बन गये । ऐसा होना तो वह सौर मास की कल्पना ही न कर पाता । मनुष्य ने समय विभाजन के लिए नये तरीके अपनाये । इसके लिए उसने नये ध्वनि-संकेत गढ़ना अनावश्यक समझा । पुराने सांचों में नयी सामग्री ढालकर शब्द को नया अर्थ दे दिया ।

पिता शब्द कभी एक आयु के चाचा लोगों के लिए प्रयुक्त होता था । पितृसत्ताक समाज में वह नयी सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार अपने

तथा ग्रीक मे यह पुल्लिग था। संस्कृत में यह नपुंसक लिंग है। संभव है पितृ-सत्ताक व्यवस्था कायम होने के समय इस प्रतिद्वंद्वी के प्रति ईर्ष्याभाव से पितरों ने उसे क्षयग्रस्त होने का शाप दे दिया हो। लोक-संस्कृति मे आज भी वह चन्दा मामा है। मामा क्यों? इसलिए कि अनेक मातृसत्ताक समाजों मे भाई-बहन के ब्याह की प्रथा रही है। चन्द्रमा सन्तान देने वाला है, इसलिए वह मामा और पिता एक साथ था। पितृसत्ताक समाज मे विवाह-प्रथा के बदलने पर वह संस्कारवश मामा कहा जाता रहा; माता से उसका अन्य सम्बंध लोक स्मृति मे खो गया। चन्द्रमा ओषधियों का स्वामी है; वह प्राणि-जगत् मे पुनर्जीवन का प्रतीक है। "सभी आदिम समाजों मे मृत्यु के बाद पुनर्जीवन के विश्वास के साथ चन्द्रमा जुड़ा हुआ है। इस प्रकार उसका संसर्ग इसी कोटि के अन्य प्रतीकों — जैसे सर्प — के साथ होता है।"[1] नाग लिंगोपासना से सम्बद्ध होता है। उसने पैराडाइज में ईव को बहकाया, अनेक प्रजनन-सम्बधी लोक-रीतियों मे उसकी उपासना की जाती है। जल भी प्रजनन से सम्बद्ध किया गया है। सभवत: तीर्थ शब्द का मूल अर्थ जल ही था; मल-यालम मे अब भी उसका वही अर्थ है (पवित्र जल)। तीर्थ में देवियां स्नान करती हैं, सन्तान प्राप्ति के लिए। मैंने सुना है कि ब्रज मे अनेक ऐसे पोखर है जिनके बारे मे यह प्रचार है कि इनमे स्नान करने से गर्भ रह जाता है और यहा गर्भ रहने के लिए पानी रहना, इस मुहावरे का इस्तेमाल भी किया जाता है। टॉमसन का कहना है कि नाग अक्सर पोखरो और झरनो के पास पाये जाते हैं, इसलिए वे झरनो से सम्बद्ध हो गये हैं। हमारे यहा शेषनाग सहस्र फनो पर पृथ्वी को धारण किये हैं। अब ज़रा कश्मीर के बेरीनाग जैसे स्थानों का स्मरण कीजिए। नाग शब्द झरनो के लिए प्रयुक्त होता था, जल से सर्पों का सम्बंध कायम हुआ। इसलिए नाग शब्द सर्प के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। शेष नामक झरना शेषनाग मे परिवर्तित हो गया! चन्द्रमा, सर्प, जल — तीनो का सम्बंध जुड़ा प्रजनन क्रिया से। स्वभावत: शिव जी के मस्तक पर चन्द्रमा है, जटाओ मे गगा और गले मे सर्प हैं! वे लिंग रूप मे पूजे जाते है!

भाषा पर इस चिन्तन-प्रक्रिया का प्रभाव यह पड़ा कि चन्द्रदेव मामा बने। उन्हे औषधियों का स्वामी कहा गया। उनसे अमृत तो झरता ही है। वह बच्चे को दूध पिलाने और उसे दीर्घजीवी बनाने आते हैं; अवध मे माताएं गोद के बच्चो से कहती हैं : चन्दा मामा आओ, दही कमोरवा लाओ; बच्चा के मुह मा सुरुक कइ जाओ। सर्प और जल के ससर्ग से नाग शब्द के दो

१. टॉमसन, स्टडीज इन एन्शेन्ट ग्रीक सोसायटी, पृष्ठ २१३।

अर्थ हुए — कश्मीरी में मूल अर्थ झरना, संस्कृत-हिन्दी में भाप। जल और प्रजनन के सम्बंध से तीर्थ शब्द के दो अर्थ हुए — मलयालम् में मूल अर्थ जल, संस्कृत-हिन्दी आदि में पवित्र धार्मिक स्थान। समय का विभाजन चन्द्रमा की गति के आधार पर किया गया। इसलिए अनेक भाषाओं में चन्द्रमा का नाम महीने के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्द के साथ जुड़ा हुआ है। अंग्रेजी में चन्द्रमा के लिए शब्द है मून और महीने के लिए मथ। संस्कृत शब्द हैं चन्द्रमस् और मास। मेरा अनुमान है कि चन्द्रमा एक ही अर्थ के वाचक चन्द्र और मस् शब्दों से बना है (शादी-ब्याह के जोड़े की तरह)। मास में चन्द्रवाचक शब्द "मा" है। शत को शन्त-वेन्त करने वाले जनों ने मस् को मन्स किया। लैटिन में मास के लिए शब्द है मेन्सिस्। ग्रीक में चन्द्रमा के लिए एक शब्द है मीन (जो टॉमसन के अनुसार पुल्लिंग था)। मीन का अर्थ था चन्द्रमा, आगे चलकर उसका अर्थ रह गया महीना। चन्द्रमा मन का देवता है। मन के "म" में वही मस् वाला "म" है। लैटिन में "मेन्स" का अर्थ है मन, मेन्स चिन्तन की देवी भी है। अंग्रेजी में उसी मूल तत्त्व से माइन्ड बना। चन्द्रमा के प्रभाव से दिमाग खराब होता है, यह मान कर अंग्रेजी में लूना से लूनेसी शब्द बना, पागलपन के लिए।

सामाजिक परिस्थितियां चिन्तन की सीमाएं निश्चित करती हैं, लेकिन चिन्तन स्वयं प्रत्येक अवस्था में सामाजिक परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब नहीं होता। कौशल और विज्ञान में पिछड़े होने से मनुष्य ने चन्द्रमा से प्रजनन का सम्बंध जोड़ा। इससे क्या चन्द्रमा आर्थिक ढांचे का प्रतिबिम्ब हो गया? वह आर्थिक ढांचे का प्रतिबिम्ब नहीं है। साथ ही चन्द्रमा से सम्बंधित कल्पनाएं समाज निरपेक्ष नहीं हैं। सामाजिक परिस्थितियों के प्रभाव से मनुष्य अपने चिन्तन की सीमाओं में भाषा कैसे रचता है, इसके उदाहरण चन्द्रमा से सम्बंधित शब्द हैं। सपीर का कहना था कि भाषा के साँचे हमारे देखने-समझने और व्यवहार करने के तरीके पहले से निश्चित कर देते हैं। ऊपर के उदाहरणों में हम इससे ठीक उल्टी क्रिया होते देखते हैं — हमारे देखने-समझने और व्यवहार करने के तरीके ही भाषा के साँचों को बनाते-बिगाड़ते और बदलते हैं। प्रजनन-सम्बंधी धारणाओं से मास, मेन्सिस, मथ आदि शब्दों का निर्माण हुआ। ये शब्द मनुष्य के चिन्तन के लिए बेड़ियां नहीं बन गये। ऐसा होता तो वह और मास की कल्पना ही न कर पाता। मनुष्य ने समय विभाजन के लिए नए तरीके अपनाये। इसके लिए उसने नये ध्वनि-संकेत गढ़ना अनावश्यक समझा। पुराने साँचों में नयी सामग्री डालकर शब्द को नया अर्थ दे दिया।

सिम शब्द कभी एक धातु के वाचक लोगों के लिए प्रयुक्त होता था। पितृसत्ताक समाज में वह नयी सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार अपने

तथा ग्रीक मे वह पुल्लिग था। संस्कृत में वह नपुंसक लिंग है। संभव है पितृसत्ताक व्यवस्था कायम होने के समय इस प्रतिद्वंदी के प्रति ईर्ष्याभाव से पितरो ने उसे क्षयग्रस्त होने का शाप दे दिया हो। लोक-संस्कृति में आज भी वह चन्दा मामा है। मामा क्यो ? इसलिए कि अनेक मातृसत्ताक समाजो मे भाई-बहन के ब्याह की प्रथा रही है। चन्द्रमा सन्तान देने वाला है, इसलिए वह मामा और पिता एक साथ था। पितृसत्ताक समाज मे विवाह-प्रथा के बदलने पर वह संस्कारवश मामा कहा जाता रहा; माता से उसका अन्य सम्बध लोक स्मृति मे खो गया। चन्द्रमा ओषधियों का स्वामी है; वह प्राणि-जगत् मे पुनर्जीवन का प्रतीक है। "सभी आदिम समाजों मे मृत्यु के बाद पुनर्जीवन के विश्वास के साथ चन्द्रमा जुडा हुआ है। इस प्रकार उसका ससर्ग इसी कोटि के अन्य प्रतीको — जैसे सर्प — के साथ होता है।"[1] नाग लिंगोपासना से सम्बद्ध होता है। उसने पैराडाइज मे ईव को बहकाया; अनेक प्रजनन-सम्बधी लोक-रीतियों मे उसकी उपासना की जाती है। जल भी प्रजनन से सम्बद्ध किया गया है। संभवत: तीर्थ शब्द का मूल अर्थ जल ही था, मलयालम मे अब भी उसका वही अर्थ है (पवित्र जल)। तीर्थ में देवियां स्नान करती है, सन्तान प्राप्ति के लिए। मैंने सुना है कि ब्रज मे अनेक ऐसे पोखर हैं जिनके बारे में यह प्रचार है कि उनमे स्नान करने से गर्भ रह जाता है और यहा गर्भ रहने के लिए पानी रहना, इस मुहावरे का इस्तेमाल भी किया जाता है। टॉमसन का कहना है कि नाग अक्सर पोखरो और झरनो के पास पाये जाते हैं, इसलिए वे झरनो से सम्बद्ध हो गये है। हमारे यहा शेषनाग सहस्र फनो पर पृथ्वी को धारण किये हैं। अब जरा कश्मीर के वेरीनाग जैसे स्थानों का स्मरण कीजिए। नाग शब्द झरनों के लिए प्रयुक्त होता था, जल से सर्पों का सम्बंध कायम हुआ। इसलिए नाग शब्द सर्प के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। शेष नामक झरना शेषनाग मे परिवर्तित हो गया! चन्द्रमा, सर्प, जल — तीनो का सम्बध जुडा प्रजनन क्रिया से। स्वभावत: शिव जी के मस्तक पर चन्द्रमा है, जटाओ मे गंगा और गले मे सर्प हैं! वे लिंग रूप मे पूजे जाते हैं!

भाषा पर इस चिन्तन-प्रक्रिया का प्रभाव यह पड़ा कि चन्द्रदेव मामा बने। उन्हे ओषधियों का स्वामी कहा गया। उनसे अमृत तो झरता ही है। वह बच्चे को दूध पिलाने और उसे दीर्घजीवी बनाने आते हैं; अवध में माताएं गोद के बच्चों मे कहती हैं: चन्दा मामा आओ, दही कमोरवा लाओ; बच्वा के मुह मा सुटुक कइ जाओ। सर्प और जल के समर्ग से नाग शब्द के दो

1. टॉमसन, स्टडीज इन एन्शेन्ट ग्रीक सोसायटी, पृष्ठ २१३।

अर्थ हुए — कश्मीरी में मूल अर्थ झरना, संस्कृत-हिन्दी में साफ। जल और प्रजनन के सम्बंध से तीर्थ शब्द के दो अर्थ हुए — मलयालम् में मूल अर्थ जल, संस्कृत-हिन्दी आदि में पवित्र धार्मिक स्थान। समय का विभाजन चन्द्रमा की गति के आधार पर किया गया। इसलिए अनेक भाषाओं में चन्द्रमा का नाम महीने के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्द के साथ जुड़ा हुआ है। अंग्रेजी में चन्द्रमा के लिए शब्द है मून और महीने के लिए मंथ। संस्कृत शब्द हैं चन्द्रमस् और मास। मेरा अनुमान है कि चन्द्रमा एक ही अर्थ के वाचक चन्द्र और मस् शब्दों से बना है (शादी-ब्याह के जोड़े की तरह)। मास में चन्द्रवाचक शब्द "मा" है। गन को गन्त-केन्त करने वाले जनों ने मस् को मन्स किया। लैटिन में मास के लिए शब्द है मेन्सिस्। ग्रीक में चन्द्रमा के लिए एक शब्द है मीन (जो टॉमसन के अनुसार पुल्लिंग था)। मीन का अर्थ था चन्द्रमा, आगे चलकर उसका अर्थ रह गया महीना। चन्द्रमा मन का देवता है। मन के "म" में वही मस् वाला "म" है। लैटिन में "मेन्स" का अर्थ है मन, मेन्स चिन्तन की देवी भी है। अंग्रेजी में उसी मूल तत्त्व से माइन्ड बना। चन्द्रमा के प्रभाव से दिमाग खराब होता है, यह मान कर अंग्रेजी में लूना से लूनेसी शब्द बना, पागलपन के लिए।

सामाजिक परिस्थितियां चिन्तन की सीमाएं निश्चित करती हैं, लेकिन चिन्तन स्वयं प्रत्येक अवस्था में सामाजिक परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब नहीं होता। कौशल और विज्ञान में पिछड़े होने से मनुष्य ने चन्द्रमा से प्रजनन का सम्बंध जोड़ा। इससे क्या चन्द्रमा आर्थिक ढांचे का प्रतिबिम्ब हो गया? वह आर्थिक ढांचे का प्रतिबिम्ब नहीं है। साथ ही चन्द्रमा से सम्बंधित कल्पनाएं समाज निरपेक्ष नहीं हैं। सामाजिक परिस्थितियों के प्रभाव से मनुष्य अपने चिन्तन की सीमाओं में भाषा कैसे रचता है, इसके उदाहरण चन्द्रमा से सम्बंधित शब्द हैं। सपीर का कहना था कि भाषा के सांचे हमारे देखने-समझने और व्यवहार करने के तरीके पहले से निश्चित कर देते हैं। ऊपर के उदाहरणों में हम इससे ठीक उल्टी क्रिया होते देखते हैं — हमारे देखने-समझने और व्यवहार करने के तरीके ही भाषा के सांचों को बनाते-बिगाड़ते और बदलते हैं। प्रजनन-सम्बंधी धारणाओं से मास, मेन्सिस, मथ आदि शब्दों का निर्माण हुआ। ये शब्द मनुष्य के चिन्तन के लिए बेड़ियां नहीं बन गये। ऐसा होता तो वह और मास की कल्पना ही न कर पाता। मनुष्य ने समय विभाजन के लिए नए तरीके अपनाये। इसके लिए उसने नये ध्वनि-संकेत गढ़ना अनावश्यक समझा। पुराने सांचों में नयी सामग्री ढालकर शब्द को नया अर्थ दे दिया।

निशा शब्द कभी एक धातु के वाचक शब्दों के लिए प्रयुक्त होता था। पितृसत्तात्मक समाज में यह नयी सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार अर्थ

तथा ग्रीक मे वह पुल्लिग था। संस्कृत मे वह नपुसक लिंग है। संभव है पितृसत्ताक व्यवस्था कायम होने के समय इस प्रतिद्वंदी के प्रति ईर्ष्याभाव से पितरो ने उसे क्षयग्रस्त होने का शाप दे दिया हो। लोक-सस्कृति में आज भी वह चन्दा मामा है। मामा क्यों? इसलिए कि अनेक मातृसत्ताक समाजो मे भाई-बहन के ब्याह की प्रथा रही है। चन्द्रमा सन्तान देने वाला है, इसलिए वह मामा और पिता एक साथ था। पितृसत्ताक समाज मे विवाह-प्रथा के बदलने पर वह संस्कारवश मामा कहा जाता रहा; माता से उसका अन्य सम्बध लोक स्मृति मे खो गया। चन्द्रमा ओपधियो का स्वामी है; वह प्राणि-जगत् मे पुनर्जीवन का प्रतीक है। "सभी आदिम समाजों मे मृत्यु के बाद पुनर्जीवन के विश्वास के साथ चन्द्रमा जुडा हुआ है। इस प्रकार उसका ससर्ग इसी कोटि के अन्य प्रतीकों — जैसे सर्प — के साथ होता है।"[1] नाग लिंगोपासना से सम्बद्ध होता है। उसने पैराडाइज मे ईव को बहकाया; अनेक प्रजनन-सम्बधी लोक-रीतियों मे उसकी उपासना की जाती है। जल भी प्रजनन से सम्बद्ध किया गया है। संभवत: तीर्थ शब्द का मूल अर्थ जल ही था; मलयालम मे अब भी उसका वही अर्थ है (पवित्र जल)। तीर्थ मे देवियाँ स्नान करती हैं, सन्तान प्राप्ति के लिए। मैंने सुना है कि ब्रज मे अनेक ऐसे पोखर हैं जिनके बारे में यह प्रचार है कि उनमे स्नान करने से गर्भ रह जाता है और यहा गर्भ रहने के लिए पानी रहना, इस मुहावरे का इस्तेमाल भी किया जाता है। टॉमसन का कहना है कि नाग अक्सर पोखरो और झरनो के पास पाये जाते हैं, इसलिए वे झरनों से सम्बद्ध हो गये हैं। हमारे यहां शेषनाग सहस्र फनो पर पृथ्वी को धारण किये हैं। अब जरा कश्मीर के वेरीनाग जैसे स्थानों का स्मरण कीजिए। नाग शब्द झरनो के लिए प्रयुक्त होता था, उन से सर्पों का सम्बंध कायम हुआ। इसलिए नाग शब्द सर्प के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। शेष नामक झरना शेषनाग में परिवर्तित हो गया! चन्द्रमा, सर्प, जल — तीनो का सम्बंध जुडा प्रजनन क्रिया से। स्वभावत: शिव के मस्तक पर चन्द्रमा है, जटाओ मे गगा और गले मे सर्प हैं। वे लिंग रूप मे पूजे जाते हैं।

भाषा पर इस चिन्तन-प्रक्रिया का प्रभाव यह पडा कि चन्द्रदेव मन्द थे। उन्हें औषधियों का स्वामी कहा गया। उनमे अमृत भी झरता ही है। यह बच्चे को दूध पिलाने और उसे दीर्घजीवी बनाने आते हैं; अवध में स्त्रियां गोद के बच्चो से कहती हैं: चन्दा मामा आओ, दही कसोरवा लाओ; हमरे मुन्ना के मुह मा गुप्प दइ जाओ। सर्प और जल के ससर्ग से नाग शब्द के दो

---

1. टॉमसन, स्टडीज इन एन्शेन्ट ग्रीक सोसायटी, पृष्ठ २१३।

अर्थ हुए — कश्मीरी में मूल अर्थ झरना, संस्कृत-हिन्दी में मास ! जल और प्रजनन के सम्बन्ध से तीर्थ शब्द के दो अर्थ हुए — मलयालम् में मूल अर्थ जल, संस्कृत-हिन्दी आदि में पवित्र धार्मिक स्थान। समय का विभाजन चन्द्रमा की गति के आधार पर किया गया। इसलिए अनेक भाषाओं में चन्द्रमा का नाम महीने के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्द के साथ जुड़ा हुआ है। अंग्रेजी में चन्द्रमा के लिए शब्द है मून और महीने के लिए मंथ। संस्कृत शब्द हैं चन्द्रमस् और मास। मेरा अनुमान है कि चन्द्रमा एक ही अर्थ के वाचक चन्द्र और मस् शब्दों से बना है (शाहों-शाह के जोड़े की तरह)। मास में चन्द्रवाचक शब्द "मा" है। गण को गण-केन्द्र करने वाले जनों ने मस् को मस्ग किया। लैटिन में मास के लिए शब्द है मेन्सिस्। ग्रीक में चन्द्रमा के लिए एक शब्द है मीन (जो टॉमसन के अनुसार पुल्लिंग था)। मीन का अर्थ था चन्द्रमा; आगे चलकर उसका अर्थ रह गया महीना। चन्द्रमा मन का देवता है। मन के "म" में वही मस् वाला "म" है। लैटिन में "मेन्स" का अर्थ है मन, मेन्स चिन्तन की देवी भी है। अंग्रेजी में उसी मूल तत्त्व से माइन्ड बना। चन्द्रमा के प्रभाव से दिमाग खराब होता है, यह मान कर अंग्रेजी में लूना से लूनेसी शब्द बना, पागलपन के लिए।

सामाजिक परिस्थितियाँ चिन्तन की सीमाएं निश्चित करती हैं, लेकिन चिन्तन स्वयं प्रत्येक अवस्था में सामाजिक परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब नहीं होता। कौशल और विज्ञान में पिछड़े होने से मनुष्य ने चन्द्रमा से प्रजनन का सम्बन्ध जोड़ा। इससे क्या चन्द्रमा आर्थिक ढांचे का प्रतिबिम्ब हो गया? वह आर्थिक ढांचे का प्रतिबिम्ब नहीं है। साथ ही चन्द्रमा से सम्बन्धित कल्पनाएं समाज निरपेक्ष नहीं हैं। सामाजिक परिस्थितियों के प्रभाव से मनुष्य अपने चिन्तन की सीमाओं में भाषा कैसे रचता है, इसके उदाहरण चन्द्रमा से सम्बन्धित शब्द हैं। सपीर का कहना था कि भाषा के सांचे हमारे देखने-समझने और व्यवहार करने के तरीके पहले से निश्चित कर देते हैं। ऊपर के उदाहरणों में हम इससे ठीक उल्टी क्रिया होते देखते हैं — हमारे देखने-समझने और व्यवहार करने के तरीके ही भाषा के सांचों को बनाते-बिगाड़ते और बदलते हैं। प्रजनन-सम्बन्धी धारणाओं से मास, मेन्सिस, मंथ आदि शब्दों का निर्माण हुआ। ये शब्द मनुष्य के चिन्तन के लिए बेड़ियां नहीं बन गये। ऐसा होता तो वह सौर मास की कल्पना ही न कर पाता। मनुष्य ने समय विभाजन के लिए नये तरीके अपनाये। इसके लिए उसने नये ध्वनि-संकेत गढ़ना अनावश्यक समझा। पुराने सांचों में नयी सामग्री डालकर शब्द को नया अर्थ दे दिया।

पिता शब्द कभी एक आयु के बाबा लोगों के लिए प्रयुक्त होता था। पितृसत्ताक समाज में वह नयी सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार अपने

तथा ग्रीक मे वह् पुल्लिग था। संस्कृत में वह् नपुंसक लिग है। संभव है पितृ-सत्ताक व्यवस्था कायम होने के समय इस प्रतिद्वंदी के प्रति ईर्ष्याभाव से पितरो ने उसे क्षयग्रस्त होने का शाप दे दिया हो। लोक-संस्कृति मे आज भी वह् चन्दा मामा है। मामा क्यों? इसलिए कि अनेक मातृसत्ताक समाजो मे भाई-वहन के ब्याह् की प्रथा रही है। चन्द्रमा सन्तान देने वाला है, इसलिए वह् मामा और पिता एक साथ था। पितृसत्ताक समाज मे विवाह-प्रथा के वदलने पर वह् संस्कारवश मामा कहा जाता रहा, माता से उसका अन्य सम्बध लोक स्मृति मे खो गया। चन्द्रमा ओपधियों का स्वामी है, वह प्राणि-जगत् मे पुनर्जीवन का प्रतीक है। "सभी आदिम समाजों में मृत्यु के बाद पुनर्जीवन के विश्वास के साथ चन्द्रमा जुडा हुआ है। इस प्रकार उसका ससर्ग इसी कोटि के अन्य प्रतीकों — जैसे सर्प — के साथ होता है।"[1] नाग लिंगोपासना से सम्बद्ध होता है। उसने पैराडाइज़ मे ईव को बहकाया; अनेक प्रजनन-सम्बधी लोक-रीतियों मे उसकी उपासना की जाती है। जल भी प्रजनन से सम्बद्ध किया गया है। संभवत: तीर्थ शब्द का मूल अर्थ जल ही था; मल-यालम मे अब भी उसका वही अर्थ है (पवित्र जल)। तीर्थ में देविया स्नान करती हैं, सन्तान प्राप्ति के लिए। मैंने सुना है कि ब्रज मे अनेक ऐसे पोखर है जिनके वारे मे यह् प्रचार है कि उनमे स्नान करने से गर्भ रह जाता है और यहा गर्भ रहने के लिए पानी रहना, इस मुहावरे का इस्तेमाल भी किया जाता है। टॉमसन का कहना है कि नाग अक्सर पोखरो और झरनो के पास पाये जाते हैं, इसलिए वे झरनो से सम्बद्ध हो गये हैं। हमारे यहा शेषनाग सहस्त्र फनो पर पृथ्वी को धारण किये हैं। अब जरा कश्मीर के वेरीनाग जैसे स्थानो का स्मरण कीजिए। नाग शब्द झरनो के लिए प्रयुक्त होता था, जल से सर्पों का सम्बंध कायम हुआ। इसलिए नाग शब्द सर्प के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। शेष नामक झरना शेपनाग में परिवर्तित हो गया! चन्द्रमा, सर्प, जल — तीनों का सम्बंध जुडा प्रजनन क्रिया से। स्वभावत: शिव जी के मस्तक पर चन्द्रमा है, जटाओ मे गगा और गले मे सर्प हैं! वे लिंग रूप मे पूजे जाते हैं!

भापा पर इस चिन्तन-प्रक्रिया का प्रभाव यह पडा कि चन्द्रदेव मामा बने। उन्हे औपधियों का स्वामी कहा गया। उनसे अमृत तो झरता ही है। वह बच्चे को दूध पिलाने और उसे दीर्घजीवी बनाने आते हैं; अवध मे माताएं गोद के बच्चों से कहती हैं: चन्दा मामा आओ, दहीं कमोरवा लाओ; बच्चा के मुह मा सुटुक कइ जाओ। सर्प और जल के संसर्ग से नाग शब्द के दो

---

१. टॉमसन, स्टडीज इन एन्शेन्ट ग्रीक सोसायटी, पृष्ठ २१३।

अर्थ हुए — कश्मीरी में मूल अर्थ झरना, संस्कृत-हिन्दी में सांप ! जल और प्रजनन के सम्बन्ध में तीर्थ शब्द के दो अर्थ हुए — मलयालम् में मूल अर्थ जल, संस्कृत-हिन्दी आदि में पवित्र धार्मिक स्थान। समय का विभाजन चन्द्रमा की गति के आधार पर किया गया। इसलिए अनेक भाषाओं में चन्द्रमा का नाम महीने के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्द के साथ जुड़ा हुआ है। अंग्रेजी में चन्द्रमा के लिए शब्द है मून और महीने के लिए मंथ। संस्कृत शब्द हैं चन्द्रमस् और मास। मेरा अनुमान है कि चन्द्रमा एक ही अर्थ के वाचक चन्द्र और मस शब्दों से बना है (शादी-ब्याह के जोड़े की तरह)। मास में चन्द्रवाचक शब्द "मा" है। दान्त को दन्त-केन्त करने वाले जनों ने मस् को मन्स किया। लैटिन में मास के लिए शब्द है मेन्सिस्। ग्रीक में चन्द्रमा के लिए एक शब्द है मीन (जो टॉमसन के अनुसार पुल्लिंग था)। मीन का अर्थ था चन्द्रमा, आगे चलकर उसका अर्थ रह गया महीना। चन्द्रमा मन का देवता है। मन के "म" में वही मस् वाला "म" है। लैटिन में "मेन्स" का अर्थ है मन, मेन्स चिन्तन की देवी भी है। अंग्रेजी में उसी मूल तत्व से माइन्ड बना। चन्द्रमा के प्रभाव से दिमाग खराब होता है, यह मान कर अंग्रेजी में ल्युना से लूनेसी शब्द बना, पागलपन के लिए।

सामाजिक परिस्थितियां चिन्तन की सीमाएं निश्चित करती हैं लेकिन चिन्तन स्वयं प्रत्येक अवस्था में सामाजिक परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब नहीं होता। कौशल और विज्ञान में पिछड़े होने से मनुष्य ने चन्द्रमा से प्रजनन का सम्बन्ध जोड़ा। इससे क्या चन्द्रमा आर्थिक ढांचे का प्रतिबिम्ब [illegible] ? वह आर्थिक ढांचे का प्रतिबिम्ब नहीं है। साथ ही चन्द्रमा से [illegible] समाज निरपेक्ष नहीं है। सामाजिक परिस्थितियों के प्रभाव से मनुष्य अपनी चिन्तन की सीमाओं में भाषा कैसे रचता है, इसके उदाहरण चन्द्रमा से सम्बन्धित शब्द हैं। मार्क्स का कहना था कि भाषा के सांचे हमारे [illegible] समझने और व्यवहार करने के तरीके पहले से निश्चित कर देते हैं। ऊपर के उदाहरणों में हम इससे ठीक उल्टी क्रिया होते देखते हैं — हमारे [illegible] और [illegible] करने के तरीके ही भाषा के सांचों को बनाते-बिगाड़ते और बदलते हैं। प्रजनन-सम्बन्धी धारणाओं से मास, मेन्सिस, मंथ आदि शब्दों का निर्माण हुआ। ये शब्द मनुष्य के चिन्तन के लिए बेड़ियां नहीं बन गए। [illegible] और मास की कल्पना ही न कर पाता। मनुष्य ने समय [illegible] के लिए और तरीके अपनाए। इसके लिए [illegible] ध्वनि [illegible] [illegible]। पुराने शब्दों से नयी [illegible] शब्द का नया अर्थ दे दिया।

जिस प्रकार कभी एक वस्तु के [illegible] के लिए [illegible]। [illegible] समाज में [illegible] [illegible] [illegible] के [illegible]

तथा ग्रीक मे वह पुल्लिग था। संस्कृत मे वह नपुसक लिंग है। संभव है पितृसत्ताक व्यवस्था कायम होने के समय इस प्रतिद्वदी के प्रति ईर्ष्याभाव से पितरो ने उसे क्षयग्रस्त होने का शाप दे दिया हो। लोक-संस्कृति मे आज भी वह चन्दा मामा है। मामा क्यो? इसलिए कि अनेक मातृसत्ताक समाजो मे भाई-बहन के ब्याह की प्रथा रही है। चन्द्रमा सन्तान देने वाला है, इसलिए वह मामा और पिता एक साथ था। पितृसत्ताक समाज मे विवाह-प्रथा के बदलने पर वह संस्कारवश मामा कहा जाता रहा; माता से उसका अन्य सम्बंध लोक स्मृति मे खो गया। चन्द्रमा ओषधियो का स्वामी है; वह प्राणि-जगत् मे पुनर्जीवन का प्रतीक है। "सभी आदिम समाजो में मृत्यु के बाद पुनर्जीवन के विश्वास के साथ चन्द्रमा जुड़ा हुआ है। इस प्रकार उसका संसर्ग इसी कोटि के अन्य प्रतीको — जैसे सर्प — के साथ होता है।"[1] नाग लिंगोपासना से सम्बद्ध होता है। उसने पैराडाइज़ मे ईव को बहकाया, अनेक प्रजनन-सम्बधी लोक-रीतियों मे उसकी उपासना की जाती है। जल भी प्रजनन से सम्बद्ध किया गया है। संभवत: तीर्थ शब्द का मूल अर्थ जल ही था; मलयालम में अब भी उसका वही अर्थ है (पवित्र जल)। तीर्थ में देवियां स्नान करती है, सन्तान प्राप्ति के लिए। मैंने सुना है कि ब्रज मे अनेक ऐसे पोखर हैं जिनके बारे मे यह प्रचार है कि उनमे स्नान करने से गर्भ रह जाता है और यहा गर्भ रहने के लिए पानी रहना, इस मुहावरे का इस्तेमाल भी किया जाता है। टॉमसन का कहना है कि नाग अक्सर पोखरो और झरनों के पास पाये जाते हैं, इसलिए वे झरनो से सम्बद्ध हो गये हैं। हमारे यहा शेषनाग सहस्र फनो पर पृथ्वी को धारण किये है। अब ज़रा कश्मीर के वेरीनाग जैसे स्थानो का स्मरण कीजिए। नाग शब्द झरनो के लिए प्रयुक्त होता था, जब से सर्पो का सम्बंध कायम हुआ। इसलिए नाग शब्द सर्प के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। शेष नामक झरना शेषनाग मे परिवर्तित हो गया। चन्द्रमा, सर्प, जल — तीनो का सम्बंध जुड़ा प्रजनन क्रिया से। स्वभावत: शिव के मस्तक पर चन्द्रमा है, जटाओ में गंगा और गले मे सर्प हैं! वे लिंग रूप मे पूजे जाते हैं।

भाषा पर इस चिन्तन-प्रक्रिया का प्रभाव यह पड़ा कि चन्द्रदेव मामा बने। उन्हे ओषधियों का स्वामी कहा गया। उनसे अमृत तो झरता ही है। वह बच्चे को दूध पिलाने और उसे दीर्घजीवी बनाने आते हैं; अवध मे माताएं गोद के बच्चो से कहती हैं: चन्दा मामा आओ, दही कटोरवा लाओ, बबुआ के मुह मा घुटुक कद जाओ। सर्प और जल के संसर्ग से नाग शब्द के दो

---

१. टॉमसन, स्टडीज इन एन्शेन्ट ग्रीक सोसायटी, पृष्ठ २१३।

अर्थ हुए—कश्मीरी में मूल अर्थ झरना, संस्कृत-हिन्दी में सांप! जल और प्रजनन के सम्बंध में तीर्थ शब्द के दो अर्थ हुए—मलयालम् में मूल अर्थ जल, संस्कृत-हिन्दी आदि में पवित्र धार्मिक स्थान। समय का विभाजन चन्द्रमा की गति के आधार पर किया गया। इसलिए अनेक भाषाओं में चन्द्रमा का नाम महीने के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्द के साथ जुड़ा हुआ है। अंग्रेजी में चन्द्रमा के लिए शब्द है मून और महीने के लिए मंथ। संस्कृत शब्द हैं चन्द्रमस् और मास। मेरा अनुमान है कि चन्द्रमा एक ही अर्थ के वाचक चन्द्र और मस् शब्दों से बना है (शादी-ब्याह के जोड़े की तरह)। मास में चन्द्रवाचक शब्द "मा" है। शब्द को शल्य-वैद्य करने वाले जनों ने मस् को मन्स किया। लैटिन में मास के लिए शब्द है मेन्सिस्। ग्रीक में चन्द्रमा के लिए एक शब्द है मीन (जो टॉमसन के अनुसार पुल्लिंग था)। मीन का अर्थ था चन्द्रमा, आगे चलकर उसका अर्थ रह गया महीना। चन्द्रमा मन का देवता है। मन के "म" में वही मस् वाला "म" है। लैटिन में "मेन्स" का अर्थ है मन, मेन्स चिन्तन की देवी भी है। अंग्रेजी में उसी मूल तत्व से माइन्ड बना। चन्द्रमा के प्रभाव से दिमाग खराब होता है, यह मान कर अंग्रेजी में लूना से लूनेसी शब्द बना, पागलपन के लिए।

सामाजिक परिस्थितियां चिन्तन की सीमाएं निश्चित करती हैं, लेकिन चिन्तन स्वयं प्रत्येक अवस्था में सामाजिक परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब नहीं होता। कौशल और विज्ञान में पिछड़े होने से मनुष्य ने चन्द्रमा से प्रजनन का सम्बंध जोड़ा। इससे क्या चन्द्रमा आर्थिक ढांचे का प्रतिबिम्ब हो गया? वह आर्थिक ढांचे का प्रतिबिम्ब नहीं है। साथ ही चन्द्रमा से सम्बंधित कल्पनाएं समाज निरपेक्ष नहीं है। सामाजिक परिस्थितियों के प्रभाव से मनुष्य अपने चिन्तन की सीमाओं में भाषा कैसे रचता है, इसके उदाहरण चन्द्रमा से सम्बंधित शब्द हैं। सपीर का कहना था कि भाषा के सांचे हमारे देखने-समझने और व्यवहार करने के तरीके पहले से निश्चित कर देते हैं। ऊपर के उदाहरणों में हम इससे ठीक उल्टी क्रिया होते देखते हैं—हमारे देखने-समझने और व्यवहार करने के तरीके ही भाषा के सांचों को बनाने-बिगाड़ने और बदलते हैं। प्रजनन-सम्बंधी धारणाओं से मास, मेन्सिस, मंथ आदि शब्दों का निर्माण हुआ। ये शब्द मनुष्य के चिन्तन के लिए बेड़ियां नहीं बन गये। ऐसा होता तो वह मौर मास की कल्पना ही न कर पाता। मनुष्य ने समय विभाजन के लिए नये तरीके अपनाये। इसके लिए उसने नये ध्वनि-संकेत गढ़ना अनावश्यक समझा। पुराने सांचों में नयी सामग्री ढालकर शब्द को नया अर्थ दे दिया।

पिता शब्द कभी एक आयु के चाचा लोगों के लिए प्रयुक्त होता था। पितृसत्ताक समाज में वह नयी सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार अपने

तथा ग्रीक में वह पुल्लिंग था। संस्कृत में वह नपुंसक लिंग है। संभव है पितृ-सत्ताक व्यवस्था कायम होने के समय इस प्रतिद्वंदी के प्रति ईर्ष्याभाव से गिनरों ने उसे क्षयग्रस्त होने का शाप दे दिया हो। लोक-संस्कृति में आज भी वह चन्दा मामा है। मामा क्यों? इसलिए कि अनेक मातृसत्ताक समाजों में भाई-बहन के ब्याह की प्रथा रही है। चन्द्रमा सन्तान देने वाला है, इसलिए वह मामा और पिता एक साथ था। पितृसत्ताक समाज में विवाह-प्रथा के बदलने पर वह संस्कारवश मामा कहा जाता रहा; माता से उसका अन्य सम्बन्ध लोक स्मृति में खो गया। चन्द्रमा ओषधियों का स्वामी है; वह प्राणि-जगत् में पुनर्जीवन का प्रतीक है। "सभी आदिम समाजों में मृत्यु के बाद पुनर्जीवन के विश्वास के साथ चन्द्रमा जुड़ा हुआ है। इस प्रकार उसका सम्बन्ध इसी कोटि के अन्य प्रतीकों — जैसे सर्प — के साथ होता है।"[1] नाग लिंगोपासना से सम्बद्ध होता है। उसने पैराडाइज में ईव को बहकाया, अनेक प्रजनन-सम्बन्धी लोक-रीतियों में उसकी उपासना की जाती है। जल भी प्रजनन से सम्बद्ध किया गया है। सम्भवतः तीर्थ शब्द का मूल अर्थ जल ही था, मलयालम में अब भी उसका यही अर्थ है (पवित्र जल)। तीर्थ में देवियां स्नान करती हैं, सन्तान प्राप्ति के लिए। मैंने सुना है कि ब्रज में अनेक ऐसे पोखर हैं जिनके बारे में यह प्रचार है कि उनमें स्नान करने से गर्भ रह जाता है और यहां गर्भ रहने के लिए पानी रहना, इस मुहावरे का इस्तेमाल भी किया जाता है। टॉमसन का कहना है कि नाग अक्सर पोखरों और झरनों के पास पाये जाते हैं, इसलिए वे झरनों से सम्बद्ध हो गये हैं। हमारे यहां शेषनाग सहस्र फणों पर पृथ्वी को धारण किये है। अब जरा कश्मीर के वेरीनाग जैसे स्थानों का स्मरण कीजिए। नाग शब्द झरनों के लिए प्रयुक्त होता था, इस से नागों का सम्बन्ध कायम हुआ। इसलिए नाग शब्द सर्प के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। शेष नामक झरना शेषनाग में परिवर्तित हो गया! नाग, सर्प, जल — तीनों का सम्बन्ध जुड़ा प्रजनन क्रिया से। स्वभावतः शिव के [illegible] के मस्तक पर चन्द्रमा है, जटाओं में गंगा और गले में सर्प हैं! वे लिंग रूप में पूजे जाते हैं।

भाषा पर इस चिन्तन-प्रक्रिया का प्रभाव यह पड़ा कि चन्द्रमा [illegible] [illegible]। [illegible] ओषधियों का स्वामी कहा गया। उसमें अमृत की [illegible] [illegible] बच्चों को दूध पिलाने और उन्हें दीर्घजीवी बनाने आते हैं, [illegible] लोरी के रूप में कहती हैं: चन्दा मामा आओ, दूध मलीदा लाओ, [illegible] के मुंह में घुटक दे जाओ। सर्प और जल के सम्बन्ध से [illegible]

१. टॉमसन, स्टडीज इन एन्शेंट ग्रीक सोसायटी, पृ० २१३।

अर्थ हुए — कश्मीरी में मूल अर्थ झरना, संस्कृत-हिन्दी में साफ ! जल और प्रजनन के सम्बंध से तीर्थ शब्द के दो अर्थ हुए — मलयालम् में मूल अर्थ जल, संस्कृत-हिन्दी आदि में पवित्र धार्मिक स्थान। समय का विभाजन चन्द्रमा की गति के आधार पर किया गया। इसलिए अनेक भाषाओं में चन्द्रमा का नाम महीने के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्द के साथ जुड़ा हुआ है। अंग्रेजी में चन्द्रमा के लिए शब्द है मून और महीने के लिए मंथ। संस्कृत शब्द हैं चन्द्रमस् और मास। मेरा अनुमान है कि चन्द्रमा एक ही अर्थ के वाचक चन्द्र और मस् शब्दों से बना है (शादी-ब्याह के जोड़े की तरह)। मास में चन्द्रवाचक शब्द "मा" है। शब्द को शब्द-केन्द्र करने वाले जनों ने मस् को मन्स किया। लैटिन में मास के लिए शब्द है मेन्सिस्। ग्रीक में चन्द्रमा के लिए एक शब्द है मीन (जो टॉमसन के अनुसार पुल्लिंग था)। मीन का अर्थ था चन्द्रमा, आगे चलकर उसका अर्थ रह गया महीना। चन्द्रमा मन का देवता है। मन के "म" में वही मस् वाला "म" है। लैटिन में "मेन्स" का अर्थ है मन, मेन्स चिन्तन की देवी भी है। अंग्रेजी में उसी मूल तत्व से माइन्ड बना। चन्द्रमा के प्रभाव से दिमाग खराब होता है, यह मान कर अंग्रेजी में लूना से लूनेसी शब्द बना, पागलपन के लिए।

सामाजिक परिस्थितियां चिन्तन की सीमाएं निश्चित करती हैं, लेकिन चिन्तन स्वयं प्रत्येक अवस्था में सामाजिक परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब नहीं होता। कौशल और विज्ञान में पिछड़े होने से मनुष्य ने चन्द्रमा से प्रजनन का सम्बंध जोड़ा। इससे क्या चन्द्रमा आर्थिक ढांचे का प्रतिबिम्ब हो गया ? वह आर्थिक ढांचे का प्रतिबिम्ब नहीं है। साथ ही चन्द्रमा से सम्बंधित कल्पनाएं समाज निरपेक्ष नहीं हैं। सामाजिक परिस्थितियों के प्रभाव से मनुष्य अपने चिन्तन की सीमाओं में भाषा कैसे रचता है, इसके उदाहरण चन्द्रमा से सम्बंधित शब्द हैं। सपीर का कहना था कि भाषा के सांचे हमारे देखने-समझने और व्यवहार करने के तरीके पहले से निश्चित कर देते हैं। ऊपर के उदाहरणों में हम इससे ठीक उल्टी क्रिया होते देखते हैं — हमारे देखने-समझने और व्यवहार करने के तरीके ही भाषा के सांचों को बनाते-बिगाड़ते और बदलते हैं। प्रजनन-सम्बंधी धारणाओं से मास, मेन्सिस, मथ आदि शब्दों का निर्माण हुआ। ये शब्द मनुष्य के चिन्तन के लिए बेड़ियां नहीं बन गये। ऐसा होता तो वह और मास की कल्पना ही न कर पाता। मनुष्य ने समय विभाजन के लिए नये तरीके अपनाये। इसके लिए उसने नये ध्वनि-संकेत गढ़ना अनावश्यक समझा। पुराने सांचों में नयी सामग्री डालकर शब्द को नया अर्थ दे दिया।

पिता शब्द कभी एक आयु के बाबा लोगों के लिए प्रयुक्त होता था। पितृसत्ताक समाज में वह नयी सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार अपने

अर्थ हुए — कश्मीरी में मूल अर्थ झरना, संस्कृत-हिन्दी में भाप। जल और प्रजनन के सम्बन्ध से तीर्थ शब्द के दो अर्थ हुए — मलयालम में मूल अर्थ जल, संस्कृत-हिन्दी आदि में पवित्र धार्मिक स्थान। समय का विभाजन चन्द्रमा की गति के आधार पर किया गया। इसलिए अनेक भाषाओं में चन्द्रमा का नाम महीने के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्द के साथ जुड़ा हुआ है। अंग्रेजी में चन्द्रमा के लिए शब्द है मून और महीने के लिए मंथ। संस्कृत शब्द हैं चन्द्रमस् और मास। मेरा अनुमान है कि चन्द्रमा एक ही अर्थ के वाचक चन्द्र और मस् शब्दों से बना है (शादी-ब्याह के जोड़े की तरह)। मास में चन्द्रवाचक शब्द "मा" है। मन को शान्त-केन्द्रित करने वाले जनों ने मस् को मन्स किया। लैटिन में मास के लिए शब्द है मेन्सिस्। ग्रीक में चन्द्रमा के लिए एक शब्द है मीन (जो टॉमसन के अनुसार पुल्लिंग था)। मीन का अर्थ था चन्द्रमा, आगे चलकर उसका अर्थ रह गया महीना। चन्द्रमा मन का देवता है। मन के "म" में वही मस् वाला "म" है। लैटिन में "मेन्स" का अर्थ है मन, मेन्स चिन्तन की देवी भी है। अंग्रेजी में उसी मूल तत्व से माइन्ड बना। चन्द्रमा के प्रभाव से दिमाग खराब होता है, यह मान कर अंग्रेजी में लूना से लूनेसी शब्द बना, पागलपन के लिए।

सामाजिक परिस्थितियां चिन्तन की सीमाएं निश्चित करती हैं, लेकिन चिन्तन स्वयं प्रत्येक अवस्था में सामाजिक परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब नहीं होता। कौशल और विज्ञान में पिछड़े होने से मनुष्य ने चन्द्रमा से प्रजनन का सम्बन्ध जोड़ा। इससे क्या चन्द्रमा आर्थिक ढांचे का प्रतिबिम्ब हो गया? वह आर्थिक ढांचे का प्रतिबिम्ब नहीं है। साथ ही चन्द्रमा से सम्बन्धित कल्पनाएं समाज निरपेक्ष नहीं हैं। सामाजिक परिस्थितियों के प्रभाव से मनुष्य अपने चिन्तन की सीमाओं में भाषा कैसे रचता है, इसके उदाहरण चन्द्रमा से सम्बन्धित शब्द हैं। सपीर का कहना था कि भाषा के सांचे हमारे देखने-समझने और व्यवहार करने के तरीके पहले से निश्चित कर देते हैं। ऊपर के उदाहरणों में हम इससे ठीक उल्टी क्रिया होते देखते हैं — हमारे देखने-समझने और व्यवहार करने के तरीके ही भाषा के सांचों को बनाने-बिगाड़ने और बदलते हैं। प्रजनन-सम्बन्धी धारणाओं से भाप, मेन्सिस, मंथ आदि शब्दों का निर्माण हुआ। ये शब्द मनुष्य के चिन्तन के लिए बेड़ियां नहीं बन गये। ऐसा होता तो वह मौर मास की कल्पना ही न कर पाता। मनुष्य ने समय विभाजन के लिए नये तरीके अपनाये। इसके लिए उसने नये ध्वनि-संकेत गढ़ना अनावश्यक समझा। पुराने सांचों में नयी सामग्री डालकर शब्दों को नया अर्थ दे दिया।

पिता शब्द कभी एक आयु के सारे लोगों के लिए प्रयुक्त होता था। पितृसत्ताक समाज में यह नयी सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार अपने

तथा ग्रीक मे वह पुल्लिंग था। संस्कृत मे वह नपुंसक लिंग है। संभव है पितृसत्ताक व्यवस्था कायम होने के समय इस प्रतिद्वंद्वी के प्रति ईर्ष्याभाव से पितरो ने उसे क्षयग्रस्त होने का शाप दे दिया हो। लोक-संस्कृति मे आज भी वह चन्दा मामा है। मामा क्यो? इसलिए कि अनेक मातृसत्ताक समाजो मे भाई-बहन के ब्याह की प्रथा रही है। चन्द्रमा सन्तान देने वाला है, इसलिए वह मामा और पिता एक साथ था। पितृसत्ताक समाज में विवाह-प्रथा के बदलने पर वह संस्कारवश मामा कहा जाता रहा; माता से उसका अन्य सम्बंध लोक स्मृति मे खो गया। चन्द्रमा औषधियो का स्वामी है; वह प्राणि-जगत् मे पुनर्जीवन का प्रतीक है। "सभी आदिम समाजो मे मृत्यु के बाद पुनर्जीवन के विश्वास के साथ चन्द्रमा जुड़ा हुआ है। इस प्रकार उसका संसर्ग इसी कोटि के अन्य प्रतीकों — जैसे सर्प — के साथ होता है।"[1] नाग लिंगोपासना से सम्बद्ध होता है। उसने पैराडाइज़ में ईव को बहकाया; अनेक प्रजनन-सम्बधी लोक-रीतियों मे उसकी उपासना की जाती है। जल भी प्रजनन से सम्बद्ध किया गया है। सम्भवतः तीर्थ शब्द का मूल अर्थ जल ही था; मलयालम मे अब भी उसका वही अर्थ है (पवित्र जल)। तीर्थ मे देवियां स्नान करती है, सन्तान प्राप्ति के लिए। मैंने सुना है कि ब्रज मे अनेक ऐसे पोखर हैं जिनके बारे मे यह प्रचार है कि उनमे स्नान करने से गर्भ रह जाता है और यहा गर्भ रहने के लिए पानी रहना, इस मुहावरे का इस्तेमाल भी किया जाता है। टॉमसन का कहना है कि नाग अक्सर पोखरो और झरनो के पास पाये जाते हैं, इसलिए वे झरनो से सम्बद्ध हो गये हैं। हमारे यहा शेषनाग सहस्र फनो पर पृथ्वी को धारण किये है। अब जरा कश्मीर के वेरीनाग जैसे स्थानो का स्मरण कीजिए। नाग शब्द झरनो के लिए प्रयुक्त होता था, जल से सर्पो का सम्बंध कायम हुआ। इसलिए नाग शब्द सर्प के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। शेष नामक झरना शेषनाग में परिवर्तित हो गया! चन्द्रमा, सर्प, जल — तीनो का सम्बध जुड़ा प्रजनन क्रिया से। स्वभावतः शिव जी के मस्तक पर चन्द्रमा है, जटाओं में गंगा और गले मे सर्प है! वे लिंग रूप में पूजे जाते है!

भाषा पर इस चिन्तन-प्रक्रिया का प्रभाव यह पड़ा कि चन्द्रदेव मामा बने। उन्हे औषधियों का स्वामी कहा गया। उनसे अमृत तो झरता ही है। वह बच्चे को दूध पिलाने और उसे दीर्घजीवी बनाने आते हैं; अवध मे माताएं गोद के बच्चो से कहती हैं: चन्दा मामा आओ, दही कमोरवा लाओ; बच्चा के मुंह मा सुटुक कइ जाओ। सर्प और जल के संसर्ग से नाग शब्द के दो

1. टॉमसन, स्टडीज इन एन्शेन्ट ग्रीक सोसायटी, पृष्ठ २१३।

अर्थ हुए — कश्मीरी में मूल अर्थ झरना, संस्कृत-हिन्दी में साप ! जल और प्रजनन के सम्बन्ध से तीर्थ शब्द के दो अर्थ हुए — मलयालम् में मूल अर्थ जल, संस्कृत-हिन्दी आदि में पवित्र धार्मिक स्थान। समय का विभाजन चन्द्रमा की गति के आधार पर किया गया। इसलिए अनेक भाषाओं में चन्द्रमा का नाम महीने के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्द के साथ जुड़ा हुआ है। अंग्रेजी में चन्द्रमा के लिए शब्द है मून और महीने के लिए मंथ। संस्कृत शब्द हैं चन्द्रमस् और मास। मेरा अनुमान है कि चन्द्रमा एक ही अर्थ के वाचक चन्द्र और मस् शब्दों से बना है (शादी-ब्याह के जोड़े की तरह)। मास में चन्द्रवाचक शब्द "मा" है। मन को सम्पन्न-केन्द्र करने वाले जनों ने मस् को मन्स किया। लैटिन में मास के लिए शब्द है मेन्सिस्। ग्रीक में चन्द्रमा के लिए एक शब्द है मीन (जो टॉमसन के अनुसार पुल्लिंग था)। मीन का अर्थ था चन्द्रमा, आगे चलकर उसका अर्थ रह गया महीना। चन्द्रमा मन का देवता है। मन के "म" में वही मस् वाला "म" है। लैटिन में "मेन्स" का अर्थ है मन; मेन्स चिन्तन की देवी भी है। अंग्रेजी में उसी मूल तत्व से माइन्ड बना। चन्द्रमा के प्रभाव से दिमाग खराब होता है, यह मान कर अंग्रेजी में लूना से लूनेसी शब्द बना, पागलपन के लिए।

सामाजिक परिस्थितियां चिन्तन की सीमाएं निश्चित करती हैं, लेकिन चिन्तन स्वयं प्रत्येक अवस्था में सामाजिक परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब नहीं होता। कौशल और विज्ञान में पिछड़े होने से मनुष्य ने चन्द्रमा से प्रजनन का सम्बन्ध जोड़ा। इससे क्या चन्द्रमा आर्थिक ढांचे का प्रतिबिम्ब हो गया ? वह आर्थिक ढांचे का प्रतिबिम्ब नहीं है। साथ ही चन्द्रमा से सम्बन्धित धारणाएं समाज निरपेक्ष नहीं हैं। सामाजिक परिस्थितियों के प्रभाव से मनुष्य अपने चिन्तन की सीमाओं में भाषा कैसे रचता है, इसके उदाहरण चन्द्रमा से सम्बन्धित शब्द हैं। सपीर का कहना था कि भाषा के सांचे हमारे देखने-समझने और व्यवहार करने के तरीके पहले से निश्चित कर देते हैं। ऊपर के उदाहरणों में हम इससे ठीक उल्टी क्रिया होते देखते हैं — हमारे देखने-समझने और व्यवहार करने के तरीके ही भाषा के सांचों को बनाने-बिगाड़ने और बदलने हैं। प्रजनन-सम्बंधी धारणाओं से मास, मेन्सिस, मंथ आदि शब्दों का निर्माण हुआ। ये शब्द मनुष्य के चिन्तन के लिए बेड़ियां नहीं बन गये। ऐसा होता तो वह मौर मास की कल्पना ही न कर पाता। मनुष्य ने समय विभाजन के लिए नये तरीके अपनाये। इसके लिए उसने नये ध्वनि-संकेत गढ़ना अनावश्यक समझा। पुराने सांचों में नयी सामग्री ढालकर शब्द को नया अर्थ दे दिया।

पिता शब्द कभी एक आयु के चाचा लोगों के लिए प्रयुक्त होता था। पितृसत्ताक समाज में वह नयी सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार अपने

तथा ग्रीक मे वह पुल्लिंग था। संस्कृत में वह नपुंसक लिंग है। संभव है पितृसत्ताक व्यवस्था कायम होने के समय इस प्रतिद्वंदी के प्रति ईर्ष्याभाव में पितरों ने उसे क्षयग्रस्त होने का शाप दे दिया हो। लोक-संस्कृति मे आज भी वह चन्दा मामा है। मामा क्यों? इसलिए कि अनेक मातृसत्ताक समाजों मे भाई-बहन के ब्याह की प्रथा रही है। चन्द्रमा सन्तान देने वाला है, इसलिए वह मामा और पिता एक साथ था। पितृसत्ताक समाज मे विवाह-प्रथा के बदलने पर वह संस्कारवश मामा कहा जाता रहा; माता से उसका अन्य सम्बंध लोक स्मृति में खो गया। चन्द्रमा ओषधियों का स्वामी है; वह प्राणि-जगत् मे पुनर्जीवन का प्रतीक है। "सभी आदिम समाजों में मृत्यु के बाद पुनर्जीवन के विश्वास के साथ चन्द्रमा जुड़ा हुआ है। इस प्रकार उसका सम्पर्क इसी कोटि के अन्य प्रतीकों — जैसे सर्प — के साथ होता है।"[1] सर्प लिंगोपासना मे सम्बद्ध होता है। उसने पैराडाइज में ईव को बहकाया; अनेक प्रजनन-सम्बंधी लोक-रीतियों में उसकी उपासना की जाती है। जल भी प्रजनन से सम्बद्ध किया गया है। सम्भवतः तीर्थ शब्द का मूल अर्थ जल ही था; मऊ-मालम मे अब भी उसका वही अर्थ है (पवित्र जल)। तीर्थ में देवियां स्नान करती हैं, सन्तान प्राप्ति के लिए। मैंने सुना है कि ब्रज मे अनेक ऐसे पोखर हैं जिनके बारे मे यह प्रचार है कि उनमे स्नान करने से गर्भ रह जाता है और यहां गर्भ रहने के लिए पानी रहना, इस मुहावरे का इस्तेमाल भी किया जाता है। टॉमसन का कहना है कि नाग अक्सर पोखरों और झरनों के पास पाये जाते हैं, इसलिए वे झरनों से सम्बद्ध हो गये हैं। हमारे यहां शेषनाग सहस्र फनों पर पृथ्वी को धारण किये हैं। अब जरा कश्मीर के बेरीनाग जैसे स्थानों का स्मरण कीजिए। नाग शब्द झरनों के लिए प्रयुक्त होता था, इस से सर्पों का सम्बंध कायम हुआ। इसलिए नाग शब्द सर्प के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। शेष नामक झरना शेषनाग मे परिवर्तित हो गया! चन्द्रमा, सर्प, जल — तीनों का सम्बंध जुड़ा प्रजनन क्रिया से। स्वभावतः शिव जो के मस्तक पर चन्द्रमा है, जटाओं में गंगा और गले में सर्प हैं! वे लिंग रूप में पूजे जाते हैं।

भाषा पर इस चिन्तन-प्रक्रिया का प्रभाव यह पड़ा कि चन्द्र...शब्द बने। उसे ओषधियों का स्वामी कहा गया। उसमें अमृत तो रहता ही है। वह बच्चों को दूध पिलाने और उन्हें दीर्घजीवी बनाने आते हैं, ... गोद मे बच्चों से कहती हैं: चन्दा मामा आओ, दूधी कटोरा लाओ, ... के मुंह मा गुप्प कर जाओ। सर्प और जल के सम्पर्क से ...

1. टॉमसन, स्टडीज इन एन्शेन्ट ग्रीक सोसायटी, पृष्ठ २१३।

अर्थ हुए — कश्मीरी में मूल अर्थ झरना, संस्कृत-हिन्दी में भाप ! जल और प्रजनन के सम्बंध से तीर्थ शब्द के दो अर्थ हुए — मलयालम् में मूल अर्थ जल, संस्कृत-हिन्दी आदि में पवित्र धार्मिक स्थान। समय का विभाजन चन्द्रमा की गति के आधार पर किया गया। इसलिए अनेक भाषाओं में चन्द्रमा का नाम महीने के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्द के साथ जुड़ा हुआ है। अंग्रेजी में चन्द्रमा के लिए शब्द है मून और महीने के लिए मथ। संस्कृत शब्द हैं चन्द्रमस् और मास। मेरा अनुमान है कि चन्द्रमा एक ही अर्थ के वाचक चन्द्र और मस् शब्दों से बना है (शादी-ब्याह के जोड़े की तरह)। मास में चन्द्रवाचक शब्द "मा" है। इस को शान्त-केन्द्र करने वाले जनों ने मस् को मन्स किया। लैटिन में मास के लिए शब्द है मेन्सिस्। ग्रीक में चन्द्रमा के लिए एक शब्द है मीन (जो टॉमसन के अनुसार पुल्लिंग था)। मीन का अर्थ था चन्द्रमा, आगे चलकर उसका अर्थ रह गया महीना। चन्द्रमा मन का देवता है। मन के "म" में वही मस् वाला "म" है। लैटिन में "मेन्स" का अर्थ है मन; मेन्स चिन्तन की देवी भी है। अंग्रेजी में उसी मूल तत्व से माइन्ड बना। चन्द्रमा के प्रभाव से दिमाग खराब होता है, यह मान कर अंग्रेजी में लूना से लूनैसी शब्द बना, पागलपन के लिए।

सामाजिक परिस्थितियां चिन्तन की सीमाएं निश्चित करती हैं, लेकिन चिन्तन स्वयं प्रत्येक अवस्था में सामाजिक परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब नहीं होता। कौशल और विज्ञान में पिछड़े होने से मनुष्य ने चन्द्रमा से प्रजनन का सम्बंध जोड़ा। इससे क्या चन्द्रमा आर्थिक ढांचे का प्रतिबिम्ब हो गया ? वह आर्थिक ढांचे का प्रतिबिम्ब नहीं है। साथ ही चन्द्रमा से सम्बंधित कल्पनाएं समाज निरपेक्ष नहीं हैं। सामाजिक परिस्थितियों के प्रभाव से मनुष्य अपने चिन्तन की सीमाओं में भाषा कैसे रचता है, इसके उदाहरण चन्द्रमा से सम्बंधित शब्द हैं। सपीर का कहना था कि भाषा के सांचे हमारे देखने-समझने और व्यवहार करने के तरीके पहले से निश्चित कर देते हैं। ऊपर के उदाहरणों में हम इससे ठीक उल्टी क्रिया होते देखते हैं — हमारे देखने-समझने और व्यवहार करने के तरीके ही भाषा के सांचों को बनाते-बिगाड़ते और बदलते हैं। प्रजनन-सम्बंधी धारणाओं से मास, मेन्सिस, मथ आदि शब्दों का निर्माण हुआ। ये शब्द मनुष्य के चिन्तन के लिए बेड़ियां नहीं बन गये। ऐसा होता तो वह मीर मास की कल्पना ही न कर पाता। मनुष्य ने समय विभाजन के लिए नये तरीके अपनाये। इसके लिए उसने नये ध्वनि-संकेत गढ़ना अनावश्यक समझा। पुराने सांचों में नयी सामग्री डालकर शब्द को नया अर्थ दे दिया।

पिता शब्द कभी एक आयु के सारा लोगों के लिए प्रयुक्त होता था। पितृसत्ताक समाज में वह, नयी सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार अपने

तथा ग्रीक मे वह पुल्लिग था । सस्कृत मे वह नपुसक लिंग है । संभव है पितृसत्ताक व्यवस्था कायम होने के समय इस प्रतिद्वंदी के प्रति ईर्ष्याभाव से पितरो ने उसे क्षयग्रस्त होने का शाप दे दिया हो । लोक-सस्कृति मे आज भी वह चन्दा मामा है । मामा क्यो ? इसलिए कि अनेक मातृसत्ताक समाजो मे भाई-बहन के ब्याह की प्रथा रही है । चन्द्रमा सन्तान देने वाला है, इसलिए वह मामा और पिता एक साथ था । पितृसत्ताक समाज मे विवाह-प्रथा के बदलने पर वह सस्कारवश मामा कहा जाता रहा; माता से उसका अन्य सम्बध लोक स्मृति मे खो गया । चन्द्रमा औषधियों का स्वामी है; वह प्राणि-जगत् मे पुनर्जीवन का प्रतीक है । "सभी आदिम समाजो मे मृत्यु के बाद पुनर्जीवन के विश्वास के साथ चन्द्रमा जुड़ा हुआ है । इस प्रकार उसका ससर्ग इसी कोटि के अन्य प्रतीको —जैसे सर्प — के साथ होता है ।"[1] नाग लिंगोपासना से सम्बद्ध होता है । उसने पैराडाइज मे ईव को बहकाया; अनेक प्रजनन-सम्बधी लोक-रीतियों मे उसकी उपासना की जाती है । जल भी प्रजनन से सम्बद्ध किया गया है । सभवत· तीर्थ शब्द का मूल अर्थ जल ही था; मलयालम मे अब भी उसका वही अर्थ है (पवित्र जल) । तीर्थ मे देवियां स्नान करती हैं, सन्तान प्राप्ति के लिए । मैंने सुना है कि ब्रज मे अनेक ऐसे पोखर हैं जिनके बारे मे यह प्रचार है कि उनमे स्नान करने से गर्भ रह जाता है और यहा गर्भ रहने के लिए पानी रहना, इस मुहावरे का इस्तेमाल भी किया जाता है । टॉमसन का कहना है कि नाग अक्सर पोखरो और झरनो के पास पाये जाते हैं, इसलिए वे झरनों से सम्बद्ध हो गये हैं । हमारे यहा शेषनाग सहस्र फनो पर पृथ्वी को धारण किये हैं । अब ज़रा कश्मीर के वेरीनाग जैसे स्थानो का स्मरण कीजिए । नाग शब्द झरनो के लिए प्रयुक्त होता था; तब से सर्पो का सम्बध कायम हुआ । इसलिए नाग शब्द सर्प के लिए भी प्रयुक्त होने लगा । शेष नामक झरना शेषनाग में परिवर्तित हो गया ! चन्द्रमा, सर्प, जल — तीनो का सम्बंध जुड़ा प्रजनन क्रिया से । स्वभावत· शिव जो के मस्तक पर चन्द्रमा है, जटाओं में गगा और गले मे सर्प हैं ! वे लिंग रूप मे पूजे जाते है !

भाषा पर इस चिन्तन-प्रक्रिया का प्रभाव यह पडा कि चन्द्रदेव मामा बने । उन्हें औषधियों का स्वामी कहा गया । उनसे अमृत तो झरता ही है। वह बच्चे को दूध पिलाने और उसे दीर्घजीवी बनाने आते हैं; अवध मे माताएं गोद के बच्चों से कहती हैं : चन्दा मामा आओ, दही कमोरवा लाओ; बच्चा के मुह मा घुटुक कइ जाओ । सर्प और जल के ससर्ग से नाग शब्द के दो

1. टॉमसन, स्टडीज इन एन्शेन्ट ग्रीक सोसायटी, पृष्ठ २१३ ।

अर्थ हुए — कश्मीरी में मूल अर्थ झरना, संस्कृत-हिन्दी में सार ! जल और प्रजनन के सम्बन्ध से तीर्थ शब्द के दो अर्थ हुए — मलयालम् में मूल अर्थ जल, संस्कृत-हिन्दी आदि में पवित्र धार्मिक स्थान। समय का विभाजन चन्द्रमा की गति के आधार पर किया गया। इसलिए अनेक भाषाओं में चन्द्रमा का नाम महीने के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्द के साथ जुड़ा हुआ है। अंग्रेजी में चन्द्रमा के लिए शब्द है मून और महीने के लिए मंथ। संस्कृत शब्द हैं चन्द्रमस् और मास। मेरा अनुमान है कि चन्द्रमा एक ही अर्थ के वाचक चन्द्र और मस् शब्दों से बना है (शादी-ब्याह के जोड़े की तरह)। मास में चन्द्रवाचक शब्द "मा" है। मन को शान्त-केन्द्र करने वाले जनों ने मन को मन्म किया। लैटिन में मास के लिए शब्द है मेन्सिस्। ग्रीक में चन्द्रमा के लिए एक शब्द है मीन (जो टॉमसन के अनुसार पुल्लिंग था)। मीन का अर्थ था चन्द्रमा आगे चलकर उसका अर्थ रह गया महीना। चन्द्रमा मन का देवता है। मन के "म" से यही मस् वाला "म" है। लैटिन में "मेन्स" का अर्थ है मन, मेन्स चिन्तन की देवी भी है। अंग्रेजी में उसी मूल शब्द से माइन्ड बना। चन्द्रमा के प्रभाव से दिमाग खराब होता है, यह मान कर अंग्रेजी में लूना से लूनेसी शब्द बना, पागलपन के लिए।

सामाजिक परिस्थितियाँ चिन्तन की सीमाएँ निश्चित करती हैं लेकिन चिन्तन स्वयं प्रत्येक अवस्था में सामाजिक परिस्थितियों का [illegible] नहीं होता। कौशल और विज्ञान में पिछड़े होने से मनुष्य ने चन्द्रमा से [illegible] का सम्बन्ध जोड़ा। इससे क्या चन्द्रमा आर्थिक ढाँचे का प्रतिबिम्ब [illegible] आर्थिक ढाँचे का प्रतिबिम्ब नहीं है। साथ ही चन्द्रमा से [illegible] समाज निरपेक्ष नहीं है। सामाजिक परिस्थितियों के प्रभाव से [illegible] चिन्तन की सीमाओं में भाषा कैसे रचता है इसके उदाहरण चन्द्रमा से [illegible] शब्द हैं। शरीर का कहना था कि भाषा के [illegible] [illegible] और व्यवहार करने के तरीके [illegible] से निश्चित कर देते हैं। [illegible] हम इससे ठीक उल्टी क्रिया होते देखते हैं — [illegible] और [illegible] करने के तरीके ही भाषा के शब्दों [illegible] और [illegible] स्वरूपी धारणाओं से मास, मेन्सिस, मंथ आदि [illegible] का [illegible] शब्द मनुष्य के चिन्तन के लिए [illegible] काम की कल्पना ही न कर सकता। [illegible] तरीके अपनाए। इसके [illegible] दूसरे शब्दों में कहें [illegible]

[illegible]
[illegible]

आधुनिक अर्थ का बोधक बन गया। जन शब्द रक्त-सम्बंध पर आधारित कबी
के लिए प्रयुक्त होता था। अब वह रक्त-सम्बंध से बहुत दूर नये आर्थिक सम्बं
द्वारा संगठित जनता के लिए प्रयुक्त होता है। उसके सहोदर गण का उपयो
बहुवचन बनाने के लिए होता रहा। आधुनिक युग मे जनतंत्र और गणतंत्र जै
शब्दो में जन और गण को एक नयी व्यंजना प्रदान की गयी। वर्ण शब्द के मू
अर्थ की चर्चा विवाहादि का विचार करते समय अब भी होती है। पंडित व
पता लगाना होता है कि वर किस वर्ण का है, कन्या किस वर्ण की है। जिस व
से युवक-युवती चुने जायें, उसे वर्ण कहा जाता था। आगे चलकर वह सामंत
समाज के चार मुख्य वर्गों के लिए प्रयुक्त होने लगा। मातृसत्ताक व्यवस्था से
पितृसत्ताक व्यवस्था की ओर सक्रमण करते समय संस्कृत के नये मानदंडो के
अनुकूल नये शब्द बनते हैं या पुराने शब्दो के अर्थ में परिवर्तन होता है। पितृ-
सत्ताक से सामंती व्यवस्था की ओर सक्रमण करते मे, सामन्ती व्यवस्था की
ओर बढने मे इसी तरह की प्रक्रिया दोहरायी जाती है। समाज की प्रत्येक
अवस्था में भाषा उसकी सस्कृति को प्रतिबिम्बित करती है। सस्कृति में परि-
वर्तन के साथ भाषा मे भी परिवर्तन होता है क्योकि वह संस्कृति का अंग है।
भाषा के कुछ तत्व बदलते हैं, उसमे आमूल परिवर्तन नही होता, जैसे सस्कृति
के भी कुछ ही तत्व बदलते हैं, उसमें आमूल परिवर्तन नही होता। भाषा किस
स्तर की संस्कृति को प्रतिबिम्बित करती है, यह उसके बोलने वालो की आन्त-
रिक समाज व्यवस्था पर निर्भर होता है। सामन्त काल मे अंग्रेजी चाहे जितने
फ्रांसीसी और लैटिन शब्द भर लेती, हिन्दी में फारसी और अरबी का चाहे सारा
शब्द-भंडार समो जाता, ये भाषाए सामन्ती व्यवस्था की सीमाओ मे ही किसी
संस्कृति को व्यक्त करती। उस व्यवस्था की संस्कृति के स्तरों में भेद हो सकता
है। पूजीवादी जर्मनी और पूजीवादी इंगलंड की सस्कृति वर्ग दृष्टि से एक है,
फिर भी दोनो मे महत्वपूर्ण भेद हैं। इसी तरह किसी भी समाज-व्यवस्था में
भिन्न-भिन्न भाषाएं कुछ बातो में अपनी विशेषताए प्रकट करती हैं; मूलभूत
तत्वो की दृष्टि से, उनमे बहुत बडी समानता होती है। भारत की प्रमुख
भाषाओं हिन्दी, बगला, मराठी, तमिल आदि — में अनेक महत्वपूर्ण भेद हैं
और उनकी अपनी विशेषताएं हैं किन्तु सामाजिक परिस्थितिया मूलत. एक सी
इसलिए भाषाए मूलत एक ही स्तर की सस्कृति को प्रतिबिम्बित करती हैं।

भाषा मे परिवर्तन धीरे-धीरे होता है, इस बात को सभी स्वीकार करते
। इस परिवर्तन की गति सदा एक सी नहीं रहती। बाह्य-अन्तर्विरोध के
रण उत्तर भारत मे तुर्क छा गये। उनके शासन की भाषा फारसी थी।
ससे बहुत से शब्द हिन्दी में आये। इंगलैंड पर नार्मन प्रभुत्व हुआ। बाह्य
न्तर्विरोध से अंग्रेजी भाषा में फ्रांसीसी शब्दों की बाढ़ आ गयी। बाहरी

ते शब्दों के आने की रफ्तार का कोई नियम नहीं था, आक्रमण और
की विशेष परिस्थितियों में यह रफ्तार तेज हो गयी। यूरोपीय नव-
के युग में संस्कृत के अध्ययन पर बहुत बल दिया गया। अंग्रेजी में
दों के आने की रफ्तार बढ़ी। इस तेज रफ्तार का कारण किसी बाहरी
आक्रमण — अर्थात् बाह्य अन्तर्विरोध — न था। उन्नीसवीं-बीसवीं
की सामाजिक-सांस्कृतिक आवश्यकताओं के कारण हमारी भाषाओं में
के तत्सम शब्दों का व्यवहार होने लगा। इतने नये शब्दों का व्यवहार
हजार सौ वर्षों में न हुआ था। इस प्रकार आन्तरिक और बाह्य दोनो
के कारणों से भाषा में परिवर्तन की गति तीव्र हो सकती है। जब न
र के देश से निकट सम्पर्क हो, न समाज की आन्तरिक स्थिति में कोई
परिवर्तन हो, तब भाषा में भी परिवर्तन की गति अत्यन्त धीमी होगी।
बाह्य अन्तर्विरोधों का सम्बन्ध है, वे विश्व-परिस्थितियों पर निर्भर
सलिए इन्हें पूर्वनिश्चित नहीं किया जा सकता। किसी समाज के अपने
ों को निश्चित रूप से जानना अपेक्षाकृत सरल है। ये दोनो तरह के
रूपर असम्बद्ध और एक-दूसरे से एकदम दूर नहीं हैं। उदाहरण के
सी आक्रमक किसी जाति पर क्या प्रभाव डालते है, यह उस जाति के
की स्थिति पर निर्भर है। हिन्दी-भाषी प्रदेश में फारसी के प्रभाव
भाषा के दो शिष्ट या साहित्यिक रूपों का चलन हो गया। भारत के
प्रदेश में यह नहीं हुआ।
ो तरह के अन्तर्विरोध एक-दूसरे से जुड़े हुए है और अलग भी हैं।
ाषा पर उनका प्रभाव कभी अलग ढंग का और कभी मिला-जुला
साधारणतः बाह्य अन्तर्विरोधों से भाषा के रूप पर प्रभाव अधिक
समाज में जब आन्तरिक परिवर्तन होता है, तभी भाषा की विषयवस्तु
दक परिवर्तन होते है। ये आन्तरिक परिवर्तन साधारणतः समाज की
ना, उसके अपने वर्ग-सम्बधों, आर्थिक परिस्थितियों पर निर्भर होते
पर तुर्क आक्रमण से यहा की सामन्ती व्यवस्था न बदल गयी, नार्मन
ब्रिटेन की सामन्ती व्यवस्था न बदली थी। व्यवस्था के बदलने पर
ी विषयवस्तु में परिवर्तन होता है, वह एक नये स्तर की संस्कृति
। करती है। सोवियत संघ में अनेक पिछड़ी हुई जातियों ने सामन्ती
ामन्ती व्यवस्था से सीधे आगे बढ़ कर समाजवादी व्यवस्था में कदम
का कारण उनकी आन्तरिक सामाजिक स्थिति न थी वरन् रूस से
ध था। इससे उनकी भाषा में भी व्यापक परिवर्तन हुए।
स समाज-व्यवस्था में अपनी चेतना के अनुरूप मनुष्य ने संसार को
, उसकी छाया उसकी भाषा पर पड़ी। वह इन्द्रियबोध के स्तर से

क्रमशः सूक्ष्म चिन्तन की ओर आया। जब रक्त-सम्बंधो का बहुत महत्व था, तब नाते-रिश्तेदारी के शब्दो की सख्या बहुत बडी थी। व्यवस्था बदलने पर इनकी सख्या कम हो गयी या उनमे बहुतो के अर्थ बदले गये। जब व्यवस्था के अन्दर व्यक्तिगत सम्पत्ति, राज्यसत्ता, भूस्वामी वर्ग आदि का उद्भव और विकास हुआ, तब इन सामन्ती सम्बधो के साथ पनपने वाली भापा सूक्ष्म चिन्तन के लिए अधिक सबल माध्यम बनी। समाज मे यह रीति कायम हुई कि बेटा बाप का धन्धा अपनाये, विद्वानो का एक विशेष वर्ग बन गया। विशेष योग्यता के इस युग में हर पेशे के लोगो ने कुछ अपनी शब्दावली गढी जिसका प्रयोग अन्य वर्ग न करते थे। दार्शनिको और वैयाकरणो ने भापा का व्यवहार चिन्तन के ऐसे क्षेत्रों मे किया जिसकी कल्पना भी पहले सम्भव न थी। पूँजीवादी सम्बधो के साथ साहित्य, कला और विशेषकर विज्ञान के क्षेत्रो मे नयी प्रगति का मार्ग खुला। इस सास्कृतिक प्रगति के अनुरूप भापा की अभिव्यजना-क्षमता को भी विकसित करना आवश्यक हुआ। इस प्रकार व्यवस्था के बदलने के साथ भापा का अन्तस भी बदलता है। सारा विकासक्रम विलबित और तीव्र, विच्छिन्न और अविच्छिन्न दोनो प्रकार से होता है।

प्रसिद्ध है कि किसी भी विशाल देश मे आप एक सिरे से दूसरे छोर तक चले तो हर दस या बारह कोस पर बोली बदलती जायेगी। यह पता न चलेगा कि कहा एक भापा खत्म हुई और दूसरी आरम्भ हुई। भौगोलिक दूरी तै करने पर ही ऐसा नही लगता, इतिहास की दूरी तै करने पर भी ऐसा ही लगे यदि भापाओ का सही इतिहास हमारे सामने हो। सस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश-हिन्दी— भापा का इतिहास इन कल्पित और भ्रान्त मजिलो से नही जाना जा सकता। हिन्दी प्राचीन सस्कृत का आधुनिक रूप नही है, न फ्रासीसी लैटिन का आधुनिक रूप है। लेकिन ग्रीक, लैटिन, रूसी, कश्मीरी, सस्कृत और हिन्दी के तुलनात्मक अध्ययन से यह पता चल जाता है कि आधुनिक भापाओं के मूल तत्व कितने पुराने है। बरसाती पानी की तरह ये तत्व अनेक सर-सरिताओं मे भर जाते है, जब कोई महाजाति सगठित होती है, तब एक विशाल नद के समान उसकी भापा मे ये बहुत से तत्व सिमट आते है। यदि बाह्य अन्तर्विरोधो से अछूता किसी भापा का इतिहास मिल सके तो हम देखें कि सामाजिक सम्बधो के बदले बिना उसमे कोई भी मौलिक परिवर्तन नही होता। ऐसा इतिहास न किसी भापा का है, न मिल सकता है। कारण यह है कि भापा के विकास की प्रक्रिया ही अनेक भापाओ के तत्वो के मिश्रण से सम्पन्न होती है। यदि अनेक गणो के मिलने से एक लघुजाति बनती है, अनेक लघुजातियो के मिलने से महाजाति बनती है, तो लघुजाति या महाजाति की भापा मे किसी एक भापा का विकास हो ही नही सकता। जिन मजिलो के लिए हमने सोच रखा है कि भापा

बदल गयी, उनमें दरअसल भाषा बदली नहीं। आधुनिक अंग्रेज़ी ऐंग्लो-सैक्सन भाषाओं या बोलियों का नया रूप नहीं है। फ्रांसीसी विद्वान् लेगुइ ने ठीक लिखा है कि अंग्रेज़ी और ऐंग्लो-सैक्सन दो भिन्न भाषाएं हैं।

भाषा का विकास दो स्तरों पर होता है। एक स्तर पर अन्य भाषाओं के तत्व मिलते हैं, शब्द-भंडार घटता-बढ़ता है, भाषा के प्रयोग की परिधि विस्तृत होती है। इसे हम भाषा का रूप-सम्बन्धी विकास कह सकते हैं। दूसरी ओर सामाजिक सांस्कृतिक आवश्यकताओं के अनुरूप उसकी अभिव्यंजना-क्षमता बदलती है, वह एक नये स्तर की संस्कृति को प्रतिबिम्बित करती है। इसे हम भाषा का विषयवस्तु सम्बन्धी विकास कह सकते हैं। दोनों ही तरह का विकास सामाजिक कारणों से होता है। बाह्य अन्तर्विरोधों से साधारणतः रूप सम्बन्धी परिवर्तन होते हैं, समाज के अपने अन्तर्विरोधों से विषयवस्तु सम्बन्धी परिवर्तन होते हैं। ये दोनों तरह के अन्तर्विरोध परस्पर सम्बद्ध हैं, इसलिए भाषा का रूप सम्बन्धी परिवर्तन उसकी अभिव्यंजना क्षमता से विलग नहीं होता। विकास की दोनों धाराएं कभी विच्छिन्न और कभी मिली हुई प्रवाहित होती हैं।

क्या भाषा के विकास की मंजिलें निश्चित की जा सकती हैं? यदि हम यह समझ लें कि भाषा जड़ इकाई न होकर तरल प्रवाह है, तो उसके विकास की मंजिलें हम निश्चित कर सकते हैं। ये मंजिलें देश-काल की दृष्टि से एकदम नपी-तुली न होकर नदी की बाढ़ की तरह होंगी जिसमें नदी तो दिखाई देती है लेकिन उसके किनारे पानी में डूबे रहते हैं। हम कह सकते हैं कि उत्तर भारत में लगभग छह हजार साल पहले सप्तसिंधु में मिलती-जुलती भाषाएं बोली जाती थीं। इनके अलावा अन्य कुलों की भाषाएं यहां बोली जाती थीं, यह भी निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है। ईसा के जन्म से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले गणों का विघटन और सामन्ती सम्बन्धों का निर्माण आरम्भ हुआ। [illegible]

जनपद हैं। दसवी, ग्यारहवी या इनके बाद की शताब्दियो मे इन भाषाओ का निर्माण नही हुआ। तुर्क या मुगल शासन मे इनका व्यवहार साहित्य मे होने लगा, तो यह उनका आदिकाल या अभ्युदय काल नही हो जाता। चौदहवी-पन्द्रहवी सदी मे सामन्ती व्यवस्था का ह्रास और पूजीवादी सम्बधो का निर्माण होता है। इस दीर्घ प्रक्रिया मे अवधी और ब्रज दोनो ही वर्तमान हिन्दी क्षेत्र के जनपदो को एक-दूसरे के निकट लाती हैं। अठारहवी सदी तक खडी बोली हिन्दी अपने क्षेत्र से बाहर निकल कर हमारे जातीय प्रदेश की भाषा बन चुकी है। उन्नीसवी-बीसवी सदी मे पूजीवादी विकास के साथ उसका रूप परिष्कृत होता है और शब्द-भंडार समृद्ध होता है। विकास की यह बहुत मोटी रूपरेखा है। इससे अधिक निश्चित रेखाए खीचकर आदि, मध्य और आधुनिक काल निश्चित करना खतरनाक है।

भाषा समूचे समाज की सम्पत्ति है। स्तालिन ने भाषा का वर्ग-आधार मानने वालो, वर्ग-प्रभुत्व बदलने के साथ भाषा मे आमूल परिवर्तन मानने वालों का सही खडन किया था। इसका यह अर्थ नही है कि भाषा के विकास में वर्गों की महत्त्वपूर्ण भूमिका नही होती। सामन्तों, व्यापारियो, विद्वानो की सामाजिक-सास्कृतिक आवश्यकताओ के कारण ही संस्कृत और लैटिन का परिनिष्ठित रूप सभव हुआ था और इन भाषाओ का अखिल भारतीय और अखिल यूरोपीय व्यवहार होता था। सामन्ती व्यवस्था के ह्रास और व्यापारियो द्वारा नये पूजीवादी सम्बधो के प्रसार के साथ मॉस्को, लदन, पैरिस और दिल्ली की बोलियो के आधार पर रूसी, अग्रेजी, फ्रासीसी और हिन्दी भाषाओ का जातीय भाषाओ के रूप में गठन और प्रसार हुआ था। इस प्रक्रिया मे पूजीपति वर्ग की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। साथ ही मजदूर वर्ग, मध्य वर्ग और शहरो के सम्पर्क मे आने वाले किसान भी इस जातीय भाषा को अपनी बोलियो के साथ काम मे लाकर उसके प्रसार मे सहायता करते हैं और बहुधा अपनी बोलियो के तत्व मिलाकर उसे समृद्ध करते हैं। कहा की बोली को परिनिष्ठित माना जाय, किस प्रदेश के लोगो का उच्चारण आदर्श है, यह सब किसी विशुद्ध भाषागत कसौटी से निश्चित नही होता। हिन्दी क्षेत्र मे पश्चिम के नगर व्यापार के केन्द्र थे; इसलिए उनकी भाषा और प्रयोगो को आदर्श माना गया। हिन्दी के अधिकाश साहित्यकार भले ही लखनऊ, इलाहाबाद और बनारस के रहे हो, उन्हे भाषा-सम्बधी आदर्श के लिए पछाह के नगरो का ही मुह देखना पडा है। पारिभाषिक शब्दो के निर्माण मे पूजीवादी वर्ग जनता की सुविधा का ध्यान कम रखता है; वह कठिन और अस्वाभाविक शब्दावली भी गढ डालता है। देश की जनता के हितो का ध्यान रखने वाले विचारक इससे भिन्न नीति पर चलते हैं। साम्र विरोध का सामना होने पर समाज के उच्च वर्ग जल्दी कपा डाल देते हैं, अपनी

संक्षिप्त पुस्तक सूची

अग्रवाल, वासुदेवशरण, पाणिनि-कालीन भारतवर्ष (बनारस)।
अग्रवाल, सरयूप्रसाद, प्राकृत विमर्श (लखनऊ)।
आज का भारतीय साहित्य (दिल्ली)।
अख्तरी, गेंदर हसन, सम डौक्यूमेंट्स रिलेटिंग टु द मोंगोलियन ऑफ माप्र
    भाषा ऐंड अहुआ, बैंगाल पास्ट एंड प्रेजेंट (कलकत्ता, १९४६-४७)।
उपाध्याय, भरतसिंह, पालि साहित्य का इतिहास (प्रयाग)।
एहतिशाम हुसैन, सैयद, उर्दू साहित्य का इतिहास (अलीगढ़, १९५४)।
एडकिन्स, जोजफ, चाइनाज प्लेस इन फिलोलौजी (१८७१)।
काल्डवेल, रॉबर्ट, ए कम्परेटिव ग्रामर ऑफ द द्रैवीडियन् ऑर साउथ इंडियन
    फैमिली ऑव लैंग्वेजेज (१९१३)।
कुलकर्णी, कृष्णाजी पांडुरंग; मराठी भाषा उद्गम व विकास (१९५०)।
कोलिमस्की, दि फौर्मेशन ऑव दि इंग्लिश नेशन (एंग्लो-सोवियत जर्नल, ग्रीष्म,
    १९५२)।
ग्रियर्सन, लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया।
ग्रोटे; ए हिस्ट्री ऑफ ग्रीस।
गिलक्राइस्ट, जॉन; द ओरिएंटल लिंग्विस्ट (कलकत्ता, १७९८)।
,, —ए वोकैबुलरी, हिन्दुस्तानी ऐंड इंग्लिश, इंग्लिश एंड
    हिन्दुस्तानी (एडिनबरा)।
गांगुली, श्यामाचरन, एसेज एंड क्रिटिसिज्म (लन्दन, १९२७)।
गुणे, पांडुरंग वामन; ऐन इंट्रोडक्शन टु कम्परेटिव फिलोलौजी (१९५०)।
गुलेरी, चन्द्रधर शर्मा, पुरानी हिन्दी (काशी)।
चाइल्ड, एर्यन्स (१९२६)।
चाटुर्ज्या, सु. कु.; भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी (दिल्ली)।
,, ऑरिजिन एंड डिवेलपमेंट ऑफ बेंगाली लैंग्वेज।
,, राजस्थानी भाषा (उदयपुर)।
चेर्निख, प. य.; इस्तोरिचेस्काया ग्रामातीका रुस्कोवो याजीका (मास्को, १९५२)
जायसवाल, काशीप्रसाद; हिन्दू पौलिटी (१९४३)।

जेक्स और स्टर्न; जेनरल ऐंथ्रोपोलौजी (न्यूयार्क, १९५२)।
तिवारी, उदयनारायण, भोजपुरी भाषा और साहित्य (पटना)।
तिवारी, भोलानाथ, भाषा विज्ञान (इलाहाबाद, १९५१)।
थौम्पसन, जार्ज, द फर्स्ट फिलॉसाफर्स (लंदन, १९५५)।
„ — स्टडीज इन एंशेंट ग्रीक सोसायटी।
द क्लासिकल एज (बंबई)।
द एज ऑव इम्पीरियल यूनिटी (बंबई)।
द वैदिक एज (बंबई)।
द ग्रैमेटिकल स्ट्रक्चर ऑफ द्रविडियन लैंग्वेज।
दिवाटिया, एन वी, गुजराती लैंग्वेज एंड लिटरेचर (बंबई, १९३२)।
निराला, प्रबंध पद्म (लखनऊ, स १९९१)।
नीगस, वी ई, द कम्परेटिव अनाटोमी एंड फिजियोलौजी ऑफ द लैरिन्क्स (लंदन, १९४९)।
प्रेमचन्द, कुछ विचार (१९३९)
पावलोव, सेलेक्टेड वर्क्स।
पैनफील्ड और राम्समुसेन, द सेरेब्रल कोर्टेक्स ऑफ मैन (१९५५)।
पेइ, मारिओ, लैंग्वेज फॉर एवी बॉडी (१९५८)।
पाइल्स, टॉमस, वर्ड्स एंड वेज ऑफ अमेरिकन इंग्लिश (न्यूयार्क, १९५२)।
बालमुकुन्द गुप्त निबंधावली।
ब्लूमफील्ड, लैंग्वेज (१९५५)।
बायकोव, टेक्स्ट बुक ऑफ फिजियोलौजी (१९५८)।
बरो, टी, संस्कृत लैंग्वेज (लंदन)।
बील्स और होइयर, ऐन इंट्रोडक्शन टु ऐंथ्रोपोलौजी (न्यूयार्क, १९५३)।
बोआस, फ्रान्ज, रेस, लैंग्वेज एंड कल्चर (१९४८)।
ब्रैडले, हेनरी, द मेकिंग ऑफ इंग्लिश (१९२०)।
ब्लौख, जुल, ला फार्मासिओं द ला लांग मराट (पेरिस, १९२०)।
बोआस, जेनरल ऐंथ्रोपोलौजी।
„ — दि माइंड ऑव प्रिमिटिव मैन।
मक्डोनल ए वैदिक ग्रामर फॉर स्टूडेंट्स।
मजूमदार, विजयचंद्र द हिस्ट्री ऑफ द बंगाली लैंग्वेज।
माडर्न चाइनीज रीडर (१९५८)।
मामसेन द हिस्ट्री ऑफ रोम (१८८६)।
[illegible] (पटना)।

यर्क्स और लर्नेड, चिम्पाञ्जी इंटेलिजेन्स एंड इट्स वोकल एक्सप्रेशन्स (बाल्तिमोर, १९२५)।
यस्पर्सन; लैंग्वेज, इट्स नेचर, डिवेलेपमेंट एंड ऑरिजिन (१९३४)।
,, — ग्रोथ एंड स्ट्रक्चर ऑफ द इंग्लिश लैंग्वेज (१९४५)।
रिपोर्ट ऑफ द आफीशल लैंग्वेज कमीशन।
रेनाँ, इस्त्वार जेनेराल ए सिस्तेम कोम्पारे दे लांग सेमीतिक (१८५५)।
रैन्सन और क्लार्क, अनाटोमी आफ द नर्वस सिस्टम (१९५७)।
लॉ, बिमलाचरन; ट्राइब्स इन एन्शेन्ट इंडिया (१९४३)।
वर्मा, धीरेन्द्र, मध्यदेश (पटना)।
वाजपेयी, किशोरीदास; हिन्दी शब्दानुशासन (वाराणसी)।
वाजपेयी, कृष्णदत्त; ब्रज का इतिहास (मथुरा)।
वाइल्ड; द हिस्टॉरिकल स्टडी ऑव दि मदर टंग (१९०६)।
शर्मा, श्रीराम, दक्खिनी का गद्य और पद्य (हैदराबाद)।
शर्मा, पद्मसिंह, हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी (१९३२)।
शुक्ल, रामचन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास (स १९९७)।
सक्सेना, बाबूराम, सामान्य भाषा विज्ञान।
सपीर, सेलेक्टेड राइटिंग्स ऑफ एडवर्ड सपीर इन लैंग्वेज, कल्चर एंड पर्सनैलिटी।
सिंह, नामवर; हिन्दी के विकास मे अपभ्रंश का योग (इलाहाबाद, १९५४)।
स्तालिन, मार्क्सिज्म एंड दि नैशनल एंड कोलोनियल क्वेश्चन।
सेन, सुकुमार, हिस्ट्री ऑफ बेंगाली लिटरेचर (दिल्ली १९६०)।
सेन, दिनेशचन्द्र; हिस्ट्री ऑफ बेंगाली लैंग्वेज एंड लिटरेचर (कलकत्ता, १९११)।
सिंह, शिवप्रसाद, सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य (वाराणसी)।
हार्नले, ए ग्रामर आफ द ईस्टर्न हिन्दी (१८८०)।

निर्देशिका